भगवन्निम्बार्काचार्यः

सिद्धान्त, उपासना एवम् आचार्य-परम्परा

श्री सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य

अनन्त श्री समलंकृत श्री निम्बार्काचार्य भगवान्

प्रो. (डॉ.) प्रभाकर शास्त्री

भगवन्निम्बार्काचार्यः
प्रो.(डॉ.) प्रभाकर शास्त्री

'वैष्णव चतुः सम्प्रदाय में श्री निम्बार्क सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन अनादि वैदिक सत् सम्प्रदाय है'– यह प्रमाणपरिपुष्ट सर्वविदित तथ्य है। इस सम्प्रदाय के आद्याचार्य श्री सुदर्शन-चक्रावतार जगद्गुरु श्री भगवन्निम्बार्काचार्य हैं, जिनकी सम्प्रदाय परम्परा 24 अवतारों में श्रीहंसावतार से होती है। परम पूज्य श्री हंस भगवान् से जिस परम दिव्य पञ्चपदी विद्यात्मक 'श्री गोपाल मन्त्रराज' का गूढतम उपदेश बिन सनक सनन्दन सनातनादि चतुष्टय महर्षिवर्यों को प्राप्त हुआ, वही उपदेश देवर्षि प्रवर श्री नारदजी से श्री निम्बार्क भगवान् को प्राप्त हुआ था, द्वापर युग के अन्त में। निखिल भुवन मोहन सर्वनियन्ता सर्वेश्वर भगवान् आनन्दकन्द श्री कृष्ण की मंगलमयी पावन आज्ञा शिरोधार्य कर चक्रराज श्री सुदर्शन ने ही इस धराधाम भारतवर्ष के दक्षिण प्रान्त में गोदावरी नदी के पावन तट पर अवस्थित महर्षि अरुण के पवित्र आश्रम में जगज्जननी माता जयन्ती देवी की उदरदरी से श्री 'नियमानन्द' के रूप में अवतार धारण किया था, जो कालान्तर में दिवाभोजी ब्रह्मचारीजी द्वारा 'श्री निम्बार्क' के रूप में जगत् प्रसिद्ध हुए।

साक्षात् भगवत्स्वरूप श्री निम्बार्काचार्य जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के रूप में उनके द्वारा संस्थापित श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के शास्त्रीय सिद्धान्तों, उपासना पद्धति एवं आचार्य-परम्परा के ऐतिहासिक ज्ञान को समस्त श्रद्धालुभक्तों तक प्रामाणिक रूप में उपस्थित करने वाला 35 लेखों का संकलनरूप यह प्रयास वर्तमान जगद्गुरु श्री श्रीजी महाराज की अन्तःप्रेरणा का ही प्रतिफल इस ग्रन्थ रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पूर्ण विश्वास है, भगवान् निम्बार्काचार्य जी के प्रति अगाध-भक्ति एवं श्रद्धा रखने वाले समस्त अनुयायी भक्तजन इससे लाभान्वित होंगे।

सम्पादक

प्रो. (डॉ.) प्रभाकर शास्त्री

✲ सामवेद की कौथुम शाखा के अध्येता, विप्रवर (काश्यप, वैधृत्व, वत्स) उपाध्या-व्यासपुरोचा, गोत्र-काश्यप, श्रीमाली ब्राह्मण, राजस्थानवासी।

✲ धर्मशास्त्र, व्याकरण, साहित्य आदि अनेक विषयों के निष्णात विद्वान् विद्वत् पं. श्री बुद्धिचन्द्र जी शास्त्री के कनिष्ठ पुत्र।

✲ सर्वप्रथम भारतप्रसिद्ध जयपुरस्थ महाराज संस्कृत कालेज के नियमित छात्र के रूप में 16 वर्ष तक संस्कृत भाषा माध्यम से अध्ययन करते हुए धर्मशास्त्र विषय से उपाध्याय, शास्त्री एवं आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण–सन् 1960 ई.

✲ शास्त्री एवं आचार्य परीक्षाओं में सर्वप्रथम स्थान, स्वर्णपदकी, पाश्चात्य पद्धति से हाईस्कूल, इंटरमीडिएट, बी.ए. तथा एम.ए. (संस्कृत व हिन्दी) उत्तीर्ण। एम.ए. (संस्कृत) में राजस्थान प्रान्त में प्रथम स्थान, स्वर्णपदकी।

✲ "जयपुर की संस्कृत साहित्य को देन" (1699–1834 ई.) विषय पर 1964–65 ई. में पी-एच.डी. उपाधि एवं इसी विषय के (1835–1965 ई.) पर राजस्थान विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधि 'डी.लिट्' से समलंकृत प्रथम अनुसन्धाता का गौरव प्राप्त।

✲ सन् 1961 ई. से जुलाई 1978 ई. तक राजस्थान प्रान्त के विभिन्न राजकीय महाविद्यालयों में व्याख्याता संस्कृत के पद पर सफलतापूर्वक कार्य करते हुए जुलाई 1978 से 1989 ई. तक संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में प्रवाचक एवं जून 1999 ई. तक प्रोफेसर व अधिष्ठाता कला संकाय रहे।

✲ शोध-प्रविधि के अप्रतिम धनी, अब तक 38 शोध छात्र–छात्राओं को शोधोपधि से समलंकृत करने वाले, न केवल राजस्थान प्रान्त के, अपितु भारतवर्ष के सुपरिचित संस्कृत–अन्वेषक, अनेक उच्चस्तरीय संस्थाओं से सम्मानित।

भगवन्निम्बार्काचार्यः

सिद्धान्त, उपासना

एवं

आचार्य-परम्परा

सम्पादक

प्रो. (डॉ.) प्रभाकर शास्त्री

रचना प्रकाशन

जयपुर

प्रकाशक : रामशरण नाटाणी
रचना प्रकाशन,
57 नाटाणी भवन, मिश्र राजाजी का रास्ता,
चांदपोल बाजार, जयपुर-302001

© सर्वाधिकार सुरक्षित

ISBN : 81-86116-96-6

संस्करण : प्रथम 2002

मूल्य : ~~600/-~~ 150/-

टाईप सैटिंग : विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर।

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स, जयपुर।

श्रीमद्दिव्यलक्षणलक्षितार्य, पक्ष-प्रतिपक्षनिर्णेता, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, द्वैताद्वैतसिद्धान्ताचार्य, वादिपरिदिग्विजेता, राजराजेश्वरसालभ्यवर्दिताक्षरपरमहंसा, जगद्गीताभाष्यकारादिपदविराजित, जगन्नामान्त श्रीविभूषित

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री "श्रीजी" महाराज

अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, श्रीनिम्बार्कतीर्थ
सलेमाबाद-किशनगढ (अजमेर) राज.

का

शुभाशीर्वचन

॥ श्री सर्वेश्वरो जयति ॥

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

वैष्णव चतुः सम्प्रदाय में अनादिवैदिक श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय है। श्रीहंस-सनकादि-नारद से निम्बार्कसम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा प्रारम्भ होती है। इस धराधाम पर भारतवर्ष की परम पावन सुरम्य अवनि पर सर्वेश्वर श्रीहरि की आज्ञानुसार श्रीसुदर्शनचक्रराज का मनुज रूप में आचार्य स्वरूप से महर्षि श्रीअरुण के आश्रम में माता जयन्ती के उदरदरी से दक्षिणान्वत पैठन निकटवर्ती गोदावरी-तटीय मूंगी-ग्राम में द्वापरान्तवर्त्त में प्राकट्य हुआ।

वेदाध्ययन के अनन्तर आपने सपरिवार व्रजस्थ गोवर्धन समीपस्थ निम्बग्राम में तपः साधना की और यहीं पर देवर्षि श्रीनारद द्वारा आपको मन्त्रोपदेश एवं श्रीसनकादिसेवित शालग्राम स्वरूप श्रीसर्वेश्वरप्रभु की सेवा प्राप्त हुई और यहीं पर आपने यति रूप में समागत जगत्स्रष्टा श्रीब्रह्मा का सूर्यास्त पर निम्बवृक्ष पर सूर्य दर्शन कराके उनका आतिथ्य किया, जिससे सन्तुष्ट ब्रह्मा ने आपको '**नियमानन्द**' के स्थान पर '**निम्बार्क**' नाम से सम्बोधित किया। यहीं से आपने स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त एवं भगवान् श्रीराधाकृष्ण की रसमयी मधुर उपासना का प्रसार किया। आपके इन्हीं समग्र प्रसङ्गों का सारोपाद्य विवेचन इस प्रस्तुत ग्रन्थ में समाविष्ट हुआ है, जो सर्वांशतः तथ्यपूर्ण परम ऐतिह्य एवं शोधजनक है।

इस ग्रन्थ के सम्पादक विद्वन्मूर्द्धन्य **प्रो.(डॉ.) श्री प्रभाकरजी शास्त्री** (जयपुर) हैं। आपने अस्वस्थ अवस्था में भी प्रस्तुत ग्रन्थ के अनवरत सम्पादन में जो अपना अमूल्य समय प्रदान किया है, वह निश्चय ही अत्यन्त गरिमापूर्ण है। आपके सर्वविध अभ्युदय एवं चिरायुष्य के लिये भगवान् श्री राधासर्वेश्वर से भूयोभूयः मङ्गलमयी अभ्यर्थना करते हैं।

परम भागवत विद्वज्जन तथा समस्त रसिक वैष्णव भावुक भगवज्जनों को यह परमोपादेय ग्रन्थ प्राप्त कर सम्प्रदाय के सूक्ष्म रहस्यों का सम्यक् परिज्ञान करना नितान्त अपेक्षित है।

— श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य
श्री 'श्रीजी' महाराज
अ.भा.श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ (सलेमाबाद)

मिति-वैशाख शुक्ल
अक्षयतृतीया-बुधवार
वि.सं. २०५९
दिनाङ्क – १५-५-२००२ ई.

विषयानुक्रमणिका

			पृ. स.
	सम्पादकीयम्		i-vi
1.	श्रीनिम्बार्कोदयः	श्री वासुदेवशरण उपाध्याय	1-6
2.	श्री सुदर्शनचक्रावतार भगवन्निम्बार्काचार्य	वासुदेवशरण उपाध्याय	7-20
3.	नियमानन्द क्या है?	डॉ. प्रभाकर शास्त्री	21-23
4.	श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः	पं. राधावल्लभ शास्त्री	24-30
5.	निम्बार्क-सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में निम्बार्कपीठस्थ वर्तमान जगद्गुरु श्री 'श्रीजी' महाराज : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ. परमानन्द शर्मा	31-50
6.	भगवान् श्री निम्बार्काचार्य प्रणीत संस्कृत-साहित्य	महामण्डलेश्वर श्री ब्रजविहारीशरण 'ब्रजीव'	51-53
7.	श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य का विपुल साहित्य	डॉ. प्रेमनारायण श्रीवास्तव 'प्रमेन्द्र'	54-59
8.	श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य समय-समीक्षा	पं. परशुरामशरण भारद्वाज	60-82
9.	भगवन्निम्बार्काचार्य एवं उनका दार्शनिक सिद्धान्त	पं. रामगोपाल शास्त्री	83-115
10	श्रीनिम्बार्काचार्य का समन्वयात्मक दार्शनिक दृष्टिकोण	श्री हरिशरण उपाध्याय	116-121
11.	श्री भगवन्निम्बार्काचार्य का भेदाभेद सिद्धान्त	ब्रजविदेही चतुःसम्प्रदाय श्रीमहन्त श्री धनञ्जयदासजी काठिया बाबा	122-127
12.	श्री भगवन्निम्बार्काचार्य एवं उनके आराध्य भगवान् श्री सर्वेश्वर	पं. श्री दयाशंकर शास्त्री	128-138
13.	मन्त्रराज और श्री निम्बार्क सम्प्रदाय	पं. श्री वैद्यनाथ झा	139-141
14.	श्रीनिम्बार्कोपदिष्ट पञ्चसंस्कार	श्री विश्वामित्र व्यास, सलेमाबाद	142-160
15.	निम्बार्कदर्शन में शरणागति का स्वरूप	निम्बार्कभूषण वैद्य धनाधीश गोस्वामी आयुर्वेदाचार्य, रतनगढ़ (राज.)	161-168
16.	श्रीनिम्बार्काचार्य एवं उनका कपालवेध सिद्धान्त	डॉ. भास्कर शर्मा 'श्रोत्रिय'	169-186

17.	अर्धरात्र वेध समर्थन	महन्त श्री धनञ्जयदासजी काठिया बाबा तर्कतर्कतीर्थ, व्याकरणतीर्थ	187-191
18.	राधाकृष्ण उपासना के प्रवर्तक श्रीनिम्बार्काचार्य	डॉ. वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी	192-196
19.	रसिक साधना के उद्भव का मूल स्रोत-निम्बार्क सम्प्रदाय	श्री सत्यनारायण शास्त्री	197-203
20.	निम्बार्क-सम्प्रदाय में श्रीराधा	डॉ. द्वारिकाप्रसाद मीतल	204-208
21.	निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण	चन्द्रप्रकाश अग्रवाल	209-217
22.	निम्बार्क मत में जीव तत्त्व	उमाशंकर दीक्षित, एम.ए.	218-223
23.	उज्ज्वल रस-उपासना और निम्बार्क सम्प्रदाय	ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य पंचतीर्थ	224-234
24.	श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय और सखीभाव की उपासना	बाबा दीनशरण दास	235-237
25.	निम्बार्काचार्य और उनकी युगल उपासना	श्री विष्णुप्रसाद शर्मा	238-242
26.	युगल-शतक का काव्य-शिल्प	डॉ. श्रीनारायणदत्त शर्मा	243-254
27.	रसोपासना का महनीय ग्रन्थ श्रीमहावाणी	डॉ. रामप्रसाद शर्मा	255-262
28.	श्रीनिम्बार्काचार्य का साधना मार्ग	कु. कनक माथुर	263-267
29.	श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ : एक परिचय	निम्बार्कभूषण पं. श्री गोविन्ददास 'सन्त' धर्मशास्त्री, द्वैताद्वैत विशारद, पुराणतीर्थ	268-305
30.	श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के परमाराध्य भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु का अद्भुत चमत्कार	भक्त रामशरणदास, पिलखुवा	306-312
31.	निम्बार्क सम्प्रदाय एवं राजघरानों का सम्बन्ध	भागवताचार्य पुरुषोत्तमशरण शास्त्री	313-320
32.	भगवन्निम्बार्काराध्या श्रीराधा एवं श्रीमद्भागवत	श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव	321-329
33.	राष्ट्रभाषा हिन्दी को निम्बार्क सम्प्रदाय की देन	डॉ. नारायणदत्त शर्मा	330-339
34.	श्री सर्वेश्वर प्रभु की गोदुग्धाभिषेक संबंधी एक सत्य घटना	मेवाड महामण्डलेश्वर श्रीमहन्त मुरली मनोहर शरण जी, उदयपुर	340

❑

श्रीसर्वेश्वरो जयति

॥श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः॥

सम्पादकीयम्

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य और उनका सम्प्रदाय

वैष्णव चतुःसम्प्रदाय में श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन अनादि वैदिक सत्सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के आद्याचार्य श्रीसुदर्शनचक्रावतार जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य हैं। आपकी सम्प्रदाय परम्परा चौबीस अवतारों में श्रीहंसावतार से प्रारम्भ होती है। श्रीहंस भगवान् से जिस परम-दिव्य पञ्चपदी विद्यात्मक श्रीगोपाल-मन्त्रराज का गूढतम उपदेश जिन महर्षिवर्य चतुः सनकादिकों को प्राप्त हुआ, उसी का दिव्योपदेश देवर्षिप्रवर श्रीनारदजी को मिला और यही उपदेश द्वापरान्त में महाराज परीक्षित् के राज्यकाल में श्रीनारदजी से श्रीनिम्बार्क भगवान् को प्राप्त हुआ। निखिलभुवनमोहन सर्वनियन्ता सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की मङ्गलमयी पावन आज्ञा शिरोधार्य कर चक्रराज श्रीसुदर्शन ने ही इस धराधाम पर भारतवर्ष के दक्षिण में महर्षिवर्य श्रीअरुण के पवित्र आश्रम में माता श्रीजयन्तीदेवी के उदर से श्रीनियमानन्द के रूप में अवतार धारण किया।

अल्पवय में ही माता जयन्ती, महर्षि अरुण के साथ उत्तर भारत में ब्रजमण्डल स्थित गिरिराज गोवर्धन की सुरम्य उपत्यका-(तलहटी) में आपने निवास किया, जहाँ पर आपको देवर्षिप्रवर श्रीनारदजी से वैष्णवी दीक्षा में वही पञ्चपदी विद्यात्मक श्रीगोपालमन्त्रराज का पावन उपदेश तथा श्रीसनकादि संसेवित श्रीसर्वेश्वर प्रभु, जो सूक्ष्म शालग्राम स्वरूप दक्षिणावर्ती चक्राङ्कित हैं, उनकी अनुपम सेवा प्राप्त हुई। यह सेवा श्रीहंस भगवान् से श्रीसनकादिकों को और इनसे श्रीनारदजी को मिली, जो आगे चलकर द्वापरान्त में श्रीनिम्बार्क भगवान् को प्राप्त हुई। वही सेवा अद्यावधि अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ में आचार्य परम्परा से सम्प्रति परिसेवित है। श्रीसुदर्शनचक्रराज ही नियमानन्द के रूप में इस भूतल पर प्रकट हुए और आप ही श्रीनिम्बार्क नाम से परम विख्यात हुए। सूर्यास्त के समय जगत्प्रख्य श्रीब्रह्मा ने छद्मरूप से एक दिवाभोजी दण्डी यति के रूप में ब्रज में गिरिराज के निकटवर्ती आश्रम में सूर्यास्त होने पर भी नियमानन्द से निम्बवृक्ष पर सूर्य दर्शन करके उनका भोजनादि से आतिथ्य ग्रहण किया, जिससे श्रीब्रह्माजी ने उन्हें श्रीनिम्बार्क नाम से सम्बोधित किया। इसीसे आप श्रीनिम्बार्क नाम से ही विश्व विख्यात हुए।

आपने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य रचना कर स्वाभाविक द्वैताद्वैत नामक दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन किया। वृन्दावननिकुञ्जविहारी युगलकिशोर भगवान् श्रीराधाकृष्ण की श्रुति-पुराणादि-शास्त्रसम्मत रसमयी मधुर युगल उपासना का आपने सूत्रपात कर इसका प्रचुर प्रसार किया। कपालवेध सिद्धान्तानुसार दशमी विद्धा एकादशी त्याज्य एवं शुद्ध एकादशी ही ग्राह्य है, व्रतोपवास के संदर्भ में यही आपश्री

का अभिमत सुप्रसिद्ध है। सम्प्रदाय के आद्य-प्रवर्तक आप ही लोक-विश्रुत हैं। आपका प्रमुख केन्द्र व्रज में श्रीगोवर्धन के समीप निम्बग्राम ही रहा है, जिसका संरक्षण परम्परा से अ.भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) के अधीनस्थ है।

श्रीनिम्बार्क भगवान् के पट्टशिष्य पाञ्चजन्य शंखावतार श्री श्रीनिवासाचार्यजी महाराज ने श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य कृत **वेदान्त पारिजात सौरभाख्य** ब्रह्मसूत्र भाष्य पर **वेदान्त कौस्तुभ** भाष्य की बृहद् रचना की। श्रीनिम्बार्क भगवान् द्वारा विरचित **वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी** पर आचार्यवर्य श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी महाराज ने **वेदान्तरत्नमञ्जूषा** नामक बृहद् भाष्य को रचा, जो परम मननीय है। पूर्वाचार्य परम्परा में जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यजी महाराज ने वेदान्त कौस्तुभ भाष्य पर **प्रभावृत्ति** नामक विस्तृत व्याख्या का प्रणयन किया। श्रीमद्भगवद्गीता पर भी आप द्वारा रचित **तत्त्व-प्रकाशिका** नामक व्याख्या भी पठनीय है। इसी प्रकार आपका **क्रमदीपिका** तन्त्र ग्रन्थ अति प्रसिद्ध है। आपने मथुरा के विश्राम घाट पर तान्त्रिक यवन काजी द्वारा लगाये गये यन्त्र को अपने यन्त्र से विफल कर हिन्दू संस्कृति एवं वैदिक सनातन वैष्णव धर्म की रक्षा की। आपके परम प्रख्यात प्रमुख शिष्य रसिकाचार्य श्री श्रीभट्टाचार्यजी महाराज ने व्रजभाषा में सर्वप्रथम **श्रीयुगलशतक** की रचना कर व्रजभाषा का उत्कर्ष बढ़ाया। आपकी यह सुप्रसिद्ध रचना व्रजभाषा की आदिवाणी नाम से लोक विख्यात है। आपके ही परम पट्टशिष्य जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर रसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्य जी महाराज ने व्रजभाषा में ही **श्रीमहावाणी** की रचना कर जिस दिव्य निकुञ्ज युगल मधुर रस का प्रवाह किया, वह व्रज-वृन्दावन के रसिकजनों का सर्व शिरोमणि देदीप्यमान कण्ठहार के रूप में अतिशय सुशोभित है। आपश्री ने जम्बू में बलि ली जाने वाली देवी को वैष्णवी दीक्षा देकर उसे प्राणियों की बलि से मुक्त कर सात्विक वैष्णवी रूप प्रदान किया। आपने श्रीनिम्बार्क भगवान् कृत वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी पर **सिद्धान्त रत्नाञ्जलि** नाम से दिव्य विस्तृत व्याख्या की रचना करने की अनुपम कृपा की है।

श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज के द्वादश प्रमुख शिष्यों में पट्टशिष्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने राजस्थान में पुष्कर क्षेत्र में अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ की संस्थापना की, जो सम्पूर्ण भारत में एकमात्र सर्वमान्य आचार्यपीठ है। श्रीसनकादि संसेव्य शालग्राम स्वरूप श्रीसर्वेश्वर प्रभु, जिनकी महिमा उपर्युक्त आरम्भिक प्रसङ्ग में भी की जा चुकी है, उनकी सेवा सहित **पद्मपुराण** में वर्णित श्रीनिम्बार्कतीर्थ में आपने तपःसाधना की। आपश्री ने एक प्रसिद्ध तान्त्रिक यवन फकीर मस्तिंगशाह को जो हिन्दू धर्म पर, वैष्णवता पर आघात करता था, उसे अपने आध्यात्मिक सिद्धिबल से परास्त किया। आप द्वारा विरचित **परशुराम सागर** विशाल ग्रन्थ परम द्रष्टव्य है। भक्तिमती मीराँबाई को आपश्री ने मन्त्रोपदेश के साथ उनकी भावनानुसार उन्हें श्रीगिरिधरगोपाल भगवान् की दिव्य प्रतिमा प्रदान की। आज भी वह प्रतिमा श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ द्वारा संचालित श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज की भजन-स्थली श्रीपरशुरामद्वारा स्थान (पुष्कर) में परिसेवित है। आप आचार्यवर्य के शुभाशीर्वाद के फलस्वरूप दिल्ली सम्राट् बादशाह शेरशाहसूरी को सलीमशाह नामक पुत्र की उपलब्धि हुई। आशीर्वाद-स्वरूप प्राप्त सलीम पुत्र की स्मृति में सलीमाबाद नाम से यहाँ निम्बार्कतीर्थ में यह नगर बसाये जाने का बादशाह ने आचार्यश्री से निवेदन किया, जिसकी स्मृति रूप यह नगर आज भी उक्त नाम से ही विशेष प्रख्यात है। बादशाह द्वारा समर्पित 6 हजार बीघा सागरमाला गोचर भूमि पीठाधीन रहा है,

जिसका सुरम्य अरण्य एवं पर्वतीय दृश्य अति मोहक है। इसका भारत स्वतन्त्र होने तक आचार्यपीठ द्वारा ही संरक्षण एवं प्रबन्ध होता था। वर्तमान में यह अरण्य सरकारी वन विभाग में विद्यमान है। इस अरण्य में वृक्षावली, निर्झर, प्रपात, वन जन्तुओं आदि का सुन्दर सङ्गम रहा है। अधुना वर्षाभाव से निर्झरादि शुष्क हो गये हैं तथा पिलता-तरुवरों की शोभा सुन्दर है। पद्मपुराणोक्त निम्बार्कतीर्थ सरोवर एवं साभ्रमती नदी अति दर्शनीय है। खेजड़ला (जोधपुर) ठिकाना के ठाकुर श्रीसीयोजी एवं श्रीगोपालसिंहजी भाटी आपश्री के ही परम कृपापात्र शिष्य रहे हैं।

पूर्वाचार्य परम्परा में श्रीवृन्दावनदेवाचार्य जी महाराज ने **श्रीगीतामृत-गङ्गा** वाणी ग्रन्थ का अद्भुत प्रणयन किया। कृष्णगढ़ (किशनगढ़) के नरेश श्रीसांवतसिंह जी को, जो भक्तशिरोमणि श्रीनागरीदासजी नाम से सुविख्यात रहे है, आपश्री के ही कृपापात्र शिष्य थे। इनकी माता श्रीबाँकावती व्रजकुंवरी या व्रजदासीजी ने आचार्यश्री की आज्ञा पाकर अपनी कवित्व प्रतिभा से श्रीमद्भागवत महापुराण का 20 हजार विभिन्न छन्दों में **श्रीव्रजदासी भागवत** की विलक्षणतम मधुरातिमधुर रचना की है, जिसका अभी कुछ वर्ष पूर्व आचार्यपीठ से सुन्दरतम प्रकाशन हुआ है, जिसकी प्रकाशन सेवा स्व. भक्तप्रवर श्रीरामकरणजी बाहेती एवं वर्तमान श्री व्रजमोहनजी छापरवाल (सूरत) ने की है। इसी आचार्य परम्परा में आचार्यप्रवर श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने भी अपने दिव्य वाणी--ग्रन्थ की सरस रचना से साहित्यश्री की अभिवृद्धि की है। परम रससिद्ध संस्कृत कवि श्रीजयदेव, जिनका **गीतगोविन्द** जगद्विख्यात है, उनके परमाराध्य श्रीराधामाधव प्रभु जो व्रजस्थ गोवर्धन में विराजते थे, उन्हें यहाँ आचार्यपीठ में इन आचार्यश्री ने ही पधराया। इसी आचार्य परम्परावर्ती श्रीनिम्बार्कशरणदेवाचार्यजी महाराज ने भरतपुर किले में सुशोभित भगवान् श्रीविहारीजी महाराज के दिव्य मन्दिर की सुरक्षार्थ भरतपुर नरेश और अंग्रेजों के द्वन्द्व युद्ध में 300 सन्तों को भेजकर उस घोर युद्ध में सहयोग प्रदान किया था, जिसमें अधिकांश सन्त समर में समर्पित हो गये थे, तथापि सन्तों ने मन्दिर की सर्वात्मना सुरक्षा की, जो आचार्यपीठ का एक ज्वलन्त इतिवृत्त है।

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय एवं श्री निम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर आमेर-जयपुर के शासकों से सर्वदा सम्मानित होते रहे हैं। ऐसा उल्लेख मिलता है कि जयपुर संस्थापक सवाई जयसिंह द्वितीय ने आमेर की गद्दी पर बैठते ही अपने गुरुदेव तत्कालीन अनन्त श्री विभूषित श्री वृन्दावनदेवाचार्य श्री महाराज को आचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ, सलीमाबाद से आमेर पधराया था। आपश्री की इच्छानुसार उस समय अन्यान्य अनेक विद्वानों को एवं महात्माओं को आमन्त्रित किया गया था तथा जयपुर नगर की स्थापना का भव्य उत्सव सम्पन्न हुआ था। इसी परम्परा में श्री वृन्दावनदेवाचार्य जी महाराज से चतुर्थ पीठिका में श्री सर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज हुए हैं, उस समय जयपुर नगर पर सवाई प्रतापसिंहजी महाराज का शासन था। महाराज प्रतापसिंह स्वयं व्रजभाषा के कवि थे तथा भगवान् श्रीकृष्ण के वे अनन्य भक्त थे। इन्होंने निम्बार्कपीठाधीश्वर श्रीसर्वेश्वरशरणदेवाचार्य जी की अनुमति से जयपुर में चारों वैष्णव सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों की स्थायी रूप से निवास की व्यवस्था की थी। इस विषय में जयपुर राज सम्मानित विद्वद्वर कवि मण्डन भट्ट की रचना 'जयसाह सुजस प्रकाश' (वि.स. 1878) को उद्धृत कर सकते हैं-

माधवमहीन्द्र सुत श्री प्रताप, बुलवाय किये गुरु करि मिलाप।
निज महल बिच मन्दिर बनाय, ता में पधराये शिर नवाय।।

गथा नंदनन्दन भक्तिभाव, सीखे प्रताप नृप रचि सुभाव।
कर दिये रघुकुल के गुरु गनेश, सांचे सेवक है प्रतापेश।।
तिन गुरु चरनन को योग्य पाय, दिये सम्प्रदाय चारों बताय।। (पृ. 7, पद 48 वां)

उपर्युक्त रचना 'श्री जयसाह सुजस प्रकाश' में कवि मण्डन ने अपने समय के उन सभी उत्सवों का विस्तार से वर्णन किया है। उस मेले (उत्सव) का वर्णन विशेषत: दर्शनीय है, जो सवाई जयसिंह तृतीय के जन्म होने पर जयपुर में आयोजित हुआ था। इसे 'मेले का आंखों देखा हाल' कहा जा सकता है, इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर तत्कालीन निम्बार्काचार्य जी का सादर स्मरण किया है। महाराज प्रतापसिंह जी के बाद सवाई रामसिंह द्वितीय के शासनकाल में कुछ अप्रिय प्रसंग आता है, जब शैव व वैष्णव सम्प्रदाय के मध्य धार्मिक कटुता उत्पन्न हुई थी। उस समय श्री श्रीजी महाराज श्री गोपीश्वरशरण देवाचार्य जी महाराज निम्बार्कपीठाधीश्वर थे। राजा रामसिंह की हठ के कारण सभी वैष्णवों ने जयपुर राज्य का बहिष्कार कर दिया था। यह इतिवृत्त सर्वत्र विश्रुत है।

इसी प्रकार आचार्यश्री के गुरुवर्य अनन्त-श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्रीबालकृष्णदेवाचार्यजी महाराजश्री के कार्यकाल में भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के क्रांतिकारियों में अग्रगण्य खरवा-राव ठा. श्रीगोपालसिंहजी एवं श्रीमोडसिंहजी ने अंग्रेजी के विपक्ष में समर-सामग्री सञ्चय के आरोप में गुप्तवास के क्रम में यहाँ आचार्यपीठ में आश्रय पाया, जहाँ आचार्यश्री के परम शुभाशीर्वाद स्वरूप भीषण-संग्राम होने से बचा एवं आपको सुरक्षित खरवा ठिकाना पधराया। महाराजश्री के आचार्यत्वकाल में श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ की गरिमा के अनेक वृत्त हैं।

वर्तमान आचार्यश्री अनन्त श्री विभूषित श्री राधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज के संरक्षण में आचार्यपीठ में अनेक धार्मिक एवं पारमार्थिक संस्थाओं का संचालन हो रहा है। आचार्यश्रीप्रवर प्रतिभाशाली उपदेष्टा, कवि, गीतकार और अत्यन्त चिन्तनशील साहित्यकार हैं। आपश्री संस्कृत, हिन्दी-ब्रज-बंगला एवं राजस्थानी भाषा के विद्वान् ही नहीं, अपितु आयुर्वेद एवं संगीतकला के भी मर्मज्ञ हैं। संस्कृत एवं हिन्दी-ब्रज भाषा में आपने 31 ग्रन्थों की रचना कर परम्परानुसार साहित्य की श्रीवृद्धि की है। साथ ही मुद्रण व्यवस्था के लिए दो मुद्रणालयों की स्थापना भी की है, जिससे दो पत्रों का प्रकाशन एवं पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों एवं विशेषांकों का प्रकाशन होता आ रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में आपश्री द्वारा तीन विद्यालयों की स्थापना कर उनका संचालन हो रहा है। आपश्री के आचार्यत्वकाल में भ्रमण द्वारा सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार ही नहीं, अपितु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ एवं वृन्दावन, निम्बग्राम, अजमेर, मदनगंज-किशनगढ, जयपुर, पुष्कर, निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद), निम्बार्कतीर्थद्वार-खातोलीमोड, मूँगी-पैठण आदि स्थानों पर धार्मिक स्थलों के नवनिर्माण के साथ-साथ विद्यालय भवनों, सत्संग भवन, गोशाला, यज्ञशाला, औषधालय, प्याऊओं, कूओं, छात्रावास, उद्यान, राजकीय प्राथमिक विद्यालय भवन आदि-आदि का भी निर्माण हुआ है तथा अनेक मन्दिरों का एवं संस्थाओं तथा श्रीनिम्बार्कतीर्थ सरोवर आदि का जीर्णोद्धार भी आपश्री के द्वारा सम्पन्न हुआ है। श्रीनिम्बार्काचार्य स्पेशल ट्रेन से 1000 यात्रियों सहित तीन धाम यात्रा एवं तीन हजार सन्त-भक्तों सहित ब्रज चौरासी कोसीय पद-यात्रा आज भी संस्मरणीय है। गोवध निषेध सत्याग्रह-आन्दोलन में आपका विविध विधाओं से महत्त्वपूर्ण योगदान आचार्यपीठ की गरिमा का द्योतक है।

आपश्री के सान्निध्य में विशाल धार्मिक आयोजन भी यहाँ आचार्यपीठ पर सम्पन्न हुए हैं, जो चिरस्मरणीय रहेंगे। श्रीसनातन धर्म सम्मेलन, श्रीमुरारि बापू द्वारा श्रीरामकथा का भव्य आयोजन, स्वर्ण जयन्ती महोत्सव, श्रीब्रजदासी भागवत विमोचन समारोह एवं प्रत्येक अधिकमास (श्रीपुरुषोत्तममास) विविध कार्यक्रमों के साथ सम्पन्न होते आ रहे हैं। इसी प्रकार प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन, नासिक, वृन्दावन के प्रत्येक कुम्भ-महाकुम्भादि पर्वों पर श्रीनिम्बार्क-नगर का भव्य निर्माण होकर विविध समारोह पूर्वक धार्मिक कार्यक्रमों के साथ सम्पन्न होते आ रहे हैं, वहाँ भगवत्सेवा, सन्तसेवा, कथा-सत्संग-प्रवचन, धर्माचार्य-सम्मेलन, अखण्ड-भगवन्नाम संकीर्तन, विद्वत्सम्मेलन, औषधालय, पुस्तकालय, वाचनालय, यज्ञानुष्ठान, श्रीरामलीला, श्रीरासलीला प्रभृति नानाविध लोकोपकारी प्रवृत्तियाँ सञ्चालित होती हैं। आपश्री के सरल, सौम्य, साधुतापूर्ण व्यवहार से समस्त सन्त-समाज प्रभावित है। जनता-जनार्दन के आप कण्ठहार हैं, आपका समन्वयात्मक एवं निर्विवादात्मक व्यक्तित्व-कृतित्व धार्मिक-राजनैतिक-सामाजिक क्षेत्रों में प्रेरणादायी है। आपकी जीवनचर्या अत्यन्त सरल, सदाचार एवं सादगीपूर्ण है। अनेक भक्तजन अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पाकर अपनी मनोभिलाषाएँ पूर्ण कर अपने जीवन को कृतार्थ कर रहे हैं। आपका प्रत्येक क्षण सत्साहित्य सर्जन, भगवच्चिन्तन एवं आराधना में व्यतीत होता है। आचार्यश्री द्वारा प्रणीत साहित्य के अन्तर्गत **भारत-कल्पतरु** ग्रन्थ का विमोचन भारत के राष्ट्रपति महामहिम श्रीशंकरदयालजी शर्मा द्वारा तथा **भारत-भारती-वैभवम्** ग्रन्थ का विमोचन राजस्थान के पूर्व मुख्यमंत्री श्री हरिदेवजी जोशी एवं **भारत-वीर-गौरव** ग्रन्थ का विमोचन राजस्थान के पूर्व मुख्यमंत्री श्री भैरोंसिंह शेखावत द्वारा तथा **निम्बार्कचरितम्** ग्रन्थ का विमोचन राजस्थान के उपमुख्यमंत्री श्रीहरिशंकरजी भाभडा द्वारा किया गया। इनमें से कुछ ग्रन्थों का आगरा विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में समावेश हुआ है तथा आपश्री के व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व पर विद्वानों द्वारा शोध प्रबन्ध भी प्रकाशित हुए हैं जो सनातन धर्म के लिए गौरव का विषय है। अभी हाल ही में मेरे शोध निर्देशन में डॉ. परमानन्द शर्मा ने राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से **निम्बार्क पीठस्थ जगद्गुरु श्री राधासर्वेश्वर शरण देवाचार्य जी महाराज का व्यक्तित्व एवं कृतित्व** शीर्षक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा। विगत शताब्दी की उल्लेखनीय घटनाओं में एक घटना का संसूचन करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। राजस्थान संस्कृत अकादमी ने एक विशिष्ट योजना प्रारंभ की थी, जो **अतिविशिष्टविद्वत्सम्मान** के नाम से प्रवर्तित हुई। यह भगवान् श्री सर्वेश्वर प्रभु की ही अनन्त कृपा का परिणाम मानता हूँ कि उक्त सम्मान के लिए अखिल भारतीय स्तर पर चिन्तन करने पर आपश्री का ही नाम प्रस्तावित हुआ तथा तत्कालीन राज्यपाल, राजस्थान प्रान्त ने राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के सभा भवन में आपकी विशिष्ट सेवाओं का सम्मान कर संस्कृत जगत् को गौरव-मण्डित किया। उसके बाद जगद्गुरु शंकराचार्य श्री निरञ्जनदेवतीर्थ पुरी पीठ का द्वितीय सम्मान वाराणसी जाकर सम्पन्न किया गया। उसके बाद अकादमी की यह विशिष्ट योजना स्वत: ही बन्द हो गई, क्योंकि आप सदृश विशिष्ट विद्या वैभव सम्पन्न विद्वान् का सर्वसम्मत निर्णय ही नहीं किया जा सका।

वस्तुत: प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना मेरे निदेशकत्वकाल में निर्णीत हो चुकी थी। राजस्थान संस्कृत अकादमी का यह विचार था कि धर्मप्रधान इस भारत के

विशिष्ट सम्प्रदायों के दाय को ग्रन्थ रूप में प्रकाशित कर उनके ऐतिहासिक योगदान को जनता-जनार्दन की सेवा में उपलब्ध कराया जाय। इसी क्रम में वल्लभ सम्प्रदाय, रामानुज सम्प्रदाय, रामानन्द सम्प्रदाय, मध्व सम्प्रदाय व अन्यान्य सम्प्रदायों के योगदान पर स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशन का विचार किया गया था, जो मेरे पद त्याग के साथ ही विलीन हो गया। प्रस्तुत ग्रन्थ तब से ही प्रकाशन की प्रतीक्षा में है, जो वर्तमान पीठाधीश्वर श्रीश्रीजी महाराज की पावन आज्ञा से, उनके शुभाशीर्वाद से उनकी सम्प्रदाय के प्रति सतत निष्ठ से प्रेरित होकर लोकहिताय अब लोकार्पित होने जा रहा है।

इस ग्रन्थ में 34 आलेख हैं, जो श्री सुदर्शनचक्रावतार भगवान् श्री निम्बार्काचार्य के व्यक्तित्व को जहां अभिव्यक्त करते हैं, वहीं उनके एवं परवर्ती पीठाधीश्वरों के कृतित्व को भी प्रस्तुत करते हैं। श्री भगवान्निम्बार्काचार्य का दार्शनिक भेदाभेद सिद्धान्त, व्रतोपवासादि में निर्णीत अर्धरात्रवेध सिद्धान्त एवं अन्य दीक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों पर भी विभिन्न आचार्यों ने लेख लिखकर इस ग्रन्थ रत्न को देदीप्यमान बनाया है। सभी भारतीय दर्शनों में निम्बार्क दर्शन सर्वतः प्राचीन माना जाता है, क्योंकि इनके विचार सर्वथा मौलिक एवं शास्त्रसम्मत रहे हैं तथा ये किसी भी सिद्धान्त का खण्डन करते भी नहीं देखे गये हैं। सत्य तो यह है कि इस भेदाभेद सिद्धान्त से पूर्व किसी भी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था, अतः जब सिद्धान्त ही नहीं था, तो उस पर विचार करने या खण्डन का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस संकलन में अनेक आलेख मौलिक चिन्तन का परिणाम हैं तो अनेक लेख पूर्व में प्रकाशित श्री सर्वेश्वर पत्रिका एवं निम्बार्क पत्रिका से संकलित हैं, जो आचार्यश्री के आदेश का ही परिणाम है। सिद्धान्तों के प्रतिपादक लगभग सभी लेख मननीय, पठनीय एवं आचरणीय हैं। समय निर्धारण सम्बन्धी आलेख भी तर्कों पर प्रतिष्ठित है तथा निश्चित रूप से इस निम्बार्क सम्प्रदाय को सर्वतः प्राचीन सिद्ध करता है। निम्बार्काचार्य पीठ परिचय प्रस्तुत करने वाला आलेख भी कम महत्त्व का नहीं, जिसमें लगभग सभी पीठाधीश्वरों का पुण्य स्मरण एवं उनका व्यक्तित्व-कृतित्व ऐतिहासिक ज्ञान का वर्धक है।

सभी आलेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए मैं वर्तमान पीठाधीश्वर श्रीश्रीजी महाराज के चरण कमलों में साष्टांग प्रणाम निवेदन करता हूँ जिनकी अहैतुकी कृपा ही मुझे इस महनीय कार्य में नियोजित कर गौरवान्वित कर सकी। महाकवि कालिदास ने ठीक ही लिखा है--

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
सम्भावना-गुणमवेहि तमीश्वराणाम्।
किंवा भविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्।

इस विचारधारा को हृदयंगम कर 'त्वदीयं वस्तुगोविन्द! तुभ्यमेव समर्थये'- मैं यह ग्रन्थरत्न अनन्त श्रीविभूषित श्रीश्रीजी महाराज के पावन पवित्र चरणों में सादर समर्पित कर रहा हूं।

विनयावनत चरणचञ्चरीक

(प्रो.) डॉ. प्रभाकर शास्त्री

श्रीनिम्बार्कोदयः

श्री वासुदेवशरण उपाध्याय

(कार्तिक शुक्ल 15 संवत् 2025 दिनांक 5.11.1968) को परशुरामद्वारा पुष्करराज में श्रीनिम्बार्क भगवान् की जयन्ती के उपलक्ष में पं. श्रीवासुदेवशरण उपाध्याय, आचार्य, श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय, सलेमाबाद ने स्वरचित पद्यस्तव 'श्रीनिम्बार्कोदय' का वाचन किया था। श्रीसर्वेश्वर मासिक पत्र (वृन्दावन) के वर्ष 1968 के 11वें अंक में उसका मूल रूप से प्रकाशन हो गया था। अब जगद्गुरु श्री श्रीजी महाराज की आज्ञा से हिन्दी अनुवाद सहित पुनः इसे इस निबन्ध ग्रन्थ में प्रकाशित किया जा रहा है। आद्यनिम्बार्काचार्य एवं उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों से सम्बद्ध शोधपूर्ण निबन्धों के साथ यत्र-तत्र बिखरे चरित पुष्पों का भी चयन कर इस निबन्ध माला में गुम्फित करने का प्रयत्न किया गया है, जिससे जिज्ञासु पाठकवृन्द को एकत्र प्रभूत पाठ्यसामग्री उपलब्ध हो, ऐसी पवित्र भावना है।—सम्पादक।

अवनिभारमपास्य जनार्दने बत! गते निजधाम सराधिके।
भुवि तदैव समागतवान् कलिः सकलधर्मनिरोधनतत्परः।।1।।

करुणावरुणालय सच्चिदानन्द भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण जब अपनी अनपायिनी श्री भू-लीलादि अनन्त शक्तियों से युक्त, ऐश्वर्य माधुर्यादि विविध लीलाओं के साथ पृथ्वी का भार उतार कर निज दिव्य गोलोकधाम पधार गये, तभी भूतल पर समस्त धर्मकर्मयोग-यज्ञादि का बाधक कलियुग प्रकट हुआ।।1।।

ननु भवेत् कलिकाल-निराकृतिः कथमिति प्रणिधानपरोऽरुणः।
प्रियमनोरथपूर्णविधायकं हरिमुपाश्रयत प्रमुदैकदा।।2।।

दक्षिण भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में गोदावरी नदी तट पर महर्षि अरुण अपनी प्रियतमा भार्या जयन्ती के साथ निवास करते थे। एक दिन उन्होंने विचार किया कि पृथ्वी पर कलियुग का प्रवेश हो गया है। युगधर्म (काल) अति बलवान् होता है। कलिकाल में अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार बढ़ेंगे, उनका निराकरण कैसे हो? इस विषय पर महर्षि अरुण गहन चिन्तन कर रहे थे। 'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्' अर्थात् भगवान् श्रीहरि का स्मरण ही मनुष्य को समस्त विपत्तियों के जञ्जालों से मुक्त कर देता है, इसी भावना से परम प्रसन्नता तथा भक्ति-भावना के साथ श्रीहरि की सर्वतोभावेन आराधना करने लगे।।2।।

ऋषिवरे विमलात्मनि वै कृपा सुमहती विहिता खलु पुत्रताम्।
प्रहितचक्रमथ प्रभविष्णुना सफलतां भजते हरिसेवनम्।।3।।

उन निर्मल अन्तःकरण वाले महर्षि श्री अरुण के ऊपर प्रभु ने अहैतुकी कृपा करके निज हस्तलालित अस्त्रराज श्रीसुदर्शन जी को आज्ञा प्रदान की। हे सुदर्शन! तुम भूतल पर अवतीर्ण होकर आचार्य रूप से भागवत धर्म का प्रसार करो। प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य करके चक्रराज महर्षि के पुत्र रूप में प्रकट होने के लिए तेजःपुञ्ज से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए धरती की ओर आ रहे हैं। निश्चय ही भगवान् की निष्कपट भाव से की गयी आराधना सफलता प्रदान करती है।।3।।

सपदि दृष्टिपथं समगान्महस्तदपि लीनमभूत्कचिदेकतः।
किमिति लोकगुरुं दधती हृदा जयति भागवतं द्वारुणप्रिया।।

सब चकित हो रहे थे—यह क्या है? वह तेजपुञ्ज कुछ देर लोगों को दृष्टिगोचर हुआ। फिर सहसा कहीं विलुप्त सा प्रतीत हुआ, परन्तु वह तो भगवत्प्रेरणा से महर्षि अरुण की प्रियतमा जयन्ती की उदर दरी में विद्युत् की तरह प्रविष्ट हो चुका था। भविष्य में महाभागवत वैष्णवाचार्यों में अग्रगण्य जगद्गुरु बनेंगे, ऐसे दिव्य तेज को हृदय में धारण करती हुई माता जयन्ती अद्भुत गुण-रूप-माधुर्य से सर्वोत्कृष्ट ललना के रूप में सुशोभित हुई।।4।।

प्रियचिकीर्षुरनन्तपदौकसां शरदृतौ समभूच्छशिना सह।
विवति पूर्णतिथावुडुराडिव प्रमुदभावजयन्यखिलं तदा।।5।।

अनन्त पद अर्थात् विष्णुपद आकाश ही ओकः घर है जिनका, उन समस्त इन्द्रादि देव वृन्द का प्रिय करने की इच्छा से, अथवा अनन्त गुणगणनिलय भगवान् श्रीहरि के चरणारविन्द ही एकमात्र आश्रय हैं जिनके, ऐसे योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा महात्मा भक्तजनों को परमानन्द प्रदान करने की इच्छा से चक्रराज सुदर्शन शरद् ऋतु कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को सायंकाल आकाश में उदित होते हुए चन्द्रबिम्ब के साथ माता जयन्ती के गर्भ से बालरूप में प्रगट हो गये। उस समय उनकी शोभा सकलकलापूर्ण उडुराज (नक्षत्राधीश) के समान थी। सारी दिशा-विदिशा-आलोक से व्याप्त थीं। उन बाल रूप तेजोनिधि को देखकर माता जयन्ती को अपार आनन्द हो रहा था।।5।।

विमलनीरभरोदधिगामिनीतटसमीपलतातरुशोभिते।
अरुणसद्मनि दिव्यविभाववुर्विधुरिवाजनि तत्र निशामुखे।।6।।

निर्मल जल से परिपूर्ण, समुद्रपर्यन्त अबाधगति से प्रवाहित होने वाली गोदावरी नदी के तटवर्ती लता वृक्षों की सघन छाया से सुशोभित अरुण ऋषि के पावन आश्रम में प्रचण्ड सूर्य के सदृश देदीप्यमान होते हुए चन्द्रकान्ति को धारण करने वाले (यद्यपि जो सूर्य के समान तेजस्वी होगा, वह चन्द्र की शीतलता को कैसे धारण करेगा, यह विरोध प्रतीत होता है, तथापि आसुरी शक्ति के शमन के लिए सूर्यवत् प्रचण्ड तेज धारण करने पर भी शरणागत भक्तजनों के अज्ञानान्धकार को दूर करके भक्ति प्रदान करने से चन्द्रवत् शीतल भी है, (यह विरोध परिहार होने से विरोधाभास अलङ्कार बना) भगवान् के समान ही चक्रराज भी विरुद्ध

नाना धर्म को धारण करते हैं। ऐसे अलौकिक तेजः प्रभाव सम्पन्न बालक का जन्म सन्ध्या समय में हुआ।

अखिलशीलगुणाकरशोभनो जयति निम्बदिवाकरदर्शनः।
हृदयमोहविदारणभास्करो नृजनिमागतवान् स सुदर्शनः।।7।।

वे चक्रराज सुदर्शन प्रभु की आज्ञा से पृथ्वी तल में मानव जन्म धारण कर प्रगट हुए। समस्त शील स्वभाव गुण आदि के आप आकर (खान) हैं। अतएव अतिशय शोभायमान रहते हैं (विधिवत् नियमों का पालन करते हुए आनन्दित रहने से पिता ने आपका नाम यथार्थतः नियमानन्द रखा) अज्ञानी जनों के हृदयगत अज्ञानान्धकार जनित मोह को दूर करने में साक्षात् भास्कर हैं, किंवा भास्कर से भी अधिक प्रभावशाली हैं, क्योंकि भास्कर तो बाह्य अन्धकार को दूर करके चमकते हैं, किन्तु चक्रराज तो भीतर के अँधेरे को भी दूर करते हैं। आपने निम्ब वृक्ष पर सूर्य बिम्ब का दर्शन कराकर ब्रह्मदेव के भ्रम को मिटाया था। इसका तात्पर्य यह है कि आपातरमणीय परिणाम में विषवत् अर्थात् निम्बवत् कडवे लगने वाले सांसारिक विषयों का समूल विनाश कर दिवाकर 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' के अनुसार अर्चिरादि मार्ग द्वारा साधकों को भगवद्धाम का दर्शन कराने वाले भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य समस्त उत्कर्ष को धारण कर विराजमान हैं।।7।।

यदपि तेजसि भानुसहस्रवद्यनुपमेय विभः प्रियदर्शनः।
तदपि पूर्णशशीव सुधानिधिः सुखयतिस्म जनान् स सुदर्शनः।।8।।

तेज में भगवान् सुदर्शन यद्यपि हजारों सूर्यों के समान तेजस्वी हैं, क्योंकि उनका प्रकाश किसी से तुलना करने योग्य नहीं हैं। जैसे **'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्यात् भासस्तस्य महात्मनः'** यदि कदाचित् आकाश में सहस्र सूर्य के एक साथ उदय होने पर जो तेजो राशि दिखाई पड़े वैसी ही तेजोराशि उन विराट् रूपधरी श्रीकृष्ण की प्रतीत हो रही थी। इस प्रकार अभूतोपमद्वारा अलौकिक तेजःपुञ्ज की उपमा दी जाती है, तथापि वे अनन्त अमृतकोश पूर्णचन्द्र के समान मानवाकृति में अत्यन्त मनोहर लगते थे। इसी रूप में समस्त प्राणीमात्र को अपार सुख प्रदान करते थे।।8।।

तमवलोक्य शिशुं शुभलक्षणं भुवि गृहीततनुं मुहुराश्रमे।
अपि निशामणिरद्भुतलज्जया नभसि मन्दगतिं किमु वादधत्।।9।।

भगवल्लीलास्थली भारत वसुन्धरा पर महर्षि अरुण के आश्रम में शुभ लक्षणयुक्त मानवदेह को धारण किये हुए उस अलौकिक प्रभावपूर्ण बालक को बार-बार देखकर लज्जावनत हो क्या निशामणि चन्द्रमा अपनी स्वाभाविक गति को भूलकर मन्दगति तो धारण नहीं कर रहे थे? तात्कालिक परिस्थिति में ऐसी उत्प्रेक्षा की जा रही थी।

अथ यदा सुतदारयुतो मुनी रहसि दिव्यतपोधनलिप्सया।
हरिपदाब्जलसद् व्रजभूतले गिरिवरं समया स समाययौ।।10।।

अब छोटी अवस्था में ही शुद्ध नियमानन्द को शिक्षा-दीक्षा से पूर्ण कर पुत्र एवं पत्नी सहित महर्षि अरुण किसी एकान्त धाम में दिव्यातिदिव्य तपश्चर्या रूपी धन के संग्रह की इच्छा से गोदावरी तट छोड़कर व्रजमण्डल की ओर चल पड़े। सन्त महात्माओं के मुख से व्रज की महिमा सुनकर श्री नियमानन्द की भी तीव्र इच्छा जागृत हुई थी। तदनुसार व्रजभूमि में पहुँचकर श्रीकृष्ण की लीलाविभूति को दर्शाने वाले उनके चरणाब्जचिह्न जहाँ-तहाँ जब दिखाई देते तब वे अतिआनन्दमग्न हो जाते। महर्षि गिरिराज गोवर्धन के समीप पहुँचे तथा वहीं रहने का निश्चय किया।।10।।

विपुल-निम्बकदम्बवटद्रुमैः सफलशीतलवीजनपल्लवैः।
हरिकथामिव गायनतत्परैर्विलसिते खगवृन्दसमाश्रितैः।।11।।

ससुतभार्य ऋषिर्व्रजमण्डले निजनिवासवनं व्यदधात्ततः।
अतिमनोहरमाश्रममाविशत् खलु यदा समभूच्छुभदर्शनः।।12।।

पुत्र नियमानन्द एवं भार्या परम कल्याणी जयन्ती के साथ तपोधन महर्षि अरुण जब व्रजभूमि पहुँचे, तो मथुरा, वृन्दावन, यमुना पुलिन, गोवर्धन आदि प्रभु की लीलास्थली को देखकर अत्यन्त प्रमुदित हुए। वहाँ पर फल-पुष्प-पल्लवों से शोभायमान सघन शीतल छाया से समस्त प्राणियों के ताप को हरण करने वाले बहुसंख्यक नीम कदम्ब और वटवृक्षों से परिवेष्टित, जिनमें शुक, पिक, मयूरादि के समूह कलनिनाद कर रहे थे, उसी की प्रतिध्वनि के बहाने मानों व्रजवनबिहारी भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की मधुर लीला कथा के गान करने में तत्पर हों, ऐसा प्रतीत होता था। उपर्युक्त वृक्षावली से सुशोभित गिरिराज गोवर्धन की तलहटी में (जो आज 'निम्बग्राम' के नाम से प्रसिद्ध है) अपने आवास हेतु आश्रम का निर्माण कराया। तदनन्तर जब मुनीश्वर उस मनोरम आश्रम में प्रविष्ट हुए, तब बड़ा ही मङ्गलमय शुभ शकुन हुआ। वे आनन्दपूर्वक तपःसाधना में संलग्न हुए।।11-12।।

अनलकान्तिनिभं तनयाकृतिं समवलोक्य सदा पितरौ मुदा।
बहुतरां ययतुर्न सुताननाभृतरसेन च तृप्तिमथ क्वचित्।।13।।

अग्नि की दीप्ति तुल्य पुत्र की आकृति को देखकर माता-पिता (ऋषि दम्पती) अनवरत अपार आनन्द सिन्धु में अवगाहन करते हुए भी कभी तृप्त नहीं होते थे, क्योंकि नित्यनवनवायमान सौन्दर्य की महिमा ही ऐसी होती है। महाकवि माघ ने रमणीयता की व्याख्या करते हुए कहा है, **'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'** अर्थात् जो क्षण-क्षण में नवीनता को प्राप्त होता है, वही रमणीयकता का वास्तविक रूप है। इधर माता-पिता की आदर्शमयी छत्रछाया में सुदर्शनावतार श्रीनियमानन्दजी भी कठोर नियमों का पालन करते हुए तीव्र भक्तियोग द्वारा श्रीसर्वेश्वर प्रभु की आराधना में निरत थे, साथ ही तपःसाधना में लीन थे।।13।।

विधिरगात् व्रजमेव परिव्रजन् किमु सतां परिरक्षक आरुणिः।
इति परीक्षितुमाश्रममागतस्तपनदीप्तिनिभं शिशुमैक्षत।।14।।

कालान्तर में लोकपितामह श्री ब्रह्मदेव ने विचार किया कि क्या अरुण कुमार सुदर्शनचक्र के अवतार रूप में भूतल पर आये हैं, क्या वे सज्जनों की सर्वतोभावेन रक्षा करने में समर्थ होंगे। इन विचारों से प्रेरित होकर ब्रह्माजी दिवाभोजी परिव्राजक के रूप में श्रीनियमानन्द की परीक्षा हेतु अरुणाश्रम पर पहुँचे। वहाँ पर सूर्य के समान तेजस्वी बालक को देखा। वे हैरान थे, कितना अद्भुत तेज था, कैसी अलौकिकशीलता थी कमनीय रूपाकृति की। यह सब देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि निश्चित ही ये प्रभु के प्रियायुध रूप हैं।।14।।

कमलयोनिरसौ मम तेजसि भ्रमति वै किमिति भ्रममास्थितः।
सपदि निम्बतरौ ससुदर्शनस्तरणि-बिम्बमिवात्मविभामथात्।।15।।

जयन्तीनन्दन ने ब्रह्माजी के हार्दभाव को पहचान लिया। अतः वे विचारते हैं। ये कमलासन भगवान् श्रीब्रह्माजी मेरे तेजःप्रभाव के विषय में क्या वस्तुतः सन्दिग्ध हो, भ्रम में पड़े हुए हैं? इनका भ्रम अवश्य दूर करना चाहिए तथा आश्रम में आये अतिथि का उचित सत्कार भी करना आवश्यक है। परस्पर शास्त्रचर्चा में सूर्यास्त का समय हुआ, भगवत्प्रसाद के लिए प्रार्थना करने पर सूर्यास्त के पश्चात् हम भोजन नहीं करते, ऐसा कहकर वे जाने लगे तो कुछ समय विराजने हेतु उनसे प्रार्थना की गई। तदनन्तर श्रीनियमानन्दजी ने आश्रमस्थ निम्बवृक्ष की ओट में सूर्य के प्रकाश के तुल्य तेजःपुञ्ज दिखाया।।15।।

इह हि निम्बतरौ रविरोधनात् तव विभो भविता यशसाधिका।
त्रिभुवनं जयतादरुणात्मजः जय सुदर्शन! निम्ब-दिवाकर।।16।।

हे विभो! हे अरुणात्मज! हे सुदर्शन! हे निम्बदिवाकर! आपकी सदा जय हो। प्रभो! आपने इस निम्बवृक्ष पर अर्क बिम्ब का अवरोध कर जगत् में दिव्य प्रकाश फैलाया, अतः आपकी कीर्ति के साथ आपका नाम 'निम्बार्क' यह प्रसिद्ध होगा। तीनों लोकों में आपका उत्कर्ष व्याप्त हो जाएगा।।16।।

इति मुहुर्मुहुराह यतिस्ततः स परिगृह्य मुदाश्रयसत्कृतिम्।
समवधार्य हरेर्दयिताम्रजं परमतेज इदं सुखमन्वभूत्।।17।।

इस प्रकार बार-बार यतिवर ने भी भगवन्निम्बार्काचार्य की प्रार्थना की। तदनन्तर आतिथ्य स्वीकार करके उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। ये अरुणनन्दन साक्षात् श्रीहरि के प्रियायुध चक्रराज के अवतार हैं। उनके इस परमतेज का चिन्तन करते हुए परमसुख का अनुभव किया। आश्रम से विदा लेकर ब्रह्माजी अन्तर्हित हो गये।।17।।

समुदिते सति निम्बदिवाकरे पुनरिमं किल मङ्गलभूवसौ।
समजनि प्रमदेव विभूषिता प्रमुदिताश्च दिशो दिवि देवताः।।18।।

इस प्रकार सुदर्शन चक्रावतार भगवन्निम्बार्क के उदित (प्रकट) होने पर यह पृथ्वी पुनः दिव्यालङ्कार विभूषित प्रमदा की तरह परममङ्गलमयी हो गयी है, यह निश्चित है। इनके प्रादुर्भाव से दसों दिशाएँ एवं समस्त देवगण भी अत्यन्त प्रमुदित हो गये हैं।।18।।

भवतु निम्बरवेरुदयोत्सवोऽनुदिनमेव सतां सुहृदां मुदे।
द्रुतविलम्बितमेत्यपुरस्थित-इति पुनः पुनरर्थयतेऽबुधः।।19।।

श्रीनिम्बार्क भगवान् का प्राकट्योत्सव जिस तरह समयगति से कभी शीघ्र और कभी विलम्ब रूप में सदा आता है, जो सहृदय सज्जनों का मोद बढ़ाता है, उसी प्रकार यह निम्बार्कोदय कृति भी द्रुतविलम्बित वृत्त में आकर सबके समक्ष स्थित है। अतः अल्पज्ञ यह बालक निरन्तर विज्ञ सहृदय सज्जनों की प्रसन्नता के लिए हो, ऐसी बारम्बार प्रार्थना करता है।।19।।

प्राचार्य,
श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालयः, सलेमाबाद

❑

श्री सुदर्शनचक्रावतार भगवान्निम्बार्काचार्य

वासुदेवशरण उपाध्याय

देववृन्दवन्दित भारतवसुन्धरा का जो उत्कर्ष तथा माहात्म्य पुराणादि शास्त्रों में वर्णित है, वह परम दिव्य एवं अनुपम है। यहाँ का कण-कण असंख्य तीर्थ-धाम क्षेत्र के प्रभाव से पवित्र है। तीर्थ को भी पवित्र बनाने वाले तपःपूत ऋषि-मुनि-तपस्वी-यति-योगी संन्यासी, साधु-सन्त महात्मा निरन्तर भगवच्चिन्तन आराधना करते हुए लोक कल्याण की मंगल भावना रखते हैं।

भारतभूमि अखिल ब्रह्माण्डनायक, निखिल जगदभिन्न निमित्तोपादान कारण, क्षराक्षरातीत, परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीहरि की अवतार भूमि तथा लीला भूमि है। नित्य विभूति के समान आज हृद्गुण शक्ति से लीलाविभूति में भी प्रभु के लोकोत्तर प्रभाव प्रकट होते हैं। युग युग में उचित समय आने पर भक्तों की इच्छा के अनुरूप गो-विप्र-सुर-साधुओं की रक्षा हेतु धर्म विरोधी दुष्टात्माओं के संहारपूर्वक सनातनी वैदिक धर्म परम्परा के परिपालनार्थ भगवान् इस धरित्री पर अवतीर्ण होते हैं। द्वापरान्त में एतदर्थ श्रीकृष्ण का अवतार हुआ। अपनी अनन्त शक्तिरूपा गोपियों के माध्यम से उत्तम फलरूप प्रेमाभक्ति की सुमधुर धारा प्रवाहित की। इसी प्रकार श्रीदाम सुदाम, वसुदाम, उद्धव, अर्जुन प्रभृति अन्तरंग बहिरंग पार्षदों द्वारा ज्ञान-वैराग्य संवलित धर्म अर्थ काम मोक्षादि पुरुषार्थों का सम्यक् परिपालन कराकर अनुकरण प्रिय मानव स्वभाव को सन्मार्ग में चलने की सरल सरणि प्रदर्शित की।

भगवान् का अवतार भक्तों की प्रार्थना पर उनके अनुग्रह हेतु स्वेच्छया होता है, किन्तु भगवत्पार्षदों का अवतार उनकी आज्ञा से होता है। शास्त्रों में श्रीहरि के अवतार की परिभाषा एवं भेदों का सम्यक् वर्णन मिलता है। धर्म-स्थापनार्थ, अधर्मोपशमनार्थ तथा भक्तों की इच्छा पूर्ण करने हेतु स्वेच्छा से विविधविग्रहों द्वारा आविर्भाव होना अवतार कहा जाता है। गुणावतार, पुरुषावतार, लीलावतार के भेद से मूलतः अवतार के तीन भेद बताये गये हैं। विष्णु, ब्रह्मा, का पालन-पोषण करते हैं। ब्रह्मा इस जगत्प्रपञ्च की रजोगुण के प्रभाव से रचना करते हैं तथा रुद्रदेव तमोगुण का आश्रय लेकर सृष्टि का संहार करते हैं। इसी भाव को भागवतकार ने स्पष्ट किया है—

सत्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युः।।

(भा.प्र.स्क.अ. 2 श्लो. 23)

प्रकृति के तीन गुण हैं, सत्व, रज और तम। इनको स्वीकार करके स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय के लिए एक अद्वितीय परमात्मा ही विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र ये तीन नाम ग्रहण करते हैं। तथापि मनुष्यों का परम कल्याण तो सत्व गुण स्वीकार करने वाले श्रीहरि से ही होता है।

पुरुषावतार के भी तीन भेद बताये गये हैं जैसे—

"प्रथमं तु महत्स्रष्टुं द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते।।"

इस वचन के अनुसार प्रकृतिनियन्ता कारणार्णवशायी प्रथम, समष्ट्यन्तर्यामी गर्भोदशायी द्वितीय, व्यष्ट्यन्तर्यामी क्षीरोदशायी तृतीय पुरुषावतार हैं।

प्रथमतः आवेश और स्वरूप भेद से लीलावतार के दो भेद कहे गये हैं। उनमें आवेश के पुनः स्वांशावेश तथा शक्त्यंशावेश से दो भेद बताये हैं। स्वांशावेश में नर नारायण तथा शक्त्यंशावेश में धन्वन्तरि, कपिल आदि का उल्लेख है। इन्हीं को कलावतार भी कहते हैं। पूर्ण और अंश के भेद से स्वरूपावतार दो प्रकार के हैं। मत्स्य-कूर्मवराहादि अंशावतार के अन्तर्गत माने गये हैं और नृसिंह राम-कृष्ण ये पूर्ण स्वरूपावतार हैं। इन अवतारों का एक दीपक से दूसरे दीपक के समान गुण-रूप-शक्ति के अविनाभाव के कारण अभेद व्यवहार मुख्य ही माना गया है, क्योंकि स्वयं ही कार्यकारण रूप होने से किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने जब अपनी लीला का संवरण अर्थात् अवतार-प्रयोजन पूर्ण करके निजधाम गोलोक प्रयाण किया, तब कालान्तर में कलि के प्रवेश प्रभाव से भागवत धर्म (वैष्णव धर्म) सनातन वैदिक परम्परा का ह्रास तथा अन्यान्य अवैदिक उपासना पद्धति का विस्तार होने लगा। चारों ओर अशान्ति का वातावरण बढ़ने लगा। धीरे धीरे सदाचार, सद्व्यवहार आदि में शिथिलता आने लगी। सच्चिदानन्द अनन्त कल्याण गुणार्णव सर्वेश्वर श्रीकृष्ण के स्वधाम गमन के पश्चात् युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर का राज्य अपने पौत्र परम भागवत परीक्षित को प्रदान किया और मथुरामण्डल के आधिपत्य में श्रीकृष्ण के प्रपौत्र श्री वज्रनाभ को नियुक्त किया। तदनन्तर स्वयंभ्रातृवृन्द एवं द्रौपदी सहित स्वर्गारोहण के लिए प्रस्थान किया। यह बात इतिहास-पुराणों में प्रसिद्ध है। राजा परीक्षित के राज्यकाल में ही कलियुग का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा था। धर्म और धरणि कलि के प्रभाव से चिन्तित थे, इसका प्रत्यक्ष दर्शन राजा परीक्षित को हो चुका था, किन्तु वे युगधर्म के प्रभाव को रोकने में असमर्थ थे। कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थवान् परमेश्वर के सिवाय काल की गति को कौन वश में कर सकता है? वे तो अपनी लीलाविभूति में भी ब्रह्ममोहन के प्रसंग में एक वर्ष अर्थात् 365 दिन को एक दिन में संकुचित तथा महारास लीला के प्रकरण में एक मानवी रात्रि को षण्मास की दैवी रात्रि में विस्तारित कर अपनी विश्वमोहिनी लीला रचने में समर्थ थे।

कलिकाल के तीव्र वेग से स्वयं द्वारा संस्थापित धर्म मर्यादाओं का उच्छेद होते देखकर सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा, सर्वनियन्ता सर्वज्ञ श्रीहरि ने अपने प्रियतम आयुधवर श्री सुदर्शन को आज्ञा प्रदान की—

सुदर्शन महाबाहो! सूर्यकोटिसमप्रभ।
अज्ञान-तिमिरान्धानां विष्णो मार्गं प्रदर्शय।

हे महाबाहो सुदर्शन! आपका तेज करोड़ों सूर्य के तुल्य है। अतः अज्ञानरूपी अन्धकार से किंकर्तव्य-विमूढ़ बने मानवों को अर्चिरादि पद्धति द्वारा गौलोकादि, दिव्यधाम प्राप्ति का सुगम मार्ग-दिखाओ जो श्रुति सूत्र तन्त्रादि शास्त्रों में विष्णु मार्ग के नाम से परिवर्णित है।

चक्रराज-सुदर्शन

चक्रराज-सुदर्शन भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तरंग, पार्षद हैं। असुरादि संहार में उनकी शक्ति अकुण्ठित, अप्रतिहत है। वे भक्तों की रक्षा हेतु सतत सन्नद्ध रहते हैं। महर्षि दुर्वासा जी ने महाभागवत राजर्षि अम्बरीष की परीक्षा ली। रोष में आकर कृत्या को प्रकट किया तथा राजा के विनाश हेतु प्रेरित किया। उधर सुदर्शन प्रभु आज्ञा से उनकी रक्षार्थ सन्निधि में अव्यक्त रूप से रहते थे। भगवान् की अहैतुकी भक्ति करने वाले निष्कपट भक्त के ऊपर संकट आया देखकर सुदर्शनजी आविर्भूत हुये, कृत्या का विनाश कर दुर्वासा के पीछे लगे, उनको सन्तप्त करने लगे। अब महर्षि व्याकुल होते हुए ब्रह्मलोक गये, सुदर्शन चक्र के ताप से बचाने की प्रार्थना की, परन्तु ब्रह्माजी ने अपनी असमर्थता, बतायी। इसी प्रकार शिवलोक गये, वहाँ से भी निराशा ही हाथ लगी। अन्ततः वैकुण्ठ में जाकर क्षमा प्रार्थना करते हुए रक्षा हेतु बिनती की। महान् आश्चर्य भगवान् विष्णु कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनोह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्त-हृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।।

हे द्विजवर, मैं स्वतन्त्र होता हुआ भी भक्तजनों का प्रिय अर्थात् भक्तवत्सल होने के कारण सज्जन भक्तों के अधीन सा हूँ। सज्जन भक्तों ने प्रेम द्वारा मेरे मन को वशीभूत कर दिया है। अतः उनकी उपेक्षा मैं नहीं कर सकता। महर्षे जहाँ से आपको यह संकट उपस्थित हुआ, वहीं पहुँचो, शान्ति मिलेगी। अब दुर्वासा समझ गये कि प्रभु कितने भक्तवत्सल हैं। वे वैकुण्ठ से निःसंकोच अम्बरीष के पास पहुँचे, क्षमा माँगी। तब राजा ने भगवान् सुदर्शन की स्तुति की। हे चक्रराज! आप स्वयं अग्नि, सोम, सूर्य आदि समस्त तेजों के भी तेज स्वरूप हो, आपका अमिट प्रभाव है। इन महर्षि का मंगल हो। आप शान्त हो जायें। इस प्रकार अनेक प्रार्थना करने पर सुदर्शन शान्त रूप में दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये। कहीं तेजोमय स्वरूप से देदीप्यमान रहते हैं, कहीं आवरण रूप बनकर सूर्य को ही आच्छन्न करते हैं। अर्थात् चक्र सुदर्शन का ऐसा अद्भुत प्रभाव है कि दिन को आवरण शक्ति से रात बनाते हैं रात को प्रकाश पुञ्ज से दिन बनाते हैं। भक्त प्रहलाद के ऊपर जितने भी अस्त्र-शस्त्र के प्रहार हुए, उन सबकी शक्ति कुण्ठित करके उसकी रक्षा की। इस प्रकार व्यक्त अव्यक्त दोनों भाव से जगद् की रक्षा करते हैं। भागवत में सुदर्शन चक्र की अप्रतिम शक्ति का अद्भुत वर्णन किया है—

भ्राम्यन्ती संश्रितानां भ्रमशमनकरीच्छन्नसूर्यप्रकाशा
सूर्यालोकानुरूपा रिपुहृदयतमस्कारिणी निस्तमस्का।
धारासम्पातिनी च प्रकटितदहना दीप्तिरस्त्रेशितुर्वः
चिन्ता भद्राय विद्रावित-विमतजना जायतामामताय।।

इस पद्य में विरोधाभास अलङ्कार से बताया है कि सुदर्शनचक्र-ज्वाला के परस्पर अनेकों विरुद्ध स्वभाव होते हैं। विचित्रता यह है कि ऊपर से देखने में जो विरोध दीखता है, वह वास्तव में विरोध नहीं है। उदाहरण के तौर पर देखें तो कुरुक्षेत्र में महाभारत युद्ध के समय जब अर्जुन ने जयद्रथ का वध सूर्यास्त से पहले ही करने की प्रतिज्ञा की तब भगवान् श्रीकृष्ण

की आज्ञा से श्री सुदर्शन चक्र ने सूर्य को ढककर अस्त दिखा दिया, जब जयद्रथ सामने आया तो श्रीकृष्ण की आज्ञा से चक्रराज हटे, सूर्य प्रत्यक्ष दीखने लगे उसी समय अर्जुन ने जयद्रथ का मस्तक काटकर उसके पिता की गोद में डाल दिया। यह सब सुदर्शन भगवान् की कृपा से ही हुआ, जो अभिमन्यु की मृत्यु के बाद प्रतिज्ञा की पूर्णता हुई। अतः सूर्य थे, समस्त योद्धाओं का अस्त प्रतीत हुए। इस प्रकार वास्तविक अर्थ विरोध का परिहार करता है। इन दोनों (है और नहीं हैं) अर्थों के लगाने में कभी श्लेष का भी प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार भ्राम्यन्ती शब्द के भी दो अर्थ हैं। भ्रम में पड़ी और भ्रमित चक्कर में फिरने वाली अर्थात् सुदर्शन चक्र के चारों ओर फिरती है। यह न समझें कि जो स्वयं भ्रम में हो तो दूसरों को भी भ्रम में डालेगा। अर्थात् चक्रज्वाला स्वयं भ्रम करती हुई अपने भक्तों का भ्रम दूर करती है। इसी प्रकार अन्य विशेषणों में भी विरोधजनक व शामक अर्थ अलग अलग होते हैं। सूर्य के प्रकाश के अनुकूल रहने वाली, अन्धकार से रहित होती हुई भी शत्रुओं के हृदय में भयरूप अन्धकार उत्पन्न करने वाली, जलधारा निकालती हुई भी अग्नि को प्रकट करने वाली, इस प्रकार परस्पर विरुद्ध स्वभाव होते हुए भी विचित्र स्वभाव वाली, युद्ध से शत्रुओं को भगाने वाली आयुधराज श्री सुदर्शन की ज्वाला आप समस्त भक्तजनों के लिए विशेष मंगलप्रद हो।

इसी प्रकार एक अन्य पद्य का भाव भी अत्यन्त मनोहर है—

कोणे क्वापि स्थितोऽपि त्रिभुवन-विततश्चन्द्रधामाऽपि रूक्षो
रुक्मच्छायोऽपि कृष्णाकृतिरनलमयोऽप्याश्रितत्राणकारी।
धारासारोऽपि दीप्तो दिनकर-रुचिरोऽप्युल्लसत्तारकश्री-
श्चक्रेशश्चित्तभूमा वितरतु विमतत्रासनं शासनं वः।।

(सुदर्शनशतक श्लो. 94)

इस पद्य में भी विरोधाभास अलङ्कार की छटा चमत्कारपूर्ण है। सुदर्शन चक्र—

यन्त्र के किसी एक कोने में स्थित होने पर भी तीनों लोकों में व्याप्त हैं। कहीं एक कोने में रहने वाला सर्वत्र व्यापक नहीं हो सकता, यह विरोध है, किन्तु श्री सुदर्शन अणोरणीयान् महतो महीयान् के अनुसार यन्त्र के एक कोने में रहने पर भी सर्वत्र व्यापक है। इसी प्रकार शीतलचन्द्र में रहते हुए भी उष्ण है अर्थात् भक्तों के लिए शीतल और दुष्टों के लिए भयंकर है। यहाँ चन्द्र शब्द से दो भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण किये हैं। जैसे यंत्र में चन्द्र के स्थित होते हुए भी शत्रु भयंकर होते हैं। एक कोई वस्तु पीली और काली नहीं हो सकती, किन्तु श्रीसुदर्शन सुवर्णसदृश पीत कान्ति को धारण करते हुए भी कृष्णाकृति अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के सदृश श्याम विग्रहवाले हैं। अग्निमय होते हुए भी अपने चरणाश्रितों की रक्षा करने वाले हैं। जलधारा रूपी होते हुए भी उज्ज्वल, सेनामुख में सारभूत बलिष्ठ हैं, सूर्य के समान प्रकाशवान् होते हुए भी नक्षत्रों की शोभा वाले हैं, सूर्य कभी नक्षत्र प्रकाश युक्त नहीं होता, यह विरोध है, किन्तु तारक का अर्थ ओंकार है। अतः परिहार हो जाता है। इस प्रकार सुदर्शन भगवान् के अनेकों विशेषगुण प्रकाशित हैं। ऐसे प्रभाव युक्त श्री सुदर्शन अपनी आज्ञा से भक्तों के शत्रुओं का विनाश करें।

ऐसे विलक्षण प्रभाव व शक्तिसम्पन्न अपने प्रियतम आयुध (अंतरंग पार्षद) चक्रराज सुदर्शन को गोलोकविहारी भगवान् श्रीकृष्ण ने आचार्य रूप में भूतल पर अवतीर्ण होने की आज्ञा प्रदान की, जैसा कि हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि भगवत्पार्षदों का अवतार प्रभु की आज्ञा से होता है।

श्री सुदर्शनचक्रावतार—

भगवदाज्ञा शिरोधार्य करके जब सुदर्शन चक्र तेजो राशि के रूप में भूतल पर अवतीर्ण, हुए उस समय सर्वत्र चारों ओर दिव्य मंगलमय प्रकाश फैला, दक्षिण भारत में गोदावरी तट पर वैदूर्यपत्तन (मूँगी पैठण) स्थान में महर्षि अरुण अपनी पत्नी जयन्ती के साथ तपश्चर्या करते थे, उत्तम सन्तान की कामना थी, भगवत्प्रेरणा से उन्हीं ऋषि दम्पती के पुत्र के रूप में प्रकट हुए। महर्षि ने सभी शुभ लक्षण देखकर बालक का नाम नियमानन्द रखा। निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परागत मान्यता है द्वापरान्त में युधिष्ठिर सम्वत् 6 कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को सायंकाल इनका जन्म हुआ। वर्तमान में इसी दिन इनकी जयन्ती मनायी जाती है। भविष्य पुराण में भगवान् श्री वेदव्यास ने निर्देश किया है-

सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो जनिष्यति।
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानिं हरिष्यति।।

आयुधप्रवर चक्रराज सुदर्शन भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा से द्वापरान्त में पृथ्वी पर जन्म धारण करेंगे और निम्बादित्य (निम्बार्क) इस नाम से प्रख्यात होकर सनातन वैदिक धर्म-वैष्णव सम्प्रदाय परम्परा की शिथिलता को दूर कर प्राणी मात्र का कल्याण करेंगे। भगवान् सुदर्शन को पुत्र रूप में पाकर महर्षि अरुण एवं माता जयन्ती के हृदय में अद्भुत अनुराग-प्रेमलक्षणा भक्ति का आविर्भाव हुआ, जो भगवत्कृपैकलभ्य है। संसार में गुणहीन सन्तान के प्रति भी माता-पिता का सहज वात्सल्य-अनुराग होता है। अरुणात्मज नियमानन्द तो सर्वगुण सम्पन्न थे-ऐसे गुणवान् पुत्र को देखकर माता-पिता का मन क्यों न आनन्दित होगा। शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान बढ़ने लगे, अल्पवय में ही उनके अति मानुष प्रतिभा तथा सूर्यवत् तेजस्विता को देखकर महर्षि चकित रह जाते। 5 वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार सम्पन्न कराके मन्त्र दीक्षा के साथ श्रुति-स्मृति पुराणादि शास्त्रों का अध्यापन कराया। इस प्रकार—

अमितप्रतिमः सुदर्शनो वयसाल्पेन गुणाधिको बभौ।
सुरदुर्लभदर्शनः समाः कतिचित् सदनि पैतृकेऽवसत्।।

अमित प्रतिभा-सम्पन्न सुदर्शनचक्रावतार नियमानन्द (भगवन्निम्बार्काचार्य) छोटी अवस्था में ही अनन्त दिव्य गुणों से युक्त होकर शोभायमान रहने लगे। जिनके दर्शन देवताओं को भी दुर्लभ है, ऐसे सुदर्शन प्रभु ने कुछ वर्ष परमपावन पितृ सदन अरुणाश्रम में निवास किया।

श्री नियमानन्द अपने आश्रम में स्वाध्याय एवं तपःसाधना में निरत रहते हुए अवतार प्रयोजन का चिन्तन कर रहे थे कि सहसा श्रीहरि की आज्ञा से देवर्षि नारद का वहाँ आगमन

हुआ। आश्रम परम आनन्दमय वातावरण से व्याप्त हुआ। अर्चनवन्दन के पश्चात् श्री नियमानन्द विनम्रभाव से **तद्धि ज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्, तदिवद्धिप्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः** इत्यादि श्रुति-स्मृति वचनों के अनुसार देवर्षिश्रीनारद के चरण सान्निध्य में उपस्थित होकर प्रपत्तिपूर्वक उनसे मन्त्रोपदेश ग्रहण किया। साथ ही भगवान् श्रीसर्वेश्वर की सेवा भी प्राप्त की। जिस तत्त्व का हंसरूप में प्रकट होकर सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने महर्षि सनकादिकों को, श्री सनकादिकों ने देवर्षिश्रीनारद को उपदेश किया था, उसी का अनादि अविच्छिन्न परम्परा के निर्वहन हेतु देवर्षि ने सुदर्शन चक्रावतार श्रीनिम्बार्क को उपदेश किया। इसी का संकेत स्वयं भगवन्निम्बार्काचार्य जी ने स्वरचित वेदान्त दशश्लोकी के—

उपासनीयं नितरां जनैः सदा
प्रहाणवेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं
श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे।।

इस पद्य से किया है, वही तत्त्व श्रीनिम्बार्काचार्य द्वारा परम्परागत रूप में वैष्णवजनों को उपलब्ध है।

नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः।
उपदिष्टो नारदाय गृहीत्वा सनकादिभिः।।
निम्बादित्याय तेनैवं परम्परानुसारतः।
प्राप्तो जप्यो सुविज्ञेयो सर्वदा वैष्णवोत्तमैः।।

आचार्य-परम्परा स्रोत के निम्नांकित पद्य भी उपुर्यक्त भाव को स्पष्ट करते हैं—

हंसस्वरूपं रुचिरं विधाय यः सम्प्रदायस्य प्रवर्तनार्थम्।
स्वतत्त्वमाख्यत् सनकादिकेभ्यो नारायणं तं शरणं प्रपद्ये।।
यदीयपादाब्ज-युगाश्रयेण भक्तिर्वरिष्ठाश्रवती विशुद्धा।
उदञ्यति श्रीभगवत्यजस्र-नमाम्यहं श्रीसनकादिकं तम्।।
सुधाकरे स्वेच्छतनुत्वभाजं स्वर्णोपवीतित्वमुपैति वासम्।
प्रवर्तयन्तं हरिभक्तियोगं श्रीनारदं तं शरणं प्रपद्ये।।
यत्सम्प्रदायाश्रयणान्नराणां श्रीराधिकाकृष्णपदारविन्दे।
प्रेमागरीमान् सहसाऽभ्युदैति निम्बार्कमेतं शरणं प्रपद्ये।।

मन्त्र दीक्षा के पश्चात् श्री देवर्षि ने श्रीनिम्बार्क को सम्बोधित करके कहा—हे चक्रराज! हे अरुणनन्दन! आप स्वयं अपने ज्ञान-ज्योति के प्रकाश से जगत् के अज्ञानान्धकार को दूर करने में समर्थ हैं, फिर भी रहस्य की बात कहता हूँ, सुनो—श्रीहरि की अघटनघटनापटीयसी माया ज्ञानियों के भी चित्त को हठात् विचलित कर संसार की ओर प्रेरित कर देती है, जिस प्रकार आकाश से गिरता हुआ निर्मल जल भूमि का स्पर्श पाते ही मटमैला हो जाता है, उसी प्रकार कुसंग के प्रभाव से निर्मल मन भी दूषित हो जाता है—

ज्ञानिनामपि मनो विचाल्यते मायया भगवतः प्रसह्य यद्।
निर्मलं तदपि दूषितं पुनर्जायते सलिलवत्कुसङ्गतः।।

(यहाँ कुसङ्गतः में श्लेष है) अतः भगवान् की शरणागति के अतिरिक्त माया से छूटने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। प्रभु स्वयं संकेत करते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

वत्स! जिसका मन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में लग जाय तो लोक में सामान्य रूप से विचरण करता हुआ भी वह माया के बन्धन में नहीं रहता, यह निश्चित है। ब्रह्म, रुद्र आदि देवों को भी उपदेश देने वाले अथवा अपने अधीन रखने वाले सर्वैश्वर्य सम्पन्न सर्वेश्वर श्रीकृष्ण लीलामय वपुः धारण कर पृथ्वी पर आते हैं, तो वे भी सामान्य पुरुष की तरह सब कार्य करते हैं, किन्तु स्वतंत्र सत्ता के कारण किसी के अधीन नहीं रहते, उसी प्रकार आप भी अनुग्रहविग्रह धारण कर भूतल पर आये हैं, अतः सम्प्रदाय सिद्धान्त को प्रवर्तित करते हुए यहाँ विचरण करेंगे। स्वयं मुक्त भाव से रहकर जगत् को भी मुक्ति का मार्ग दिखाएंगे।

केशवोऽपि भगवान् भुवं गतो लीलया स कुरुते मनुष्यवत्।
एवमेव च भवान् प्रवर्तय सम्प्रदायमवनिं प्रजिष्यति।।

एवंविध अनेक प्रसङ्गों द्वारा उपासना सिद्धान्त आदि का निर्देशन देकर देवर्षि देवलोक की ओर प्रस्थान कर गये।

एक समय ब्रजक्षेत्र से तीर्थयात्रा करते हुए कुछ सन्त महात्मा अरुणाश्रम पहुँचे। महर्षि ने उनका आतिथ्य किया। सत्संग वार्ता-प्रसंग में ब्रज वृन्दावन की महिमा बतायी गयी। यह सुनकर श्री नियमानन्द को भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा का स्मरण हुआ। माता-पिता सहित ब्रजधाम पधारे। वहाँ यमुना, वृन्दावन, गोवर्धन, लताकुञ्ज आदि को देख अत्यन्त प्रमुदित हुए। गिरिराज गोवर्धन की उपत्यका (तलहटी) में आश्रम बनाकर तपश्चर्या आरम्भ की। वहाँ निम्बवृक्षों की बहुलता होने से इस बस्ती को निम्बग्राम के नाम से जाना जाता है। यहाँ परम पिता की आज्ञा से सुदर्शन चक्रावतार नियमानन्द जी ने अतिकठिन तपस्या आरम्भ की।

स्थविरे विगतानुचिन्तया विषयासक्ततया च यौवने।
परतः स्वत एव वा नृणां हरिभक्तिर्न जायते हृदि।
अतएव सुनीतिनन्दनो ध्रुव आद्ये वयसि प्रभुं भजन्
गतवानभयं पदं हरेर्ध्रुवलोकोऽद्य विलोक्यते जनैः।।
भुवि धर्ममधाचरेत्सुधीरिति कौमार उवाच दैत्यजः।।
मतिमाननुधायिनः सखीन् हरिलीलामृतपानलम्पटः।।
अवधार्य सुदर्शनोऽपि तत् विषयास्पृष्टमनाः स्वयं प्रभीः।
गहने तपसि स्थितश्चिरं स निनाय प्रथमं वयस्तदा।।

अर्थात् वृद्धावस्था में जीवन के बीते हुए क्षणों की चिन्ता से, युवावस्था में विषयों के प्रति अत्यासक्ति से, मनुष्यों के हृदय में भगवद् भक्ति का आविर्भाव न स्वयं के प्रयास से हो

सकता है, न ही किसी के कहने से होता है। जीवन के प्रारम्भिक क्षणों में जैसा संस्कार बन जाता है, वही आगे के जीवन में सुदृढ़ होता है। इसीलिए सुनीतिनन्दन ध्रुव ने 5 वर्ष की अवस्था में ही प्रभु का भजन करते हुए भगवत्कृपा से परम आनन्दमय ध्रुव पद प्राप्त किया, जिसका सभी जन आज दर्शन करते हैं। उसी प्रकार परम भागवत दैत्यकुल भूषण प्रहलाद ने अपने मित्रों से कहा—हे मित्रो! विद्वान् पुरुष को कुमार अवस्था में ही धर्म का आचरण करना चाहिये, अवस्था ढलने पर अनेक जंजाल घेर लेते हैं, अत: वह भक्ति नहीं कर सकता। इन विचारों को मन में धारण करके भगवान् सुदर्शन भी निर्मल अन्त:करण के साथ गहन तपस्या में चिरकाल तक स्थित रहकर प्रथम वय को पूर्ण किया। इन्द्रादि देवगण उनकी तपस्या से प्रभावित होकर ब्रह्माजी से निवेदन करते हैं। ब्रह्माजी यति रूप धारण करके तपस्थली में प्रकट होते हैं।

दिवाभोजी यति के रूप में पितामह ब्रह्मा को अरुणाश्रम में प्रवेश करते हुए देख इन्द्रादि देवगण कुतूहलतावश अपने अपने विमानों में बैठकर परिणाम देखने लगे। यति छलयुक्त और सुदर्शन छलरहित थे, यद्यपि दोनों का स्वरूप अपनी वास्तविकता से भिन्न था, तथापि आत्मगोपन में छल-निश्छल का भाव स्पष्ट था। महर्षि अरुण ने उनका स्वागत किया। कुछ क्षण शास्त्रचर्चा में व्यतीत हुए। सूर्यास्त का समय था। पुत्रवत्सल माता-पिता ने नियमानन्द के द्वारा यति के आतिथ्य का प्रबन्ध किया। स्वाभाविक है, यति के अत्यन्त सान्निध्य प्राप्त होने पर पुत्र का सर्वविध मंगल होगा, यह भावना रही होगी। तद्नुसार अलौकिक तेजसम्पन्न तपस्वी सुदर्शनावतार नियमानन्दजी ने आतिथ्य (प्रसाद) ग्रहण करने की यतिराज से प्रार्थना की। सूर्यास्त के बाद अन्न जल ग्रहण न करने का अपना नियम बताकर मंगल कामना व्यक्त करते हुए प्रस्थान करने लगे, इस पर कुछ समय ठहरने की प्रार्थना की गयी, यति ने स्वीकार किया।

तदनन्तर अरुणनन्दन ने आश्रम के निकट स्थित निम्बवृक्ष के ऊपर अर्कबिम्ब किंवा अपने तेजोराशि को सूर्यमण्डल सदृश दिखाया। चारों ओर प्रकाश फैला। घने बादल में अन्तर्हित सूर्यमण्डल बादल छटने पर जैसा दिखाई देता है, वैसा ही दृश्य उपस्थित हुआ। यति को आश्चर्य हुआ। अरुणनन्दन के निवेदन करने पर यति ने आतिथ्य (प्रसाद) ग्रहण किया। माता पिता प्रसन्न हुए। आज आश्रम धर्म की रक्षा बड़े ही नाटकीय ढंग से हुई। घर-आश्रम में आया अतिथि यदि विमुख चला जाय तो आश्रमवासी का अनिष्ट होता है। उपनिषद में नचिकेता का उपाख्यान अतिथि सत्कार के महत्त्व का ज्वलंत उदाहरण है, जो कि अतिथि को साक्षात् अग्नि का स्वरूप बताकर पाद्यार्घ आदि से ऋषि बालक का पूजन कर उसके मनोरथ पूर्ण करने की यमपत्नी द्वारा यमराज से की गयी प्रार्थना कितनी उदात्त है। इसी प्रकार तीन रात्रि तक निराहार यमसदन में निवास करने का प्रतिफल अभीष्ट तीन वर देकर यमराज ने अतिथि पूजन का आदर्श प्रत्येक सद्गृहस्थ किं वा समस्त आश्रमवासियों के लिए निर्दिष्ट किया है।

यहाँ पर अतिथि सत्कार के उसी आदर्श का पालन हुआ है। भोजन के पश्चात् जब अतिथि यति ने आचमन आदि किया, तब आरुणि ने अपना अलौकिक तेज अपने में

अन्तर्हित किया। फिर तत्काल सर्वत्र रात्रि का अन्धकार व्याप्त हो गया। यह देखकर पितामह ब्रह्माजी का संदेह दूर हुआ, ये साक्षात् चक्रराज सुदर्शन के ही अवतार हैं। यह परिज्ञान हुआ, उन्होंने अपना वास्तविक रूप धारण कर सुदर्शनावतार आरुणि की वन्दना की, महर्षि अरुण को उनके सौभाग्य का परिबोध कराया। ब्रह्माजी ने व्यवस्था दी (निम्बे अर्को दर्शितो येन) निम्बवृक्ष पर अर्कबिम्ब को दिखाने के कारण आज के उपरान्त नियमानन्द जी का नाम श्रीनिम्बार्क रहेगा, ये इसी नाम से लोक में प्रख्यात होंगे। चक्रराज सुदर्शन ही भगवदाज्ञा से भूमण्डल में आचार्य रूप से अवतीर्ण हुए है। आचार्य भगवान् के स्वरूप होते हैं। अत: ये श्री भगवन्निम्बार्काचार्य कहलायेंगे। इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय परम्परा 'निम्बार्क सम्प्रदाय के नाम से विख्यात होगी। यह कहकर ब्रह्माजी अन्तर्हित हो गये। यद्यपि वर्तमान में सम्प्रदाय शब्द अनुचित गुटबन्दी के लिए प्रयुक्त होने लगा है तथापि सम्प्रदाय तथा आम्नाय ये दो शब्द अविच्छिन्न वैदिक परम्परा (गुरु-परम्परा) के लिए शास्त्रों में व्यवहृत हैं, इसी अर्थ में स्वीकार करना ही शास्त्र-मर्यादा का पालन करना है। ईशावास्योपनिषद का "इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् व्यचचक्षिरे", यह वचन इसी अविच्छिन्न परम्परा का द्योतक है।

कालान्तर में माता पिता के भी परमधाम गमन के बाद अपनी शिष्यमण्डली के साथ तीर्थाटन के बहाने भारतवर्ष के सभी अंचलों में पहुँचकर भागवत (वैष्णव) धर्म का प्रभूत प्रसार किया। आप के शिष्यों में श्री श्रीनिवासाचार्य, श्री औदुम्बराचार्य और श्री गौरमुखाचार्य—ये तीन आचार्य प्रसिद्ध हुए।

श्री भगवन्निम्बार्काचार्य

आद्याचार्य श्री भगवन्निम्बार्काचार्य ने अपनी तप: स्थली श्री निम्बग्राम गिरिराज गोवर्धन की सुरम्य उपत्यका में निवास करते हुए सदाचार, उपासना सिद्धान्तपरक अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखे एवं प्रस्थानत्रयी पर भाष्य की रचना की। आपश्री ने

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्त्वमेति
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति,
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।

इत्यादि द्वैतवादिनी श्रुतियों तथा

सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन
तत्त्वमसि 'अयमात्मा ब्रह्म,' 'अहं ब्रह्मास्मि'

इत्यादि अद्वैतवादिनी श्रुतियों में परस्पर बाध्यबाधक भाव बिना स्वाभाविक रूप से दोनों के मुख्यार्थ को स्वीकार कर समन्वय रूप में स्वत: स्फूर्ति स्वाभाविक द्वैताद्वैत और भेदाभेद सिद्धान्त को प्रवर्तित किया।

श्रीधाम वृन्दावन-नित्य निकुञ्जबिहारी श्री राधाकृष्ण युगलकिशोर श्यामाश्याम की रसमयी उपासना का उपदेश प्रदान किया। वैष्णव जनों को कर्म-विद्या-भक्ति-प्रपत्ति

सतयुग में हंसावतार

गुरूपसत्ति—इन पाँच प्रकार के साधनों द्वारा भगवदुपासना की सरणी बतायी। सदाचार पाल, सात्विक आहार, प्राणिमात्र में आत्मभाव दया, सेवा आदि इस परम्परा के पालनीय नियम निर्धारित किये गये हैं। श्रीनिम्बार्क भगवान् की रचनाएँ—(1) वेदान्त पारिजात सौरभ (ब्रह्म सूत्रभाष्य) (2) गीता वाक्यार्थ, (गीता भाष्य) (3) उपनिषत्प्रकाशिका (उपनिषद्भाष्य) (4) वेदान्त दशश्लोकी (मौलिक) (5) प्रातः स्तवराज (6) राधाष्टक (7) मन्त्ररहस्यषोडशी (मन्त्र व्याख्या) (8) प्रपन्न कल्पवल्ली (मन्त्र व्याख्या) 9. सदाचार-प्रकाश इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

इनमें गीता-वाक्यार्थ और सदाचार-प्रकाश ये दो ग्रन्थ अप्राप्त हैं। श्री औदुम्बराचार्य द्वारा विरचित 'निम्बार्क विक्रांति' ग्रन्थ में श्रीनिम्बार्क भगवान् के अनेक दिव्य चरित्रों का उल्लेख है। औदुम्बराचार्य जी की औदुम्बर संहिता और निम्बार्क सहस्रनाम ये दो रचनाएँ भी परम प्रसिद्ध हैं। श्री श्रीनिवासाचार्य जी ने राधाकुण्ड (गोवर्धन) में निवास कर भगवदाराधना के साथ ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक बृहद् भाष्य की रचना, की जो 'वेदान्त पारिजात सौरभ का ही विस्तार रूप है। श्री गौरमुखाचार्य जी चक्रतीर्थ नैमिषारण्य में निवास करते थे। औदुम्बराचार्य छायावत् आद्याचार्य के साथ ही रहे। विद्यानिधि नामक विद्वान् को उन्होंने शास्त्रार्थ में परास्त किया। चक्रराज सुदर्शन अनादि अनन्त होने से उनके अवतरण के प्रसंग चारों युगों में विभिन्न नाम से उपलब्ध होते हैं। भगवान् के चतुर्व्यूहों में अनिरुद्ध व्यूह ने ही सत्य-युग में हंसावतार रूप में अवतीर्ण होकर ब्रह्म सभा में सनकादिक महर्षियों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अतः स्वयं प्रभु 'एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः' कहकर सनकादिकों को अपने शिष्य बताते हैं। "शङ्खः साक्षाद् वासुदेवो गदा संकर्षणः स्वयम्। बभूव पद्मं प्रद्युम्नोऽनिरुद्धस्तु सुदर्शनः", इत्यादि नारद पञ्चरात्र के वचन से वासुदेव व्यूहों के समान शङ्खादि का भी चतुर्व्यूह रूप माना गया है। तदनुसार अनिरुद्ध ही चक्र हुए। उनका अवतार भी चक्रावतार माना गया। युग और कल्प के भेद से उक्त प्रसङ्ग की सङ्गति की है। नैमिषारण्य में चक्र का अवतरण होना प्रसिद्ध है। त्रेतायुग में सुदर्शन का हविर्धान मुनि के रूप में अवतीर्ण होने की बात भी शास्त्रों में उपलब्ध होती है। सम्मोहन तन्त्र के

हविर्धानाभिधानस्तु चक्रमासीन् महामुनिः।
सोऽतप्यत तपस्तीव्रं निम्बकाष्ठैकभोजनः।।
आशु सिद्धिकरं मन्त्रं विंशत्यर्थां च जप्तवान्।
दध्यौ वृन्दावने रम्ये माधवीमण्डपे प्रभुः।।

इत्यादि वचनों से यह सिद्ध है कि युग युग में धर्मरक्षा के लिए श्री सुदर्शन का अवतार हुआ है। देवर्षि नारद से दीक्षा ग्रहण के प्रसङ्ग में भी कहीं गोदावरी तट अरुणाश्रम का उल्लेख मिलता है, कहीं निम्बग्राम का। किन्तु यहाँ पर अरुणाश्रम का ही उल्लेख किया गया है। श्रीनिम्बार्क भगवान् निम्बग्राम के पश्चात् दीर्घकाल तक नैमिषारण्य में विराजे रहे। तप्तमुद्रा धारण की परम्परा को द्वारिका में पुनः प्रतिष्ठित किया। भगवान् सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की लीलाविभूति में श्री निम्बार्क भगवान् आठ रूप से लीला विस्तार में सेवा सम्पादन करते हैं। जैसे—

या श्रीराधाङ्गकान्तिः सततसहचरी रङ्गदेवी सखीषु
स्तोको गोपाग्रणीर्यः सखिषु गुणनिधिर्व्यूहमध्येऽनिरुद्धः।
साक्षाच्छ्री-चक्रराजोऽसुखनदहनश्चायुधेषु प्रसिद्धो
नित्यं हस्ते च यष्टिर्विलसति विमला कोमला श्रीमुरारेः।।
दोग्ध्री वत्सान्विता या पृथुजघनवती धूसरा गोषु रम्या
निम्बार्को निम्बवृक्षे निहिततरणिराचार्य-वर्येषु मुख्यैः।
इत्येवं भावगम्यं धरणिमुपगतं तं मुदाष्टस्वरूपं
द्वैताद्वैतात्म-विद्याविततरणनिरतं निम्बभानुं नमामि।।

नित्यनिकुञ्जविहारी सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति श्री राधा के विग्रह में जो दिव्यकान्ति है, उसका प्रभाव यह है कि श्यामसुन्दर का नीलमणि सदृश श्याम-विग्रह भी जिसका सान्निध्य प्राप्त कर गौरवर्ण हो जाता है, साथ ही भ्रमर, काक, कोयल भी गौर हो जाते हैं। लगता है राधिका के उत्कर्षवर्द्धन हेतु श्रीनिम्बार्क अपनी चक्रज्वाला का समाश्रय लेकर निकुञ्ज में सेवा कर रहे हैं।

यस्या भासा कृष्णदेहोऽपि गौरो जायते देवस्येन्द्रनीलप्रभस्य।
भृङ्गः काका-कोकिलाश्चापि गौरास्तां राधिकां विश्वधात्रीं नमामः।।
(रा. उ. 4 मन्त्र)

निकुञ्ज में ही नित्य सहचरियों में श्री रङ्गदेवी रूप से युगल लाल की मधुर सेवा में सन्नद्ध है। अतः उपास्य तत्त्व के वर्णन में श्रीनिम्बार्क भगवान् स्वयं संकेत करते हैं,

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्!
सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।

भगवान् श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में प्रसन्नतापूर्वक विराजमान, हजारों सखियों द्वारा सेवित श्रीकृष्ण के अनुरूप अनन्त कल्याणगुण राशि भक्तों की सर्वविध कामना पूर्ण करने वाली दिव्यरूपा श्रीराधिका का हम सदा स्मरण करें।

सखाओं (ग्वालबालों) में स्तोक नाम के जो सखा हैं, वे भगवन्निम्बार्क हैं। प्रभु के सखा तीन प्रकार के हैं, एक वे, जो केवल सखा आहार विहार आदि में सामान्य भाव रखते हैं। दूसरे नर्मसखा, जो आहार विहार के साथ हंसी-ठिठोली करते हैं, मधुमङ्गल आदि। अन्य प्रिय सखा जो हर अवस्था में उनकी सेवा का ध्यान रखते हैं, स्तोक श्रीदामादि। व्यूहों में अनिरुद्ध व्यूह श्रीनिम्बार्क के स्वरूप है। आयुधों में परम प्रसिद्ध, असुररूपी वन के संहार में दावानलतुल्य चक्रराज श्री सुदर्शन। श्रीहरि के हस्तकमल में निर्मल एवं मसृण यष्टि के रूप में श्रीनिम्बार्क ही सुशोभित रहते हैं। गायों में सर्वाङ्गपुष्ट, सवत्सा, प्रशंसित दूध देने वाली धूसरा नामक गौ तथा निम्बवृक्ष में जिन्होंने सूर्य को स्थापित किया, अतएव आचार्यों में प्रमुख श्रीनिम्बार्क नाम से विख्यात हुए।

इस प्रकार भावों के द्वारा प्राप्य, भक्तों के उद्धार हेतु भूतल पर अवतीर्ण, श्रुतिसूत्र-सिद्ध स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त के परिज्ञान कराने में निरत, उन अष्टरूप धारी भगवान्

श्रीनिम्बभानु (निम्बार्कदेव) को अत्यन्त प्रमुदित भाव से मैं प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार सुदर्शन चक्रावतार श्री भगवन्निम्बार्काचार्य ने कलिकाल में सर्वसाधनहीन समस्त नर-नारी के कल्याण हेतु सरल भक्तिमार्ग का उपदेश देकर सद्गुरूपदिष्ट परम्परा के समाश्रयण से ही वैष्णवता प्राप्त होने का निर्देश किया, क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है **'न मद्भक्तोऽपि वैष्णवः**, अर्थात् बिना गुरु के उपदेश पञ्चसंस्काररहित भक्त मुझमें प्रेमभक्ति भले ही रखता हो, परन्तु जब तक गुरु सम्बन्ध द्वारा 6 प्रकार की शरणागति प्राप्त नहीं करता, तब तक वह वैष्णव कहलाने का अधिकारी नहीं है। जिस प्रकार किसी भी प्रत्याशी को अपनी बुद्धि-प्रतिभा से अन्तर्वार्ता में सफलता प्राप्त होने पर भी सक्षम अधिकारी द्वारा नियुक्ति आदेश के बिना निर्दिष्ट पद में कार्य करने का उसे अधिकार नहीं मिलता, उसी प्रकार शास्त्रज्ञान सम्पन्न होने पर भी ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के अनुग्रह बिना वह भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष पद में पहुँचने का अधिकारी नहीं होता। वह तो शुष्क तर्कों के जंगल में इधर से उधर भटकता ही रहता है।

श्रीनिम्बार्क धर्म-दर्शन

सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त इन षड्दर्शनों में वेदान्त दर्शन मोक्षोपलब्धि के लिए उत्कृष्ट माना गया है। 'उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता' इन तीनों को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। इस प्रस्थानत्रयी पर विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुकूल भाष्य रचनाएँ की हैं। श्रीनिम्बार्क भगवान् ने चित, अचित और ईश्वर इन तीनों तत्त्वों का परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य विवेचनपूर्वक स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार किया। वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त-प्रवर्तकों में श्रीनिम्बार्क परमप्राचीन आचार्य हुये हैं, क्योंकि उनकी भाष्य रचना में अन्य आचार्यों के सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन की चर्चा कहीं पर देखने में नहीं आती, जबकि अन्य परम्पराचार्यों ने अपनी रचनाओं में द्वैताद्वैत मत की समीक्षा की है। श्रीनिम्बार्क से चौथी पीढ़ी में श्री पुरुषोत्तमाचार्य हुए, उन्होंने श्रीनिम्बार्क भगवान् द्वारा विरचित वेदान्त कामधेनु (दशश्लोकी) पर वेदान्तरत्नमञ्जूषा नाम से विस्तृत व्याख्या लिखी। उसमें आपश्री ने प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद की समीक्षा जरूर की है। कुछ लोगों की भ्रान्तधारणा है कि शङ्कराचार्य के अद्वैतसिद्धान्त और श्री मध्वाचार्य के द्वैत सिद्धान्त को देखकर श्रीनिम्बार्काचार्य ने उन दोनों से भिन्न समन्वयात्मक द्वैताद्वैत सिद्धान्त को अपनाया है। उन्हें इतिहास के पूर्वापर और भाष्यों का पर्याप्त अनुशीलन करना चाहिए। तथ्य तो यह है कि श्रीनिम्बार्क के स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त को उपजीव्य मानकर विविध मतों का उदय हुआ। **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'** इस मायावाद सिद्धान्त को वैष्णवाचार्यों ने कभी स्वीकार नहीं किया। 'विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद आदि वैष्णवाचार्यों के सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव स्वाभाविक द्वैताद्वैत के पश्चात् हुआ है। श्रीशङ्कराचार्य ने भी द्वैताद्वैत की समीक्षा की है, किन्तु श्रीनिम्बार्क ने केवलाद्वैत की चर्चा नहीं की है। अतः वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त प्रवर्तकों में श्रीनिम्बादित्य सर्वप्राचीन आचार्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

श्रीनिम्बार्क भगवान् ने स्वरचित वेदान्त दशश्लोकी में उपास्य, उपासक, कृपाफल, भक्तिरस तथा विरोधितत्त्व इन पाँच अर्थों के साथ परम्परा सिद्धान्त और साधनातत्त्व का

सम्यक् वर्णन किया है। ब्रह्मसूत्र के चारों अध्यायों में वर्णित पदार्थ-प्रमाण साधना फल तत्त्वों को संक्षेप में दशश्लोकी के अन्दर समाहित किया है। वैष्णव जगत् में वस्तुतः यह कामधेनु स्वरूप है।

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्रसाधिता।।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृतिपुरुष, क्षराक्षर आदि पदों द्वारा व्यवहृत समस्त चेतन अचेतन रूप जगत् का आत्मा परब्रह्म है, अतः निखिलवस्तु ब्रह्मात्मक है। उन्हीं का विज्ञान यथार्थ है, अर्थात् तीनों सत्य हैं। इस तथ्य को वेदवेत्ता महर्षि, व्यास, मनु आदि ने प्रमाणित किया है। अतः चेतन अचेतन का ब्रह्म के साथ स्वाभाविक भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध औपनिषदों का मान्य मत है। यहाँ पर वस्तु शब्द जगत् को मिथ्या बताने वालों के मत का निरासक है।

ब्रह्म की स्वतन्त्र सत्ता एवं जीव जगत् की परतन्त्र सत्ता है। परतन्त्रसत्ता का लक्षण है **'परायत्तं स्थितिप्रवृत्तिकत्वम्'** अर्थात् परमात्मा के अधीन है, स्थिति प्रवृत्ति वह चित् अचित् वर्ग। एतावता स्वरूप से भिन्न होते हुए भी ब्रह्माधीन स्थिति प्रवृत्तिक होने से अभिन्न है। यही शास्त्र सम्मत स्वाभाविक भेदाभेद सिद्धान्त निम्बार्क दर्शन का स्वरूप है।

'उपासितुं योग्यः उपास्यः' अर्थात् उपासना करने योग्य तत्त्व परमात्मा को उपास्य कहते हैं। तत्त्वमसि इत्यादि उपदेश महावाक्य में तत्पद से तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि अनुभव महावाक्य में ब्रह्मपद से परमात्म तत्त्व का निर्देश किया है। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वचनों से सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं। उनके स्वरूप विग्रह भेद से दो प्रकार के गुण शास्त्रों में बताये गये हैं। 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णः' इत्यादि वचनों से विगृह्यगुणों का और 'सत्यकामः सात्य संकल्पः', 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि वचनों से स्वरूप गुणों का संग्रह किया है।

यद्यपि निर्गुण निरञ्जन आदि शब्दों द्वारा परमात्मा निर्गुण निराकार निर्विशेष कहा जाता है, तथापि श्रुतियों में जो निर्गुण आदि शब्द हैं, उनका तात्पर्य प्रकृतिजन्य सत्त्वादि गुण राहित्य होना कहा गया है। अतः

निर्गुणं तदिति वैदिकं वचोऽविद्यया त्वयि विशेषणासहे।
वस्तुतोऽखिलविशेष-सागरे नौ विरुद्धमिति तावदस्तु मे।।

इत्यादि आचार्योक्ति सङ्गत होती है। इस अभिप्राय से श्रीकृष्ण को सविशेष निर्विशेष रूप में निरूपित करते हुए श्रीनिम्बार्क भगवान् कहते हैं—

स्वभावतोऽपास्त समस्त-दोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।।

इसी प्रकार श्रीभूलीला आदि शक्तियों से युक्त ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए। उनमें रुक्मिणी ऐश्वर्याधिष्ठात्री श्रीशक्ति है, सत्यभामा आधार रूप भूशक्ति तथा वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा श्रीकृष्ण की आह्लादिनी लीला शक्ति हैं। ये शक्तियाँ अनिन्द्य स्वरूपा कल्याण-गुण

निधान अनुरूप सौभाग्यशालिनी सच्चिदानन्द श्रीकृष्णात्मिका हैं। उनका स्मरण सर्वविध अभीष्ट फल देने वाला है—आचार्य निर्देश करते हैं—

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।

यहाँ पर तु और देवी शब्द से भाष्यकार ने सत्यभामा और रुक्मिणी अर्थप्रश्लिष्ट किया है।

इसी प्रकार '**ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं**' '**अनादिमायापरियुक्तरूपं**', इन दो पद्यों में उपासक जीवतत्त्व का स्वरूप लक्षण बताया गया है। प्राकृत-अप्राकृत, काल के भेद से प्रकृति तत्त्व के तीन भेद वर्णित हैं। '**नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्**' इस पद्य में साधन तत्त्व का निरूपण किया है। नवम पद्य द्वारा भगवत् कृष्णैकलभ्यपराभक्ति का स्वरूप बताया गया है। '**कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते**' इत्यादि। यही कृपाफल है। इसी कृपाफल रूप भक्ति से भगवद्भावापत्ति स्वरूप मोक्षानुभूति अर्थात् भक्तिरस की प्राप्ति होती है। अन्तिम पद्य उपसंहार के रूप में अर्थपञ्चक का संग्रह स्वरूप है। भगवदाराधना में देहात्माभिमान, अविश्वास आदि विरोधितत्त्वों का परिज्ञान और उनका त्याग साधना के लिए आवश्यक बताया है।

उपास्य रूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽथा अपि पञ्च साधुभिः।।

इस प्रकार आद्याचार्य प्रवर ने 'गागर में सागर' वाली उक्ति को चरितार्थ करते हुए समस्त वेदान्त दर्शन के रहस्यों को इसमें समाहित किया है। अन्त में जो शरणागत जनों के हृदयान्धकार को दूर करने में साक्षात् सूर्य हैं, समस्त ज्ञान-विज्ञान के सागर हैं, भक्तों की अनन्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने में चैतन्यस्वरूप चिन्तामणि हैं, ज्ञान-वैराग्य संवलित रसिक सन्तरूपी भ्रमरों का अभीष्ट हृदयरूपी कमलों को विकसित करने में जो कारण हैं, वे अनुग्रह-विग्रह सुदर्शन चक्रावतार मुनिकुमार जयन्तीनन्दन श्री भगवन्निम्बार्काचार्य हमारे जन्म मरणादि सांसारिक दुःखों का शमन कर स्वानुग्रह द्वारा भगवद्भक्ति का अमन्द आनन्दाभिवर्धन करें, यही मङ्गलमयी अभ्यर्थना है।

हार्दध्वान्तनिरासवासरमणिर्विज्ञानवारान्निधि-
र्भक्त्याभीष्ट-सहस्रपूरणविधौ चैतन्य-चिन्तामणिः।।
सद्भृङ्गेप्सित-चारुचित्तनलिनी व्याकोषहेतूदयः
सोऽस्माकं कुरुतां भवर्तिशमनं निम्बार्कनामो मुनिः।।

प्राचार्य,
श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय,
निम्बार्कतीर्थ-सलेमाबाद।

❑

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

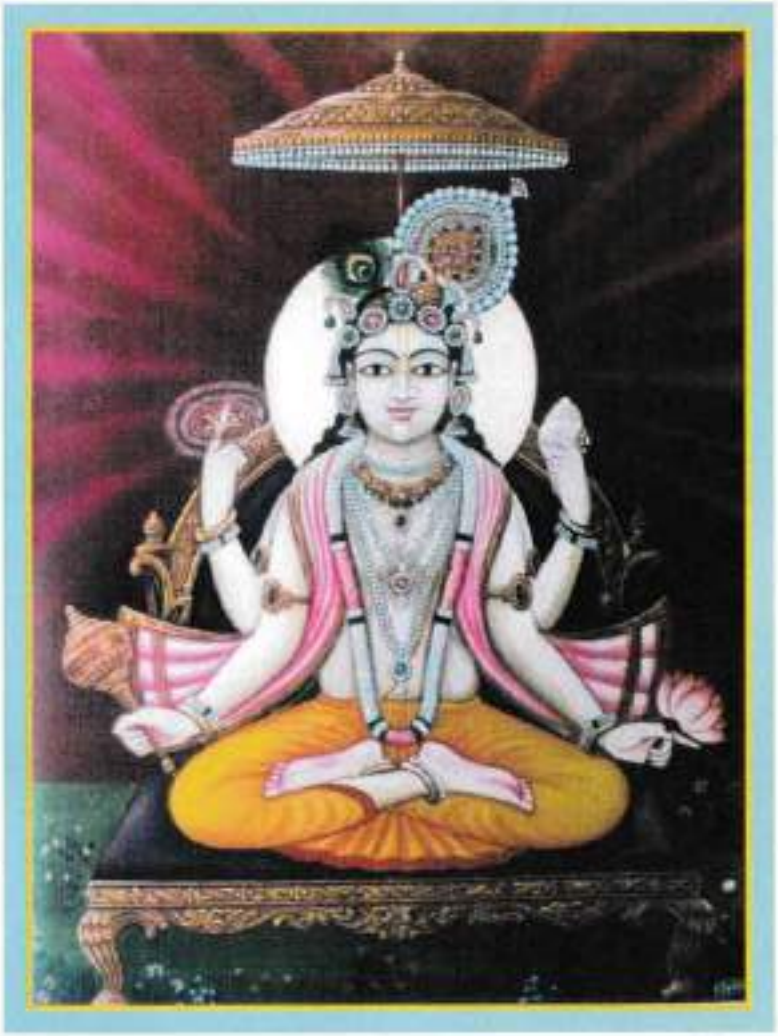

श्री हंस भगवान

अ०भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठस्थ–श्रीसर्वेश्वर–राधामाधव
प्रभु के मन्दिर चौक प्रवेश का

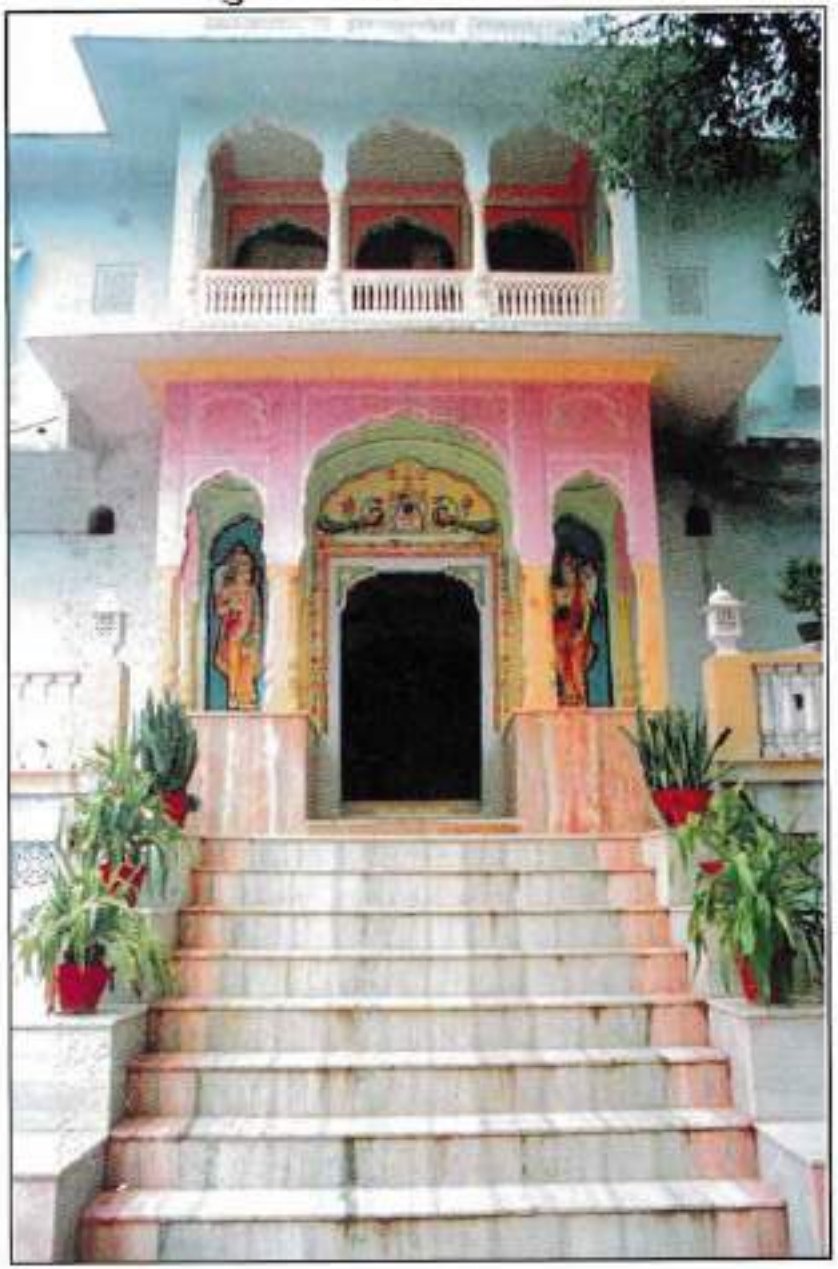

सिंहपोल का मुख्यद्वार

महर्षिवर्य श्री सनकादि संसेव्य – श्री सर्वेश्वरप्रभु

श्री सनकादि महर्षि
(सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार)

।। श्री राधासर्वेश्वरो जयति।।

देवर्षिवर्य श्रीनारदजी

।। श्री राधासर्वेश्वरो जयति।।

श्रीसुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु
श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य

।। श्री राधासर्वेश्वरो जयति।।

भगवान श्रीसर्वेश्वर – राधामाधव प्रभु

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

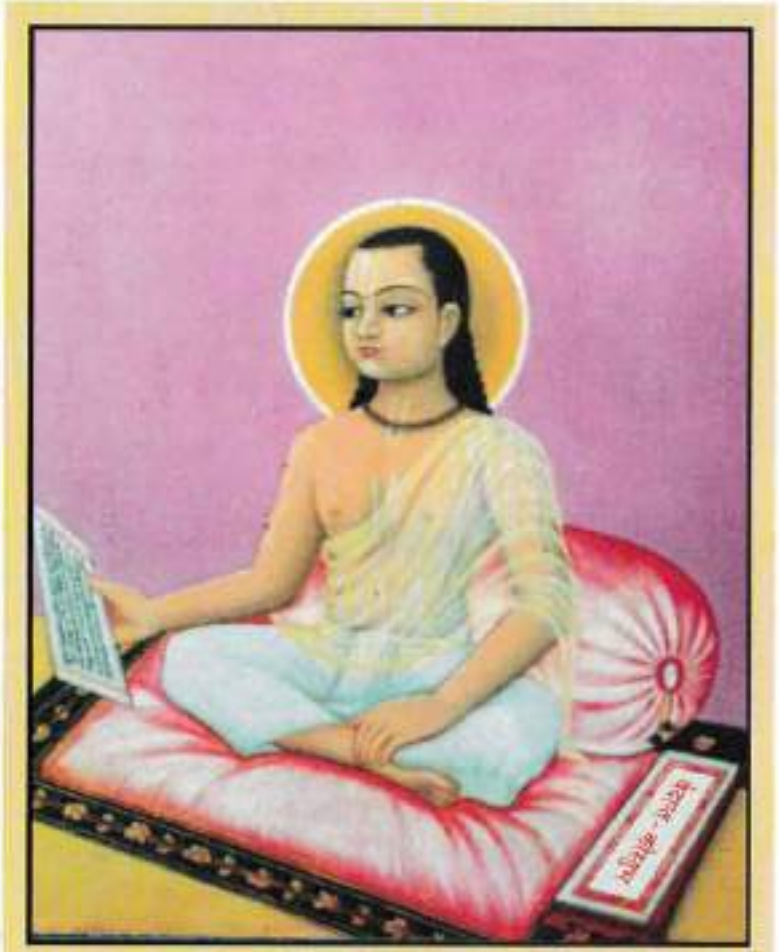

पाञ्चजन्य शंखावतार वेदान्त कौस्तुभ भाष्यकार

आचार्यवर्य श्रीनिवासाचार्यजी

श्रीद्वादश आचार्य में– १. श्रीनिवासाचार्य, २. श्रीविश्वाचार्य, ३. वेदान्तरत्न मञ्जूषाकार श्री पुरुषोत्तमाचार्य, ४. श्रीविलासाचार्य, ५. श्रीस्वरूपाचार्य, ६. श्रीमाधवाचार्य

७. श्रीबलभद्राचार्य, ६. श्रीपद्माचार्य, ९. श्रीश्यामाचार्य, १०. श्री गोपालाचार्य
११. श्री कृपाचार्य, १२. जान्हवी (ब्रह्मसूत्र भाष्य) कार श्रीदेवाचार्य

अष्टादश भट्टाचार्य में—१. सेतुका (जान्हवी व्याख्या) कार श्रीसुन्दरभट्टाचार्य, २. श्रीपद्मनाभट्टाचार्य,
३. श्रीउपेन्द्रभट्टाचार्य, ४. श्रीरामचन्द्रभट्टाचार्य, ५. श्रीवामनभट्टाचार्य, ६. श्रीकृष्णभट्टाचार्य,
७. श्रीपद्माकरभट्टाचार्य , ८. श्रीश्रवणभट्टाचार्य , ९. श्रीभूरिभट्टाचार्य

१०. श्री माधवभट्टाचार्य, ११. श्रीश्यामभट्टाचार्य, १२. श्रीगोपालभट्टाचार्य, १३. श्रीबलभद्रभट्टाचार्य,
१४. श्रीश्रीगोपीनाथभट्टाचार्य, १५. श्रीकेशवभट्टाचार्य, १६. श्रीगांङ्गलभट्टाचार्य,
१७. श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य, १८. श्रीश्रीभट्टदेवाचार्य

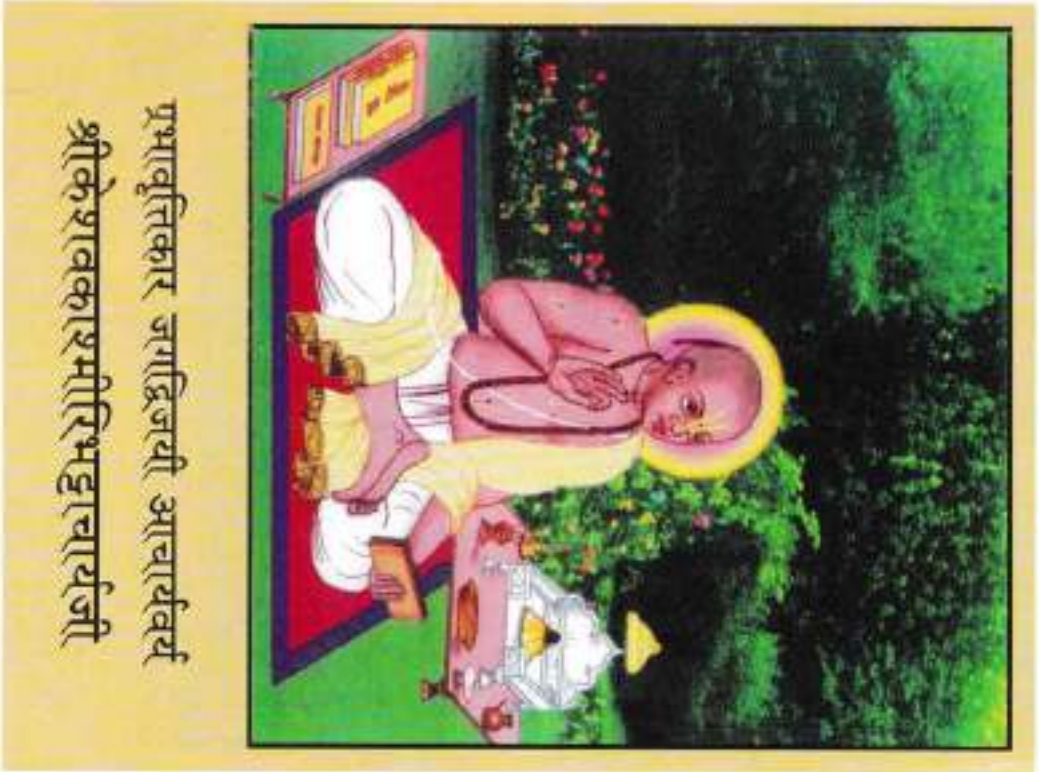

प्रभावृत्तिकार जगद्विजयी आचार्यवर्य
श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यजी

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति ॥

।। श्री राधासर्वेश्वरो जयति।।

ब्रजभाषा आदिवाणी——श्रीयुगलशतककार
आचार्यवर्य श्रीश्रीभट्टदेवाचार्य

।। श्री राधासर्वेश्वरो जयति।।

महावाणी–कार
आचार्यवर्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्य

।। श्री राधासर्वेश्वरो जयति।।

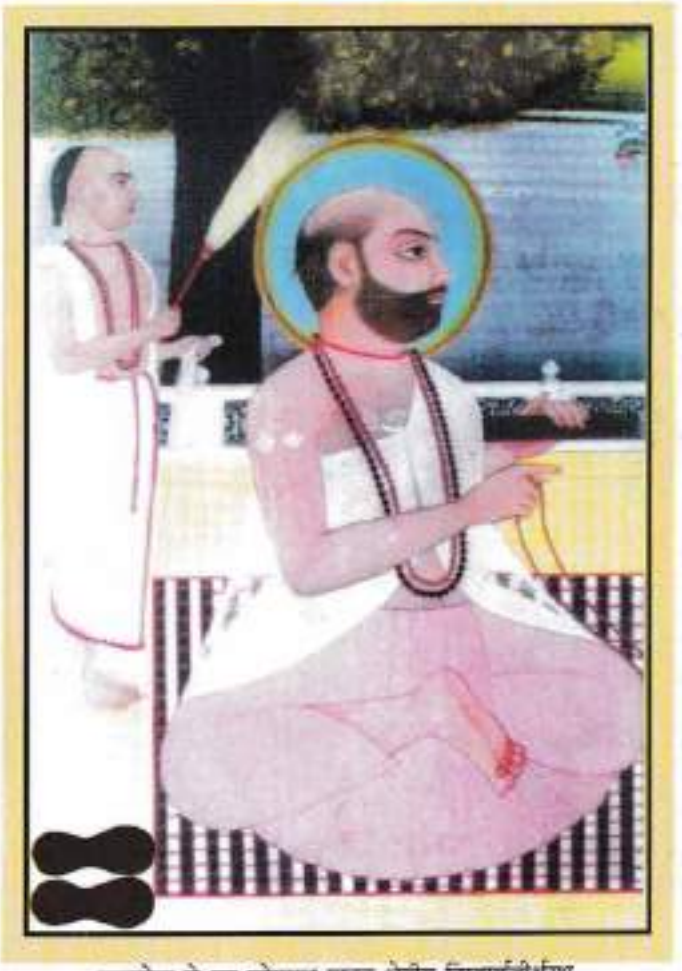

ब्रजप्रदेश से मरु प्रदेशस्थ पुष्कर क्षेत्रीय निम्बार्कतीर्थस्थ–
अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ के संस्थापक आचार्यवर्य
वाणी ग्रन्थकार श्री परशुरामदेवाचार्यजी (श्री स्वामीजी) महाराज

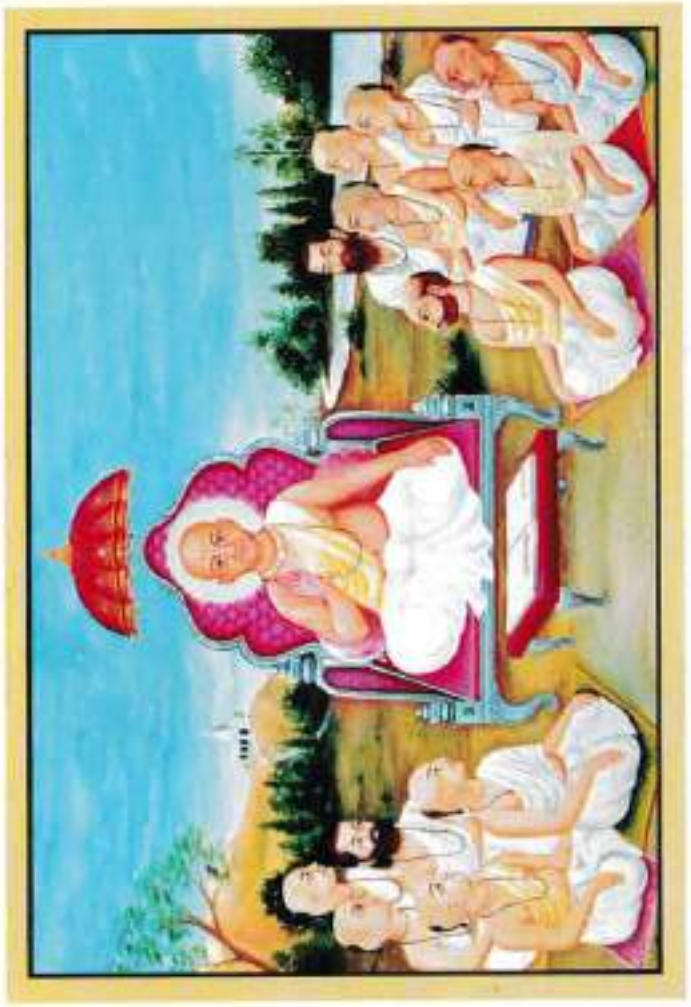

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्री निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर रसिकराजराजेश्वर महावाणीकार
श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज अपने द्वादश शिष्यों को उपदेश प्रदान करते हुए।

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

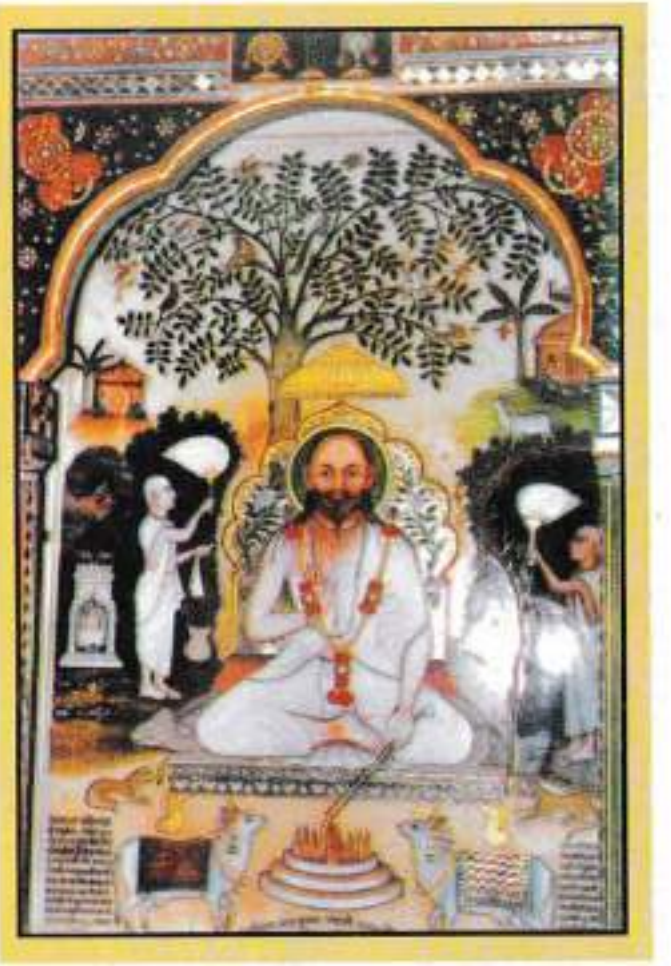

व्रजप्रदेश से मरु प्रदेशस्थ पुष्कर क्षेत्रीय निम्बार्कतीर्थस्थ–
अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ के संस्थापक आचार्यवर्य
वाणी ग्रन्थकार श्री परशुरामदेवाचार्यजी (श्री स्वामीजी) महाराज

कालिन्द गिरि नन्दिनी श्रीकृष्ण प्रिया श्रीयमुना तटवर्ती अपने स्थान श्रीनारद टीला पर श्रीहरिव्यासदेवाचार्य जी
महाराज श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी को श्री सर्वेश्वर प्रभु की सेवा समर्पण करते हुए।

।। श्री राधासर्वेश्वरो जयति।।

आचार्यवर्य श्रीहरिवंशदेवाचार्य

।। श्री राधासर्वेश्वरो जयति।।

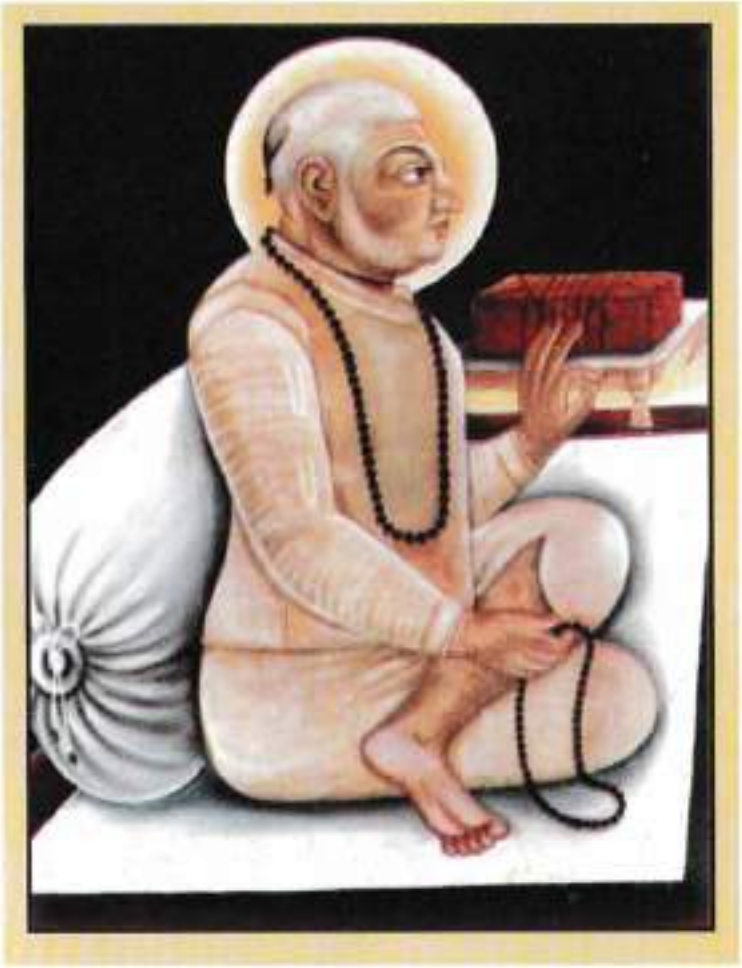

आचार्यचरित–ग्रन्थकार
आचार्यवर्य श्रीनारायणदेवाचार्य

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

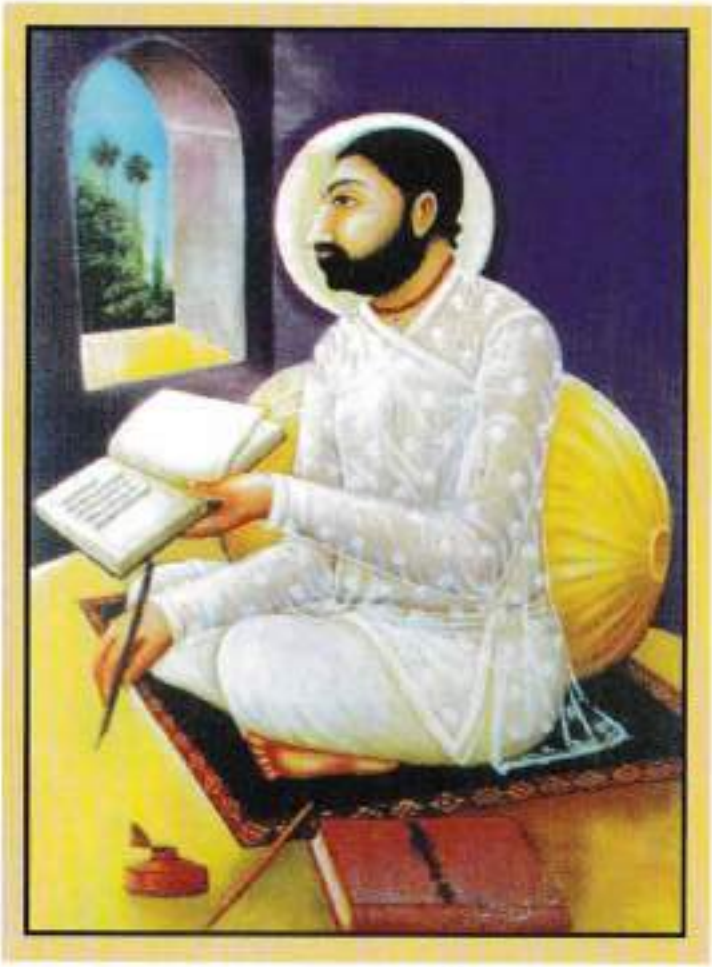

गीतामृतगङ्गा–वाणीकार
आचार्यवर्य श्रीवृन्दावनदेवाचार्य

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

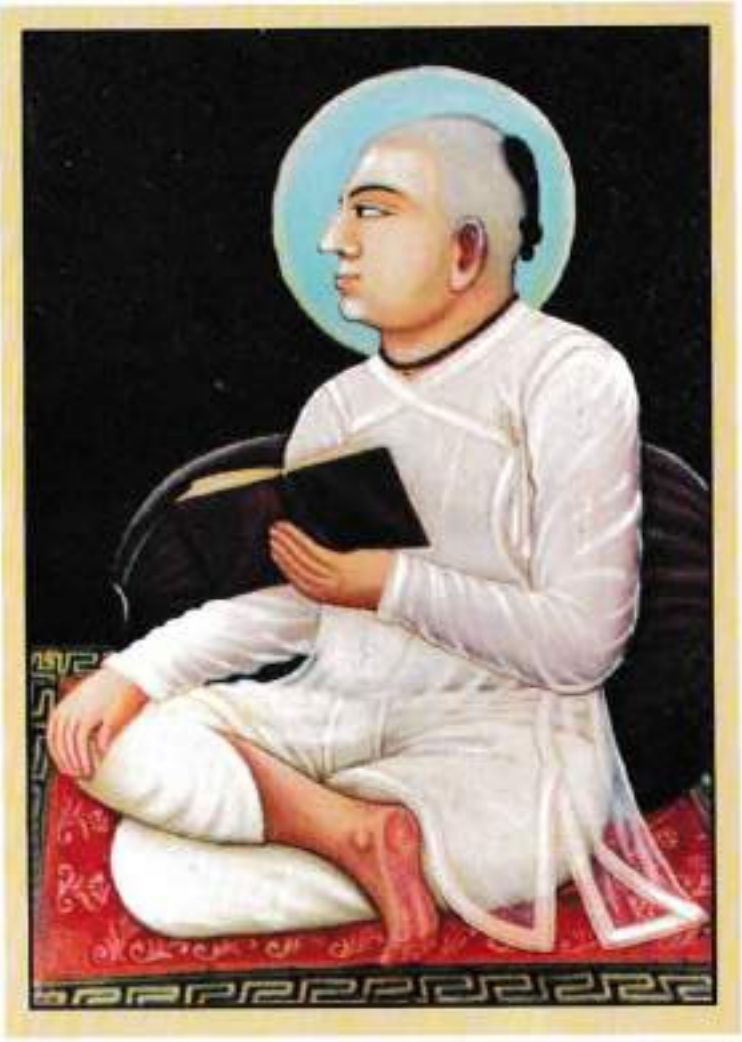

वाणीग्रन्थकार
आचार्यवर्य श्रीगोविन्ददेवाचार्य

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

गोविन्दवाणीग्रन्थकार

आचार्यवर्य श्री श्रीजी श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्य

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

श्रीमद्भागवत–सर्वेश्वरी व्याख्याकार

आचार्यवर्य श्री श्रीजी श्रीसर्वेश्वरशरणदेवाचार्य

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

संस्कृत स्तोत्रकार

आचार्यवर्य श्री श्रीजी श्रीनिम्बार्कशरणदेवाचार्य

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

संस्कृत स्तोत्रकार

आचार्यवर्य श्री श्रीजी श्रीव्रजराजशरणदेवाचार्य

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

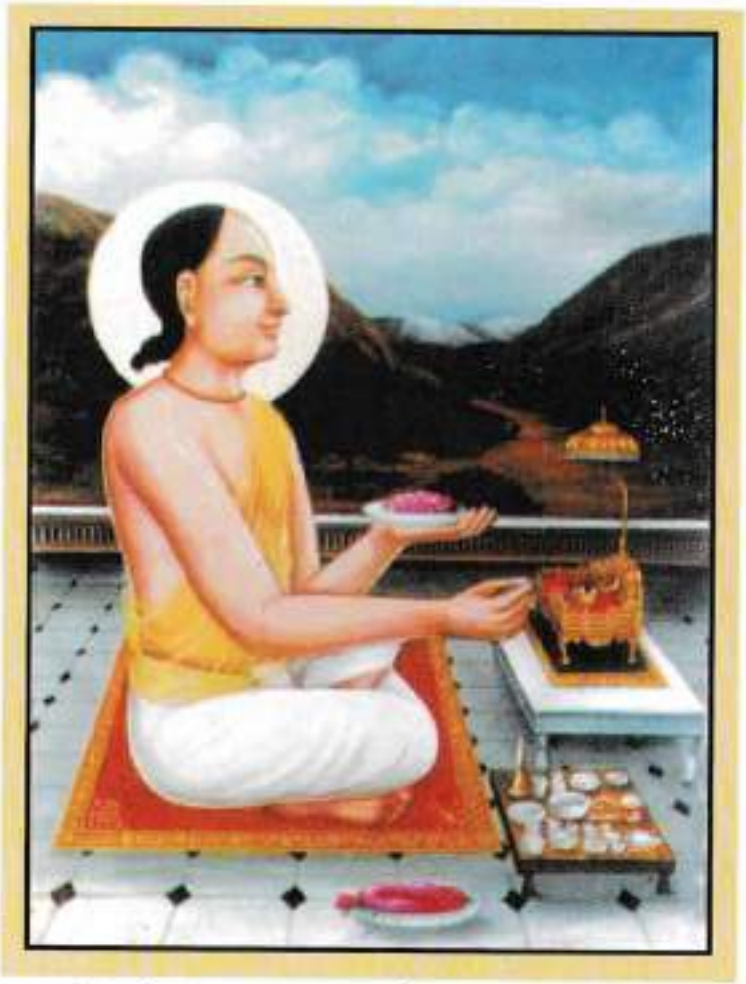

आचार्यवर्य श्री श्रीजी श्रीगोपीश्वरशरणदेवाचार्य

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

आचार्यवर्य श्री श्रीजी श्रीघनश्यामशरणदेवाचार्य

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

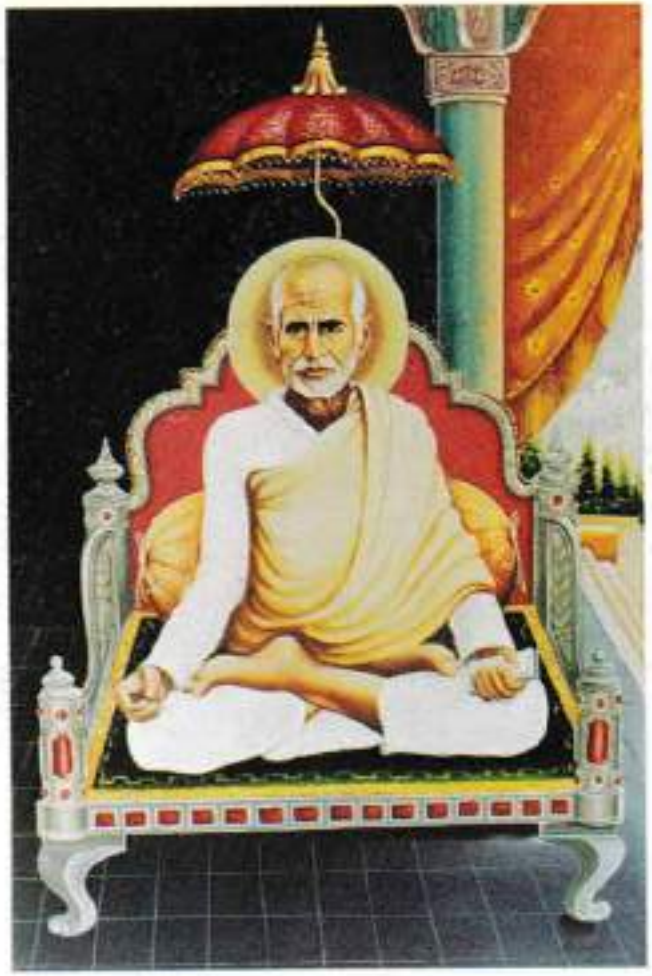

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर
श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी महाराज'

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर
श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी महाराज'

कोलाहल दैत्य के भय से विल्व वृक्ष पर शंकर, पीपल में विष्णु, शिरीष में इन्द्र, निम्ब–नीम में सूर्य ने सूक्ष्म रूप में आश्रय लिया। महाविष्णु ने प्रकट होकर दैत्य का वध किया जहाँ निम्ब वृक्ष में सूर्य ने निवास किया वही निम्बार्कतीर्थ कहलाया।

नियमानन्द क्या है?

डॉ. प्रभाकर शास्त्री

आचार्यचक्रचूडामणि श्रीसुदर्शनचक्रावतार, अरुण-जयन्तीनन्दन, श्रीनिम्बार्क भगवान् ने अवनीतल पर प्रकट होकर भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा का जो अद्वितीय कार्य किया है, वह किसी से प्रच्छन्न नहीं है, क्योंकि "राम एक तापस तिय तारी। नाम अमित खल कुमति सुधारी।।" गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी की यह उक्ति श्रीनिम्बार्क के अवतार-कार्य में भी चरितार्थ होती है। महापुरुषों का सदा से यही कार्य चला आया है कि वे निजाचरण एवं उपदेश के द्वारा धर्म की ग्लानि को हरण करके सत्पथ से भ्रष्ट एवं किंकर्तव्यविमूढ़ संसारी जीवों में उसके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न करते रहे हैं।

जब द्वापर के चतुर्थपाद में कलि की छाया स्पष्टरूप से दिखाई देने लग गई थी, और सब धर्मों के साररूप एवं शिरोमणि भागवत-धर्म के हृदय में पूर्णतया सन्देह-राहु से ग्रस्त होने की आशंका हो चुकी थी, तब जीवों के हृदय में भागवत-धर्म-मार्तण्ड की देदीप्यमान प्रकाश-किरणों का संचार करने के लिए भगवान् निम्बार्क का भगवदादेश से उदय हुआ। उस समय शास्त्रीय-जगत् की ऐसी दुःस्थिति हो गई थी कि—"मारग सोइ जाको जो भावाँ। पंडित सोइ जो गाल बजावा।।" शास्त्रों के यथार्थ तात्पर्य का अनर्थ होने लगा था। मत-मतान्तरों की खींचतान में शास्त्र-तात्पर्य संदिग्ध हो गया था। कितने ही तथाकथित दार्शनिकों ने श्रुतितात्पर्यबाह्य अपना-अपना तृतीय पंथ खड़ा कर दिया था। शास्त्रीय जगत् की ऐसी अवस्था में भगवदादेशानुसार प्रकट होकर श्रीनिम्बार्क भगवान् ने जो शास्त्रविरोधपरिहार का कार्य किया एवं भेद और अभेद की आपस में फिर से परममित्रता कराई, उसकी तुलना में दार्शनिक जगत् के इतिहास में एक भी उदाहरण नहीं मिलता है।

यही श्रीनिम्बार्क का असाधारण वैशिष्ट्य एवं प्रधान अवतार-कार्य रहा। उपासना-क्षेत्र में भी श्रीनिम्बार्क भगवान् की महिमा अद्वितीय रही है। श्रीराधा-कृष्ण की रसमय उपासना के सर्वप्रथम उद्घोषक आप ही हुए हैं। आपने अपनी 'अरुणजयन्ती-नन्दनता' को अन्वर्थक करते हुए परात्पर असमोर्द्ध श्रीयुगल रूप की परम्परागत उपासना का उपदेश किया, जिसमें (युगलस्वरूप सेवा में) नवनवायमान अनुराग ही 'अरुणता' है तथा विश्व की समस्त शक्तियों को परस्पर की सहायक बनाकर एक अखिलात्मा श्रीसर्वेश्वर की सेवारूप सूत्र में आबद्ध करना ही जिनकी 'जयन्ती-नन्दनता' रूप विश्वविजेतृता एवं जगद्गुरुत्व है।

ब्रह्मसूत्र-निर्णीत सिद्धान्तों के अनुसार ही श्रीनिम्बार्क के उपदेश में भी वेदों का परमात्म निःश्वसित होने से स्वतः प्रामाण्य सविशेष ब्रह्मवाद, सत्कार्यवाद, जीवकर्मसापेक्ष ईश्वरायत्त जन्मवाद, ईश्वरप्रसादाधीन-मुक्तिवाद, अप्राकृत-नित्यमुक्तिधामवाद, कर्म-ज्ञान-

योग-वैराग्यादि समस्त निःश्रेयस साधनों का भगवद्-उपासनाशेषत्व (अर्थात् कर्मज्ञानादि मुक्तिसाधनों का पराभक्तिनिष्ठा में अन्तिम पर्य्यवसान) इत्यादि प्रधान उपदेश हैं।

आपका 'नियमानन्द' यह नाम भी संसार के सभी विरोधों का शमन करने के लिए पर्याप्त है। 'नियमानन्द' इस सामासिकपद का विग्रह कई प्रकार से होता है, जैसे—"नियमश्चासौ-आनन्दश्च' ऐसा विग्रह करने से 'विश्वनियामक आनन्द-स्वरूप श्रीसर्वेश्वर" यह अर्थ होता है। अर्थात् विश्वनियन्ता ही परमानन्दस्वरूप है और जीव उसी की आराधना के द्वारा यदि उसका संपादन करता है, तो अवश्य वह भी आनन्द को प्राप्त हो जाता है। इससे-सर्वात्मा श्रीसर्वेश्वर की उपासना से ही शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है। ईश्वरोपासना-निरपेक्ष जीव को न तो नित्य आनन्द की प्राप्ति हो सकती है और न सच्ची शान्ति ही उसको प्राप्त हो सकती है, यह सिद्धान्त सूचित होता है।

आधुनिक युग में साम्यवादी, ईश्वर-धर्म-निरपेक्ष होकर विश्व में शान्ति स्थापन करने जा रहे हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों भौतिक-विज्ञान की उन्नति होती जा रही है, त्यों-त्यों अशान्तिमय जीवन संघर्ष बढ़ता जा रहा है। इस बात को गत शताब्दी का इतिहास प्रमाणित कर रहा है। ईश्वर-धर्म-निरपेक्ष साम्यवादादि आधुनिकवाद मानव को सच्ची सुख-शान्ति देने में किस प्रकार असमर्थ हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आजकल का समस्त संसार ही है। यदि विश्व की समस्त सरकारें औपनिषद ईश्वरवाद रूप सत्य—'नियमानन्द' को—अंगीकार करलें और तदनुसार शासनविधान बनावें और उसको कार्यान्वित करें, तो कल ही विश्व में शान्ति साम्राज्य-स्थापित हो सकता है। औपनिषद ईश्वरवाद कोई अनावश्यक सम्प्रदाय-वाद नहीं, अथवा सहज तोड़ सकें ऐसा कच्चा धागा नहीं। यह एक विश्वव्यापी सत्य है। यह ईश्वरवाद गणित-शास्त्र के नियमों से भी कहीं अधिक अटल है।

विश्व की उत्पत्ति उसके संचालन, नियमन एवं उपसंहार करने वाला अवश्य अचिन्त्यानन्त शक्तिमान् कोई सर्वज्ञ, सर्वव्यापी ही हो सकता है। उस जैसी प्रेरकचेतन-निरपेक्ष अचेतन प्रकृति स्वयं न तो चेष्टा कर सकती है और न जगद्रचना ही कर सकती है। यदि कर सकती है, ऐसा मानें तो पहाड़ के पत्थर भी चेतन प्रेरक निरपेक्ष ही स्वयं आकर सुन्दर प्रसाद के रूप में क्यों नही खड़े हो जाते? मृत शरीर स्वयं चेष्टा क्यों नहीं करता? अतएव ईश्वर-सत्ता अवश्य अंगीकार करनी पड़ती है। "इसलिए 'नियमानन्द' यह एक ही शब्द आज समस्त संसार को यह चेतावनी दे रहा है कि—'सावधान'! शान्ति और आनन्द चाहते हो, तो उस 'नियम' की (= विश्वनियन्ता सर्वेश्वर की) आधीनता में रहना सीखो! अन्यथा सच्ची सुख-शान्ति कदापि नहीं मिल सकती है।"

'नियमानन्द' शब्द का दूसरा अर्थ है 'नियम' अर्थात् विश्व का नियामक, शास्त्र 'वेद'। परमात्मवाक्य होने से 'वेद' स्वतः प्रमाण है। स्वयं वेद ही अपना आविर्भाव परमात्मा से बतला रहे हैं—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।" (पुरुष सूक्त)

"एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः।" इत्यादि।

अतएव वेद-मंत्रों का साक्षात्कार करने वाले ऋषि उन मन्त्रों के केवल द्रष्टा मात्र माने गए हैं, रचयिता नहीं।

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।"

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा के प्राकट्य के पूर्व भी वेदराशि यथावत् विद्यमान थी। जब ईश्वर नित्य है, तो उसका ज्ञापक एवं उसका शासनविधान भी नित्य है। एक छोटी-सी रियासत के राजा का भी कुछ न कुछ शासन विधान रहता है, तो क्या अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीसर्वेश्वर का शासन विधान कुछ भी नहीं होगा? प्राकृतिक विश्व परिवर्तनशील है, किन्तु सर्वाधार अखिलेश का विधान अचल है। प्राणियों को क्रम-क्रम से निःश्रेयस की प्राप्ति कराने में जो जो आवश्यकीय नियमावलि है, वह सदा के लिए निश्चित है। अतएव वेद-धर्म कोई विशिष्ट संप्रदायवाद नहीं। वह समस्त विश्व का धर्म है। यदि यथार्थ 'मानवता' प्राप्त करनी है, तो समस्त मानवों को 'नियमानन्द' (=वेदानुशासन में ही आनन्द) का अनुसरण करना पड़ेगा।

'नियमानन्द' समास में 'नियम' शब्द का तीसरा अर्थ 'संयम' है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शक्तियाँ आदि सबका 'नियमन' अपेक्षित है। यदि सच्ची सुख-शान्ति चाहते हो तो भौतिक उन्नति जितनी सुख-दायी होती है, उससे कई गुनी अधिक दुःखदायी भी है। जैसे आजकल 'अणु-शक्ति' उदजन-शक्ति आदि विश्व-विनाश का भय दिखा रही है। यह है आधुनिक प्रगतिशील मानवता! अतएव वेदानुशासन एवं शक्ति-संयमन के बिना शान्तिसुख दुर्लभ है। वर्ण आदि की विषमता रहने पर भी 'आत्मन्यन्येन सर्वत्र' 'शुनि चैव श्वपाके च' इत्यादि वैदिक साम्यवादी 'मानवता' कितनी सुन्दर एवं उपादेय है! चिन्तनीय विषय है। सारांश यह है कि—'वेद की बताई हुई मर्यादाओं में चलो, मन-बुद्धि इन्द्रियों का संयमन करो, और सर्वत्र ही सर्वेश्वर की सत्ता का अनुभव करो, जिससे अखंड आनन्द प्राप्त हो"—यही दिव्य-सन्देश 'नियमानन्द' नाम संसार के कोटि-कोटि संतप्त प्राणियों को दे रहा है।

254, शास्त्री सदन, खूंटेटा मार्ग, जयपुर।

❑

।।श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः।।

पं. राधावल्लभ शास्त्री

श्रीराधिकासिन्धुमबन्धुबन्धुं
श्रये श्रमाणामुपशान्तयेऽहम्।
शुकोऽपि हंसत्वमियाय यस्य
यशः पयोराशि-निषेवणेन।।1।।
श्रीनिम्बार्कमुनीन्द्रस्य पीठाधिष्ठातृ-पादयोः।
प्रणिपत्य प्रसन्नात्मा, लेखायोपक्रमे लघु।।2।।
न स्पर्धा न स्पृहा काचित् न पुरस्कृति-कामना।
स्वस्मिन्नात्मनि यत्सत्यं, सम्यक् संज्ञापयामि तत्।।3।।

द्वैताद्वैतसिद्धान्त एवं रसोपासना वेदवाङ्मय के समान अनादि एवं अपौरुषेय है। उपनिषत् समूह के समान वेद की ही आचरणात्मक व्याख्या है, यह कौस्तुभ कांति के समान स्वयं प्रकाश है। जब यह प्रभु की प्राणप्रिया पद्धति अज्ञानियों, अल्पज्ञानियों के द्वारा उपेक्षित होने लगी, शास्त्रार्थियों के स्वांग वाले अभिमानियों की बितंडाओं से, कर्कश तर्कों से, कचोटी (नोची) जाने लगी, पक्षपात के पाषाण प्रहारों से पीडित होने लगी, तो भी—

गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात्, तस्माद् यत्नेन गोपयेत्।।

के अपने पुरातन प्रण से विचलित न हुई। उसकी यह पूर्ण पराकाष्ठा उसकी प्रतिष्ठा के विपरीत पराजय प्रतीत होने लगी।

जब बहिर्मुखता की वाचालता ने अंतरंगता की मौन शान्ति के समक्ष गर्जना (टांडना) आरम्भ किया तो सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर का—

परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, संभवामि युगे-युगे।।

भगवद्गीता के, तथा

गोविप्रसुरसाधूनां छंदसामपि चेश्वरः।।
रक्षामिच्छन् तनूर्धत्ते... (भागवत 8/24/5)

के प्रण एवं आश्वासनानुसार प्रभु के श्रीमुख पर मंदस्मित अवहेलना सहित कौंध गया तो पार्षद आयुध योगमाया आदि सभी तत्परता से संकेत की प्रतीक्षा करने लगे, परन्तु उन ब्रह्मण्यदेव को तो अपनी अन्तरंग रसोपासना की ही पुनः संस्थापना करनी थी। प्रेमविशेष

लक्षणा, साध्याभक्ति के ही रंग से रसिकता शून्यों को अनुरंजित करना था। इसलिए रासरस रत्नरूपिणी श्रीरंगदेवी की ओर ईषत् ईक्षण किया।

दार्शनिक अवरोधों-विरोधों के उपशम के लिए वस्तुतः ये ही सुदर्शन स्वरूपा हैं।

वामपार्श्व के आयुधों की अपेक्षा ये ही दक्षिण पार्श्व के (चतुर निपुण) अस्त्रग्रामाग्रणी हैं।

तात्त्विक परिगणना में तेजस्तत्त्व के अधिष्ठाता भगवान् सूर्य हैं। (भागवत 12/11/14)

उस सांकेतिक आदेश का अर्थ था कि—

1. बिना आयुध, अनुशासन के, केवल तपस्या, स्वाध्याय, आचरण के द्वारा ही रसोपासना का पुनः सम्यक् संस्थापन करना है।
2. वेदनिर्दिष्ट विज्ञान सम्पूर्णतः शाश्वत है। उसे गौण मुख्य, इष्टद्विष्ट, पूर्वपक्षोत्तर पक्ष तथा अपेक्षित उपेक्षित आदि उपाधियों से मुक्त, हेयोपादेयता के वाग्जाल से अनावृत एवं यथार्थ रखना है।
3. श्रीसर्वेश्वरकृष्ण के चरणारविन्द की भक्ति ही परम तथा एकमात्र पुरुषार्थ है।
4. समस्त जीवों का कल्याण करना ही प्रमुख उद्देश्य है।

श्रीचक्रराज ने प्रभु के आज्ञा-संकेत को शिरोधार्य किया और अनादि वैदिक परम्परा के पुनरुद्धार के लिए, संहार नहीं, सुधार के लिए; मुधार्थ नहीं, यथार्थ के लिए; कलह नहीं, सुलह के लिए; अवनि को पावन करने, अनन्य जनों को धन्य करने के लिए श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य चरणों का अद्भुत तथा अभिनव आविर्भाव हुआ।

धरणी धन्य हुई, पवन पावन हुआ, प्रकाश की परम्परा का पुनः प्रादुर्भाव हुआ। वेद का खेद मिटा, पुराणों का परित्राण प्रारम्भ हुआ।

दिव्य अवतरण

यह तो समस्त आस्तिक जगत् विशेषतः वैष्णववर्ग में सर्वमान्य प्रमाणानपेक्ष सत्य है कि जिस प्रकार परमात्मा सर्वेश्वर प्रभु अचिन्त्य दिव्य अवाङ्मनोगोचर अनंत रसमय हैं, उसी प्रकार उनकी लीलाधाम लोकपार्षद अवतार आयुध शृंगार एवं श्रीविग्रह आदि सभी चिन्मय अप्राकृत सरस एवं आनन्दमय हैं, तो सुदर्शनावतार भगवान् निम्बार्क भी उक्त भगवल्लक्षणों से सर्वथा संपन्न एवं शाश्वत ही हैं।

इनका माहात्म्य भी निरवधि, निःसीम एवं इयत्ता-एतावत्ता से अछूता तथा अवर्णनीय है, तथापि शास्त्र एवं गुरुप्रसाद के कुछ कण इस प्रकार लोकार्पित हैं—

(क) ये अवतरण-लीला में नियमानन्द हैं।
(ख) पौराणिकों में आरुणि हैं।
(ग) मिथिलानगरी में द्वारकाधीश के साथ जनकराज के पूज्य अतिथि हैं।
(घ) भगवान् के विभूतियोग के तेजस्तत्त्व हैं।

(ङ) आत्मतत्त्व को दहर में एकदेशीय मानने की परम्परा के संस्थापक हैं।
(च) अम्बरीष जैसे इसी परम्परा के द्वादशी उपवास करने वाले रसोपासकों के साक्षात् विराट् हैं।
(छ) दाक्षिणात्य कूरनारायण स्वामी की स्तवन भाषा में सर्वेश्वर के संकल्प वराह भगवान् की दंष्ट्रा, राम के बाण, परशुराम की कुठार-धारा तथा नृसिंह भगवान् की नखशक्ति के स्वरूप हैं, प्रतीक हैं।
(ज) ब्राह्मी सृष्टि में निवृत्तिनिष्ठ 'ऊर्ध्वरिता' हैं।
(झ) युगल सरकार श्रीसर्वेश्वर राधामाधव की रसपेशल निकुञ्जसेवा की श्रीरंगदेवी हैं।
(ञ) समयचक्र को सम्यक् संचालन में आपका ही अनुल्लंघनीय आदेश हैं।
इन्हीं दस बिन्दुओं का वर्णन इस प्रकार है—

(क)

ये अवतरण लीला में नियमानन्द हैं—

1. **कृष्णोपनिषद् श्लोक 19**

कृपार्थं सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
यत्सप्तमीश्वरेणासीत् तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक्।
जयन्ती संभवः...इत्यादि।

2. **सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो भविष्यति।**
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानिं हरिष्यति।। (भविष्यपुराण)

राधाकृष्णोपनिषद् श्लोक 20 पर श्रीव्रजवल्लभशरण जी की टिप्पणी—

अवतरण समय-द्वापरान्त अनिश्चित

स्थान—महाराष्ट्र, गोदावरी तट, वैदूर्यपत्तन (भूँगीपट्टण) अरुणाश्रम।

अवतरण तिथि—कार्तिकशुक्ल 15 पूर्णिमा।

पिता—श्री अरुणमुनि, माता जयन्ती देवी

तपःस्थली—गोवर्धन परिसर में निम्बग्राम।

दीक्षागुरु—देवर्षि नारद।

सिद्धान्त—द्वैताद्वैत (भेदाभेद)

उपासना—श्रीराधामाधवयुगल, (द्वैतप्रतीक) तथा सर्वेश्वर शालिग्राम (अद्वैतप्रतीक)

वर्ण (जाति)—शुद्ध तैलंग ब्राह्मण। आश्रम नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

रचना—वेदान्त कामधेनु, प्रातःस्तवराज प्रभृति।

प्रस्थानत्रयी पर भाष्य, अन्य अनेक निबंध, टिप्पणियाँ, प्राप्त व लुप्त।

पद्मपुराण — श्रीनिम्बार्क तीर्थ (पुष्कर क्षेत्र)

चरित्र—अनेक, मुख्यतः—रात्रि में भी रविदर्शन।

शोकशीर्णाय पार्थाय विधये छद्मदंडिने।
नक्तं गोविन्दनिम्बार्को दर्शयामासतू रविम्।।

इसी चमत्कार से प्रभावित हुये परमेष्ठी ने इनका निम्बादित्य (निम्बार्क) नामकरण किया।

मातंग-शापविमोचन

सर्वेशश्च मुनीन्द्रश्च, मातंगस्य विमोक्षणे।
समावपि स्तवेनाद्यः द्वितीयस्त्वस्तुतोऽपि च।।

बिना प्रार्थना किये केवल कारुण्य से उद्धार।

दिग्विजयी काश्मीरपंडित को निरहंकार बनाकर रसोपासना प्रदान करना—

सरस्वती तामस-तंत्रगर्वितः
कश्चित् विपश्चित् वसुधां जिगीषुः।
औदुम्बरोत्पादित-वर्णिना जितः
तपस्विनं तं श्रितवान् शरण्यम्।।

अन्य चरित्र अनेक।

(ख)

पौराणिकों में ये प्रथम त्रय्यारुणि हैं

त्रय्यारुणिः काश्यपश्च...षड् वै पौराणिका इमे।

कहीं-कहीं इसी नाम से पुष्करारुणि शब्द भी उपलब्ध है। भागवत 12/7/5

श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।। (ब्रह्मात्मकत्वात्)

इन शब्दों पर गहन विचार करने पर त्रयी=वेद, श्रुति तथा स्मृति=पुराणादि को ब्रह्मात्मकता का आदर अर्पित देखने से ऐसा उल्लेख है।

इसी प्रकार पद्मपुराण में पुष्कर क्षेत्र के पास निम्बार्क तीर्थ का 3 अध्यायों में माहात्म्य उपलब्ध होने से पुष्करारुणि शब्द का इस स्थल से अनादि सम्बन्ध संभावित है, जो सूक्ष्म द्रष्टाओं द्वारा गवेषणीय है।

(ग)

द्वारकाधीश के साथ मिथिलापुरी के अतिथि हैं—

आरुह्य सार्कं मुनिभिः विदेहान् प्रययौ प्रभुः।
नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः।
अहं बृहस्पतिः कण्वः मैत्रेयश्च्यवनादयः।। (भागवत 10/86/18)

(घ)

विभूति वर्णन में तेजतत्त्व है—

तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्। (भागवत 12.11.14)

(ङ)

हृदय में जीव को अणुरूप में मानकर उसकी परिसृत पद्धति 'तदानन्त्याय कल्पते' की परम्परा के आदि संस्थापक हैं—

दहरं ब्रह्म इत्यारुणयः, दहरम् पुण्डरीकं वेश्म
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्। (भागवत 10.87.18)

दहरोऽस्मिन्नंतराकाशः।

(च)

अम्बरीष जैसे द्वादशीविद्योपासक रसोपासकों के विराट् स्वरूप हैं।

(जिस अंबरीष ने पुष्कर क्षेत्र में यज्ञ किया था, 'धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वती' (भागवत 9/4/22)) यज्ञनारायण हैं।

आराधयिषुः कृष्णं...चचार द्वादशीव्रतम्। श्लोक 29
त्वमग्निर्भगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषांपतिः से।

'धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक्' (भागवत 9/5/3-5)

(छ)

दाक्षिणात्य...करमुनि के स्तव में—

वाणी पौराणिकीयं प्रथयति महितं प्रेक्षणं कैटभारेः
शक्तिर्यस्येषुदंष्ट्रा-नख परशुमुखव्यापिनी तद्विभूत्याम्।।
कर्तुं यत्तत्त्वबोधो न निशित-मतिभिर्नारदाद्यैश्च शक्यो
दैवीं वो मानुषीं च क्षिपतु स विपदं दुस्तराभाखराजः।।76।।

(सुदर्शन शतक 76)

(ज)

ब्राह्मी सृष्टि में 'नैष्ठिक ऊर्ध्वरिता' हैं—

सनकाद्या नारदश्च, ऋभुर्हंसोऽऽरुणिर्यतिः।
नैते गृहान् ब्रह्मसुता आवसन्नूर्ध्वरेतसः।। भागवत 4/8/1

(हंसोऽऽरुणिः में पूर्वरूपसंधि आर्ष है।)

विशेष—यही श्लोक शोधकर्ता विद्वानों के लिए निम्बार्क सम्प्रदाय की अनादि परम्परा का मूल संकेतक है।

(झ)

निकुञ्ज सेवा रसोपासन में ये रंग देवी हैं—समस्त निम्बार्क साहित्य द्रष्टव्य है।

(ञ)

समय चक्र के सम्यक् संचालक हैं —

कृष्णस्येतन्न चित्रं क्षितभरहरणं काल-चक्रायुधस्य।

(भागवत 10/90/47)

इन बिन्दुओं पर कुछ आशङ्कायें, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक पर्यालोचन से होना यद्यपि स्वाभाविक है, परन्तु भगवान् व उनके पार्षद लीलाधाम आदि सभी सार्वदेशिक सार्वकालिक होते हैं, श्रुति के संकेत हैं—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चांतरिक्षमथो स्वः।।'

कुछ उदाहरण—श्रीकृष्ण व्रज में लीलारत हैं और नन्दादिगोपों को 'ब्रह्मणो लोकं कृष्णं च छंदोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः (भागवत 10/28/17) के अनुसार ब्रह्मलोक में दर्शन देते हैं, अर्जुन को साथ लिए ब्राह्मण पुत्रों को लाने हेतु भूमा रूप में दिखते हैं। द्वारका में प्रत्येक महारानी के महलों में पृथक्-पृथक् विराजते हैं। अर्थात् देशकाल आदि से अप्रभावित हैं। यही ऋषियों आदि के लिए भी सोचना है। विश्वामित्र गायत्री मंत्र के द्रष्टा हैं, रामावतार में प्रभु के अस्त्र, गुरु हरिश्चन्द्र के सत्यपरीक्षक, शकुन्तला के पिता, कृष्णावतार में मुशलसम्बन्धी शापप्रदों में थे। वशिष्ठ ब्रह्मा के पुत्र, निमि के शाप के बाद पुनः उर्वशीपुत्र युधिष्ठिर के राजसूययाजक, अरुंधती सहित सप्तर्षिमंडल में तब और अब भी विराजमान हैं, तो आरुणि मुनि के लिए जब नैष्ठिक ऊर्ध्वरिता है, तो सामयिक शङ्का स्वतः निरस्त है। अरुण पुत्र होने पर आरुणि, अन्य माने जा सकते हैं, तो विश्वामित्रादि भी प्रसिद्धों से भिन्न माने जा सकेंगे। सर्वप्रसिद्धों के प्रति अन्यों की कल्पना करना भी तो निराधार है। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य, निर्विवाद, श्रुति सिद्धान्तों के संस्थापक, प्रबल पोषक तथा सर्वश्रुति संरक्षक हैं। इनका सिद्धान्त सर्वथा नैसर्गिक स्वाभाविक तथा दशश्लोकी में संक्षिप्त होते हुए भी सम्पूर्णता से संसिक्त है। ऐसे जगद्गुरु के चरणों, आचरणों, उपदेशों के प्रति कोटि-कोटि नमन।

रसोपासना

रसोपासना यद्यपि वाग्वस्तु नहीं है, तथापि **'देवं शिष्याय शान्ताय'** के अनुसार संकेतों आचरणों से नहीं, हरि गुरुकृपा से ही प्राप्त की जा सकती है। इसके संक्षिप्त श्रौत स्मार्त संकेत हैं।

(क) 'रसो वै सः' रसं ह्येव लब्ध्वा आनन्दीभवति। आचार्यवान् पुरुषो वेद। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। नैषामतिस्तर्केणापनेया। प्रोक्तान्येव सुविज्ञानाय श्रेष्ठ!

(ख) मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।

(ग) नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्।

(घ) 'कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते यया भवेत् प्रेमविशेष-लक्षणा। भक्तिर्ह्यनन्याधिपते महात्मनः।। सा चोत्तमा' यही रसोपासना का प्रारम्भ है और उसके आगे है अनिर्वचनीय सेवा सुख।

वेयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिः
देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्।
देहो यथा छायया शोभमाना
शृण्वन् पठन् याति तद्धाम शुद्धम्।। (कृष्णोपनिषद् 12)

कस्य रूपमभूद् द्वेधा तत्कामयमिचक्षते।
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत।। (भागवत 3/12/52)

दोहा—

शालकलश अनुराग रस, इण विध भर्यो अनूप।
मायो सो माधवभयो, रह्यो सो राधा रूप।

रसिकराजाधिराज की युगल लीलाओं में कभी भेद कभी अभेद का रसास्वादन, जिसे सभी श्रुतियाँ स्मृतियाँ भी चाहती हैं, लालायित रहती हैं, उनमें तन्मयता, से नवनवोत्सुकता प्रवाहित होती रहती है। यही रसोपासना की अनिर्देश्य समाधि है, सजीव तादात्म्य है, पूर्णता है।

श्रीभागवतजी की रासपञ्चाध्यायी में यह, लौकिक दाम्पत्य के समान सर्वथा न होकर, एक दिव्यतादीप्त, मोदमग्न एवं प्रकाशपूर्ण अनंत अलौकिक आनन्द है।

यह तो मन्मथावेशों का मारण है 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' है समस्त रतिवृत्ति का आत्मा में अवरोधकरण है।

''आत्मन्यवरुद्ध सौ रतः''

''भजते तादृशीः क्रीडा या श्रुत्वा तन्मयो भवेत्'' के अनुसार उस प्रभु का कृपाप्राप्त जीवों के लिए रसास्वादन का एकमात्र आमंत्रण है।

कचनारिया पो. धांधेली, वाया टूडू-303008 जिला जयपुर।

❑

निम्बार्क-सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में निम्बार्कपीठस्थ वर्तमान जगद्गुरु श्री 'श्रीजी' महाराज : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. परमानन्द शर्मा

1. निम्बार्क सम्प्रदाय : परिचय, दार्शनिक सिद्धान्त एवं उपासना तत्त्व

सामान्य परिचय—वैष्णव चतुःसम्प्रदायों में श्री निम्बार्क-सम्प्रदाय अति-प्राक्तन सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव श्री ब्रह्माजी के मानस-पुत्र श्री सनकादि-महर्षियों से हुआ है। यथा द्रष्टव्य है—

'सनकः श्री ब्रह्म रुद्र सम्प्रदाय चतुष्टयम्।'

सनकादि मुनिवृन्द, श्री (लक्ष्मी), श्री ब्रह्माजी एवं भगवान् शङ्कर यही चारों वैष्णव चतुःसम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इस सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा श्री हंस भगवान् से प्रारम्भ होती है। श्री हंस भगवान् ने सनकादिकों के प्रश्न का समाधान कर उन्हें वैष्णवी दीक्षा प्रदान की थी। युगादि तिथि कार्तिक शुक्ला नवमी (अक्षय नवमी) को उपासना में **श्रीसर्वेश्वर (शालिग्राम)** भगवान् की सेवार्चना करने की आज्ञा प्रदान की थी। श्री हंस भगवान् के अवतार का मुख्य उद्देश्य था—श्री सनकादि वृन्द के प्रश्न का समाधान कर उन्हें वैष्णवी-दीक्षा प्रदान करना। अतः कार्तिक शुक्ला नवमी (अक्षय-नवमी) को श्री हंस-सनकादि जयन्ती तथा श्रीसर्वेश्वर भगवान् का प्राकट्य-दिवस भी इसी दिन मनाया जाता है।

श्री हंस-सनकादिकों का यह प्रसंग श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध (अध्याय-13, श्लोक सं. 16 से 42 तक) में परिवर्णित है। श्री हंस भगवान् के शिष्य सनकादि मुनि वृन्द हैं, श्री सनकादिकों के शिष्य देवर्षिवर्य श्री नारद हैं तथा श्री नारद मुनि के शिष्य श्री चक्रसुदर्शनावतार आद्याचार्य जगद्गुरु भगवान् श्री निम्बार्क महामुनीन्द्र हैं।

श्री हंस भगवान्, श्री सनकादि मुनिवृन्द तथा देवर्षिवर्य श्री नारद जी ये तो देव स्वरूप के हैं, अतः प्रायः अनेक सम्प्रदायों की परम्परा में इनका नाम परिगणित किया जाता है। इनके पश्चात् **श्री निम्बार्क भगवान्** आचार्य रूप में इस भूतल पर अवतरित हुए। अतः यह सम्प्रदाय **निम्बार्क सम्प्रदाय** के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ।

सुदर्शन-चक्रावतार आद्याचार्य श्री निम्बार्क महामुनीन्द्र प्राकट्य युधिष्ठिर शके 6 में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को दक्षिणी भारत में तैलंग प्रदेश (आन्ध्र प्रदेश), वैदूर्यपत्तन (मूँगीपट्टन) वर्तमान **पैठण** (गोदावरी तटवर्ती अरुणाश्रम) में हुआ था। आपके पिताश्री का

नाम **श्री अरुणमुनि** एवं माताश्री का अभिधान **श्री जयन्ती देवी** था। आपका जन्म नाम **नियमानन्द** था।

'न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदाय-पुरस्सरा।'

श्रीमद्भागवत-माहात्म्य के इस नारदोक्त वचनानुसार द्वापर के अन्त में जब वैष्णव-धर्म का ह्रास होने लगा, तब भक्तजनों की करुणाभरी पुकार पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने परमप्रिय आयुध श्री सुदर्शनचक्र को इस प्रकार आदेशित किया था—

सुदर्शन महाबाहो! कोटिसूर्य समप्रभः।
अज्ञानतिमिरान्धानां, विष्णोः मार्गं प्रदर्शय।।

इस भगवदादेशानुसार श्री चक्रराज सुदर्शन ने बालक **नियमानन्द** के रूप में अवतार लिया। एक बार का वृत्तान्त है—आपने अपने प्रभाव से दिबाभोजी दण्डी महात्मा के रूप में पधारे हुए श्री ब्रह्माजी को रात्रि हो जाने पर भोजन करने से निषेध करते देखकर 'निम्ब' वृक्ष पर अपने तेज तत्त्व श्री सुदर्शन का आवाहन कर 'अर्क' (सूर्य) रूप में दर्शन कराकर, उन्हें भोजन करा दिया था।

निम्ब (नीम) के वृक्ष पर **अर्क** (सूर्य) के दर्शन कराने पर ब्रह्माजी द्वारा आपका नाम **नियमानन्द** से **श्री निम्बार्क** कर दिया गया। तब से आपके द्वारा प्रचारित-प्रसारित सम्प्रदाय को **'श्री निम्बार्क-सम्प्रदाय'** अभिधान से अभिहित किया जाने लगा।

दार्शनिक-सिद्धान्त

(i) तत्त्व-त्रय—**श्री** निम्बार्क-सम्प्रदाय में तत्त्व-त्रय (ब्रह्म, जीव एवं प्रकृति) अनादि और अनन्त माने गये हैं। ब्रह्म स्वतंत्र है, जीव और प्रकृति सदा-सर्वदा ब्रह्म के अधीन हैं, किसी भी अवस्था में स्वतंत्र नहीं हैं।

(ii) त्रि-जीव भेद—बद्ध (संसारी), बद्ध-मुक्त (भगवद् भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त), नित्य मुक्त (जो कभी भी काया के बन्धन में आबद्ध नहीं हो) जीवों के संक्षेपतः ये तीन भेद हैं।

(iii) ब्रह्म की सर्वव्यापकता—सशक्त चराचर जगत् ब्रह्म का अंश एवं परा-परात्मिका प्रकृति (शक्ति) होने के कारण सत्व है, अतः किसी भी प्राणी को दुःख पहुँचाना या उसके साथ विद्वेष करना, ईश्वर को ही दुःख पहुँचाना एवं उसके साथ ही विद्वेष करना हैं। जड़-वस्तुओं का भी दुरुपयोग करना निषिद्ध है।

(iv) द्वैताद्वैत दार्शनिक सिद्धान्त—स्वाभाविक भेदाभेद (द्वैताद्वैत, भिन्नाभिन्न) सिद्धान्त का भी यही रहस्य है, कि जीव रूप से चराचरात्मक विश्व ब्रह्म से भिन्न है, किन्तु उसका अंश एवं शक्ति होने के कारण स्वभावतः अपृथक् सिद्ध अभिन्न भी है। यही स्वाभाविक द्वैताद्वैत (भेदाभेद) दार्शनिक सिद्धान्त है।

(v) सद् बन्धन-निवृत्ति—जब जगत् के किसी भी अंश को मिथ्या मानना भूल है, तब प्रकृति और उसके कार्यरूप बन्धनादि भी मिथ्या कैसे कहे जा सकते हैं? सच्चे बन्धन की निवृत्ति अवश्य होती है।

(vi) भगवत्कृपा से मुक्ति-प्राप्ति—बन्धन-निवृत्ति एवं भगवद् भावापत्ति रूप मुक्ति भगवान् की अनन्य कृपा से होती है। एतदुपरान्त जीव जन्म-मरण के अब-बन्धों से विमुक्त हो जाता है।

(vii) श्रुति, स्मृति-शास्त्र एवं आचार्यवर्य की प्रामाणिकता—श्रुति स्मृति आदि शास्त्र एवं आचार्य वाक्यों के किसी भी अंश में अप्रामाण्य नहीं है। तात्पर्यानुसार इनके बलाबल की व्यवस्था गम्भीर ऊहापोहपूर्वक आचार्यों ने की है, जिसका सदैव अनुवर्तन करना चाहिए।

(viii) भेदाभेद की स्वाभाविकता—जीव प्रतिबिम्ब नहीं, न प्राकृतिक जगत् मिथ्या ही है, अतएव सर्वथा ब्रह्म से भिन्न भी नहीं। निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार **तत्त्वमसि** आदि महावाक्यों का यही तात्पर्य है। केवल परिणामी होने के कारण मिथ्या और विनश्वर आदि शब्दों से जगत् का निर्देश किया गया है। अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीव और परिणामीशील होने के कारण जड़ तत्त्व, ये दोनों तत्त्व रस एक कूटस्थ ब्रह्म से सर्वथा अभिन्न भी नहीं हो सकते। अतएव भेद और अभेद दोनों ही स्वाभाविक हैं।

(xi) पूर्ण-ब्रह्मविद्—**श्री** निम्बार्काचार्य के वास्तविक भेदाभेद सिद्धान्त के अनुसार—(क) उपास्य (ईश्वर) (ख) उपासक (जीव) (ग) कृपा-फल, भक्ति रस विरोधी तत्त्व प्रकृति और प्रकृति के कार्यादि) ये पाँचों वस्तु जानने के योग्य हैं। इन सबके ज्ञाता को **पूर्ण ब्रह्मविद्** कहा जाता है।

उपासना तत्त्व

(i) पंचविधानुष्ठान—निम्बार्कीय दार्शनिक सिद्धान्तानुसार विश्व और विश्वम्भर को जानकर विश्व की हित-कामना के साथ विश्वम्भर श्रीसर्वेश्वर की उपासक उपासना करें। उस उपासना के पंचविधानुष्ठान ये हैं—

(क) अभिगमन—श्री गुरुदेव के आश्रित होकर भगवत् शरणागत होना।

(ख) उपादान—भगवान् श्री पूजार्चना की सौज सामग्रियों का संचय करना।

(ग) इज्या—प्रातः (मंगला), पूर्वाह्न (शृंगार), मध्याह्न (राजभोगादि), अपराह्न और सायं (उत्थापन सायं सेवादि) रात्रि (शयन-भोगादि) ये पंचकाल भगवत् सेवाएँ हैं।

(घ) अध्ययन—वेद, उपनिषद्, भागवत, गीता, रामायण, महाभारतादि का अध्ययन, मनन व निदिध्यासन करना।

(ङ) योग—भगवान् की पंच कालीन सेवार्चना करके, उपासक स्वयं शयन करते समय मन, बुद्धि, चित्त तथा समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों एवं आत्मात्मीय सर्वस्व को भगवान् के सम्मुख अर्पण करे, यही योग है।

(ii) नवधा-भक्ति—उक्त पंचकालानुष्ठान के ही अन्तर्गत श्रवण कीर्तनादि नवधा भक्ति का समावेश हो जाता है।

(iii) श्री सर्वेश्वर की अनन्याराधना—इन्द्रादि समस्त देव और नृसिंहादि समस्त अवतारों को अंगी मानकर भगवान् श्रीराधासर्वेश्वर की अनन्याराधना करनी चाहिए।

(iv) उपासना के बाह्योपकरण—उपासन में प्रथम अंग (अभिगमन) के अन्तर्गत 'तापः' अधिकारानुसार शंखचक्रादि की तप्त या शीतल मुद्रा (छाप) धारण करना। गोपीचन्दनादि के ललाटादि स्थानों से ऊर्ध्व पुण्ड्र (तिलक) लगाना। तुलसी की कण्ठी एवं माला तथा भगवत्सम्बन्धी नाम और मंत्र उसके न्यास ध्यानादि अनुष्ठानों के विधानों को गुरुदेव से प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

(v) गुरुमहत्ता—मन्त्रोपदेष्टा गुरुदेव भगवान् से भी अधिक संपूज्य हैं। इस बात को सन्त कबीर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपकी, गोविन्द दियो बताय।।

निम्बार्कीय उपासना पद्धति में भी 'गुरु' को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

(vi) सभी स्त्रियों को उपासनाधिकार—उक्त उपासन में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने पुरुषों की भाँति सधवा, विधवा सभी स्त्रियों का शास्त्रानुसार भगवदुपासना का अधिकार सुनिश्चित किया है।

(2) निम्बार्कपीठस्थ वर्तमान जगद्गुरु श्री 'श्रीजी' महाराज : व्यक्तित्व परिचय

आपका जन्म (आविर्भाव) विक्रम संवत् 1986, वैशाख शुक्ला प्रतिपदा शुक्रवार, कृत्तिका नक्षत्र, तदनुसार दिनांक 10 मई, सन् 1929 ई. में श्रीनिम्बार्कतीर्थ (परशुराम पुरी) सलेमाबाद जिला अजमेर (राजस्थान) निवासी परमपावन गौड़ ब्राह्मण-वंश के एक परिवार में प्रातः 5 बजकर 54 मिनट पर हुआ था। आपकी माताश्री का नाम श्रीमती स्वर्णलता (सोनीबाई) और आपके पिताश्री का नाम श्रीरामनाथ शर्मा गौड था। यह समस्त परिवार श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय परम्परानुयायी परम वैष्णव था। आप जन्म से ही बड़े प्रतिभा-सम्पन्न थे। आपश्री का बाल्यकालीन अभिधान **रतनलाल** था। वि.सं. 1997 की आषाढ शुक्ला द्वितीया (रथयात्रा) तदनुसार दिनांक 7 जुलाई, 1940 में आपने अपने श्री गुरुदेव अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्कपीठाधीश्वर श्री 'श्रीजी' श्री बालकृष्णशरण देवाचार्य जी महाराज से ग्यारह वर्ष की अल्पायु में ही वैष्णवी-विरक्ती दीक्षा ग्रहण कर युवराज पद प्राप्त कर लिया था। आपश्री का श्रीगुरुप्रदत्त नाम **'श्रीराधासर्वेश्वरशरण'** प्रसिद्ध हुआ। विक्रम

संवत् 2000 ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया, तदनुसार दिनांक 5 जून, सन् 1943 में 14 वर्ष की अल्पायु में ही आप श्रीनिम्बार्कपीठाचार्य परम्परानुसार जगद्गुरु पद पर पदासीन हो गये थे।

आपका अध्ययन श्रीवृन्दावनस्थ व्रजविदेही चतुःसम्प्रदाय श्रीमहन्त श्रीधनञ्जयदास जी महाराज (काठियाबाबा) तर्क तर्क-तीर्थ में निर्देशन में श्रीवृन्दावन स्थित श्रीदावानलबिहारीजी का मन्दिर (दावानल कुण्ड) केदारवन के परम सुरम्य ऐकान्तिक स्थल में हुआ था। श्रीकाठियाबाबा महाराज न्याय-वेदान्त, व्याकरण आदि के प्रकाण्ड विद्वान् रहे हैं। इनसे आपश्री ने न्याय, वेदान्त, व्याकरण, दर्शनादि का गहन अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप आपने वि.सं. 2001 के श्रावण मास में कुरुक्षेत्र में होने वाले 'सूर्यसहस्ररश्मि महायाग' के शुभावसर पर आयोजित अखिल भारतीय साधु-सम्मेलन में सर्वसम्मति से सभापति (अध्यक्ष) पद को समलंकृत किया था और उसी समय सम्मेलन में पधारे हुए अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्ण तीर्थ जी महाराज श्री गोवर्धनपीठाधीश्वर ने आपको इस अल्पावस्था में ही सभापति पद पर विराजमान देख कहा था, कि—"आज हमें बड़ा ही गौरव है कि हम अपने साधु-समाज के बीच जगद्गुरु श्रीनिम्बार्कपीठाचार्य जी को इस बाल्यकालीन स्वल्पावस्था में ही अध्यक्ष पद पर देख रहे हैं, आप लोग अवस्था पर कोई विचार न करें, तुलसी पत्र या शालिग्राम भगवान् का श्रीविग्रह छोटा हो या बड़ा, किन्तु उसके महत्त्व में कोई अन्तर नहीं आता।"

उस समय से लेकर अद्यावधि आपश्री अनेक सम्मेलनों में सभापति पद ग्रहण कर चुके हैं और धर्म प्रचारार्थ भारतभ्रमण, श्रीनिम्बार्क स्पेशल ट्रेन द्वारा तीन धाम सप्तपुरी की यात्रा, व्रज चौरासी कोसीय पदयात्रा, प्रत्येक कुम्भ-पर्वों पर **श्रीनिम्बार्क-नगर'** की स्थापना कर एक मासपर्यन्त सत्संग द्वारा धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे हैं।

अ.भा.श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ में ही वि.सं. 2031 की चैत्र कृष्णा तृतीया से सप्तमी पर्यन्त अर्थात् पंच-दिवसीय 'अखिल-भारतीय विराट् सनातन धर्मसम्मेलन' का आयोजन कर सभी धर्माचार्यों को एक मंच पर आमन्त्रित कर पारस्परिक सहानुभूतिपूर्वक सनातन धर्म के विविध विषयों पर जो विचार-विनिमय किया, वह धार्मिक-जगत् के इतिहास में सदा-सर्वदा के लिए अमर रहेगा। वास्तव में यह सनातन धर्म सम्मेलन 'न भूतो न भविष्यति' वाली सदुक्ति को चरितार्थ करता है। उक्त सम्मेलन की बृहद्-स्मारिका प्रकाशित है। आपश्री के निर्देशन में लाखों का व्यय करके श्रीनिम्बग्राम-गोवर्धन (ब्रह्मण्डल) में प्राचीनतम श्रीनिम्बार्क तपःस्थली का नवनिर्माण कार्य करवाया गया है। सम्प्रति विविध स्थलों पर विविध रूपात्मक निर्माण कार्य आपके वर्चस्व का द्योतक है।

आपश्री के सुनिर्देशन में निम्बार्कपीठ में गो-सेवा, सन्त-सेवा, श्रीहरिव्यास औषधालय एवं पुस्तकालय आदि अनेक पारमार्थिक-संस्थाएँ संचालित हो रही हैं। इस प्रकार वर्तमान आचार्यवर्य के पीठासीन होने के पश्चात् अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ एवं उससे संलग्न संस्थाओं की सर्वतोमुखी समुन्नति हुई है। इस समय पीठ में विद्यालयत्रयी संचालित हैं—(1) श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय, (2) श्रीनिम्बार्क-दर्शन विद्यालय, एवं (3) श्रीसर्वेश्वर वेद विद्यालय।

इन तीनों विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों एवं कार्यरत अध्यापकों के लिए अशन, वसन एवं निवसन की व्यवस्था पीठ की ओर से की जाती है।

धर्मप्रचारार्थ आपश्री के संरक्षणत्व के दो पत्र प्रकाशित हो रहे हैं, जिनमें एक मासिक पत्र **'श्रीसर्वेश्वर'** जो कि श्रीसर्वेश्वर प्रेस, श्रीनिकुञ्ज, प्रताप बाजार, वृन्दावन से प्रकाशित होता है तथा दूसरा **'श्रीनिम्बार्क'** (पाक्षिक-पत्र) जो अ.भा.श्रीनिम्बार्काचार्यपीठस्थ श्रीनिम्बार्क-मुद्राणालय, निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) से प्रकाशित होता है।

स्वास्थ्य पूर्णानुकूल न रहने पर भी आपश्री प्रतिदिन अपने आह्निक-कार्यों से निवृत्त होकर पीठ व्यवस्था सम्बन्धी दैनिक-कार्यों के अतिरिक्त समय मिलने पर एकान्त स्थल में बैठकर साहित्य-सृजन में विशेष अभिरुचि रखते हैं। अब तक आपने संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में समानाधिकार से बीसों कृतियों का प्रणयन किया है।

प्रातः मुहुर्मुहुः वन्दनीय, समादरणीय आचार्य श्रीचरणों ने संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य की जो श्रीवृद्धि की है, वह अक्षुण्ण एवं अतिस्पृहणीय है।

(3) श्री श्रीजी महाराज : कृतित्व : सामान्यानुशीलन

(क) संस्कृत कृतियाँ

पद्य-साहित्य

1. भारत-भारती-वैभवम् (राष्ट्रीय-काव्य)
2. युगलगीति शतकम् (गीति-काव्य)
3. निकुञ्जसौरभम्

स्तोत्र-साहित्य

1. श्रीस्तवरत्नाञ्जलिः (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध)
2. श्रीसर्वेश्वरशतकम्
3. श्रीराधामाधवशतकम्
4. श्रीयुगलस्तवविंशतिः
5. श्रीनिम्बार्कगोपीजनवल्लभाष्टकम्
6. श्रीनिम्बार्कस्तवार्चनम्
7. श्रीजानकीवल्लभस्तवः
8. श्रीहनुमन्महाष्टकम्
9. श्रीराधाशतकम्

गद्य-साहित्य

1. श्रीनिम्बार्कचरितम्

व्याख्या-कार्य

1. श्रीभगवन्निम्बार्क कृत 'प्रातःस्तवराज' पर **युग्मतत्त्व-प्रकाशिका** नामक संस्कृत व्याख्या।
2. श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य प्रणीत **'वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी'** पर **नवनीत सुधा** संस्कृत व्याख्या।

(ख) हिन्दी रचनाएँ : पद्य-साहित्य

1. श्रीसर्वेश्वर सुधा-बिन्दु (गेय-काव्य) (श्रीराधासर्वेश्वर-शतक)
2. भारत-कल्पतरु (राष्ट्रीयता से परिपूर्ण काव्य)
3. विवेक-वल्ली

गद्य साहित्य

1. उपदेश-दर्शन (आचार्यश्री के प्रवचनों का संकलन)
2. हिन्दु संघटन (सामयिक उद्बोधन)

संस्कृत-कृतियों में प्रतिपाद्य विषय

1. भारत-भारती वैभवम्

भारतभूमि वैशिष्ट्य, सनातन वैदिक-संस्कृति एवं उसकी प्राण-पोषिका देववाणी संस्कृत ही इस ग्रन्थ की आत्मा है। इस ग्रन्थ में 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना सशक्त वाणी के भारत राष्ट्र के रक्षणार्थ प्राचीन संस्कृति तथा उसकी प्राणाधार संस्कृत के संरक्षण, संवर्धन का आह्वान किया है। इस काव्य में राग एवं लययुक्त कोमलकान्त कमनीय संस्कृत पदावली द्वारा भारत-भारती की भावपूर्ण वन्दना में सर्वोपरि राष्ट्रभक्ति की भागीरथी प्रवाहित है।

इस महनीय राष्ट्रीय ग्रन्थ के उपदेशकों, अभिभावकों तथा गुरुजनों का कर्तव्य, देवस्थान सुरक्षा, राष्ट्र सुरक्षा, गोरक्षा, वैदिक-संस्कृति एवं वैदिक वाङ्मय की रक्षा, मद्य-द्यूतादि निषेध, भ्रष्टाचार निरोध, ईश्वरभक्ति चरित्र-निर्माण, उद्देश्यपूर्ण शिक्षा, वन एवं वन्यजीवों का संरक्षण, राष्ट्रघातक विध्वंसकारी विस्फोटक अणु-अस्त्रों पर प्रतिबन्ध, जलवायु प्रदूषणावरोध आदि विविध विषयों के प्रभावी वर्णन द्वारा प्रबल जनचेतना लक्षित है। गकारत्रयी (गीतागङ्गागावश्च) को राष्ट्र की आत्मा मानते हुए इस काव्य में भावात्मक एकता की प्रेरणा प्रदान की गई है। सुसंस्कृत, सरल, सुललित काव्य-सौष्ठवपूर्ण यह मौलिक रचना नितान्त युगानुकूल व नवचेतनाप्रद होने से राष्ट्र भक्ति माला का सुरभित सरसिज है।

(2) युगलगीति-शतकम्

यह काव्य प्रियप्रियतम युगलकिशोर श्रीश्यामकाश्याम की मधुर एवं सरसोपासना का द्योतक रमणीय गीति-काव्य है। इस काव्य में श्रीआचार्यवन्दना के अनन्तर लगभग 15 छन्दों में श्रीवृन्दावनधाम दाम में श्रीयमुना, सात छन्दों में श्री गिरिराज, दो वृत्तों में गौ और दो छन्दों में मुरली का वर्णन है, शेष सभी छन्दों में प्रियाप्रियतम युगल किशोर श्रीश्यामाश्यामजू की केलिक्रीड़ाओं का शृंगारपरक कमनीय वर्णन है। यह शतक अनुष्टुप्, उपजाति, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, मालिनी, शिखरिणी...आदि प्रमुख वृत्तों में निबद्ध है। इस शतक की भाषा प्रसाद माधुर्य गुणों से मण्डित, रस एवं भावानुकूल है।

(3) निकुञ्जसौरभम्

इस लघुकाय काव्य में वृन्दावनधाम के कुञ्जनिकुञ्ज-वृन्द में सुशोभित युगलकिशोर वृन्दावनबिहारी श्रीराधामाधव की अलौकिक एवं विशुद्ध रसमयी कुञ्जनिकुञ्ज केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन है।

कलेवर की दृष्टि से यह काव्य लघुकाय है, पर साहित्यिक-दृष्टि से परमोपादेय है। यह लघुकाव्य 'गागर में सागर' भर देने वाली सदुक्ति को चरितार्थ करता है। प्रसाद माधुर्य गुणों से मण्डित, सरल संस्कृत में प्रणीत यह लघुकाव्य शृंगार रस से सराबोर है। इस काव्य की रीति वैदर्भी है। इसमें प्राकृतिक-सुषमा का चित्रण भी सुरम्य, मनमोहक, रमणीय, कमनीय एवं स्पृहणीय है।

(4) श्रीस्तवरत्नाञ्जलिः

यह स्तवन ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है—(क) पूर्वार्द्ध, एवं (ख) उत्तरार्द्ध।

पूर्वार्द्ध में 24 स्तव समाहित हैं। इसमें श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के आराध्य वृन्दावन नवनिकुञ्जबिहारी युगलकिशोर श्रीश्यामाश्याम तथा निम्बार्क-सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यवर्यों का मंगलमय स्तवन हुआ है।

इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में 15 स्तव हैं, इसमें श्रीगणेश, श्रीलक्ष्मी, श्रीहनुमान्, श्रीसीताराम, श्रीशिव, श्रीसरस्वती आदि का भी सर्वहितावह स्तवन हुआ है। ग्रन्थ के आरम्भ से अन्त तक सभी स्तव नाना छन्दों में निबद्ध हैं—इन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, वियोगिनी, अनुष्टुप् प्रभृति विविध छन्द प्रमुख हैं। इस स्तव ग्रन्थ में प्रणेता कवि वर्तमान आचार्यश्री ने अपनी पूर्वाचार्य परम्परा के सिद्धान्तों एवं समन्वयात्मक वैचारिक दृष्टिकोण का ही प्रस्थापन किया है।

(5) श्रीसर्वेश्वर-शतकम्

अनन्त-श्रीविभूषित निम्बार्कपीठाधीश्वर श्री 'श्रीजी' महाराज द्वारा विरचित श्रीसर्वेश्वर-शतकम् एक महनीय स्तोत्र ग्रन्थ है। इस स्तोत्र में युगलकिशोर श्रीराधामाधव की समस्त लीलाओं का प्रत्यक्षीकरण है। यह स्तोत्र काव्य भक्तजनानन्द-संवर्धक माधुर्यादि गुणमण्डित अनुपम रसायन सदृश है।

(6) श्रीराधामाधव-शतकम्

यह शतक काव्य वृन्दावन बिहारी प्रियाप्रियतम, युगलकिशोर श्री राधामाधव (श्रीश्यामाश्याम) की अन्तरंग रसोपासना से ओतप्रोत है। अनुष्टुप् छन्द में परिनिबद्ध इस शतक के पूर्वार्द्ध में श्रीनिकुञ्ज की अनेकानेक रसमयी लीलाओं का वर्णन है तथा उत्तरार्द्ध भाग **'राधामाधवमाराध्यं भजेद्वृन्दावनाधिपम्'** पाठ के आधार पर भक्त एवं रसिकजनों के लिए परमोपादेय एवं मंगल व शुभकामनार्थ सेवनीय है। स्तोत्र सरल, सरस एवं प्रसाद गुणमण्डित देववाणी (संस्कृत) में रचित है।

(7) श्रीयुगलस्तवविंशतिः

यह स्तव-काव्य निम्बार्कीय-स्तोत्र-साहित्य में अपना स्थान रखता है। वर्तमान आचार्यश्री द्वारा रचित इस स्तोत्र के बीस स्तवन हैं। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा द्वारा रचित स्तोत्र-साहित्य के मानदण्डों के अनुरूप है। इस स्तव-काव्य में युगलकिशोर प्रियाप्रियतम श्रीराधामाधव से सम्बन्धित विविध उपादानों का स्तवन-परक सरल व सरस संस्कृत भाषा में वर्णन है।

(8) श्रीनिम्बार्कस्तवार्चनम्

वर्तमान आचार्यवर्य श्री 'श्रीजी' महाराज ने 'स्वान्तः सुखाय' तथा भावुक भक्तजनों के हितार्थ श्रीहरि (श्रीकृष्ण) की रसमयी लीलाओं से ओतप्रोत परमोपयोगी स्तोत्रों की रचना की है।

'आचार्यं मां विजानीयात्' इस भगवद्वाक्यानुसार आचार्य भी भगवत्तुल्य ही माने गये हैं। अतः भगवान् की भाँति ही आचार्यों का भी स्तोत्रों द्वारा गुणगान अनिवार्य है, इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए वर्तमान आचार्यश्री ने श्रीसुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु भगवन्निम्बार्काचार्य जी का इस स्तोत्र में स्तवन किया है। इस स्तोत्र में श्रीचक्रसुदर्शन अष्टविध स्वरूपों में विराजमान होने का वर्णन अतीव सरस एवं मनन योग्य है।

(9) श्रीजानकीवल्लभस्तवः

इस स्तव-ग्रन्थ में वर्तमान आचार्यश्री ने अनन्त करुणावरुणालय, कृपासिन्धु मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम का भक्तिभावपूर्ण स्तवन किया है।

पूज्य प्रणेता आचार्यश्री ने स्व-रचित इस स्तोत्र में श्रीनिम्बार्काभिमत समन्वयात्मक दार्शनिक सिद्धान्त का दिग्दर्शन कराया है। सरल एवं सरस संस्कृत भाषा में रचित यह स्तव-काव्य कुसुमाञ्जलि आचार्यश्री की अनुपमाभिनव कृति है।

श्रीराधा-शतकम्

स्तोत्र-साहित्य परम्परा में वर्तमान आचार्यश्री द्वारा विरचित अभिनव स्तोत्र-कुसुम 'श्रीराधाशतकम्' हाल ही में गुम्फित हुआ है। अनुष्टुप् छन्द में 101 पद्यों द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की परमाह्लादिनी-शक्ति, सर्वोत्कर्षमयी श्रीराधा का दिव्य स्तवन किया गया है।

संस्कृत वाङ्मय एवं हिन्दी-साहित्य में श्रीराधाजी के स्वरूप, स्वभाव तथा उत्कर्ष आदि का जो विपुल वर्णन हुआ है, उसी को अतिसंक्षेप में आपश्री ने 'श्रीराधाशतकम्' में समाहित किया है। आपका यह शतक 'बिन्दु में सिन्धु' की सदुक्ति को चरितार्थ करता है।

(ख) हिन्दी-रचनाओं में प्रतिपाद्य-विषय

(1) श्रीसर्वेश्वर सुधा बिन्दु (श्रीराधासर्वेश्वरशतक)

इस गीति-काव्य में निम्बार्कीय रसोपासना का मूलतत्त्व 'बीज-बिन्दुवत्' सार रूप में प्रतिपादित है। इसमें माधुर्य भाव से परिपूर्ण कोमलकान्त कमनीय पदावली एवं रागबद्ध गीति के निम्बार्कीय सहचरी सेवा, नित्य केलितत्त्व युगलस्वरूप एवं उनके लीला लीलाधाम आदि का सारगर्भित मार्मिक वर्णन हुआ है।

काव्य-प्रणेता वर्तमान आचार्यश्री ने काव्य में निम्बार्कीय रसोपासना का जो सरस, सारगर्भित, सांगोपांग एवं प्राचीन कीर्तन परम्परानुरूप विश्लेषण किया है, वह वस्तुतः अत्यन्त महनीय, उपादेय एवं स्तुत्य है। उक्त काव्य निम्बार्क-सम्प्रदाय की उपासना, परम्परा एवं ऐतिहासिक विश्रुति का परिचायक है।

इस काव्य में विविध पर्वों, उत्सवों अष्टयाम सेवाओं की झाँकियों का चित्रण भी अनूठा बन पड़ा है। भगवान् के 'छप्पन-भोग' का वर्णन क्रम अनूठा है, जिसके विविध शब्दों के माध्यम से नाम परिगणनात्मक शैली में अगणित व्यंजनों का वर्णन देखते बनता है।

इस काव्य का प्रतिपाद्य साधनात्मक तो है ही, पर साथ ही उसमें उच्च कोटि की काव्यात्मकता भी परिलक्षित हुई है। गीति, राग, लय, कोमलकान्त पदावली, माधुर्यगुण, शृंगार रस, अनुप्रासादि अलङ्कारों से सुसज्जित, संस्कृतनिष्ठ कोमल हिन्दीभाषा में रचित यह काव्य 'गागर में सागरवत्' महनीय गीति-काव्य है।

(2) भारतकल्पतरु

यह काव्य भारतीयता एवं सर्वतोमुखी प्रबल राष्ट्रीयता के प्रति समर्पित है। इस काव्य का प्रकाशन अ. भा. निम्बार्काचार्यपीठ निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) द्वारा विक्रम संवत् 2045 तदनुसार सन् 1988 में कराया गया, इसका विमोचन तत्कालीन महामहिम उपराष्ट्रपति डॉ. शङ्करदयाल शर्मा ने किया।

उक्त काव्यपाठक को स्वदेश प्रेम, सदाचार, सहिष्णुता, अहिंसा, विश्वबन्धुत्व, दया, करुणा, परोपकार, शुचितादि की सद्भावनाओं में आप्लावित कर देता है। ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध महिमामयी धर्मप्राण भारत माता के पावन एवं अतिविलक्षण गरिमामय प्राकृतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं चारित्रिक परिवेश की गीति-पदात्मक अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है।

भारत-कल्पतरु के प्रणेता-कवि महान् युगद्रष्टा, चिन्तक, साधक एवं उपदेष्टा हैं। आपश्री ने इस काव्य में सर्वनाशी समसामयिक आणविक-संत्रासदियों से आक्रान्त मानवता के परित्राणार्थ कई ओजस्वी उद्बोधन किये हैं। प्रलयंकारी आणविक-शस्त्रीकरण, मृत्युदायी प्रदूषण, महाविध्वंसकारी-असंतुलित प्रकृति-दोहन, सर्वात्मघाती सकल-वन्य-सम्पदा

संहारण, आदि महासंकटों के प्रति की गई आपश्री की आकुल वर्जनाएँ विश्वशान्ति, सुख-समृद्धि की शुभ-चिन्ताओं की परिचायक हैं।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में व्याप्त आतंकवाद, अलगाववाद, भ्रष्टाचार, अनाचार, मद्यपान-नशा-व्यसन, युद्धलिप्सा...आदि अनेकानेक समसामयिक समस्याओं के समाधानार्थ राष्ट्रनायकों के प्रति प्रणेता ने प्रेरणात्मक दायित्व दिशा दर्शन दिया है। यह काव्य भक्ति-भाव, राष्ट्रप्रेम एवं उपदेशात्मक-प्रेरणाओं का त्रिवेणी-संगम है।

(3) विवेकवल्ली

यह काव्य मानव की अन्तरात्मा में सुषुप्त उज्ज्वलतम अन्तरज्ञान को प्रेरित कर उसमें सत्यासत्य की निर्णयात्मक ईश्वर-प्रदत्त विवेक-प्रतिमा को जागृत करता है। यह मानवमात्र के उभयलोकात्मक जीवन को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के उच्चतम आदर्श में प्रतिष्ठित करने वाली सत्शिक्षा है।

साम्प्रदायिकता, आतंकवाद, अलगाववाद आदि के शमनार्थ एवं भ्रातृत्वभाव, विश्वबन्धुत्व, निःशस्त्रीकरण...प्रभृति के प्रतिपादनार्थ वर्तमान आचार्यश्री ने अपने इस काव्य से सदुपदेशात्मक प्रेरणा प्रदान की है। प्रणेता आचार्यश्री ने विश्वशान्ति हेतु अहिंसा, दया, करुणा, विश्वबन्धुत्व, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व आदि के पवित्राचरण पर बल देते हुए भारतीय-संस्कृति के मूलभूत-सिद्धान्तों का इस कृति में प्रबल प्रतिपादन किया है।

आज के हमारे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में परिव्याप्त अराजकता, भ्रष्टाचार, कर्तव्यहीनता, अन्याय, पक्षपात आदि के समाधानार्थ कवि ने अपने काव्य में देशवासियों में राष्ट्रप्रेम की उदात्त-भावना, सामाजिक-सद्भाव, परोपकार, कर्तव्यपरायणता एवं सदाचारनिष्ठा जागृत करने की उपदेशात्मक प्रेरणा प्रदान की है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दिन दूना रात चौगुना बढ़ता पाश्चात्य-अन्धानुकरण, अश्लील एवं चरित्र-विघातक असंगत चलचित्र-दूरदर्शन-प्रसारण आदि के प्रति ग्रन्थ-प्रणेता ने विरोध संदर्शित किया है तथा भारतीय-संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसारार्थ उपदेशात्मक उद्बोधन दिया है।

इस प्रकार उभयलोकात्मक ज्ञानगर्भित विविध-प्रसंगों में ग्रथित यह युगसापेक्ष्य सत्प्रेरणादायी महनीय ग्रन्थ 'दोहे' छन्द में निबद्ध है। सन्त-भक्त परम्परानुसार इस रचना में उपदेशात्मक-प्रेरणादायी वाणी मुखरित हुई है। इसकी भाषा सरल, सरस, परिमार्जित, संस्कृतनिष्ठ, प्रसादगुण मण्डित एवं अनुप्रासादि अलङ्कारों से समलंकृत है।

(4) उपदेश-दर्शन

इस गद्य-रचना में अनन्तश्रीसमलंकृत निम्बार्कपीठाधीश्वर वर्तमान जगद्गुरु श्री 'श्रीजी' महाराज द्वारा दिये गये शताधिक ज्ञानवर्धक सदुपदेशों का संकलन किया गया है। यह ग्रन्थ विविध विषयों से सम्बन्धित प्रवचनों का संकलनात्मक प्रकाशन है। इसमें वर्णित

प्रवचन धर्मप्राण जनता एवं भावुक-भक्तजनों के लिए बहुमूल्य रत्नवत् सिद्ध हुए हैं, सभी प्रवचन धर्मनियन्त्रित एवं शास्त्र-मर्यादित हैं।

(5) हिन्दु-संघटन

यह गद्यात्मक रचना वर्तमान आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त समसामयिक उद्बोधन है, इसमें **'संघे शक्तिः कलौ युगे'** पर बल दिया गया है। वर्तमान आचार्यवर्य ने हिन्दुओं के पारस्परिक-एकीकरण के लिए यह शास्त्रमर्यादित धर्मनियन्त्रित समसामयिक प्रवचनात्मक-उद्बोधन दिया है। इसका उद्देश्य हिन्दी, हिन्दू एवं हिन्दुस्तान की रक्षार्थ हिन्दुओं का आपसी संघटन करना है।

4. श्री 'श्रीजी' महाराज : काव्यगत विशेषताएँ

(क) भावपक्षीय विशेषताएँ

1. निम्बार्कीय अभिमतानुकूल काव्य-प्रणयन

निम्बार्कसम्प्रदाय में वृन्दाविननिकुञ्जविहारी प्रियाप्रियतम युगलकिशोर श्रीश्यामाश्याम की नित्य-नूतन लीलाविहार-रसोपासना की प्रधानता है।

आद्याचार्य सुदर्शनचक्रावतार अनन्त श्री विभूषित **भगवन्निम्बार्काचार्य** ने स्वरचित **वेदान्त-दशश्लोकी** में युगलोपासना का संकेत किया है, जो दर्शनीय है—

स्वभावतोऽपास्त समस्तदोषम्
अशेष-कल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यम्,
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।।
अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा,
विराजमानामनुरूप-सौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।। (वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी से समुद्धृत)

इस निम्बार्कीय अभिमत को दृष्टिगत रखते हुए ही वर्तमान आचार्यवर्य श्री 'श्रीजी' महाराज ने 'श्रीराधामाधवशतकम्', 'श्रीयुगलस्तवविंशतिः', 'निकुञ्जसौरभम्', 'युगलगीतिशतकम्', 'श्रीराधाशतकम्', 'श्रीसर्वेश्वर सुधा-बिन्दु' (श्रीराधासर्वेश्वर-शतक)...आदि काव्यों का प्रणयन किया है। कवि ने श्रीराधामाधव की युगल-रसोपासना करते हुए स्व-लेखनी से प्रसूत किया है—

वृन्दावने कुञ्ज-निकुञ्ज-पुञ्जे,
भृंगैर्विहंगैरभिगुंज्यमाने।
नानालतापादपपुष्परम्ये,
राधामुकुन्दं रुचिरं स्मरामि।।1।।

सखी-समूहैः परिसेव्यमानम्,
ध्येयं सदाधामसुनिष्ठभक्तैः।
रसानुरक्तैः रसिकैः रसज्ञै-
स्तद्भावये श्रीयुगलं निकुञ्जे।।2।।
(श्रीनिकुञ्जसौरभम्, श्लोक सं. 1 एवं 2)

2. ज्ञान, भक्ति एवं उपासना की त्रिवेणी

वर्तमान आचार्यवर्य द्वारा विरचित साहित्य में ज्ञान, भक्ति एवं उपासना की त्रिवेणी प्रवाहित हुई है। महाराजश्री ने स्वरचित रचनाओं में निम्बार्कीय-उपासना-तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए भक्तिपूर्ण स्तोत्रों का प्रणयन किया है।

'श्रीस्तवरत्नाञ्जलिः', 'श्रीजानकीवल्लभस्तवः', 'श्रीयुगलस्तवविंशतिः', 'श्रीराधा-माधवशतकम्'... आदि आपश्री के भक्तिपरक स्तवन हैं, जिनसे पाठक के हृत्सागर में ज्ञान, भक्ति एवं उपासना का सरस निर्झर झरने लगता है।

3. भारतीय-संस्कृति एवं उच्चादर्शों की स्थापना पर बल

रचनाकार आचार्यवर्य जगद्गुरु श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराज ने स्व-रचित राष्ट्रीयता से ओतप्रोत काव्यों में भारतीय-संस्कृति एवं भारतीय उच्चादर्शों की स्थापना पर बल दिया है। 'भारत कल्पतरु' एवं 'भारत-भारती वैभवम्' आदि काव्य आचार्यश्री द्वारा रचित राष्ट्रीयता से ओतप्रोत काव्य हैं।

'भारत-भारती-वैभवम्' काव्य में गकार-त्रयी (गीतागङ्गागावश्च) को राष्ट्र की आत्मा स्वीकारते हुए आपश्री ने भावात्मक-एकता की प्रेरणा प्रदान की है। संस्कृत एवं संस्कृति के प्रति प्रणेता का विशेषात्मानुराग है। गीर्वाण-वाणी (संस्कृत) का वैभव परिवर्णित करते हुए कवि ने लिखा है—

मुकुन्दगीतां सुरवृन्दसेवितम्,
बुधैरुपास्यां कविचित्त-संस्थितम्।
पुरातनामप्यथ नित्यनूतनाम्,
भजे सदाऽहं हृदि देवभारतीम्।।
परम्परा संस्कृतिबोधकारिणी-
मनन्तविज्ञानविवेकदायिनीम्।
रसावहां गौरववृद्धिशालिनीम्,
भजे सदाऽहं हृदि देव-भारतीम्।।
(भारत-भारती वैभवम्; श्लोक सं. 47 एवं 419)

4. समन्वयात्मक-दृष्टिकोण

वर्तमान आचार्य श्रीचरणों ने युगलकिशोर श्रीराधामाधव विषयक काव्यों का प्रणयन तो प्रचुर रूपेण किया है, परन्तु आपश्री ने समन्वयात्मक-दृष्टिकोण अपनाते हुए

'श्रीजानकीवल्लभस्तवः', 'श्रीहनुमन्महाष्टकम्', 'श्रीराममहिमाष्टकम्' आदि स्तोत्रों का प्रणयन भी किया है, जो आचार्यश्री के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। 'श्रीराममहिमाष्टकम्' में मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का महिमापूर्ण वर्णन हुआ है। श्रीराममहिमा पद्य-प्रसून दर्शनीय है—

परिपूर्णतमः श्रुतिशास्त्रपरो,
निखिलागमचर्चित-चारु यशा।
मम रामवरः सुरवृन्दनुतो,
जयतीह सदा शरणार्तिहरः।।

श्रीस्तवरत्नाञ्जलिः के राममहिमाष्टकम् से समुद्धृत, श्लोक सं. 2

5. राष्ट्रीयता की प्रबल भावना

आचार्यश्री द्वारा विरचित 'भारत-भारती-वैभवम्', 'भारत कल्पतरु' आदि काव्यों में राष्ट्रीयता की भावना मुखरित हुई है। 'भारत-भारती वैभवम्' में तो प्रणेता का भारत एवं भारती के प्रति अनन्यानुराग सम्यक् प्रकारेण अभिव्यक्त हुआ है। भारत का वैभव गान कवि ने इस प्रकार लेखनी-प्रसूत किया है—

गङ्गा कलिन्दतनया-सरयू-त्रिवेणी-
गोदावरी प्रभृति दिव्य-तरंगिणीभिः।
नानागिरीन्द्र-हिमशैलवरैः सुरम्यम्,
वन्दे सदा रुचिर-भारतवर्ष-देशम्।।
क्रीडन्ति यत्र लघु बालक-बालिकाश्च,
गायन्ति गायकवराश्चतुराः सुगीतम्।
नृत्यन्ति नृत्यकुशलाः खलु नर्तकाश्च,
वन्दे च तं रुचिर-भारतवर्षदेशम्।।

(भारत-भारती-वैभवम्, श्लोक सं. 10 एवं 18)

6. बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न प्रणेता

वर्तमान आचार्यश्री श्री 'श्रीजी' महाराज बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। आपश्री एक प्रतिभा सम्पन्न प्रणेता, कुशल उपदेशक, मर्मज्ञ संगीतज्ञ एवं सहज समाजसुधारक हैं। आपश्री संस्कृत एवं हिन्दी के विद्वत्प्रकाण्ड तथा सहृदय कवि हैं। आपश्री ने संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में विविध मौलिक रचनाओं का समानाधिकार से सृजन किया है। 'भारत-भारती वैभवम्', 'भारत कल्पतरु', 'सर्वेश्वर सुधा-बिन्दु' आदि आपकी प्रतिभा-सम्पन्न कवित्व-शक्ति के द्योतक हैं।

'उपदेश-दर्शन'—आपश्री द्वारा दिये गये विविध विषयक प्रवचनात्मक सदुपदेशों का गद्यात्मक संकलन है, जिसमें शताधिक प्रवचन संकलित हैं, जिनसे भावुक भक्तवृन्द एवं धर्मप्राण जनताजनार्दन लाभान्वित हुआ है। यह कार्य आपके सफलोपदेशकत्व को सिद्ध

करता है। आपश्री 'हिन्दी-संस्कृत के विद्वत्प्रकाण्ड' प्रतिभासम्पन्न-प्रणेता, कुशलोपदेशक, सहज समाज-सुधारक, तेजस्वी धर्माचार्य एवं वीतराग सन्त शिरोमणि हैं। इस प्रकार आपश्री एक बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न, प्रत्युत्पन्नमति व्यक्तित्व के धनी हैं।

7. गेयता एवं संगीतात्मकता

वर्तमान निम्बार्कपीठाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज संगीतशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपश्री ने विविध राग-रागनियों तथा संगीत-स्वरों को दृष्टिगत रखते हुए विविध-पदों का प्रणयन किया है। आप द्वारा प्रणीत 'श्रीसर्वेश्वर सुधाबिन्दु' (श्रीराधासर्वेश्वरशतक) गेयात्मकता, संगीतात्मकता एवं लयात्मकता का परिचायक गेय काव्य है। यथा—उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

छाई श्याम घटा अति प्यारी।
श्रीवृन्दावन पावन धरणी, बरषत सरसत सुन्दर वारी।।
युगलकिशोर रति रस भीजत, उमगत सुखरस परम अपारी।
कोकिल कूजत मोर मधुर धुनि, सुनि मनमोद महारी।।
दादुर घोर करत अति सुन्दर, वेणु बजावत कुञ्जविहारी।।
शरण सदा 'राधा सर्वेश्वर' चपला चमकत पुनि पुनि प्यारी।।

(श्रीसर्वेश्वर सुधाबिन्दु से समुद्धृत)

आचार्य श्री द्वारा प्रणीत संस्कृत पदावली में भी संगीतात्मकता, गेयता एवं नाद-सौन्दर्य दृगोचर होता है—

वन्दे नितरां भारतवसुधाम्।
दिव्य-हिमालय-गङ्गा-यमुना-सरयू-कृष्णा शोभित सरसाम्।।
मुनिजनदेवैरनिशं पूज्यां, जलधितरंगैरञ्चित-सीमाम्।
भगवल्लीला-धाममयी तां, नानातीर्थैरभिरमणीयाम्।।
अध्यात्मधरित्रीं गौरवपूर्णां, शान्तिवहां श्रीवरदां सुखदाम्।
सस्यश्यामलां कलिताममलां, कोटि-कोटि जनसेवितमुदिताम्।।

(भारत-भारती वैभवात् समुद्धृतम्)

8. रस-निरूपण

अनन्तश्रीविभूषित निम्बार्कपीठस्थ वर्तमान आचार्यश्री ने स्वरचित साहित्य में भक्ति, शृंगार, करुण, शान्त, वात्सल्य...आदि सभी रसों का पुट दिया है, किन्तु आपश्री द्वारा विरचित काव्यों में रसराज शृंगार का निरूपण प्रचुररूपेण हुआ है। आप द्वारा रचित श्रीराधामाधव विषयक काव्यों में प्रधानतः संयोग शृंगार वर्णित हुआ है, जिससे रसिक श्रोता एवं सहृदय पाठक विगलित वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य ब्रह्मानन्द सहोदर 'रस' की अनुभूति करके परमानन्द की प्राप्ति करते हैं।

आचार्यश्री द्वारा सृजित साहित्य में वृन्दावन कुञ्ज-निकुञ्जबिहारी नूतन प्रियाप्रियतम युगलकिशोर श्रीश्यामाश्याम की नित्यनवीन शृंगारिक लीलाविहार की रसोपासना छवि दर्शनीय है—

कालिन्द्याः पुलिने निकुञ्जभवने लीलाविलासावनौ,
गच्छन्तं ललितं सुमानसहरं, वेदैर्बुधैर्वन्दितम्।
वृन्दारण्यनिकुञ्जधामरसिकैर्गेयं रसाप्याऽऽयितैः,
राधामाधवपादपद्मयुगलं वन्दे सदा श्रद्धया।।
(युगलगीतिशतकम्, श्लोक सं. 31)

लावण्य-कारुण्य-वरेण्यरूपः,
सौन्दर्यमाधुर्यगुणैक-धाम।
सौगन्धसौशील्यमहापयोधिः,
सार्द्धं हरिः श्रीप्रियया प्रयाति।। **(निकुञ्जसौरभम्, श्लोक सं. 28)**

इस प्रकार उद्धरणों से सुस्पष्ट होता है कि आचार्यश्री ने भक्तिभावों से परिप्लावित मर्यादित शृंगार को स्वलेखनी से सृजित साहित्य में चर्चित किया है, जो निम्बार्कसम्प्रदाय की युगलरसोपासना के सिद्धान्तानुकूल एवं समीचीन है।

स्वान्तः सुखानुभूति

प्रातः वन्दनीय पूज्यपाद आचार्यश्री ने निम्बार्काचार्यपीठ की परमपुनीत प्राचीन-परम्पराओं को गौरवान्वित करते हुए विविध स्तवनों का प्रणयन किया है। ये स्तोत्र-साहित्य-सुमन यद्यपि 'स्वान्तः सुखाय' होते हैं, तथापि आपश्री चरणाश्रित समस्त भावुक-भक्त-परिकर के लिए श्रीपरमानन्दकारी एवं सुमंगलमय होते हैं, क्योंकि 'स्व' शब्द का अर्थ आत्मा एवं आत्मीय है। अतः महापुरुषों का 'स्वान्तः सुखाय' आत्मीयजनों (भावुक-भक्त-परिकर) के लिए भी स्वान्तः सुखाय होना सहज स्वाभाविक है। स्वान्तः सुखानुभूति का संकेत रचयिता आचार्यवर्य ने सम्यक् प्रकारेण दिया है—

अहो वृन्दारण्यं युगललालितं भक्तिरसदम्,
प्रपन्नार्तिं हर्तुं त्वरितमभितोऽनुग्रहपरम्।
सखीनां संगीतैरमितरुचिरं चिद्घनभिदम्,
भजे नित्यं स्वान्ते रसिकजनहार्दाऽमृतरसम्।।
(युगलगीतिशतकम्, श्लोक सं. प्रथम)

(ख) कलापक्षीय विशेषताएँ

1. भाषा-शैली

भाषा भावाभिव्यक्ति का सहज एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है। काव्य के क्षेत्र में भाषा का महत्त्व अप्रतिम है, क्योंकि काव्य का सम्पूर्ण कव्य भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त होता है। काव्य-प्राणों का शरीर मनोभाषा है और उसकी गति को छन्द कहा जा सकता है। भाषा

भावों की वाहिका एवं प्रकाशिका है। एतदर्थ काव्य की भाषा सहज, सरल, व्याकरणसम्मत, काव्यगुण समलंकृत, काव्यदोषों से विमुक्त एवं कोमलकान्त कमनीय पदावली से युक्त होनी चाहिए। अनन्त-श्रीसमलंकृत निम्बार्कपीठस्थ वर्तमान आचार्यवर्य की भाषा शैली माधुर्यप्रसादादि गुणमण्डित, अनुप्रासादि अलङ्कारों से अलंकृत, वैदर्भी व कोमलावृत्ति से विभूषित तथा कोमलकान्त कमनीय पदावली से विन्यासित है। इनकी भाषा-शैली से सम्बन्धित उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

राधामुकुन्दं सततं भजामि,
वृन्दावनस्थं रसकेलिलोलम्।
सुशोभितं मोहनकुञ्जमध्ये,
रस-स्वरूपं रसिकाऽऽलिसेव्यम्।। **(निकुञ्जसौरभम्, श्लोक सं. 18)**

एवं

राधामाधव झूलत श्रीवन।
कनक रचित नवरतन जटित मणि-काल सुमंडित मंजुल झूलत।।
विविध कुसुम कलि रचित मनोहर चारु चलत गज त्रिविध समीरन।
नवघन चंचल श्याम-घटा प्रिय, रिमझिम बरसत दामिनि दरकन।।
पुलकित रुचित वन सहचरि परिकर युगल झुलावत निजनिज करन।
शरण सदा 'राधा सर्वेश्वर' युगल कृपा बिन दुर्लभ दरसन।।

इस पद में आचार्यवर्य ने कोमलकान्त कमनीय पदों को चुन-चुन कर गुम्फित किया है, जिस प्रकार एक कुशल जौहरी चुनचुन कर कमनीय मोतियों को मौक्तिक माला में पिरोता है। यह उद्धरण उनकी भाषागत विशेषताओं एवं सम्यक् कोमलकान्त कमनीय पदविन्यास के गुण को उद्घाटित करने में कोर-कसर नहीं छोड़ता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि वर्तमान श्री 'श्रीजी' महाराज की भाषा शैली काव्यशास्त्र की खराद (निकष) पर खरी उतरती है।

2. अलङ्कार-योजना

आचार्य दण्डी ने अलङ्कारों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में लिखा है—"काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।" अर्थात् काव्य के शोभा संवर्धक गुणों को अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कार का सामान्य अर्थ है—आभूषण। जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि आभूषण धारण करने पर कामिनी का सौन्दर्य अप्रतिम हो जाता है, उसी प्रकार उपमानुप्रासादि अलङ्कारों से समलंकृत होने पर कविता-कामिनी का सौन्दर्य अद्वितीय कमनीयता से मण्डित हो जाता है। निम्बार्कपीठस्थ वर्तमान आचार्यवर्य ने स्व-रचित साहित्य में अनुप्रास, उपमा, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, व्यतिरेक, पुनरुक्ति-प्रकाश आदि प्रमुख अलङ्कारों का प्रयोग किया है। अनुप्रासालङ्कार के प्रयोग के तो आचार्यवर्य सिद्धहस्त हैं। इस अलङ्कार निबोजन में आपश्री ने मनमोहक एवं कमनीय-छटा का दिग्दर्शन कराया है, यथा—

तरनि तनूजा तट परिलसितम्।
राधासर्वेश्वर शरणस्य सकलसखीजन-सेवितसरसम्।।

एवं

राधा राधा गावो रस राधा राधा राधा बोलो नित राधा।
रसकनि राधा मोहिनी राधा, सोहनि राधा मेटत बाधा।।
(श्रीसर्वेश्वर सुधा बिन्दु से समुद्धृत)

यथा वा—

अनन्त-कोटि-निर्जरैर्विनम्रभाव-वन्दिताम्।
निकुञ्ज-पुञ्ज भूवने कदम्ब-कुञ्जराजिताम्।
प्रफुल्ल-कुन्द-मल्लिकाप्रसूनहारभूषिता
नमस्करोमि राधिकां सखीकदम्ब-सेविताम्।।
(युगलगीति-शतकम् श्लोक सं. 32)

इस प्रकार आचार्यश्री ने स्व-रचित साहित्य में श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, वक्रोक्ति, व्यतिरेक...आदि अलङ्कारों का नियोजन भी सम्यक् प्रकारेण किया है, जो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से समीचीन है।

3. छन्द-विधान

अनन्तश्रीसमलंकृत निम्बार्कपीठाधीश्वर वर्तमान आचार्यश्री 'श्रीजी' महाराज ने स्वविरचित संस्कृत पद्यों को आर्या, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, उपेन्द्रवज्रा, भुजंगप्रयात, रथोद्धता, विभोगिनी, मालिनी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता एवं शार्दूलविक्रीडितम् आदि सभी प्रमुख वृत्तों में निबद्ध किया है। 'युगलगीतिशतकम्' संस्कृत गीतिकाव्य में आचार्यश्री ने उक्त सभी छन्दों का प्रयोग एक साथ किया है, जो इनकी छन्दशास्त्र निष्णातता एवं कर्मज्ञता का परिचायक है। हिन्दी में आपश्री ने 'दोहा' छन्द के 'विवेकवल्ली' लघुकाय काव्य का प्रणयन किया है। आपश्री के द्वारा विविध वृत्तों (छन्दों) में निबद्ध पद्य साहित्य छन्दःशास्त्र की खराद पर पूर्णरूपेण खरा उतरता है। शिखरिणी वृत्त में निबद्ध पद्य दर्शनीय है—

भजेऽहं कालिन्दीं, विमल सलिलोल्लोललिताम्।
वरेण्यां श्यामार्द्रीं, स्वजनकलुषौघक्षयकरीम्।
सुरद्युश्रेणीनां, नवसुकनसांसौरभपराम्।।

इस पद्य पर 'वृत्तरत्नाकर' में वर्णित शिखरिणी का यह लक्षण—'रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।' (अर्थात् जिस छन्द में 6 एवं 11 वर्णों पर यति होती है तथा क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु एवं गुरु कुल 17 वर्ण होते हैं।) पूर्णतः घटित हो रहा है, इससे सुस्पष्ट होता है कि आचार्य श्री द्वारा विविध छन्दों के निबद्ध पद्य छन्दशास्त्र की खराद पर खरे उतरते हैं।

4. गुण, रीति एवं वृत्ति निरूपण

अनन्तश्रीविभूषित निम्बार्कपीठाधीश्वर वर्तमान जगद्गुरु श्री 'श्रीजी' महाराज द्वारा प्रणीत साहित्य माधुर्य व प्रसाद गुणों से मण्डित वैदर्भी रीति से विभूषित एवं कोमला, उपनागरिका वृत्तियों से समलंकृत है। आचार्यश्री का अधोद्धृत पद माधुर्यगुण, वैदर्भी-रीति एवं कोमला-वृत्ति से समलंकृत है—

श्रीवनविहार प्रातः सुखदाई।
राधा मोहनलाल युगलवर, विहरत वृन्दावन मनभाई।।
नाना कुसुम सुगन्धित काला, निज कोमल कर सखी धराई।
कुञ्ज निकुञ्ज गहन अति सुन्दर, भ्रमर रुचिर गुंजार सुनाई।
रविजा तीर भीर सखि जन की, जा विच विहरत युगल सुहाई।
शरण सदा 'राधासर्वेश्वर' यह वन लीला रसमय छाई।।
(श्रीसर्वेश्वर सुधा बिन्दु से समुद्धृत)

आचार्यश्री द्वारा विरचित संस्कृत रचनाएँ भी माधुर्य व प्रसाद गुण से मण्डित हैं, यथा उद्धरण अवलोकनीय है—

निकुञ्ज-कुञ्ज कुञ्जेषु, कोकिला कीर-कीर्तिताम्।
सहचरी-समाराध्यां, श्रीराधां चारु भावये।।5।।
कदम्ब-पुष्पहारेण, कमनीयां शुभाऽऽननाम्।
कौशेय-वसनां दिव्यां, श्रीराधां भावये प्रियाम्।।6।।
(श्रीराधाशतकम्, श्लोक सं 5 व 6)

उपसंहार

वैष्णव चतुःसम्प्रदायों में निम्बार्क-सम्प्रदाय अति प्राचीन सम्प्रदाय है। इसका प्रादुर्भाव ब्रह्माजी के मानस पुत्र श्रीसनकादि महर्षियों से हुआ है। जैसाकि द्रष्टव्य है—

सनकः श्री-ब्रह्म-रुद्रसम्प्रदाय-चतुष्टयम्।

सनकादि मुनिजन, श्री (लक्ष्मी), ब्रह्माजी एवं भगवान् शङ्कर यही चारों वैष्णव चतुःसम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इस सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा श्री हंस भगवान् से प्रारम्भ होती है। श्री हंस भगवान् श्रीसनकादि मुनिजन तथा देवर्षिवर्य श्रीनारद जी ये तो देवस्वरूप में हैं, अतः प्रायः अनेक सम्प्रदायों की परम्परा में इनका नाम परिगणित किया जाता है, किन्तु इनके पश्चात् श्रीनिम्बार्कभगवान् आचार्य रूप में इस धराधाम पर आविर्भूत हुए, अतः वह सम्प्रदाय 'निम्बार्क-सम्प्रदाय' के नाम से लोक में अभिहित किया जाने लगा।

निम्बार्क सम्प्रदाय की पीठाचार्य परम्परा में वर्तमान निम्बार्कपीठाधीश्वर अनन्तश्रीसमलंकृत जगद्गुरु श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्य श्री श्रीजी महाराज हैं, जो न्याय, व्याकरण, वेदान्त, धर्म, दर्शन, संगीत, आयुर्वेद, संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी आदि विविध विषय एवं भाषाओं के विद्वत्प्रकाण्ड मनीषी हैं।

काव्य-प्रणयन के क्षेत्र में संस्कृत-वाङ्मय एवं हिन्दी साहित्य में आपका अक्षुण्ण तथा स्पृहणीय अवदान है। आपश्री हिन्दी एवं संस्कृत के एक सहज, सरस तथा सहृदय कवि हैं।

आपश्री ने संस्कृत में गद्य, पद्य, स्तोत्र आदि विधाओं पर सत्साहित्य सृजन किया है एवं हिन्दी में गद्य-पद्य उभयविधात्मक साहित्य-प्रणयन किया है।

आपश्री द्वारा विरचित हिन्दी-संस्कृत-साहित्य साहित्यशास्त्र की खराद पर पूर्णतः खरा उतरता है। 'भारत-भारती-वैभवम्' (संस्कृत-काव्य) एवं 'भारत कल्पतरु' (हिन्दी काव्य) आदि काव्य राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक मूल्यों से ओतप्रोत युगानुरूप समीचीन है। इन काव्यों में वर्तमान आचार्यवर्य श्री 'श्रीजी' महाराज ने भारत के प्रति अपने समादरणीय एवं वन्दनीय अनन्य भावों को साकार रूप देने का सुप्रयास किया है। यथा उद्धरण अवलोकनीय है—

भारत माता नमन निरन्तर।
अतिपावन मन विकल भाव भर, जिन पद पंकज निज मस्तक धर।
अनुपम दर्शन बुधजन सेवित, शोभित नाना तीर्थ सरोवर।
शरण सदा राधासर्वेश्वर कोटि, नमन है पुलकित अन्तर।

(भारत-कल्पतरु से समुद्धृत)

जयति मदीया भारतमाता।
निर्मल सुभगा मणिमयरूपा, रम्या विविधगुणैरवदाता।।
सस्य-श्यामला परम विशाला, हिमगिरिधवला परिसंजाता।
राधासर्वेश्वर शरणस्य चकास्ति चेतसि भारतमाता।।

भारत-भारती वैभवम्, पद्य सं. 8

इस प्रकार संक्षेपतः कहा जा सकता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय की पीठाचार्य-परम्परा विकास यात्रा के विविध सोपानों को पार करती हुई वर्तमान निम्बार्क पीठाधीश्वर अनन्त श्रीसमलंकृत जगद्गुरु श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज तक क्रमशः पहुँची है। वर्तमान आचार्यश्री द्वारा संस्कृत वाङ्मय एवं हिन्दी-साहित्य को प्रदत्त अवदान अति स्पृहणीय है, जो संस्कृत, हिन्दी साहित्य श्रीवृद्धि में चार चाँद लगाता है।

प्राध्यापक, निम्बार्क पीठ,
सलेमाबाद।

❑

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य और उनके द्वारा प्रणीत संस्कृत साहित्य

महामण्डलेश्वर श्री ब्रजबिहारीशरण 'राजीव'

दिनकर-शत-दीप्तिं कोटि-कन्दर्प-मूर्तिं
जलद-घन-शरीरं भक्तपक्षे ह्याधीरम्।
हरिकर-निजवासं व्यक्त-माया-विलासं
कृत आचार्यवेषं नौमि निम्बार्कमीशम्।।

(आचार्य-चरित्र विश्राम 3 श्लोक)

आज के युग में विशेषतया राजनीति के क्षेत्र में लोग 'सम्प्रदाय' शब्द का गर्हित अर्थ में प्रयोग करने लग गये हैं। राष्ट्र में एकता लाने के लिए लोक-नामक सम्प्रदाय व साम्प्रदायिकता का समूल उन्मूलन करने के लिए जितनी शक्ति व्यतीत करते हैं—उतना ही यह रोग अनेक पार्टियों का रूप धारण करके बढ़ता जा रहा है। जब तक इसके वास्तविक अर्थ को समझ कर इसे आदर नहीं देंगे, तब तक राष्ट्र व विश्व में शांति व एकता कथमपि संभव नहीं हो सकती।

शांति आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। आत्मा ज्ञान स्वरूप व ज्ञाता है। इसे शांति यथार्थ ज्ञान से ही मिल सकती है, ज्ञानाभास से नहीं। रज्जु को रज्जु समझना यथार्थ ज्ञान है, किन्तु इसे सर्प समझ बैठना अयथार्थ ज्ञान है, जो भय का कारण बन जाता है।

यथार्थ ज्ञान का मूल साधन वेदादि आप्त वाक्य हैं जो परम्परा से आम्नात हैं। जिस परम्परा से हम यथार्थ (वास्तविकता) का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसी का नाम सम्प्रदाय या आम्नाय है, जैसाकि कोषकार ने कहा है, "अथाम्नायः सम्प्रदायः"। (अमर 3/2/7)

मन्त्र-साधना अथवा उपासना त्रुणा भी तभी सफल होती है, जबकि वह ज्ञान के मूलस्रोत वेद के विपरीत न हो। इसी तथ्य का शास्त्रकार ने उद्घोष किया है कि **'सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः'**, सम्प्रदाय से विहीन या विपरीत कोई भी साधना या उपासना सफल नहीं हो सकती। इसीलिए प्रमुख सभी सम्प्रदाय अपने को अनादि वैदिक सत्सम्प्रदाय कहकर गौरव का अनुभव करते हैं। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय भी उक्त तथ्य को स्वीकार करते हुए अपना मूल वेद-उपनिषद्, सात्विक पुराण वेदानुकूल शास्त्रों को मानता है।

आद्याचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने मन की नियन्ता श्रीअनिरुद्ध-व्यूह के अन्तर्गत आते हैं। ये भगवान् श्रीकृष्ण के परमप्रिय आयुध श्रीसुदर्शन चक्र के अवतार हैं। श्रीनिकुंज उपासना में ये श्रीरंगदेवी स्वरूप हैं। भक्त लोग अष्टरूपों में इनकी उपासना करते हैं।

श्रीश्वेतवाराहकल्प के सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर में अट्ठाईसवें कलियुग के प्रारम्भ में युधिष्ठिर संवत् 6 कार्तिक शुक्लापूर्णिमा को गोधूलि वेला में आपका प्राकट्य हुआ।

जन्मस्थान वैदूर्यपत्तन (दक्षिण भारत) है। वैदूर्यपत्तन यह नाम रामायणकाल का है। इसके पश्चात् इसे 'मूंगीपट्टन' कहने लगे। आजकल यह स्थान 'पैठन' नाम से प्रसिद्ध है।

इनके पिता श्री अरुण ऋषि एवं माता श्रीजयन्ती थी। ये तैलङ्ग भट्ट थे। श्रीनिम्बार्क के शैशव का नाम नियमानन्द था। ब्रह्माजी को रात्रि में निम्बवृक्ष पर अर्क (सूर्य) दर्शन करने की अद्भुत घटना के कारण आपका नाम श्रीनिम्बार्क हो गया था।

श्रीनियमानन्दजी ने वेदशास्त्रों का अध्ययन पिताश्री से ही किया। माता-पिता के साथ अनेक तीर्थ स्थलों का दर्शन-भ्रमण करते हुए पैदल यात्रा करते हुए ब्रजधाम पधारे। गोवर्द्धन की उपत्यका निम्बग्राम में आपने कठोर तपस्या की। यहाँ ही देवर्षि श्रीनारदजी से आपको (श्रीगोपाल अष्टादशाक्षरी) मन्त्रराज की दीक्षा एवं श्रीसनकादिक सेवित श्रीसर्वेश्वर प्रभु (शालग्राम) का श्रीविग्रह नित्यसेवा व सम्प्रदाय प्रवर्त्तन हेतु प्राप्त हुआ।

देवर्षि श्रीनारदजी को अपने गुरु श्रीसनकादि से जो पञ्चपदी विद्या प्राप्त हुई थी, जिसके मूलस्रोत श्रीहंस भगवान् हैं, श्रीगोपालतापिनी उपनिषद् में जो आम्नात है, उसीका देवर्षिजी ने श्रीनिम्बार्क भगवान् को उपदेश करके श्री राधाकृष्ण की उपासना व द्वैताद्वैत सिद्धान्त प्रवर्त्तन किया। अतएव इसे श्रीहंससम्प्रदाय, श्री सनकादि सम्प्रदाय, देवर्षि श्रीनारद सम्प्रदाय बाद में भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी के नाम से अभिहित करते हैं। परवर्तीकाल में श्रीसम्प्रदाय की परम्परा में 35वां पीढ़ी के जगद्गुरु श्रीनिम्बार्क पादपीठाधीश्वर रसिक राजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्य पीठासीन हुये। बाद में आपके भजनप्रताप से श्रीहरिव्यासी सम्प्रदाय का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ। आपके नाम से हरिव्यासी सम्प्रदाय कहा जाता है। इस प्रकार से उक्त सम्प्रदाय का नाम यत्र-तत्र सर्वत्र देखने व पढ़ने-सुनने में आता है।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी का संस्कृत साहित्य

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त 'द्वैताद्वैत' है, इसे ही भेदाभेद भी कहते हैं। वेद व उपनिषदों में द्वैत तथा अद्वैत इन दोनों तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है। वह सर्वांशतः प्रमाण है। आप द्वारा रचित 5 पद्यात्मक रचना मिलती है—

1. वेदान्तकामधेनुदशश्लोकी।
2. श्रीराधाष्टकम्
3. प्रातःस्मरणस्तोत्रम्
4. श्रीकृष्णस्तवराजः
5. वेदान्तपरिजात-सौरभम्।

श्रीनिम्बाकाचार्य जी का जब आविर्भाव हुआ था, उस समय वेदान्त की संतति लुप्त हो गई थी, जिसे इन्होंने वेदान्तपारिजात-सौरभ आदि ग्रन्थों का निर्माण कर पुनरुज्जीवित किया था।

श्रीकृष्णस्तवराज की तीन टीकाएँ हैं, उनमें श्रुत्यन्त सुरद्रुम टीकाकार श्रीपुरुषोत्तम भिन्न हैं, श्रुत्यन्त कल्पवाली टीका के लेखक पुरुषोत्तम और वादिभूषण ग्रन्थ के लेखक पुरुषोत्तम भिन्न हैं। इस संदर्भ में डॉ. भाण्डारकर आदि की आलोचना 'भारतेर साधना' (बंगीय मासिक

पत्रिका) बंगाल सन् 1340 आग्राहन मास के अंक में तथा हिन्दी, बंगला सुदर्शन पत्र में श्रीनृसिंह दास वसु ने की थी, वह मार्मिक है। बाद में परवर्ती आचार्यों ने इस सम्प्रदाय को प्रचुर मात्रा में संस्कृत साहित्य प्रदान व सेवा की है और आज वर्तमान श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर अ. श्रीविभूषित श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीश्रीजी श्रीलीराधासर्वेश्वर शरणदेवाचार्यजी महाराज अपने प्रातःस्मरणीय आचार्यों के क्लिष्ट संस्कृत साहित्य का सरल संस्कृतभाषा में, साथ ही हिन्दी भाषा में साहित्य प्रकाशन कर रहे हैं। उक्त सम्प्रदाय के प्राचीन हस्तलिखित आचार्यों की प्रतिलिपि गो. श्री पंडित किशोरदास जी महाराज वेदान्तनिधि (वृन्दावन) अधिकारी पं. श्रीब्रजवल्लभशरण जी वे. आ. सां. तीर्थ (वृन्दावन) प्रचुर मात्रा में सम्पन्न कर रहे हैं, साथ ही प्रकाशन भी।

अद्वैतबोधक श्रुतियां ही वास्तविक सत्य हैं, द्वैतबोधक श्रुतियों का समन्वय करने के लिए माया अथवा उपाधिका आश्रय लेना पड़ता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। श्रीनिम्बार्क दर्शन दोनों प्रकार की श्रुतियों की स्वाभाविकता को सिद्ध करता है। उदाहरणार्थ सुवर्ण के अनेक प्रकार के आभूषण बनाये जाते हैं। सबका नाम और रूप पृथक् रहते हैं। वे आपस में एक दूसरे के व्यावर्तक हो जाते हैं। नासाभूषण कर्णभूषण नहीं कहा जा सकता और कर्णभूषण नासाभूषण नहीं बन सकता। सबकी विभिन्न प्रकारता सत्य है और सुवर्ण सबमें होने से (सुवर्णत्वेन) अभेद भी सत्य ही है। सत् से सत् की ही सृष्टि होती है, अभेद असत् की नहीं। इस प्रकार श्रीनिम्बार्क दर्शन में सत्ख्याति वाद माना गया है। अतः आभूषणों में सुवर्ण के समान जगत् में ब्रह्म व्याप्त है। यह सत्य है तो जगत् की विविधरूपता भी सत् ही है।

व्यापक ब्रह्म का व्याप्त जगत् प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है। ऐसा यदि स्वीकृत करें तो ब्रह्म की व्यापकता में व्याघात आ जाता है, क्योंकि प्रतिबिम्ब के लिए बिम्ब का व्याप्य व परिच्छिन्न होना आवश्यक है। जो सर्वव्याप्त है फिर उसका प्रतिबिम्ब कहां व कैसा होगा?

निम्बार्क दर्शन के जीव-ब्रह्म में लीन होकर अपना अस्तित्व समाप्त नहीं करते। वे अनन्त व प्रतिदेह भिन्न हैं। हरि के अधीन, ज्ञान स्वरूप व ज्ञानवान हैं।

ब्रह्म भी दूध से दही के समान जगत् रूप में परिणत होकर अपना पृथक् अस्तित्व नहीं मिटा देता। यह तो मकड़ी के जैसा जाल्म पूर करके उसी में स्वतन्त्र रूप से रमण करता रहता है। इसी दृष्टान्त के अनुसार इस दर्शन का अभिमत परिणाम भी शक्ति विक्षेप लक्षण है।

सारांशतः ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होने से अभिन्न एवं निमित्त कारण होने से भिन्न भी है, इसी तथ्य के आधार पर।

प्रधान सम्पादक 'श्रीभक्तिभागीरथी,
प्रधानमंत्री, अ.भा. श्रीनिम्बार्क महासभा।

❑

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य का विपुल साहित्य

डॉ. प्रेमनारायण श्रीवास्तव 'प्रमेन्द्र'

वैदिक वैष्णव-धर्म व दर्शन के चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, जो सनक, श्री, ब्रह्म व रुद्र के नाम से जाने जाते हैं। इनके मूल प्रवर्तक भगवान् विष्णु हैं, अतएव ये सभी वैष्णव सम्प्रदाय कहलाते हैं। विष्णु भक्त चतुःसन (सनक, सनन्दन सनत्कुमार और सनातन) अथवा इनके उपदेष्टा भगवान् के हँसावतार द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय सनक अथवा हंस सम्प्रदाय के नाम से, विष्णु भक्त श्री या महालक्ष्मी द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय के नाम से, विष्णुभक्त ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय के नाम से तथा विष्णु भक्त रुद्र द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय रुद्र सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है।

सनक अथवा हंस सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत है। भगवान् के नित्य पार्षद श्री सुदर्शन चक्र के साक्षात् अवतार जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य इस मत के प्रधान प्रवर्तक थे। अतः सनक सम्प्रदाय को **निम्बार्क सम्प्रदाय** के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। श्री सम्प्रदाय का दार्शनिक मत **विशिष्टाद्वैत** है, जिसके प्रधान प्रवर्तक जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य थे। ब्रह्म सम्प्रदाय के **द्वैतमत** के प्रधान प्रवर्तक जगद्गुरु श्री मध्वाचार्य थे। रुद्र सम्प्रदाय का दार्शनिक मत **शुद्धाद्वैत** है, जिसके प्रधान प्रवर्तक जगद्गुरु श्री विष्णुस्वामी और उनके परवर्ती जगद्गुरु श्री वल्लभाचार्य थे। ये चारों सम्प्रदाय भगवान् के नाम, रूप, गुण और कर्म को नित्य-चिन्मय मानते हैं।

साम्प्रदायिक मान्यतानुसार जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य का आविर्भाव द्वापर और कलियुग के सन्धिकाल में दक्षिण में गोदावरी-तटवर्ती वैदूर्यपत्तन (मूँगीपैठण) के निकट 'अरुणाश्रम' में हुआ था। आधुनिक विद्वान् आपका आविर्भाव काल जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य से पूर्व विक्रम की पाँचवीं-छठवीं शताब्दी मानते हैं। आपका बाल्यकाल का नाम नियमानन्द था। बाल्यकाल से ही भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाभूमि ब्रज के प्रति अगाध निष्ठा होने से आपने अपनी माता भक्तिमती जयन्ती देवी और पिता श्री अरुण मुनि के साथ दक्षिण से प्रस्थान कर नैमिषारण्य, पुष्करारण्य, कुरुक्षेत्र, द्वारिका आदि तीर्थों का भ्रमण करते हुए ब्रज मण्डल में प्रवेश किया और श्री गिरि गोवर्द्धन की उपत्यका (तलहटी) में अपना आश्रम बनाकर निवास करने लगे। इसी आश्रम में संध्योपरान्त अतिथि रूप में आये किसी दण्डी संन्यासी को जो सूर्यास्त पश्चात् भोजन नहीं करते थे, आपने अतिथि धर्म के रक्षार्थ अपने ही आश्रम के निम्ब वृक्ष पर अर्क (सूर्य) का दर्शन कराकर जगत् में 'निम्बार्क' नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। इसी पवित्र आश्रम में देवर्षि नारद ने प्रकट होकर आपको वैदिक श्रीगोपाल अष्टादशाक्षर मंत्र का उपदेश दिया था। श्रीगोवर्द्धन के निकट आज भी आपका यह आश्रम 'निम्बग्राम' के नाम से प्रसिद्ध है। वर्तमान जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य 'श्रीजी'

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज के सतत सत्प्रयास से उक्त निम्बग्राम में श्रीनिम्बार्क भगवान् का एक दिव्य भव्य मन्दिर का निर्माण हो गया है।

आज हजारों तीर्थयात्री दर्शन करने प्रतिदिन वहाँ पहुँचते हैं। अपने इसी आश्रम में रहकर जगद्गुरु श्री निम्बार्क भगवान् ने देववाणी संस्कृत में जो ग्रन्थ रचना की, वे निम्न प्रकार हैं—

1. वेदान्तपारिजात सौरभ	:	ब्रह्मसूत्र वाक्यार्थ नामक संक्षिप्त वृत्ति
2. वेदान्तकामधेनु	:	सिद्धान्तबोधक दशश्लोकी
3. मन्त्ररहस्य षोडशी	:	अष्टादशाक्षर गोपालमंत्र की व्याख्या
4. प्रपन्नकल्पवल्ली	:	पाञ्चरात्रप्रोक्त षोपालमंत्र की व्याख्या अकुंद शरणागति मंत्र
5. प्रपत्तिचिन्तामणि	:	श्रीसुन्दरभट्टाचार्यजी की सेतु टीका में निर्दिष्ट
6. गीतावाक्यार्थ	:	श्रीकेशव काश्मीरिप्रणीत कौस्तुभप्रभा से ज्ञात
7. सदाचार प्रकाश	:	श्रीपुरुषोत्तमाचार्य की दशश्लोकी टीका में निर्दिष्ट
8. श्रीराधाष्टकस्तोत्र	:	श्रीराधा की वंदना सम्बन्धी स्तोत्र
9. प्रातः स्मरणस्तोत्र	:	श्रीकृष्ण की प्रातः वन्दना से सम्बन्धित स्तोत्र

1. वेदान्त पारिजात सौरभ

श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत यह एक सिद्धान्त ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। बादरायण व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र की विलक्षण एवं सारगर्भित व्याख्या इसमें परिलक्षित होती है। इसका उल्लेख 'निम्बार्क भाष्य' अथवा 'निम्बार्क वेदान्त' के नाम से भी किया जाता है। ब्रह्मसूत्र की यह वृत्ति वेदान्त रूपी कल्पवृक्ष की कुसुमावली के सदृश नितान्त ही सुकुमार अर्थात् सरल और नितान्त ही सौरभयुक्त अर्थात् वेदान्तसार संयुक्त है। यह किसी भी प्रकार के खण्डन मण्डनात्मक आक्षेपों से सर्वथा परे है। ब्रह्मसूत्र के अनुसार ही इसका क्रम रखा गया है, अर्थात् इसमें चार अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं और प्रत्येक विषय की अधिकरण संज्ञा है। ऐसे सूत्र समूहों के अनेक अधिकरणों में यह वृत्ति पूर्ण हुई है। सूत्रों की व्याख्या करते समय उपनिषदों के सटीक प्रमाणों द्वारा उनकी संपुष्टि भी की गई है। इसमें श्रीनिम्बार्काचार्य ने तत्त्वत्रय अर्थात् ब्रह्म, जीव और जगत् का व्याख्यात्मक विवेचन करते हुए उनमें पारस्परिक द्वैताद्वैतमत का प्रतिपादन किया है, जो उनकी मौलिक अभिव्यक्ति है।

ब्रह्मसूत्र के अन्यान्य भाष्यकारों ने पहले चार सूत्रों को चतुःसूत्री कहकर बड़े विस्तार से उन सूत्रों की व्याख्या की है, किन्तु श्रीनिम्बार्काचार्य ने सूत्रों की व्याख्या करते समय नितान्त ही संक्षिप्त एवं सारगर्भित पद्धति को अपनाया है। केवल 'तत्तु समन्वयात्' नामक चतुर्थ सूत्र की व्याख्या में निजमत सिद्धान्त प्रतिपादनार्थ उन्होंने किञ्चित् विस्तृत चर्चा की है। शेष अध्यायों में सूत्रों के शब्दार्थ, औपनिषदिक प्रमाण और उनकी यथेष्ट संगति, यही उनकी व्याख्या का क्रम रहा है। यह ज्ञातव्य है कि ब्रह्मसूत्र पर जगद्गुरु कोटि के किसी आचार्य की यह सर्वप्रथम व्याख्या थी और वे थे आचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान्।

द्वैताद्वैत के नाम से सुप्रतिष्ठित वेदान्त सिद्धान्त श्रीनिम्बार्काचार्य द्वारा प्रवर्तित हुआ था। श्रीनिम्बार्काचार्य का प्रत्येक उपदेश एवं अर्चना पद्धति वेदान्त सिद्ध है और वेदान्त के लक्ष्य की ओर ही उन्मुख हुई है। भारतीय दर्शन जगत् में यह द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। बादरायण व्यास से पूर्व भी औडुलोमि तथा आश्मरथ्य जैसे भेदाभेदवादी आचार्य विद्यमान थे।

दर्शनशास्त्र की दो प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं—खण्डनात्मक और समन्वयात्मक। खण्डनात्मक प्रवृत्ति जहाँ सापेक्ष, सविकल्प और आग्रहयुक्त होती है, समन्वयात्मक प्रवृत्ति वहाँ निरपेक्ष, निर्विकल्प और प्रपञ्च शून्य ही रहती है। वेदान्त दर्शन की सिद्धि एवं सपुलता का एकमात्र आधार यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति ही है। 'समन्वय' को अन्य शब्दों में 'भक्तियोग' भी कहते हैं, जो साधना का साध्य विषय होता है। श्रीनिम्बार्काचार्य ने द्वैत और अद्वैत दोनों मतों में समन्वय कर अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का अपूर्व परिचय दिया है।

वस्तुतः श्रुतियाँ द्वैत और अद्वैत दोनों मतों का प्रतिपादन करती हैं। इस स्थिति में यदि विशुद्ध रूप से केवल अद्वैतवाद का समर्थन किया जाये तो द्वैतवादिनी श्रुति स्वगति में बाधित होती है और यदि विशुद्ध भाव से केवल द्वैतवाद का प्रतिपादन किया जाये तो अद्वैतवादिनी श्रुति का निषेध होता है। वेद ब्रह्मस्वरूप होने के कारण सर्वज्ञात्मक और ज्ञानरूपात्मक हैं। यदि उनका तात्पर्य द्वैत और अद्वैत में से किसी एक ही वाद के प्रतिपादन में होता तो उनमें उसी एकांगीवाद का प्रतिपादन करने वाले मंत्र मिलते। अतएव गम्भीरता से विचार करने पर ऐसा निश्चय होता है कि वेदों का तात्पर्य स्वाभाविक द्वैताद्वैतवाद के प्रतिपादन में ही निष्पन्न हुआ है। इसी वास्तविक तथ्य को हृदयंगम कर श्रीनिम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतमत का प्रवर्तन किया है। श्रीनिम्बार्काचार्य के परवर्ती श्रीशङ्कराचार्य, श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री वल्लभाचार्य आदि सभी ने किसी-न-किसी रूप में श्रीनिम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतमत का समर्थन अवश्य किया है। श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत वेदान्तपारिजात सौरभ भाष्य में किसी भी मत विशेष का खण्डन-मण्डन न होना तथा किसी भी वेदान्ताचार्य के नाम का उल्लेख न किया जाना ही उन्हें सभी वेदान्ताचार्यों का प्राग्वर्ती सिद्ध करता है। इन्हीं सब अकाट्य तर्कों के कारण भारतीय दर्शन व संस्कृत वाङ्मय के उद्भट विद्वान् पं. बलदेव उपाध्याय ने श्रीनिम्बार्काचार्य को सभी वैष्णवाचार्यों से प्राचीन लिखा है।[1] श्रीशङ्कराचार्य परवर्ती श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री वल्लभाचार्यादि ने अपने-अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य के अद्वैतवाद की आलोचना की है, जबकि श्रीनिम्बार्काचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य में किसी भी मत-वाद की आलोचना लेशमात्र भी नहीं मिलती।

2. वेदान्तकामधेनु

श्रीनिम्बार्काचार्य ने अपने 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक ब्रह्मसूत्र-भाष्य में ब्रह्म, जीव व जगत्-सम्बन्धी जिस सिद्धान्त का उद्घाटन किया है, उसी के संक्षिप्त एवं सारगर्भित स्वरूप का वर्णन उन्होंने अपनी 'वेदान्तकामधेनु' में किया है, जो सैद्धान्तिक दृष्टि से नितान्त

ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इसमें जीवात्मा का स्वरूप गुण एवं उसकी परिमाण संख्या का निरूपण पारमार्थिक सत् तत्त्व के रूप में किया गया है।

श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत 'वेदान्त कामधेनु' सम्प्रदाय के सिद्धान्तपक्ष के उद्घाटन में बड़ी ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। दशश्लोकों में इसकी रचना होने से यह **'दशश्लोकी'** के नाम से भी जानी जाती है। इसमें वेदान्त का तात्त्विक विवेचन होने से **'वेदान्त दशश्लोकी'** के रूप में इसे काफी प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।

'वेदान्त कामधेनु' के प्रारम्भ के दो श्लोकों में जीवतत्त्व अथवा उपासक तत्त्व निरूपण, तृतीय श्लोक में जगत् अथवा अचेतन (माया) तत्त्व निरूपण, चतुर्थ श्लोक में श्रीकृष्ण का परात्परत्व अथवा उपास्य तत्त्व निरूपण, पञ्चम श्लोक भी उपास्य तत्त्व से ही सम्बद्ध है, जिसमें श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में विराजमान श्रीराधा का तात्त्विक चिन्तन तथा युगलोपासना का रहस्य निरूपण, षष्ठ श्लोक में ब्रह्म विद्या निरूपण, सप्तम अष्टम श्लोक में ब्रह्म का जीव और जगत् से स्वाभाविक भेदाभेद निरूपण, नवम श्लोक में भक्ति तत्त्व निरूपण तथा अन्तिम दशम श्लोक में जीव शरणागति एवं कृपातत्त्वपरक अर्थपञ्चक का सुन्दर निरूपण किया गया है। इस श्लोक में जीव की शरणागति में सहयोगी तत्त्व के साथ उसके विरोधी तत्त्व (माया आदि) की पूर्ण जानकारी पर विशेष बल दिया है। इस श्लोक में उपास्य तत्त्व, उपासक तत्त्व, कृपा तत्त्व, भक्ति अथवा रस तत्त्व और विरोधी (माया) तत्त्व इन पाँच तत्त्वों का निरूपण होने से वेदान्तकामधेनु का यह श्लोक **'अर्थपञ्चकश्लोक'** के नाम से प्रसिद्ध है।

वेदान्तकामधेनु के माध्यम से श्रीनिम्बार्काचार्य ने ऐश्वर्य प्रधान भक्ति की जगह माधुर्य प्रधान भक्ति को महत्त्व प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में भगवान् के ऐश्वर्यमय रूप से भगवान् की ओर आकृष्ट होना तो धर्म साधना का आरम्भ मात्र है। सच्ची साधना तो भगवान् के प्रेममय जीवन्त साहचर्य बंधन से युक्त होकर उनके मधुर स्वरूप का दर्शन करने में है। वस्तुतः श्रीनिम्बार्काचार्य ही ऐसे प्रथम वैष्णव दार्शनिक आचार्य थे, जिन्होंने जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में माधुर्य भक्ति का पुट दिया है। वास्तव में उनका सम्प्रदाय प्रेमलक्षणा अनुरागात्मिका पराभक्ति को ही साधन मार्ग में सर्वश्रेष्ठ मानता है।[2]

3. मन्त्ररहस्य षोडशी

श्रीनिम्बार्काचार्य ने अपने इस ग्रन्थ में पाञ्चरात्रप्रोक्त अष्टादशाक्षर श्रीगोपालमंत्रराज की विस्तृत व्याख्या की है। यह सोलह श्लोकों में प्रणीत होने से तथा इसमें श्रीगोपालमंत्रराज की रहस्यमयी व्याख्या किए जाने से इसे 'मन्त्ररहस्यषोडशी' नाम से अभिहित किया गया है। इसमें अष्टादश अक्षरीय गोपालमंत्र के एक-एक अक्षर का गूढार्थ प्रस्तुत किया गया है। सम्प्रदाय में 'श्रीगोपालमहामन्त्र' के नाम से विख्यात अष्टादशाक्षर श्रीगोपालमंत्रराज को ग्रहण किए बिना कोई 'वैष्णव' नहीं बन सकता। सम्प्रदाय के किसी भी पारम्परिक आचार्य द्वारा ही इस दिव्य मंत्र की प्राप्ति होती है। इस मंत्र को प्राप्त करने वाला ही 'दास' पद से युक्त होता है। फिर उसे वैष्णवधर्म का निष्ठापूर्वक पालन करना अनिवार्य हो जाता है। 'दास' नाम से युक्त

वैष्णव को देखकर साक्षात् यमराज भी भयभीत हो जाते हैं। सम्प्रदायाचार्य श्रीसुन्दरभट्टजी ने श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत मन्त्ररहस्यषोडशी की 'मन्त्रार्थरहस्य' नाम से सुन्दर टीका की है।

4. प्रपन्नकल्पवल्ली

यह सत्ताईस श्लोकों में प्रणीत है। इसमें भगवान् के शरणागत मंत्र की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस मंत्र को प्राप्त किए बिना कोई भी श्रीगोपालअष्टादशाक्षर मंत्र प्राप्ति का अधिकारी नहीं बन सकता। अतएव श्रीगोपालमंत्र ग्रहण कर पारम्परिक वैष्णव बनने की इच्छा रखने वाले को सर्वप्रथम शरणागत मंत्र ग्रहण करना अनिवार्य होता है। शरण में आए हुए की रक्षा करना तो प्राणिमात्र का धर्म है। इसी प्रकार पूर्ण निष्ठा से जो सम्प्रदाय के किसी भी पारम्परिक आचार्य की शरण ग्रहण कर वैष्णव बनना चाहता है, उसे आचार्य द्वारा सर्वप्रथम यह शरणागत मंत्र ही दिया जाता है, तत्पश्चात् गोपालमंत्र प्राप्त कर वह 'वैष्णव' की संज्ञा से अभिहित होता है। इसके साथ ही उसे अपने कण्ठ में तुलसी की दुलड़ी कण्ठी, मस्तक पर गोपीचंदन का ऊर्ध्वपौण्ड्रतिलक, यज्ञोपवीत, दासनाम, शङ्ख चक्र की छाप आदि का धारण करना भी अनिवार्य होता है। शरणागत जीव को ये सारी वस्तुएँ आचार्य (सद्गुरु) द्वारा ही प्रदान की जाती हैं। इसके पश्चात् ही वह श्रीगोपालमहामंत्र को प्राप्त कर पारम्परिक 'वैष्णव' पद से सुशोभित होता है। सम्प्रदायाचार्य श्रीसुन्दरभट्टजी ने **'प्रपन्नसुरतरुमञ्जरी'** नाम से श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत उक्त प्रपन्नकल्पवल्ली की सुन्दर व्याख्या की है।

5. प्रपत्तिचिन्तामणि

श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत 'प्रपत्तिचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ अद्यावधि **अनुपलब्ध** है। इसके नाम की चर्चा सम्प्रदायाचार्य श्रीसुन्दरभट्टजी ने अपनी सेतु टीका में की है तथा इसे श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत लिखा है।

6. गीतावाक्यार्थ

श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत 'गीतावाक्यार्थ' ग्रन्थ भी अद्यावधि अनुपलब्ध है। इसके नाम की चर्चा श्रीकेशव काश्मीरी भट्टाचार्य ने अपने 'वेदान्त कौस्तुभप्रभा' नामक ग्रन्थ में गीता व्याख्या के अन्तिम श्लोक में की है तथा इसे श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत लिखा है।

7. सदाचारप्रकाश:

श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत 'सदाचारप्रकाश' अपने मूल रूप में तो अद्यावधि **अनुपलब्ध** है, किन्तु **'सदाचारसारसंग्रह'** शीर्षक से यह उपलब्ध है। इसमें साम्प्रदायिक सारी महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख मिलता है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अनादि वैदिक स्वरूप की सुन्दर व्याख्या इसमें देखने को मिलती है। वैष्णव धर्म का निरूपण सुगमता से प्रस्तुत किया गया है। सम्प्रदाय-निष्ठ वैष्णव को सर्वप्रथम सदाचार युक्त होना नितान्त आवश्यक है। सदाचरण को प्रथम धर्म के रूप में इसमें स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि जो सदाचार युक्त नहीं है, उसकी शरणागति कथमपि सम्भव नहीं है। श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत 'सदाचार

प्रकाश' की पूर्ति इस 'सदाचारसारसंग्रह' के अवलोकन से ही हो जाती है। यह निम्बार्काचार्य प्रणीत वैष्णव मात्र के लिए परम उपयोगी ग्रन्थ है।

8. श्रीराधाष्टक

श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत 'श्रीराधाष्टक' में कुल आठ श्लोक हैं व एक श्लोक फलस्तुति का है। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन 'श्रीसर्वेश्वर' मासिक अङ्क के 'श्रीनिम्बार्क विशेषाङ्क' में किया गया है। इस अष्टक में सर्वेश्वरी श्रीराधा की बड़ी ही भावपूर्ण वंदना की गई है। श्रीराधा श्रीकृष्ण की साक्षात् आह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्ण के वामाङ्क में विराजमान श्रीराधा सदैव शोभायमान रहती हैं। श्रीवृन्दावन व सखी परिवार के साथ श्रीराधाकृष्ण का नित्य निकुञ्जविहार दर्शन ही आद्याचार्यवर्य का अभिप्रेत है, ऐसा इस अष्टक से ज्ञात होता है।

9. प्रात:स्मरण स्तोत्र

श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत दशश्लोकी 'प्रात:स्मरणस्तोत्र' उक्त 'श्रीराधाष्टक' की ही भाँति 'श्रीसर्वेश्वर' मासिक के 'श्रीनिम्बार्कअङ्क' में प्रकाशित है। इसमें पूर्णपरात्पर भगवान् श्रीकृष्ण की प्रातर्वन्दना की गई है। एक-एक श्लोक श्रीकृष्ण की माधुरी से ओतप्रोत है। श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा के मधुर रूप की झाँकी भी इसमें कराई गई है। श्रीवृन्दावन व सखी परिवार के मधुर स्वरूप का वर्णन भी इसमें किया गया है।वस्तुत: श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत उक्त 'श्रीराधाष्टक' व 'प्रात:स्मरण स्तोत्र' दोनों उनकी 'वेदान्तकामधेनु' की ही भाँति नित्य प्रात:पाठोपयोगी है। इन तीनों स्तोत्रों की मधुरिमा सर्वथा अवर्णनीय है। श्रीराधाकृष्ण की मधुरभाव भक्ति की जो सलिला इसमें प्रवाहित होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मधुरभावभक्ति व सिद्धान्त विवेचन की दृष्टि से आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत संस्कृत साहित्य बेजोड़ है। उनके सभी ग्रन्थों में सारग्राहिता एवं समाहारिता दोनों शक्तियों का अद्भुत संगम है। व्रज वृन्दावन में श्रीराधाकृष्ण की मधुर भक्ति के वे न केवल सूत्रपातकर्ता थे, वरन् आदि पुरोधा भी थे। आज दिग्दिगन्त में उनकी यश: पताका फहरा रही है।

भक्तमाल कुटी, मोटे गणेशजी, वृन्दावन (उ.प्र.)

सन्दर्भ

1. भागवत सम्प्रदाय : पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 316
2. भागवत सम्प्रदाय : पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 348

❑

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य समय-समीक्षा

पं. परशुरामशरण भारद्वाज

इस पुण्य पवित्र भारतभूमि में जगन्नियन्ता जगदीश्वर परम्पिता परमेश्वर श्री सर्वेश्वर प्रभु ने समय-समय पर नानाविध रूपों में आविर्भूत होकर जीवों पर परम कृपा की है। आचार्य रूप में अवतीर्ण हो कर जो ज्ञानोपदेश व आचार प्रक्रिया प्रदान की है, वह उनके तिरोहित होने पर भी चिरकालोपकारी है। उस पद्धति से, उपदेश से, नाम गुणगान से, नवविध भक्ति से और तद्रचित रचनाओं से प्राणी उपकृत होते ही रहते हैं, किन्तु परवर्ती उद्भट विद्वान् उनमें मतभेद प्रदर्शित कर श्रद्धालुओं में भ्रम और संशय उत्पन्न कर देते हैं। अनेक उलटी सीधी लिख डालते हैं, उससे क्षोभ होना स्वाभाविक है। कुछ तो ऐसे हैं, जो ज्ञानोपदेश को ही विकृत कर देते हैं। इनमें समय का उलटफेर बहुत अधिक प्रभावकारी होता है। महाकवि माघ 'समय एव करोति बलाबल' इत्यादि लिखकर समय की महिमा बखानते हैं। 'वही अर्जुन वही गोपियाँ वहीं अर्जुन के बाण समय-समय की बात' लोकोक्ति समय की महिमा बतलाती है। ज्योतिष शास्त्र तो जन्म समय से ही सम्पूर्ण जीवन घटनाओं को उद्घाटित करता है। सभी धर्म कर्मानुष्ठानों में देशकालौ सङ्कीत्य आरम्भ में स्मरण कराया जाता है। स्थान या देश भी समय का ही संसाधक है। समय की अत्यधिक महिमा है। अतः वैष्णव धर्म के प्रवर्तक आद्याचार्य श्री भगवन्निम्बार्काचार्य के समय की भ्रान्तियों का निवारण करना परिज्ञानार्थ परमावश्यक है। इसी 'श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य समय समीक्षा' प्रकृत विषय पर यह निबन्ध प्रस्तुत है—

श्रीनिम्बार्क भगवान् के आविर्भाव काल के सम्बन्ध में जो मतभेद मिलते हैं उनके तीन रूप हैं (1) द्वापरान्त कलियुगारम्भ काल, (2) विक्रम की 11वीं 12वीं शताब्दी (3) श्री शंकराचार्यजी के पूर्व पाँचवीं छठी शताब्दी। श्रीमद्भगवद्गीतोक्ति 'यदा यदा हि०' आदि के अनुरूप श्री हरि अधर्म की अभिवृद्धि होने पर धर्म के पुनरुत्थानार्थाय कपिल, हंस, सनकादि रूपों में अवतीर्ण होकर ज्ञानधर्मोपदेश करते हैं। 'हंस-स्वरूप वदच्युत. भाग. 11/4/17 इत्याद्यनुसार भगवान् ने हंस रूप से सनकादिकों के आत्मयोग का उपदेश दिया। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ब्रह्माजी ने तप किया, तब सनकादिकों की मनसा सृष्टि हुई। यथा भागवते (2-75)

तप्तं तपो विविध-लोक-सिसृक्षया मे
आदौ सनात्स्वतपसा स चतुः सनोऽभूत्।
प्राक्कल्प्य सम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं,
सम्यग् जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्।।

अन्यत्रापि—

कार्तिके शुक्लपक्षे वै नवम्यां शुभवासरे।
ब्रह्मणो मनसो जाताश्चत्वारः सनकादयः।।

हंसरूप से भगवान् ने उपदेश दिया—

गुणदोषविशाञ्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवामद्रूप उभयं त्यजेत्।। भा. 11/13

और गोपाल अष्टादशाक्षर मन्त्र दिया। विष्णुयामलग्रन्थ में इस मन्त्र की ऐसी परम्परा मिलती है—

नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः।
आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय च।। आचार्य-चरित्र

सनकादिकों से नारदजी के ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् (अध्याय 7 खण्ड 26) में मिलता है। श्री निम्बार्क भगवान् ने वेदान्त सूत्रों पर स्वरचित वेदान्त पारिजात सौरभवृत्ति में लिखा है—

"परमाचार्यः श्रीकुमारैरस्मद् गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः"— वेदान्त सूत्र 1/3/8 की वृत्ति।

श्री निम्बार्क कृत दशश्लोकी (वेदान्त कामधेनु) के विवरणकार श्री पुरुषोत्तमाचार्यजी ने भी छठे श्लोक के सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्री नारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे। इस उत्तरार्द्ध के अन्तिम पद की व्याख्या में लिखा है श्री नारदाय इति अस्मद् गुरवे इत्यर्थः। श्रीनिवासाचार्यजी ने वेदान्तसूत्रों पर स्वरचित वेदान्त कौस्तुभ भाष्य के मंगलाचरण में भी श्रीहंस, सनकादि, श्री नारद और श्री निम्बार्क इन चारों की वन्दना करके अपनी गुरु परम्परा का परिचय दिया है—

श्रीहंसं सनकादीन् देवर्षिं निम्बभास्करञ्च भजे।
कृपयैषां श्रीकृष्णं परमात्मनि नो भवतु भक्तिः।।

श्रीनिम्बार्काचार्य श्री सुदर्शनचक्रावतार हैं। नारदपंचरात्र में कहा है—शंख साक्षात् वासुदेव हैं, गदा संकर्षण रूप है, पद्म प्रद्युम्न और सुदर्शन अनिरुद्ध स्वरूप है। इस प्रकार ये चारों आयुध चतुर्व्यूह रूप हैं—

शंखः साक्षाद् वासुदेवो गदा संकर्षणः स्वयम्।
बभूव पद्मं प्रद्युम्नोऽनिरुद्धस्तु सुदर्शनः।।

नैमिष खण्ड में श्री सुदर्शन का त्रेतायुग में हविर्धान रूप से अवतार हुआ था—

हवींषि धारयन् पुष्णन् हविर्धान इतीर्यते।
वेदानानन्दयेद् यस्मान्नियमानन्द ईर्ष्यते।।

हवि को धारण करने से हविर्धान नाम हुआ। फिर द्वापरान्त में समस्त वेदों का समान रूप से समर्थन कर उन्हें आनन्दित करने से नियमानन्द नाम हुआ। औदुम्बराचार्यजी ने लिखा है—

प्रथमयुग में कभी गोवर्धन के निकट निम्बग्राम में जगन्नाथजी की धर्मपत्नी श्री सरस्वती देवी जी एवं जयन्ती के उदर से वैशाख शुक्ल 3 को भी साक्षात् सुदर्शन निम्बादित्य नाम से अवतीर्ण हुए थे।

गोवर्धनसमीपे तु निम्बग्रामे द्विजोत्तमः।
जगन्नाथस्य पत्न्यां वै जयन्त्यां प्रथमे युगे।।
वैशाखे शुद्धपक्षे च तृतीयायां तिथौ पुनः।
साक्षात् सुदर्शनो लोके निम्बादित्यो बभूव ह।।

नैमिष खण्ड में लिखा है कि श्रीनारदजी ने विष्वक्सेन सुदर्शनजी को वेदों का सार उद्धृत करके अपनी वाणी से ग्रहण कराया था। यथा—

आम्नाय-रसमुद्धृत्य विष्वक्सेनं सुदर्शनम्।
स्वयाभाषा ग्रहासत्रं ग्राहयामास नारदः।।

कांची खण्ड में ऐसे ही अभिप्राय का वाक्य मिलता है—

वीणापाणेर्गुरोर्लब्ध्वा मोक्षोपायं सुदर्शनः।
वेदान्तवेद्यसद्धर्मं समग्राही च सर्वशः।।

श्रीनिम्बार्काचार्य ने तपश्चर्या करते समय केवल निम्बकाथ का ही सेवन किया था। ऐसा सम्मोहन तन्त्र में लिखा है—

हविर्धानाभिधानस्तु चक्रमासीन्महामुनिः।
सोऽतप्यत तपस्तीव्रं निम्बकाथैक-भोजनः।।

उन्होंने दो बीजाक्षर और लगाकर अष्टादशाक्षर मन्त्र को बीस अक्षरों का बनाकर श्री वृन्दावन की माधवी लताओं के मण्डप में बैठकर जप किया था—

आशु सिद्धिकरं मन्त्रं विंशत्यर्णञ्च जप्तवान्।
अनन्तरं मारबीजाद्यप्रारूढं तदेव तु।
दध्यौ वृन्दावने रम्ये माधवीमण्डपे प्रभुः।।

भविष्यपुराण में लिखा है पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की वर्षा करने एवं श्रीयुगलकिशोर की स्वयं सेवा करने तथा मोक्षरूपी पुरुषार्थ (पराभक्ति) के कारण ही इनका नाम निम्बार्क प्रसिद्ध हुआ।

पुरुषार्थप्रवर्षित्वात्सेवांगी कृतया स्वयम्।
कर्मणा मोक्षरूपेण निम्बार्क इति विश्रुतः।।

कृष्णोपनिषत् की 'गोप्योगाव ऋचस्तस्य' इस ऋचा में श्री निम्बार्क के आठ स्वरूपों की झलक मिलती है। वामन पुराण में लिखा है—बदरिकाश्रम के कर्णकक्षेत्र (कर्णप्रयाग) ऐरावती के तट पर भी किसी कल्प में श्रीसुदर्शन का अवतार हुआ था।

कर्णकस्य शुभे क्षेत्रे बदर्याश्रम-मण्डले।
ऐरावत्यां क्वचिज्जातः प्राक्कल्प इति मे श्रुतम्।।

इस प्रकार वामन, भविष्य पुराण, कांचीखण्ड, नैमिषखण्ड और औदुम्बर संहिता आदि ग्रन्थों के वाक्यों के आधार से श्री निम्बार्काचार्य चरित्र संगृहीत किया है, जो आचार्य चरित्र के नाम से प्रसिद्ध है।

श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्र के समय के सम्बन्ध में भविष्यपुराण में लिखा है—

सुदर्शन द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो जनिष्यति।
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानिं हरिष्यति।।

सूत उवाच

शृणुष्व चरितं तस्य निम्बार्कस्य महात्मनः।
यमाह भगवान् कृष्णः कुरु कार्यं ममाज्ञया।
मेरोश्च दक्षिणे पार्श्वे देवनद्यास्तटे शुभे।
देशे तैलङ्गके रम्ये देवर्षिवर-सेविते।।
तत्रावतीर्य सद्धर्मान् नारदादेवदर्शनात्।
लब्ध्वा भूमौ वर्त्तयस्व नष्टप्रायान्ममाज्ञया।।
माथुरे नैमिषारण्ये द्वारवत्यां ममाश्रमे।
सुदर्शनाश्रमादौ च स्थितिः कार्या त्वयानघ।।
ओमित्यादेशमादाय भगवाञ्च्छ्रीसुदर्शनः।
भक्ताभीष्टप्रदः साक्षादवतीर्णो महीतले।।
देवो तैलङ्गके पुण्ये द्विजवर्यो महामनाः।
सुदर्शनाश्रमे पुण्ये भृगुवंश-समुद्भवः।।
नाम्नाऽरुण इति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः।
ऋषिरूपधरश्चासीज्जयन्त्या भार्यया सह।।
समाहितं तेन तेजो विष्णुचक्रसमुद्भवम्।
दधार मनसा देवी जयन्ती पतिदेवता।।
तेजसा शुशुभेतेन चन्द्रेणेव दिशाऽमला।
अथ सर्वगुणोपेते काले परमशोभने।।
कार्त्तिकस्य सिते पक्षे पूर्णिमायां वृषे बुधौ।
कृत्तिकाभे महारम्ये उच्चस्थे ग्रहपञ्चके।।
सूर्य्यावसानसमये मेषलग्ने निशामुखे।
जयन्त्यां जयरूपिण्यां जज्ञान जगदीश्वरः।।
येन सर्वमिदं विश्वं वेदधर्मे नियोजितम्।
विरिञ्चिरेकदा तस्मिन्निम्बार्कस्याश्रमे शुभे।।
समागत्याह भो ब्रह्मन्! प्राप्तोऽहं क्षुधयान्वितः।

यावत्सूर्यः स्थितो व्योम्नि तावन्मां भोजय द्विज।।
इति श्रुत्वा तथेत्युक्त्वा ददौ तस्मै च भोजनम्।
तदा तु भगवान् सूर्यो ह्यस्ताचलमुपागतः।।
मुनिना ऋषिणा तेन निम्बवृक्षे तदा शुभे।
स्थापितं तेजसा स्वेन तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्।।
तत्तेजः सूर्य-संकाशं दृष्ट्वा वेधाः स्मयान्वितः।
भिक्षुवेषधरं बालं मुनिं सूर्यमिवापरम्।।
ननाम दण्डवद् भूमौ तपसा तस्य तोषितः।
उवाच वचनं रम्यं साधु साध्विति पूजयन्।।
निम्बादित्य इति ख्यातो वसुधायां भविष्यसि।।

'सुदर्शनो द्वापरान्ते' इत्यादि अवतरण से श्रीनिम्बार्क भगवान् का द्वापरयुग के अन्त में अवतीर्ण होना सिद्ध होता है।

श्रीवेदव्यासजी भविष्यपुराणान्तर्गत वेषविषयक विचार में लिखते हैं—

निम्बार्को भगवान्येषां वाञ्छितार्थप्रदायकः।
उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे।।

अर्थात् श्रीनिम्बार्कानुयायियों को एकादशी आदि व्रतों में उदयव्यापिनी तिथि ग्रहण करनी चाहिए। श्रीकमलाकर भट्ट जी ने यह श्लोक निर्णयसिन्धु में उद्धृत किया है, जिसमें श्रीनिम्बार्कभगवान् श्रीवेदव्यासजी के समकालीन सिद्ध होते हैं। श्रीहरि के प्रिय आयुध सुदर्शन चक्र के अवतार होने से 'श्रीहरिप्रियाचार्य' नाम ब्रह्मवैवर्तपुराण में मिलता है। एकादशीवेधविषयक विचार प्रसङ्ग में श्रीशौनकजी का वाक्य है—

"कपालवेधमित्याहुराचार्य्या ये हरिप्रियाः" इस शौनक वाक्य से स्पष्ट है कि श्रीनिम्बार्कभगवान् शौनकजी से पूर्व वर्तमान थे। श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध अध्याय 87 में आरुणि (अरुणस्यापत्यं) नाम उपलब्ध होता है। यथा—"उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः परिसरपद्धति हृदयमारुणयो दहरम्।"

पुनश्च भागवत स्कन्ध 6 अध्याय 15 चित्रकेतु आख्यान में सुप्रसिद्ध ऋषियों के नामोल्लेख में भी श्रीआरुणि ऋषि का नाम दिया गया है—

"चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः।
वसिष्ठो भगवान् रामः कपिलो बादरायणिः।
दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातूकर्ण्यस्तथाऽऽरुणिः।।"

अपरंच श्रीदेवर्षि नारद रचित 'भक्तिसूत्र' में भक्तिप्रवर्तक मुख्याचार्यों की गणना में श्रीमन्निम्बार्क भगवान् को आरुणि (अरुणमुनि पुत्र) कहते हैं। यथा—"इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमार व्यास शुक शाण्डिल्य गर्ग विष्णु कौण्डिन्यशेषोद्धारुणि बलि हनुमद् विभीषणाद्यो भक्त्याचार्य्याः।"

पुनः श्रीमद्भागवत प्र. स्कन्ध 9 अध्याय 7वां श्लोक—

"वसिष्ठ इन्द्रः प्रमदस्तितोगृत्समदोऽसितः।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः।।"

यहाँ सुदर्शन नाम सुदर्शनचक्रावतार के लिए है।

निवृत्तिलक्षण वैदिक धर्म के प्रचारार्थ धार्मिक शैथिल्य को दूर करने के लिए ही श्री सुदर्शन चक्रराज को भगवत् आज्ञा हुई—

सुदर्शन महाबाहो कोटिसूर्य-समप्रभ।
अज्ञान-तिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय।।

भविष्यपुराणान्तर्गत कथावृत्त के अनुसार पतिव्रता धर्मपरायणा जयन्ती देवी में अरुणमुनि के यहाँ आपका आविर्भाव हुआ। पूर्वलिखित वृत्तानुसार कार्तिक शुक्ल 15 सूर्यास्त काल में कृत्तिका नक्षत्र वृषराशि पर उच्चस्थ चन्द्रमा, मकर का मंगल, कर्क का बृहस्पति तुला पर शनि, मिथुन का राहु और धन का केतु इस प्रकार उच्चस्थ 6 ग्रहों की राहुकेतु अभिन्नता में उच्चस्थ पंच ग्रहों की स्थिति के समय प्रादुर्भावकाल में आकाश से पुष्पवृष्टि हुई, सर्वत्र प्रसन्नता छा गयी। यतिवेश में ब्रह्माजी ने निम्ब पर सूर्य के दर्शन से आश्चर्यान्वित एवं चमत्कृत होकर आपकी स्तुति की और कहा कि लोक तथा शास्त्र में निम्बार्क नाम से ख्याति होगी। वेदार्थ का विस्तार करेंगे। देवर्षि नारदजी ज्ञानोपदेश करेंगे। तदनुसार श्रीनारद जी पधारे। श्रीसनकादि से प्राप्त उपदेश दिया, पंचसंस्कार की दीक्षा एवं श्रीगोपाल अष्टादशाक्षर मंत्रराज दीक्षा के पश्चात् पूछे गये प्रश्नों का समाधान किया। यह सब संकलन रूप में 'श्रीनारदनिगमानन्दगोष्ठी' के नाम से प्रख्यात है। श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने पिता अरुण ऋषि और माता जयन्ती को आध्यात्मिक तत्त्वोपदेश देकर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर भारत-भ्रमण को निकले। श्री अरुण मुनि ने भी संन्यास में जीवन पूर्ण किया। आचार्यश्री एक नदी में स्नान करने लगे तो एक कच्छप को चरण स्पर्श हो गया। कच्छप का दिव्यरूप बन गया और उसने हाथ जोड़कर स्तुति की—

"श्रीमन्निम्बार्कमाचार्यं सिंहग्रीवं महाभुजम्"—इत्यादि सुन्दर पद्यों में है। इसी स्तुति के अन्त भाग में—

श्रीनिम्बार्क दयानिधे, गुणनिधे हे भक्तचिन्तामणे,
हे आचार्यशिरोमणे मुनिगणैरासृग्यपादाम्बुज!
हे सृष्टिस्थितिपालक प्रभवन हे नाथ मायाधिप!
हे गोवर्धनकन्दरालय विभो मां पाहि सर्वेश्वर!
पतितं दुर्विनीतं मां देहेन्द्रियमनोमयम्।
ज्ञात्वा ह्यनाथं भो स्वामिन् छिन्धि पाशं सुमोहजम्।। इति।

एक समय भ्रमण करते हुए सेतु दर्शनार्थ दक्षिण दिशा में पहुँचे। मार्ग में सभी श्रद्धालुभक्तों की कामनायें पूर्ण की। सेतुबन्ध रामेश्वर के दर्शन कर गुर्जर प्रदेश पहुँचे, वहाँ

भगवद्भक्ति का प्रचार प्रसार किया। नारायण सरोवर पहुँचकर देखा तो बहुत से ब्राह्मणों को बिना तुलसी की कण्ठी माला के देखा तो सबको दीक्षा दी। तीर्थयात्रा करते कुरुजाँगलदेश पधारे। वहाँ वायुहद पर ठहरे। वहाँ के ब्राह्मण 'अन्तः शाक्ताः, बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः'' लक्षण वाले दिखायी दिये, उन्होंने आचार्यश्री का विरोध किया। उसी समय एक गूलर के पेड़ से एक फल गिरा और वह आचार्यश्री के पैर पर आ लगा, वह तत्काल मानवाकार में प्रकट होकर स्तुति करने लगा। उसे औदुम्बराचार्य नाम से ख्याति दी और उसे औदुम्बरसंहिता लिखने का आशीर्वाद प्रदान किया। अब नैमिषारण्य पधारे, वहाँ शौनकादि ऋषियों ने आपकी स्तुति की। वहीं गौरमुख आदि को दीक्षा देकर बदरिकाश्रम चल दिये। वहीं 'भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेरणा से उद्धव जी वहाँ आ पहुँचे। उद्धव जी ने ब्रजमण्डल में आने के लिए अनुरोध किया और भगवान् के आदेश का स्मरण दिलाया। तत्पश्चात् श्रीनिम्बार्काचार्य ब्रज में निम्बग्राम आये। यह ज्ञात होते ही आपके शिष्य सदानन्द भट्ट आदि एकत्र होकर स्तुति करने लगे। कुछ दिन पश्चात् वहाँ एक विशिष्ट विद्वान् संन्यासी दिग्विजय करता आया। वह माघ शुक्ल 5 का दिन था। सायंकाल हो चुका था। संन्यासी ने भिक्षा की याचना की। सूर्यास्तपूर्व ही प्राप्ति की इच्छा की। उसे भी निम्ब वृक्ष पर सूर्य दर्शन कराकर भोजन कराया। वह चरणों में गिरकर प्रार्थी बना, उसे भी पंच संस्कारपूर्वक वैष्णवी दीक्षा दी। उसका श्रीनिवासाचार्य नाम रखा, उन्होंने एक लघुस्तव द्वारा गुरुदेव की स्तुति की। आचार्यश्री ने स्वरचित वेदान्त कामधेनु, वेदान्त पारिजात आदि देकर वहाँ से थोड़ी दूर पर श्रीराधाकुण्ड पर भजन-साधन और 'नमस्ते श्रियै राधिकायै, राधाष्टक स्तोत्र पाठ करने का आदेश दिया। शीघ्र ही श्रीराधाकृष्ण के दर्शन प्राप्ति का आशीर्वाद दिया।

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं तथा प्रियः।
इदं जपत भद्रं ते राधाष्टकमनुत्तमम्।।
राधया माधवं देवं शीघ्रं द्रक्ष्यसि चक्षुषा।

आचार्य चरित्र के सप्तम विश्राम तक के इतिवृत्त के इस सूक्ष्मसार से भविष्यपुराण के इसी कथाभाग से मिलता जुलता वामन पुराण के एक अध्याय के वर्णन से श्रीभगवन्निम्बार्क का चरित्र प्रसिद्ध है, सर्वमान्य है। 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' ग्रन्थ रचयिता पं. श्रीहेमाद्रि ने व्रत खण्ड में पूर्वविद्धा तिथि त्याग कर नियम वैष्णव धर्म का प्रतिपादित किया है। उदयव्यापिनी तिथि मानी है। यह निम्बार्क मत भी शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है कि निम्बार्क वैष्णव अर्द्धरात्रि पश्चात् पूर्व तिथि यदि पल भर भी बढ़ जाती है तो वह पूर्वविद्धा है, अतः त्याज्य है। इस अर्द्धरात्रिवेध को कपालवेध कहते हैं। इसे भट्टोजिदीक्षित ने व्याकरणशास्त्र में तथा ईस्वीसन् की तारीखों में भी स्वीकारा है। 'पूर्वविद्धातिथित्यागो वैष्णवस्य हि लक्षणम्' इति।

इन सब शास्त्रीय प्रमाणों से श्रीनिम्बार्क भगवान् का जीवनकाल तथा आविर्भाव द्वापरान्ते और कलियुगारम्भे स्वतः सिद्ध है, तथापि श्रीनिम्बार्क भगवान् के स्थिति काल को युधिष्ठिर संवत् 6 से लेकर विक्रम की 16वीं शताब्दी तक बहुत ही खींचातानी की जा रही है। अब यहाँ इस सम्बन्ध के प्रमुख लेखकों की धारणाओं का संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया जा रहा है—

अब तक शास्त्रीय मत जो द्वापर कलियुगारम्भ का है, उसी की पुष्टि विक्रम संवत् 1700 से 1870 के मध्यवर्ती आचार्य प्रवर श्री वृन्दावन देवाचार्यजी, श्रीगोविन्द देवाचार्यजी, श्री गोविन्दशरण देवाचार्यजी श्री सुन्दर कुंवरी (कृष्णगढ़ नरेश सावन्तसिंह जी प्रसिद्ध नाम नागरीदासजी की भगिनी) इत्यादि साम्प्रदायिक लेखकों ने आचार्य श्रीनिम्बार्क का समय द्वापर कलि की सन्धि का माना है। उनके अनन्तर सभी साम्प्रदायिक लेखकों ने इसी समय को अपने अपने लेखों व निबन्धों में निश्चित किया है। यही ऐतिह्य पुरातन काल से चला आ रहा है।

तटस्थ लेखकों में भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि कई भारतीय विद्वानों ने उपर्युक्त समय को ही पुष्ट किया है। पाश्चात्य लेखकों में से डॉ. मोनियर विलियम्स, हेस्टिंग्स साहब, ग्रियर्सन साहब तथा ग्रीस साहब एक पादरी साहब अहमदाबाद, डॉ. हण्टर साहब, आदि ने अपने अपने ग्रन्थों में इसी उपर्युक्त मत के अनुसार आचार्य श्रीनिम्बार्क को श्रीरामानुजादि समस्त आचार्यों से प्राचीन माना है।

इधर विक्रम की 12वीं शताब्दी के आरम्भ में मध्यवर्ती लेखकों ने श्रीनिम्बार्क भगवान् का समय विक्रम की 12वीं शताब्दी निश्चित किया है। उनमें सर्वप्रथम लेखक डॉ. आर.जी. भाण्डारकर कहे जा सकते हैं। उनके अतिरिक्त कुछ बंगाल के विद्वानों ने भी डॉ. भाण्डारकर का अनुकरण किया है एवं संयुक्त प्रांतीय और पंचनदीय (पंजाब के) विद्वान् भी इसी धारा में प्रवाहित हुए हैं। उनके कुछ नाम यहाँ दिये जाते हैं—

1. स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती (वैष्णव दर्शनेर इतिहास)
2. राजेन्द्र नाथ घोष (वैष्णव दर्शनेर इतिहास तथा कई निबन्ध)
3. अक्षयकुमार दत्त (भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय)
4. जाह्नवीधरण भौमिक एल. बी. (संस्कृत साहित्येर इतिहास)
5. श्रीपुलिनबिहारी भट्टाचार्य एम.ए. (श्रीनिम्बार्काचार्य और ताहार धर्ममत)
6. सुशील कुमार दे एम.ए. लिट् (जयदेव और गीत गोविन्देर आलोचना)
7. पं. विध्येश्वरी प्रसाद जी द्विवेदी (निम्बार्क भाष्य की भूमिका)

इनके अतिरिक्त एक दो लेखकों ने आचार्य श्रीनिम्बार्क का समय विक्रम की 14वीं शताब्दी भी निश्चित किया है। जैसे मदन. (मदनकोश नामक पुस्तक इटावा यू.पी. से प्रकाशित) आदि महाशय डॉ. राजेन्द्रलाल मित्रा और उन्हीं के अनुकूल लिखने वाली डॉ. रमा चौधरी (निम्बार्क भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद, रायल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित) तो भी निम्बार्काचार्य जी का समय श्री वल्लभाचार्य जी से भी अर्वाचीन लिखती है। अर्थात् विक्रम की 16वीं शताब्दी के मध्यकाल तक आ पहुँची है।

श्रीनिम्बार्काचार्य के समय सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों मतों में पहिला मत पुराण, धर्मशास्त्र, साम्प्रदायिक संस्कृत ग्रन्थ एवं शिलालेख, पट्टे परवाने जोधपुर आदि स्टेटों की तवारीख आदि प्रमाणों के आधार पर अवलम्बित है, जिसका कि संक्षिप्त दिग्दर्शन आगे इसी निम्बन्ध में किया जा रहा है।

दूसरा मत (विक्रम की 11वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी के अन्त तक श्रीनिम्बार्काचार्य का समय निर्धारित करना) केवल भ्रान्ति के कारण से चल पड़ा है। अत: सर्वप्रथम उस भ्रान्ति का निवारण कर देना ही उचित होगा। भ्रान्ति का सबसे पहिला जन्म डॉ. आर.जी. भाण्डारकर के 'वैष्णविज्म्, शैविज्म्...' में हुआ है। अत: 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना:' के अनुसार एवं प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय से प्रथम उसी की आलोचना की जा रही है।

डॉ. भाण्डारकर महाशय अपने उक्त ग्रन्थ के आरम्भ में लिख चुके हैं कि—निम्बार्क का समय का हमें निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं है, डॉ. भाण्डारकर को मोनियर विलियम्स साहब लिखित 'हिन्दूइज्म' ग्रन्थ देखने को नहीं मिला होगा, जो कि सन् 1877 ई. के आसपास ही प्रकाशित हो चुका था एवं हेस्टिंग्ज् और ग्रियर्सन साहब के भी मतविषयक लेखों को वे नहीं देख सके होंगे, अत: उन्होंने एक विचित्र अनुमान लगाया था। उनका लिखना है कि संस्कृत ग्रन्थों की खोज के समय हमें निम्बार्क सम्प्रदाय की दो परम्परा की लिस्ट मिली है जिनमें से एक सन् 1882-83 की रिपोर्ट पृ. 208 में है और दूसरी सन् 1884 से 87 ई. तक के संग्रह (हस्तलेख नं. 709) में दर्ज है। पहली लिस्ट में 37 नामों का उल्लेख है और दूसरी में 45 नामों का उल्लेख है। आचार्य श्रीनिम्बार्क से आरम्भ करके श्री हरिव्यास देवाचार्य तक दोनों परम्पराएँ एक ही प्रकार की हैं। श्रीहरिव्यास देव के पश्चात् उनकी परम्परा के दो भेद हो गये। श्रीनिम्बार्क के पश्चात् श्रीहरिव्यास देव 32वीं संख्या में हैं। उनका एक दामोदर गोस्वामी नामक शिष्य सन् 1705 ई. में विद्यमान था, जो कि निम्बार्काचार्य के पश्चात् 33वीं संख्या में है। यदि दामोदर गोस्वामी की 15 वर्ष की आयु और मानली जाय तो सन् 1765 ई. तक श्रीनिम्बार्कजी की 33वीं पीढ़ियों का संख्या मान सिद्ध हो जाता है। अब माध्वाचार्य और श्रीनिम्बार्क की पीढ़ियों की तुलना द्वारा श्रीनिम्बार्काचार्य का समय निश्चित किया जा रहा है। इतने अनुसंधान के पश्चात् भाण्डारकर महाशय लिखते हैं कि हमारे संशोधित निर्णयानुसार आदि मध्वाचार्य सन् 1276 ई. में वैकुण्ठ पधारे थे। उनके पश्चात् 600 वर्षों में उनकी 33वीं तक पीढ़ियाँ व्यतीत हुई हैं। उसी के अनुसार यदि सन् 1765 ई. में से 603 वर्ष (दामोदर गोस्वामी तक श्री निम्बार्क की 33 पीढ़ियों का आयुर्मान घटा देवें तो वही सन् 1162 ई. की निम्बार्क का समय निश्चित होता है।)

उक्त कल्पना से ज्ञात होता है कि भाण्डारकर को श्री निम्बार्क कृत दशश्लोकी और उपर्युक्त दोनों परम्परा लिस्टों के अतिरिक्त श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थ देखने को नहीं मिल सके, एवं उत्तर भारत में उन्होंने खोज भी नहीं की, अन्यथा यह कभी नहीं लिखते कि श्री हरिव्यास देव के पश्चात् श्री निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परा के दो ही विभेद हुए क्योंकि श्री निम्बार्काचार्य के प्रमुख शिष्य थे। 1. श्री निवासाचार्य, 2. औदुम्बराचार्य, 3. गौरमुखाचार्य, 4. लक्ष्मण भट्ट। इन चारों में यद्यपि श्री श्रीनिवासाचार्य प्रधान माने जाते हैं, तथापि सामान्यरूप परम्परा अन्य तीनों शिष्यों की भी चली, कालान्तर में फिर वह लुप्तप्राय: सी हो गई है। औदुम्बरसंहिता एवं श्रीनिम्बार्क कवच स्तव, सहस्रनामावली औदुम्बर और

गौरमुखाचार्य निर्मित बहुत से ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं, जिनको कि बड़े महत्त्व की वस्तु समझकर साम्प्रदायिक सज्जन सहसा प्रकट नहीं करते। श्री लक्ष्मण भट्ट ने भी ब्रह्मसूत्र पर एक स्वतन्त्र वृत्ति लिखी है। फिर श्रीनिवासाचार्य के पश्चात् 11वीं पीढ़ीका वाले श्रीदेवाचार्य के अनन्तर ही सम्प्रदाय की दो परम्पराएँ हो गई हैं, प्रधान रूप से 1. श्री सुन्दर भट्टजी की आचार्य परम्परा और 2. श्री ब्रजभूषणदेवजी की परम्परा, जिसमें निम्बार्क के पश्चात् 59वीं संख्या ब्रज के प्रसिद्ध रसिकशेखर स्वामी श्री हरिदास जी हुए हैं। इधर श्रीसुन्दर भट्ट जी के पश्चात् 17वीं संख्या वाले आचार्यश्री भट्ट जी की परंपरा के प्रधान विभेद 3 माने जाते हैं। उनके प्रमुख शिष्य श्री हरिव्यास देव थे। उनके प्रधान शिष्य 12वें हैं। यद्यपि श्रीहरिव्यास देव जी के सहस्रों शिष्य थे और उन सभी को मन्त्र प्रदान रूप परम्परा प्रचलित करने का अधिकार था, तथापि प्रधान 12 शिष्यों की परम्परा विशेष रूप से चली। यद्यपि आजकल उन बारह परम्पराओं में से कई एक परम्पराएँ लुप्त हो गई हैं, तथापि श्रीपरशुराम, श्रीस्वभुराम, उद्धवदेव, लफरा गोपाल आदि 8-9 परम्पराओं के अनेकों मठमन्दिर विद्यमान हैं। इनमें श्रीपरशुराम देवाचार्य द्वारा संस्थापित ब पुष्कर क्षेत्रस्थ श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ निम्बार्कतीर्थ, सलेमाबाद, कृष्णगढ़ राज्य का सर्वपूज्य जगद्गुरु पीठ माना जाता है। यह आचार्यपीठ कृष्णगढ़ राज्य की स्थापना से कई सौ वर्ष पूर्व स्थापित हो चुका था। पुराणों के आधार पर यह आचार्यपीठ का भूतल उसी भगवदवतार श्री परशुरामजी का आश्रम माना जाता है, जिसकी चर्चा पद्मपुराण में 'पिचुमन्दर्का तीर्थ' अर्थात् निम्बार्कपीठके नाम से तीर्थ प्रसंग में मिल रही है। इसी स्थान पर सरस्वती के तट पर पिचुमन्दार्क (श्रीनिम्बार्क) तीर्थ था, वही आज भी उसी नाम रूप से विद्यमान है।—"पद्मपुराण..."

जोधपुर राज्य की तवारीख के अनुसार वर्तमान आचार्य पीठ का विक्रम की 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुनरुद्धार एवं निर्माण हुआ है। यह निर्विवाद सिद्ध है। उक्त आचार्यपीठस्थ 'श्रीसर्वेश्वरजी' की अत्यन्त सूक्ष्म प्रतिमा सनकादिकों की सेव्य प्रतिमा मानी जाती है, अर्थात् अतिप्राचीन है। इस बात को कई पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार कर रहे हैं। यद्यपि वीतराग नि:स्पृही आचार्यों ने अपने अपने इतिवृत्तों को संकलित करने कराने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, तथापि दैवयोग से सुरक्षित लेख (पट्टे, परवाने, बही, रोजनामचा) आदि और कई ग्रन्थ यहाँ ऐसे विद्यमान हैं, जिनसे कि 16वीं से 20वीं शताब्दी तक 500 वर्षों के इतिहास का प्रामाणिक रूप में संकलन हो सकता है।

तवारीखें (बही नकल तारीख बकील कड़राज जी जोधपुर से उद्धृत) खेवडलारा भाटी सरदारान् की तवारीख—"संवत् 1515 की साल अर्जुन जीरा बेटा सावन्तसिंह जी कुंवर पदे था। सु जमुनाजी रे तटै माधे सा. (स्वामी) परशुरामजी कण्ठी बाँधी तहाँ गाँव सलेमाबाद तांबापत्तर सौंसण करा दियो ने बादशाही नौ मुहरो कराय दियो।" इसके अनुसार श्रीपरशुरामदेवाचार्य सं. 1515 में विद्यमान थे। श्रीपरशुरामदेवाचार्य के नाम का एक पट्टा भी वि.सं. 1669 का मिलता है जिसकी प्रतिलिपि यहाँ दी जाती है—

(नकल)

'श्रीध श्रीमहाराज राजा श्री किशनसिंह जी बचनायत स्वामी श्री परशुरामजी नी पुण्य अर्थ धरती बीघा 101 अंके ही एक सौ एक बीघा कोसेटो 1 कस्बे सलेमाबाद मो. पीगलोद मो. उदीक कर दीधी धरती बंजरखील दु. श्रीमुखपरवानगी भाटी भीमजी लिखतं बा. हेमराज ता. 1 माह जिलकाद सं. 1016 वि.सं. 1669 मु. कोसाथल।'' उसके पश्चात् किसी पट्टे में श्रीपरशुरामदेव का नामोल्लेख नहीं मिलता; केवल श्रीपरशुरामजी रे द्वारे-या मन्दिर आदि का ही उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान होता है कि श्री परशुराम देवजी विक्रम संवत् 1669 तक विद्यमान थे। यदि उक्त जोधपुर की तवारीख में विक्रम संवत् का ही उल्लेख हो और उस 1515 संवत् के समय श्री परशुरामदेवजी की कम से कम 15 वर्ष की ही आयु मान ली जाय, तब भी श्री परशुरामदेवजी का आयुमान 169 वर्ष का निकलता है। यद्यपि आजकल इतनी आयु वाले व्यक्ति बहुत ही कम सुने जा रहे हैं, तथापि नैष्ठिकयति महात्माओं की इतनी अर्थात् 169 वर्ष आयु होना कोई आश्चर्यजनक नहीं, जबकि कई एक साधारण सदाचारी व्यक्ति भी आज 100 वर्षों से अधिक काल तक जीवित विद्यमान हैं, तब आज से 500 वर्ष पूर्व के सिद्ध महात्माओं के दीर्घ जीवन में कुछ भी सन्देह नहीं होना चाहिए। वर्तमान की असन्दिग्ध आचार्य परम्परा सूची अलग पृष्ठ में है। जहाँ श्री परशुरामदेवजी की गुफा है, वह स्थान श्री पुष्करराज के 12 प्राचीन सालों (स्थानों) में एक मुख्य स्थान है। उसके पुष्कर द्वार पर एक शिलालेख मिलता है, जिसमें लिखा है कि संवत् 1686 ई. में श्री परशुरामदेव जी के शिष्य श्रीहरिवंशदेवजी ने गुफा के निकट एक मन्दिर बनवाया।

शिलालेख की प्रतिलिपि

श्रीगोपालजी महाराज सत्य पातशाह श्री शाहजहाँ राजे स्वामी संवत् 1689 वर्षे माघ सुदी श्रीहरिवंशदेव श्रीपरशुरामजी का शिष्य पूरणमासी सोमवार सालां श्री पूरणदास साखा में स्वामी श्रीपरशुराम जी मन्दिर दुरसद विराजमान, श्रीकृष्णजयति सेवक रामदास सत्य सखाम द स्वामी दामोदर दास मथुरा वाला।

इस शिलालेख से यह निश्चित हो जाता है कि श्री परशुरामदेवजी वि.सं. 1689 के पूर्व ही परलोकवासी हो गये थे। जिस दिन परलोकवास हुआ, उस दिन वृन्दावन और सलेमाबाद में भी सभी भक्तों को उन्होंने दर्शन दिये थे ऐसी जनश्रुति चली आ रही है।

श्रीहरिव्यासदेवजी वि.सं. 1525 तक विद्यमान थे। काशी सरस्वतीभवन (पुस्तकालय) में 'श्रीनृसिंह परिचर्या' पुस्तक के अन्त में लिखा है कि यह पुस्तक वि.सं 1525 में श्रीहरिव्यास देव जी ने अपने हाथ से लिखी है।

यह निश्चित है कि वि.सं. 1450 से 1525 तक के मध्यकाल में श्रीहरिव्यासदेव जी विद्यमान थे। कृष्ण वर्मा राजा के समय में एक बार श्रीवल्लभाचार्यजी का भी श्रीहरिव्यासदेव जी के साथ समागम हुआ था। यह जनश्रुति है। श्रीहरिव्यासदेव जी के गुरु श्री श्रीभट्टजी वि.सं. 1352 में विद्यमान थे। यह 'युगलशतक' की प्रतियों के अन्त में लिखे एक दोहे से विदित है—

''नयन बान पुनि राम शशि गनो अंक गति वाम।
युगलशतक पूरन भयो संवत् अति अभिराम।।''

इससे निश्चय होता है कि युगल शतक की रचना सं. 1352 में हुई थी। अत: 14वीं शताब्दी के आरम्भ से अन्तिम काल तक श्रीभट्टजी का समय है। श्रीभट्टजी श्रीनिम्बार्काचार्य जी से 29वीं पीठ का परवर्ती श्री केशवकाश्मीरिभट्टाचार्यजी के शिष्य थे। श्रीभट्टजी के शिष्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी थे और इनके शिष्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी थे।

एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वल्लभाचार्य जी का जन्म सं. 1537 निर्विवाद है, उनके साथ श्री चतुरचिन्तामणि देवाचार्य (श्रीनागाजी) का समागम हुआ था, यह श्रीवल्लभाचार्यजी के नाती गोकुलनाथ जी की लिखी 'वनयात्रा वैठकन' के चरित पृष्ठ 163 से प. 165 तक में लिखा हुआ है। इसका प्रकाशन एन.डी. मेहता की कम्पनी मुम्बई से हुआ था और तत्त्वविवेचक छापेखाने से वि.सं. 1959 में मुद्रण हुआ था।

इससे यह सिद्ध है कि वि.सं. 1560 के निकट श्री नागाजी विद्यमान थे। ये निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

'श्रीनृसिंहपरिचर्या' पुस्तक की अन्तिम पंक्तियों से तथा जोधपुर राज्य की तवारीख से श्रीभट्टजी के प्रशिष्य श्रीपरशुराम देवाचार्य जी का आरम्भ काल वि.सं. 1515 निश्चित है। श्री भट्टजी का समय वि.सं. 1300 से 1450 तक निश्चित होता है। श्रीहरिव्यासदेव जी सं. 1450 से 1555 तक श्रीपरशुरामदेव जी 1500 से 1669 वि.सं. तक सुनिश्चित होते हैं।

इसी प्रकार श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य जी के नाम का एक पट्टा वि.सं. 1217 में सभी ब्रजवासियों ने आचार्यश्री को अर्पित किया था जबकि यवनों के तान्त्रिक अत्याचारों से आचार्यश्री ने हिन्दुधर्म की रक्षा की थी। इस पट्टे को समर्पित करने में यवन भी सम्मिलित थे। सारांश यह है कि श्रीनिम्बार्काचार्यजी के पश्चात् 30वीं पीठिका में होने वाले श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य विक्रम की 13वीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान थे। उनके पश्चात् वर्तमान आचार्य तक अर्थात् 15 पीढ़ियों में होने वाले सभी आचार्यों के समय का उल्लेख प्रामाणिक रूप में मिल रहा है—यह नि:सन्देह सत्य है। भाण्डारकर महाशय ने जो दामोदर गोस्वामी को श्रीहरिव्यास देवजी का साक्षात् शिष्य माना है। यह युक्ति संगत नहीं, क्योंकि श्रीहरिव्यासदेवजी के प्रधान 12 शिष्यों में दामोदर की कोई गणना नहीं।

समसामयिक मानें तो कहीं मिलती नहीं। श्रीहरिव्यासदेवजी का समय विक्रम की 15वीं शताब्दी से 16वीं शती पूर्वार्द्ध तक निश्चित है।

श्रीसर्वेश्वरो जयति

आचार्य परम्परा

	आचार्य नामावली	रहस्यनाम	उत्सवतिथि
1.	श्रीहंस भगवान्	—	कार्तिक शुक्ल 9
2.	श्रीसनकादि भगवान्	हरिणी आदि	कार्तिक शुक्ल 9
3.	देवर्षि श्री नारद भगवान्	मुग्धादि	—
4.	श्रीसुदर्शन चक्रावतार जगद्गुरु श्रीभगन्निम्बार्काचार्यजी	श्रीरंगदेवी	कार्तिक शु. 15
5.	श्री श्रीनिवासाचार्य जी	नव्यवासा	माघ शु. 5
6.	श्री विश्वाचार्यजी	विश्वाभा	फाल्गुन शु. 4
7.	श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी	उत्तमा	चैत्र शु. 6
8.	श्रीविलासाचार्यजी	विलासा	वैशाख शु.8
9.	श्रीस्वरूपाचार्य जी	सरसा	ज्येष्ठ शु. 7
10.	श्रीमाधवाचार्यजी	मधुरा	आषाढ़ शु. 10
11.	श्रीबलभद्राचार्यजी	भद्रा	श्रावण शु. 3
12.	श्रीपद्माचार्यजी	पद्मा	भाद्रपद शु. 12
13.	श्रीश्यामाचार्य जी	श्यामा	आश्विन शु. 13
14.	श्रीगोपालाचार्यजी	शारदा	भाद्रपद शु. 11
15.	श्रीकृपाचार्यजी	कपाला	मार्गशी. शु. 15
16.	श्रीजान्हवीकार श्रीदेवाचार्यजी	देवदेवी	माघ शु. 5
17.	श्रीसेतुकालक्ष्मीसुन्दरभट्टाचार्य	सुन्दरी	मार्गशी. शु. 2
18.	श्री पद्मनाभभट्टाचार्यजी	पद्मालय	वैशाख कृ. 3
19.	श्रीउपेन्द्र भट्टाचार्यजी	इन्दिरा	चैत्र कृ. 4
20.	श्री श्रीरामचन्द्रभट्टाचार्यजी	रामा	वैशाख कृ. 5
21.	श्रीवामनभट्टाचार्य	वामा	ज्येष्ठ कृ. 6
22.	श्रीकृष्णभट्टाचार्यजी	कृष्णा	आषाढ़ कृ. 9

23.	श्रीपद्माकरभट्टाचार्यजी	पद्माभा	आषाढ़ कृ. 8
24.	श्रीश्रवणभट्टाचार्यजी	श्रुतिरूपा	कार्तिक कृ. 9
25.	श्रीभूरिभट्टाचार्यजी	भगवती	आश्विन कृ. 10
26.	माधवभट्टाचार्यजी	माधणी	कार्तिक कृ. 11
27.	श्रीश्यामभट्टाचार्यजी	आसिता	चै. कृ. 12
28.	श्रीगोपालभट्टाचार्यजी	गुणाकरी	पौष कृ. 11
29.	श्रीबलभद्रभट्टाचार्यजी	—	माघ कृ. 14
30.	श्रीगोपीनाथ भट्टाचार्यजी	गौरांगी	श्रावण शु. 7
31.	श्रीकेशवभट्टाचार्यजी	केशी	चैत्र शु. 1
32.	श्रीगांगलभट्टाचार्यजी	पवित्रा	चैत्र कृ. 2
33.	श्रीकेशव काश्मीरी भट्टाचार्यजी	कुंकुमांगी	ज्येष्ठ शु. 4
34.	श्री श्रीभट्टदेवाचार्यजी	हितू	आश्विन शु. 2
35.	श्री श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी	हरिप्रिया	कार्तिक कृ. 12
36.	श्री परशुराम देवाचार्यजी	परमा	भाद्रपद कृ. 5
37.	श्री हरिवंशदेवाचार्य जी	हित अलबेली	मार्गशीर्ष कृ. 7
38.	श्री नारायण देवाचार्यजी	नित्यनवीना	पौष शु. 9
39.	श्री वृन्दाबन देवाचार्य जी	मनमंजरी	भाद्रपद कृ. 13
40.	श्री गोविन्ददेवाचार्यजी	गौरांगी	कार्तिक कृ. 5
41.	श्री गोविन्दशरण देवाचार्यजी	गुणमंजरी	कार्तिक कृ. 8
42.	सर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी	रूपमंजरी	पौष कृ. 6
43.	निम्बार्कशरण देवाचार्यजी	—	ज्येष्ठ शु. 9
44.	श्री ब्रजराजशरण देवाचार्यजी	—	ज्येष्ठ शु. 5
45.	श्री गोपीश्वरशरण देवाचार्यजी	—	माघ कृ. 10
46.	श्री घनश्याम शरण देवाचार्यजी	—	आश्विन कृ. 6
47.	श्री बालकृष्णशरण देवाचार्यजी	—	चैत्र कृ. 12
48.	श्री राधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज		विराजमान ज्येष्ठ शु. 2

वैष्णवों में अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार धाम (क्षेत्र) नियत है। उनमें अपनी अपनी उपासना के अनुसार देव, ऋषि, मन्त्र, चिह्नधाम आदि नियत होते हैं। तत्तत्स्थानों में

सम्बन्धित जानकारियाँ मिलती हैं। किसी भी आजकल के लेखकों व आलोचकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णवों का धाम द्वारिका, धर्मशाला मथुरा, मानी जाती है। संस्कृत के अनेकों ही प्राचीन स्तोत्रों में और पुराणोक्त उपाख्यानों में श्रीनिम्बार्क की तपश्चर्या व विशेष निवासस्थान ब्रज (श्रीगोवर्धन, वृन्दावन) धाम माना गया है। श्रीगोवर्धन के निकट जिस अरुणाश्रम में श्रीनिम्बार्क भगवान् ने बाल्यावस्था में ही अपने तेज का साक्षात्कार कराया था, उसे आजकल निम्बग्राम (नींम गाँव) कहते हैं। वैष्णवों का प्रभाव प्रसार यद्यपि सम्पूर्ण भारत भूमि में रहा है, तथापि विशेष रूप से किसी एक दिशा में प्रभाव रहा है, वहाँ के नरेशों की मुद्राओं, प्रशस्तियों और शिलालेखों में भगवन्नाम निर्देशों से वैष्णव धर्म की व्यापकता तथा आचार्यों की प्राचीनता सिद्ध है। गुप्त और त्रैकूट वंशीय सेन नरेशों से भी बहुत पूर्ववर्ती क्षत्रप नरेशों के शिलालेखों में से यहाँ महाक्षत्रप सुदास के समय का एक शिलालेख उद्धृत किया जा रहा है। (यह सुलेख मथुरा म्यूजयम में सुरक्षित है। स्पष्ट सुवाच्य न होने से कुछ अंश इस प्रकार हैं—)

"वसुना भगव (तो वासुदेव)स्य महास्थान...(चतुःशा)लां तोरणं वै(दिकी प्रति)ष्ठापितो। प्रीतो भ(वतु वासुदेवः)। स्वामिन...(महाक्षत्रपस्याशोडास) राज्य स्थिर हो।

यह वैष्णवधर्म का ऐतिहासिक शिलालेख ईसवी प्रथम शताब्दी से पूर्वकाल का माना जाता है।

इसके पश्चात् मालव, मथुरा और सौराष्ट्र के कितने ही वैष्णव नरेशों के सिक्के भी मिल रहे हैं। जैसे द्वितीय चन्द्रगुप्त के सिक्कों पर एक ओर गरुड की मूर्ति दूसरी ओर परम भगवान् महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमादित्य इत्यादि लिखा हुआ है। उसी प्रकार उनके पुत्र कुमारगुप्त के सिक्कों पर भी एक ओर बड़ी गरुडमूर्ति दूसरी ओर परम भागवत विशेषण लिखा है एवं स्कन्दगुप्त के सिक्कों पर भी "परमभागवत महाराजाधिराज स्कन्दगुप्त" लिखा हुआ है। ईस्वी सन् 400 के आसपास चन्द्रगुप्त आदि गुप्तवंशीय नरेशों का सौराष्ट्र पर आधिपत्य था। बिहार के लेख में भी परमभागवत महाराजाधिराज स्कन्दगुप्त लिखा हुआ है। आदित्य सेन गुप्त ने भी अपने उपास्यदेव श्री विष्णु भगवान् का एक विशाल मन्दिर उसी सुदर्शन कुंड पर बनवाया था।

यह सुदर्शनकुण्ड चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री पुष्यगुप्त ने ईसा से 300 वर्ष पूर्व बनवाया था। उसके तीर पर एक विष्णु मन्दिर स्कन्दगुप्त द्वारा नियुक्त शासक चक्रपालित ने भी बनवाया था। इसी प्रकार ईस्वी सन् 456 के लगभग होने वाले त्रैकूटवंशीय नरेन्द्रों के सिक्कों पर भी महाराजेन्द्रदत्त के पुत्र परम वैष्णव श्री भागवत दहरसेन तथा उनके पुत्र परम वैष्णव श्री व्याघ्रसेन आदि वैष्णव शब्दों के विशेषण मिल रहे हैं। सारांश यह है कि आज से 2500 वर्ष पूर्व वैष्णव धर्म का साम्राज्य था। उस समय के शासक किसी वैष्णवाचार्य के अवश्य ही अनुयायी थे, किन्तु उस समय विक्रम की 11वीं शताब्दी के पश्चात् होने वाले श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीवल्लभ आदि आचार्यों की तथा श्री निम्बार्क सम्प्रदायाचार्य जगद्विजयी

श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य की स्थिति तो मान ही नहीं सकते, फिर कौन से वैष्णव सम्प्रदाचार्य की स्थिति थी? यह ज्ञात करने के लिए उनकी परम्पराओं की ओर ध्यान देते हैं तो श्रीरामानुजाचार्य से पूर्व एक (गुरुपरम्परा प्रभाव) के मत से उनके 15 पूर्वज आचार्य हुए हैं और दूसरे (श्रीनिवास आयंगार) के मत से भी रामानुज और श्रीविष्णु के मध्य 8 ही पूर्वाचार्यों का उल्लेख मिलता है। दोनों ही मतों से श्रीसम्प्रदाय के आचार्यों का चन्द्रगुप्त से मेल नहीं मिलता। इसी प्रकार सुन्दरानन्द विद्याविनोद लिखित 'वैष्णवाचार्य श्रीमध्व' नामक पुस्तक के अनुसार श्रीमध्वाचार्य के पूर्ववर्ती 8 ही आचार्य माने जाते हैं। एक दूसरी गुरु परम्परा में श्रीमध्व और श्रीविष्णु के मध्य श्रीव्यास और श्रीनारद दो ही पूर्वाचार्यों का उल्लेख मिलता है, अर्थात् महाराज चन्द्रगुप्त के साथ श्रीमध्व सम्प्रदाय का सम्पर्क सिद्ध नहीं होता और न श्रीवल्लभ सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती आचार्यों से। अतः किसी न किसी श्री निम्बार्क सम्प्रदायाचार्य का ही सम्पर्क था। क्योंकि अन्य सभी आचार्यों का समय सुनिश्चित माना जाता है। केवल श्रीनिम्बार्क भगवान् के सम्बन्ध में ही लोग अनिश्चितता प्रकट करते हैं। जैसे कलकत्ता प्रेसीडेंसी कालेज के भूतपूर्व प्राध्यापक श्री शारदा प्रसन्नदास राव 'दक्षिण भारतीय तीर्थ प्रसंग' पुस्तक में लिखते हैं कि 'बड़े दुःख की बात है कि 'श्रीनिम्बार्क भाष्य के काल' का निर्णय किसी ने भी नहीं किया।

डॉ. भाण्डारकर के मत के अनुसरणकर्ताओं का संक्षेप में विवरण दिया जाता है—(1)स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती एवं राजेन्द्र घोष ने बंगला सन् 1332 में प्रकाशित 'वैष्णव दर्शनेर इतिहास' में श्रीनिम्बार्क को श्रीशंकर से परवर्ती और इनके भाष्य को साधारण भाष्य बतलाकर लिखा है कि 'निम्बार्क मत की क्षीणता को देखकर देवाचार्य ने अद्वैतमत के खण्डन का प्रयास किया है।'

इस सम्बन्ध में ज्ञात हो कि पूर्ववर्ती की ही परवर्ती आलोचना करते हैं। सभी भाष्यकारों ने अपने पूर्ववर्ती भाष्यों की ही आलोचना की है।

(2) राजेन्द्रनाथ घोष ने 'शंकर और रामानुज' निबन्धों और 'वेदान्त दर्शनेर इतिहास' में श्री निम्बार्क के समय का निरूपण होना दुरूह लिखा है। पुनः पृ. 388 में "11वीं शताब्दी में निम्बार्क हुए होंगे" लिखा है। सर्वदर्शन संग्रह में नाम व सिद्धान्त लिखा होने से विश्वारण्य से परवर्ती माना है और उसी इतिहास के पृ. 375 में श्री निम्बार्क को सूर्य का अवतार लिखा है। यह भी लिखा है कि शंकर भाष्य में द्वैताद्वैत एवं भेदाभेद की आलोचना मिलती है।

यह सब भ्रान्त धारणायें डॉ. भण्डारकर के अनुसरण की ही हैं। विस्तार भय से विशेष न लिखकर यह निराधार है। श्री निम्बार्क सूर्य के नहीं, सुदर्शनचक्र के अवतार हैं।

(3) अक्षयकुमार दत्त ने भी स्वलिखित 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' पुस्तक में श्रीनिम्बार्क के समय का निरूपण करना दुरूह बताया है। इससे सिद्ध होता है कि इन्होंने कोई अन्वेषण व ऊहापोह नहीं किया।

(4) जाह्नवी चरण भौमिक बी. एल. ने सन् 1928 में 'संस्कृत साहित्येर इतिहास' में 'वेदान्त दर्शनेर इतिहास' के समान ही लिखा है। अतः उपर्युक्त ही इनकी कमी है।

(5) पुलिनविहारी भट्टाचार्य ने 'श्रीनिम्बार्काचार्य और ताहरधर्म मत' पुस्तक में राजेन्द्रनाथ घोष के समान ही अनुमान लगाया है। इसके पृष्ठ 52 में एक विशेष कल्पना उनकी पुष्टि के लिए यह और की है कि—"मुसलमानों के आक्रमण के समय जब सभी हिन्दुओं ने कातर स्वर में माँ, माँ पुकार की, उसी समय शक्तिवाद का आविर्भाव हुआ। निम्बार्क ने ब्र. सू. अ. 2 पो. 2 सू. 42 के भाष्य में शक्तिवाद का खण्डन किया है। अतः 11वीं शताब्दी ही निम्बार्क का समय ठीक है। फिर पृ. 109 में भट्टाचार्य ने केनड़ी साहब के मतानुसार 'राधिका' शब्द के आविर्भाव का समय भी वही 11वीं शताब्दी निश्चित करके राधिका उपासक श्री निम्बार्क का वही समय प्रमाणित किया है।

उत्तर—शक्तिवाद आधुनिक नहीं है। अर्थात् 11वीं शताब्दी से ही प्रचलित नहीं हुआ, अपितु अनादिकाल से ही चला आ रहा है। हाँ, उसके कुछ प्रकार भेद समय-समय पर बढ़ जाने के कारण आधुनिक सा प्रतीत होने लगता है। यदि शक्तिवाद 11वीं शताब्दी से प्रचलित हुआ होता तो हजारों वर्ष की प्राचीन शक्ति मूर्तियाँ कैसे मिल सकती थीं? आज से 2000 दो हजार वर्ष पूर्वकालीन सिंहवाहिनी महिषासुरमर्दिनी आदि शक्ति की मूर्तियाँ तो वैष्णवता प्रधान मथुरा के म्यूजियम में ही विद्यमान हैं। वास्तव में है।

वास्तव में श्रीभट्टाचार्य का यह महान् भ्रम है, क्योंकि शक्तिवाद उतना ही पुराना है जितना सनातनधर्म। शाक्त, शैव, गाणपत्य, सौर और वैष्णव, ये पाँचों ही सनातनधर्म के अंग हैं। इसी प्रकार 'राधा' शब्द का आविर्भाव 18वीं शताब्दी मानना भी नितान्त भूल है। राधा नाम का उल्लेख पञ्चम शताब्दी के पञ्चतन्त्र ग्रन्थ में मिलता है। प्रथम शताब्दी की गाथा सप्तशती में भी है। इस सम्बन्ध में बंकिम बाबू कृत श्रीकृष्णचरित द्वितीय खण्ड का दसवाँ परिच्छेद द्रष्टव्य है। श्री बलदेव उपाध्याय कृत भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, डॉ. द्वारका प्रसाद मीतल का राधा विषयक शोध प्रबन्ध आदि अवलोकनीय हैं।

पं. श्रीविन्ध्येश्वरी प्रसाद जी ने 'निम्बार्क भाष्य' की भूमिका में—

"विष्णु स्वामी प्रथमो निम्बादित्यो द्वितीयतः।
मध्वाचार्यस्तृतीयस्तु तुर्यो रामानुजः स्मृतः।"

(भविष्यपुराण परिशिष्ट 21वां अध्याय भगवद्भक्त माहात्म्य प्रसंग)

इस श्लोक के आधार पर श्री निम्बार्क का मध्वाचार्य से पूर्व और विष्णु स्वामी से परवर्ती मानकर अनुमान लगाया है कि मध्वाचार्य जी का आविर्भाव समय माना है। अतः विष्णुस्वामी के समय वि.सं. 1199 से पूर्व श्री निम्बार्काचार्य हुए होंगे। उक्त प्रमाण को इतिहासकारों ने भ्रान्त अनुमान माना है।

सुधीवर सी. हरबदनराय ने 'श्रीकर भाष्य भूमिका' ग्रन्थ में श्रीनिम्बार्क का समय ई. 1138 और 1260 के मध्य माना है। मध्वाचार्य का समय ई. 1238 और 1317 के मध्य माना है।

उपरोक्त मत के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने तर्क दिया कि जो कहीं 1138 से 1270 और कहीं 1238 से 1317 ई. का मध्यकाल निर्धारित कर रहे हैं। यह केवल कल्पना मात्र है। इसका कोई सच्चा आधार नहीं है।

सत्येन्द्रनाथ बसु एम.ए. बी. एल. बंगला सन् 1342 ज्येष्ठ मास की 'वसुमती' (बंगला पत्रिका) में लेख लिखा है कि यदि निम्बार्क शङ्कर से पूर्ववर्ती होते तो शङ्कर अपने भाष्य में उनके मत की कुछ आलोचना अवश्य करते। शङ्कर दिग्विजय में भी श्रीनिम्बार्क एवं उनके मत का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः निम्बार्क, शंकर से पूर्ववर्ती नहीं माने जा सकते।

उपर्युक्त कथन का श्रीवसुजी ने खण्डन किया है। कहा है कि शङ्कर भाष्य ग्रन्थ का अवलोकन किये बिना ही उन्होंने लिखा है। अन्यथा ब्र. सू. अ. 2 पाद 1 सूत्र 14 के शंकर भाष्य में उनको शंकर कृत श्री निम्बार्कमत की सूक्ष्म आलोचना अच्छी प्रकार से अवगत हो जाती।

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् अ. 5 ख. 1 के भाष्य के भाष्य में श्री शंकर कृत निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत सिद्धान्त की आलोचना विशदतया दृष्टिगत हो जाती है। तार्किक लेखकों को निम्बार्क भाष्य सच्चा सहारा दे सकता था। यदि इधर उनका दृष्टिपात हो जाता तो आज निम्बार्क के सम्बन्ध में भ्रम नहीं फैलता।

ब्रह्मसूत्रों पर श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के आज केवल 7-8 व्याख्यान उपलब्ध हो रहे हैं। उसमें श्री निम्बार्काचार्य कृत 1. वेदान्त पारिजात सौरभ—श्री श्रीनिवासाचार्य कृत 2. वेदान्त कौस्तुभ—श्री देवाचार्य कृत 3. वेदान्त सिद्धान्त जाह्नवी—श्रीसुन्दर भट्ट कृत 4. सिद्धान्त सेतुका—श्री केशवकाश्मीरी भट्टाचार्य कृत 5. कौस्तुभप्रभा—ये पाँच व्याख्यान प्रसिद्धरूपेण प्रचलित हैं। 'कौस्तुभप्रभा' में श्री शंकर, श्री रामानुज, श्रीमध्वाचार्य इन तीनों आचार्यों के मतों की आलोचना मिलती है। श्रीवल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत मत की कहीं पर भी चर्चा नहीं मिलती।

इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमध्व और श्रीवल्लभाचार्य के मध्य की 13वीं अथवा 14वीं शताब्दी के मध्य में उन्होंने प्रभा की रचना की थी। साम्प्रदायिक इतिहास के अनुसार श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य का समय विक्रम की 13वीं शताब्दी है। 13वीं शताब्दी के श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य से पूर्व परम्परानुसार 29 आचार्य हो गये थे।

यद्यपि 'भारतेर साधना' मासिक पत्रिका बंगला सन् 1340 आग्रहायण मास वाले अंक में तथा हिन्दी एवं बंगला सुदर्शन पत्र में श्रीनृसिंहदास वसु ने और 'श्री निम्बार्क भाष्य रचना काल निरूपण' नामक प्रबन्ध तथा चतुर्थ वर्ष की 'श्री भारती' (बं. मा. प.) के 5, 6, 8, 9, 10, 11वें अंकों में श्री विरजाकान्त घोष बी.ए. ने निम्बार्क भाष्य और

श्रीनिवासाचार्य भाष्यों के आधार पर श्री निम्बार्क भाष्य का रचनाकाल ई. सन् 6ठीं शताब्दी निर्धारित किया है।

श्री शंकरदिग्विजय और सर्वदर्शनसंग्रह में श्री निम्बार्क का नाम तथा उनके मतों का खण्डन न मिलने का भी यही कारण है कि उक्त ग्रन्थों के लेखक श्री विद्यारण्य सायणमाधव के समय में श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के जगद्विजयी आचार्यश्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य विद्यमान थे, जो श्री निम्बार्क के पश्चात् उनके पट्टाभिषिक्त 30 वें निम्बार्काचार्य माने जाते हैं। उन्होंने 3 बार जगद्विजय किया था।

श्री हेमचन्द्र चौधरी कृत 'वैष्णव सम्प्रदायेर इतिहास' नामक पुस्तक में श्री निम्बार्क का उल्लेख न मिलने से हेमचन्द्र चौधरी भी श्रीनिम्बार्क को परवर्ती क्यों न मानते? वास्तव में शंकर-दिग्विजयों को शाङ्करमतानुयायी भी कई एक विद्वान् कल्पित मान रहे हैं। अर्थात् इनमें लिखे हुए समय का खण्डन करके श्रीशंकर को "आज से 2000 वर्ष" पूर्वकालीन सिद्ध कर रहे हैं।

श्रीमती डॉ. रमा चौधरी ने श्री निम्बार्क भाष्य के तीसरे भाग पृ. 14 में श्री निम्बार्काचार्य के समय की आलोचना की है, किन्तु भाण्डारकर और डॉ. राजेन्द्रलाल मित्रा के आधार पर श्री निम्बार्क को श्री वल्लभाचार्य से भी परवर्ती होने का अनुमान किया है, उक्त दोनों लेखकों की अपेक्षा यद्यपि रमा चौधरी ने निम्बार्क सम्प्रदाय के ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा, किन्तु यह निश्चित नहीं कर सकी कि साक्षात् श्रीनिम्बार्क के रचे हुए कौन कौन से ग्रन्थ हैं? इसीसे वे अत्यधिक भ्रम में पड़ गयीं हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य जी के रचे हुए (1) वेदान्त पारिजात सौरभ (2) दशश्लोकी वेदान्त कामधेनु (3) मन्त्र रहस्य षोडशी (4) प्रपन्नकल्पवल्ली (5) श्रीकृष्ण प्रातः स्मरणस्तोत्र। बस ये पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रपत्ति-चिन्तामणि, सदाचार-प्रकाश और गीता वाक्यार्थ ये तीन ग्रन्थ श्री निम्बार्क कृत और थे। किन्तु अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। यह श्रीपुरुषोत्तमाचार्य श्री सुन्दरभट्टजी आदि के वाक्यों से पता चला है। कुछ विद्वान् श्रीसुदर्शन कल्प, रंगदेवी प्रकाश, वंशीतत्त्व ये तीन ग्रन्थ भी आचार्य रचित मानते हैं परन्तु उन ग्रन्थों का कहीं नामनिर्देश नहीं मिलता। पं. श्रीकिशोरदास जी को (वंशीवटवृन्दावन) अन्वेषणकाल में श्रीकृष्णस्तव की अवतरणिका 'श्रीनन्दगृहे साक्षात् श्री कृष्ण दृष्ट्वा तं स्तौति भगवन्निम्बार्कः' वह पंक्ति लिखी मिल गयी, इसी से श्रीकृष्णस्तव (25 श्लोकी) को उन्होंने श्रीनिम्बार्करचित छपवा दी, किन्तु अन्यत्र कहीं भी यह लिखा न मिला तो द्वितीय संस्करण में 'श्रीनिम्बार्क कृत' को हटा दिया किन्तु डॉ. रमा चौधरी को वह द्वितीय संस्करण देखने में न आया। प्रथम संस्करण के अनुसार श्रीकृष्ण स्तव स्तोत्र को श्रीनिम्बार्क कृत मान लिया और भी आश्चर्य है कि डॉ. आफ्रेक्ट के 'कैटलॉगस् आफ कैटलॉगरम' भाग 1 पृ. 428 में निम्बादित्य नाम से 8 पुस्तकों के नाम दिये हैं, जिनमें मध्वमुखमर्दन और वेदान्त सिद्धान्तप्रदीप नाम के ग्रन्थ निम्बार्क सम्प्रदाय में ही नहीं हैं। मध्वमुखमर्दन पर यद्यपि डॉ. रमा चौधरी ने अपने 'डेट ऑफ निम्बार्क' नाम के निबन्ध में सन्देह प्रकट किया है और लिखा है कि यह ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया, यदि

सचमुच निम्बार्क कृत है तो अवश्य ही श्रीनिम्बार्क मध्व से परवर्ती हैं। अन्यच्च साम्प्रदायिक ऐतिह्य की उपेक्षा करके डॉ. राजेन्द्रलाल मित्रा अपने निराधार लेख के बल पर श्रीनिम्बार्क को श्री वल्लभाचार्य से भी अर्वाचीन लिखने को बाध्य हो गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि श्रीनिम्बार्क भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद स्थिर चित्त होकर नहीं किया, अन्यथा वे इतना विचार अवश्य करते कि श्रीनिम्बार्क जी ने स्वरचित भाष्य में श्रीशंकर, श्री रामानुज, श्री मध्व किसी भी आचार्य के मत की आलोचना नहीं की, तब उन्हीं श्री निम्बार्क भगवान् ने 'मध्वमुखमर्दन' नामक स्वतन्त्र पृथक् ग्रन्थ कैसे लिखा? श्रीमध्व पर ही इतनी क्रूर दृष्टि क्यों हुई? आलोचना ही करते तो श्रीमध्व से पूर्ववर्ती श्रीशंकर रामानुजादि के मत की क्या आलोचना नहीं कर सकते थे? मध्वमुखमर्दन को श्रीनिम्बार्करचित मानकर अपना ही महत्त्व गिराया है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में आज से पूर्व लिखे हुए किसी भी दार्शनिक ग्रन्थ में श्री वल्लभाचार्य मत की आलोचना नहीं मिलती। कारण 16वीं 17वीं शताब्दी के पश्चात् इस सम्प्रदाय में दार्शनिक ग्रन्थ-विशेष नहीं लिखे गये और पहले के रचे हुए ग्रन्थों के समय में श्री वल्लभाचार्य जी का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था। श्रीवल्लभाचार्य जी के समय में निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध महापुरुष ब्रजदूलह श्रीनागाजी विद्यमान थे, जिनकी चर्चा वल्लभ सम्प्रदाय के चौरासी बैठकों की वार्ता में मिल रही है। ये नागाजी श्रीनिम्बार्काचार्य जी से 36वीं पीठिका में हुए हैं।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों ने तो कभी किसी ने कुछ भी लिखा हो उस पर आलोचना नहीं की, जैसे किसी की आलोचना का स्वभाव ही न हो। अन्यथा ये सन्देह अब तक उत्पन्न ही न होते।

श्रीशंकराचार्य, श्रीभास्कराचार्य और श्रीनिम्बार्काचार्य तथा श्रीश्रीनिवासाचार्य के भाष्यों पर ऊहापोह करने से हमें इनके पूर्वापर होने का पता लग सकता है—

किसी सज्जन का कथन है कि शंकर भाष्य में भेदाभेद की आलोचना मिलने से श्रीनिम्बार्क श्रीशंकर से प्राचीन सिद्ध नहीं होते, क्योंकि श्री निम्बार्क का सिद्धान्त तो द्वैताद्वैत है और श्रीशंकरभाष्य में भेदाभेद की ही आलोचना मिलती है। श्रीशंकराचार्य ने कहीं भी द्वैताद्वैत का नामोल्लेख नहीं किया। अतः भेदाभेद के खण्डन से यह नहीं कहा जा सकता है कि भेदाभेदवादी श्रीनिम्बार्क ही थे और वे श्रीशंकराचार्य से प्राचीन थे।

द्वैताद्वैत और भेदाभेद पर्यायवाची दो शब्द हैं। दोनों का ही श्रीशंकराचार्य जी ने प्रयोग किया है और वह श्री निम्बार्काचार्यजी के तथा श्रीश्रीनिवासाचार्यजी के द्वैताद्वैत तथ भेदाभेद से सम्बन्ध भी रखते हैं, यहाँ अक्षरशः उद्धृत किया जाता है—"उभयव्यपदेशात्।" ब्र. सू. अ. 3/3/20

'विश्वं ब्रह्मणश्च कारणे भिन्नभिन्नसम्बन्धेन स्थातुमर्हति,
भेदाभेद-व्यपेदशात्। (श्रीनिम्बार्क कृत वृत्तिः)।

इसी सूत्र पर श्रीश्रीनिवासाचार्य जी का भाष्य—

'कार्यस्य कारणेन ब्रह्मणा सह स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवतः।'

इसी प्रकार ब्र. सू. 2/2/42 आदि अनेकों सूत्रों के व्याख्यान में श्री निम्बार्काचार्य जी एवं श्री श्रीनिवासाचार्य जी ने भेदाभेद का नामोल्लेख किया है। श्रीशंकराचार्यजी ने भी ब्र. सू. 2/3/43 के भाष्य में 'भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः' यहाँ जैसे भेदाभेद का नामोल्लेख किया है, वैसे ही ब्र. सू. 3/2/21 आदि अनेकों सूत्रों के भाष्य में द्वैत प्रपञ्च विषय रूप संकेतादि से द्वैताद्वैत नाम का उल्लेख किया है। श्रीनिम्बार्काचार्य एवं श्रीश्रीनिवासाचार्य ने जिन उदाहरणों से द्वैताद्वैत एवं भेदाभेद का प्रतिपादन किया है, उन्हीं उदाहरणों सहित श्रीशंकराचार्यजी ने उसकी आलोचना की है—

"यथा लोके मृत्पिण्डोपादानकानां घटशरीरादीनां, सुवर्णोपादानकानां कटककुण्डलादीनां, समुद्रोपादनकानां फेनतरंगादीनां, वृक्षोपादानकानां फलफलादीनानां, समुद्रोपादनकानां च कारणाऽनन्यत्वेऽपि परस्परं विभागोऽस्ति तथा ब्रह्मोपादानकत्वेन तदनन्यथोरपि भोक्तृभोग्ययोः परस्परं विभागः स्यात्, एवं भोक्तृनियन्त्रोरपि अविभागेऽपि विभागः स्यात्। यथा मृदोऽभिन्ना अपि स्वभावतो घटशरावादयो मृद्व्यतिरिक्त-स्थिति-प्रवृत्यभावात्, मृदः सकाशाद्भिन्ना अपि स्वभावत एव। ब्र. सू. 2/1/13 का श्रीश्रीनिवासभाष्य (सिद्धान्तपक्ष)।"

"नन्वेकात्मकं ब्रह्म यथा वृक्षोऽनेकशाखः, एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म, अतः एकत्वं नानात्वञ्चोभयं सत्यमेव। यथा वृक्ष इति एकत्वं शाखा इति नानात्वं, यथा च मृदात्मनैकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्।" ब्र. सू. अ. 2/1/14 का शांकर भाष्य (पूर्वरूप) इन दोनों सन्दर्भों पर विचार करने से यह निश्चित हो सकता है कि दोनों भाष्यों में कौन से भाष्य के रचयिता पूर्व हुए और कौन से भाष्य के रचयिता पश्चात् हुए हैं। साथ ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने भेदाभेद और द्वैताद्वैत को पृथक् पृथक् माना है या एक? एवं श्रीशंकराचार्य कृत यह आलोचना श्रीनिम्बार्क एवं श्रीनिवासभाष्य के सन्दर्भ की है या अन्य किसी आचार्य के सन्दर्भ की अर्थतः और अक्षरशः श्रीनिवासभाष्य से इस शंकर भाष्य की तुलना हो जाती है।

यह तो श्रीशंकरकृत भेदाभेद की आलोचना का दृश्य हुआ। अब कुछ द्वैताद्वैत की आलोचना की भी झाँकी देखिये—

"अत्रैके वर्णयन्ति, एवञ्च द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्म यथा किल समुद्रो तरंगको बुद्बुदाद्यात्मकः' ननु ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मक स समुद्रादि दृष्टान्ता विद्यन्ते (इत्यादिपूर्वपक्ष उठाकर) विरोधाच्च द्वैताद्वैतयोरेक तस्मान्न सुविविक्षितेयं कल्पना।"

अथाभ्युपगम्य ब्रूमः, द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि शास्त्रविरोधस्य तुल्यत्वात्।। (बृहदारण्यकोपनिषत्, 5/1/1 का शांकरभाष्य)। पाठकगण विचार करें कि श्रीशंकराचार्यजी ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में एकत्व अनेकत्व एवं भेदाभेद शब्दों से जिसका उल्लेख किया है, उसी विषय के बृहदारण्यक भाष्य में द्वैताद्वैत शब्द से उद्धृत किया है और दृष्टान्त एवं उनकी आलोचना तथा निराकरण सब कुछ दोनों भाष्यों में समान है। मान लिया जाये कि श्रीशंकराचार्य ने भर्तृप्रपंच आदि किसी भी भेदाभेद एवं द्वैताद्वैतवादी की यह

आलोचना की हो, फिर भी यदि श्रीनिम्बार्काचार्य एवं श्रीश्रीनिवासाचार्य ये दोनों श्री शंकराचार्य से पीछे हुए होते तो द्वैताद्वैत सिद्धान्त पर लिए हुए आक्षेपों का प्रत्युत्तर दिये बिना नहीं रह सकते थे। जैसेकि श्रीभास्कराचार्य ने शंकर मत के अनेकों अंशों की आलोचना की है। अन्यथा जब शंकर भास्कर आदि अनेकों आचार्यों द्वारा किये हुए ब्रह्मसूत्रों के व्याख्यान उपलब्ध होते थे। तब फिर श्रीनिम्बार्क और श्रीनिवासाचार्य को व्याख्यान करने की क्या आवश्यकता थी? जिसमें कि लम्बे चौड़े भाष्यादि के रहते हुए उन्होंने संक्षिप्त वृत्ति बताने की चेष्टा की। अनावश्यक कार्यों में महापुरुषों की आवृत्ति नहीं होती। अतः यह कहना होगा कि ब्रह्मसूत्रों के उपलब्ध वृत्ति और भाष्यादिक में श्रीनिम्बार्क कृत 'वेदान्त पारिजात सौरभ (वृत्ति) ही श्री वेद व्यास कृत ब्रह्मसूत्रों के प्राथमिक व्याख्यानों में से एक है और श्रीनिवासाचार्यकृत भाष्य उसीका विस्तार रूप व्याख्यान है। इनके पश्चात् सभी व्याख्यायें उत्तरोत्तर क्रम से हुई हैं।

कोई श्रीनिम्बार्क भाष्य को तथा श्रीश्रीनिवासाचार्यजी कृत भाष्य को भाष्य न मानकर वृत्ति ही मानते हैं, जिसमें (वृत्ति में) किसी की आलोचना नहीं होती। अतः ये श्रीशंकरभाष्य के परवर्ती होकर वृत्तिकार हुए हैं, भाष्यकार नहीं। जहाँ पर विषय, सन्देह, पूर्वपक्ष आपत्ति ये अधिकरणांग रूप 'भाष्यं भाष्यविदो विदुः' के अनुसार भाषा के लक्षण युक्त होने पर भी वृत्ति बतलाना जानबूझकर भ्रम में डालना है।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी श्री शंकराचार्यजी से पूर्व हुए हैं इस आशय का विचार और देखिये—श्रीशंकराचार्य और श्रीभास्कराचार्य (राजेन्द्र घोष के मत से) समसामयिक हैं। भास्कराचार्य ने केवल श्रीशंकराचार्य के खण्डन के लिए ही ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा था, यह उनके प्रारम्भिक श्लोक से निश्चित होता है। इसकी प्रबोधचन्द्रोदयकार भी पुष्टि करते हैं। यद्यपि श्रीभास्कराचार्य ने श्रीशंकराचार्य के मत के अतिरिक्त और भी कई एक भाष्य वृत्तिकारों के सिद्धान्त का ऊहापोह किया है, तथापि सबको छोड़कर लेखक भास्कराचार्य की एक पंक्ति उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा, जो श्रीनिवास भाष्य से अक्षरशः ली गयी है—"नित्योपलब्ध्यनु.' ब्रह्मसूत्र अ. 2/3/31 में श्रीनिवासाचार्यजी लिखते हैं—

'चेतनभूतात्मविभुत्ववादिमते दोष-कथनार्थं सूत्रम्।'

इस सूत्र की भास्करभाष्य के अनुसार 2/3/32 की संख्या है। भास्कराचार्य ने इस सूत्र को बौद्धों के निराकरणार्थ बतलाया है और जिन आचार्यों ने चेतनआत्मा को विभु मानने वाले वादियों के मत में दोष देने के लिए यह सूत्र बतलाया है। उसका खण्डन किया है—

"यत्पुनरात्मा विभुत्ववादिनां दोषकथनार्थं सूत्रमिति व्याख्यानं तदयुक्तम्"

इन दोनों पंक्तियों से सिद्ध है कि भास्कराचार्य ने श्रीनिवासाचार्य की पंक्ति का अक्षरशः उद्धरण दिया है। अतः श्रीनिवासाचार्यजी अवश्य ही भास्कराचार्य से पूर्व थे और भास्कराचार्यजी के समसामयिक श्रीशंकराचार्यजी से भी श्रीनिवासाचार्य जी प्राचीन हैं। इसमें सन्देह को कोई अवकाश नहीं है और श्रीनिम्बार्काचार्य तो इन सबसे अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होते हैं। यह जो कुछ लिखा है, बहुत संक्षेप में है। इस 'समय समीक्षा' विषय पर तो स्वतन्त्र

ग्रन्थ लिखा जा सकता है। इसके लिए पर्याप्त सप्रमाण सामग्री है। 'नह्यमूला जनश्रुतिः' इस उक्ति के अनुसार भविष्य-पुराणादि में पारम्परिक प्रसिद्ध घटनाओं से श्रीनिम्बार्क भगवान् का चरित्र स्पष्ट है। यथा निम्ब पर सूर्य के दर्शन कराने की घटना, कपालवेध के नियम से श्रीव्यासवचन "निम्बार्को भगवान्येषामित्यादि" से तथा च "सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो भविष्यति" आदि वचनों से द्वापरान्त में प्राकट्य होना सर्वमान्य है।

2. श्रीनिम्बार्कभगवान् के कवच स्तव, सहस्रनाम गायत्री आदि से इतिवृत्त जाना जाता है। सहस्र नामादि अन्य किसी आचार्य के नहीं मिलते। इन पर 200 वर्ष पुरानी संस्कृत टीकायें भी मिलती हैं।
3. बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नारद भक्ति सूत्र की टीका में आरुणि मुनि श्रीनिम्बार्क भगवान् को माना है।
4. डॉ. हैस्टिंग्स, डॉ. हण्टर, डॉ. ग्रियर्सन तथा मोनियर विलियम्स आदि ने तथा सभी वैष्णव आचार्यों ने श्रीनिम्बार्क भगवान् को प्राचीनतम माना है।
5. श्रीसर्वेश्वरप्रतिमा सनकादि सेव्य श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ में प्रधान पूज्य है जो सर्वप्राचीन उपास्य है।
6. शक्तिसंगम तंत्र का 'श्रीनिम्बार्को भगवान् हरिः' और हेमाद्रि का 'श्रीनिम्बार्को ०' आदि वचन ब्रह्म वैवर्तपुराण वाक्य 'कपालवेधमित्याहु' आदि श्री व्यासजी के समकालीन बतलाते हैं।
7. श्रीनिम्बार्कभाष्य में किसी का खण्डन न होना सर्वप्रथम भाष्य सिद्ध करता है। अतः भास्कराचार्य एवं श्रीशंकराचार्य से उनका अतिप्राचीन होना सिद्ध है।
8. आधुनिक लेखकों के लेख भ्रान्तिपूर्ण हैं, अनुमान से एकदूसरे के देखा देखी लिख दिये गये हैं। यह अनुसन्धान न करने का फल है, कल्पनामात्र है। किसी भी प्रकार श्रीनिम्बार्क को 6ठी शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक बताना न युक्तिसंगत है, न शास्त्रसम्मत है। अब तो ये सभी हृदय से स्वीकार करने लगे हैं कि उनका विचार भ्रान्तिपूर्ण है।
9. इन वर्षों में पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने धार्मिक इतिहास लिखे हैं, जिनमें धर्माचार्यों की जीवनी और उनके समय पर यथाबुद्धि प्रकाश डाला है। सभी ने श्रीनिम्बार्काचार्यजी के समय का निश्चित पता न होना लिखा है। जिन्होंने विशेष श्रम किया है, उनका एकमत न होना भी श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य का अतिप्राचीन होना सिद्ध करता है। अतः सारांश में भगवान् श्रीनिम्बार्क श्रीव्यास जी के समकालीन द्वापरान्त समय में ही आविर्भूत हुए थे, यह ही मान्य है।

वेदाध्यापक, श्रीसर्वेश्वर वेदविद्यालय, सलेमाबाद।

❑

भगवन्निम्बार्काचार्य एवं उनका दार्शनिक सिद्धान्त

पं. रामगोपाल शास्त्री साहित्य-धर्मशास्त्राचार्यः

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्री 'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज के श्रीचरणों की अनुपम अनुकम्पा से स्वाभाविक द्वैताद्वैत दर्शन समर्थक, वेदान्तकेसरी विद्वद्वरेण्य श्रीअनन्तरामदेव विरचित यह 'तत्त्वसिद्धान्त बिन्दु' सान्वय भावार्थ बोधक 'तत्त्वज्योति' नामक टीका के साथ पाठकों के करकमलों में प्रस्तुत है। इस ग्रन्थ की अत्यन्त प्राचीन, जीर्ण-शीर्ण एक प्रति प्रदान करके पूज्यपाद आचार्यश्री ने मुझे अनुगृहीत किया और आदेश दिया, "स्वाभाविक द्वैताद्वैत दर्शन के जिज्ञासु जनों के लिए परम उपादेय यह एक लघु ग्रन्थ रत्न है। इसका आधुनिक रीति से अनुवाद लेखन, सम्पादन व प्रकाशन द्वारा जीर्णोद्धार करना है।" श्रद्धेय चरणों के उक्त आदेश की अनुपालना का ही यह प्रतिफल है।

मुझे प्राप्त प्रति श्रीजयकृष्णदास गुप्त द्वारा 'विद्या विलास प्रेस, बनारस' में सन् 1913 ई. (विक्रम संवत् 1969) में प्रथम बार मुद्रित कराई गई थी। इसके प्रकाशक वृन्दावन निवासी पण्डित श्रीकिशोरदासजी थे। यह 'श्रीसत्सम्प्रदाय ग्रन्थमाला' की संख्या 2 के रूप में प्रकाशित हुई थी। इस पर वृन्दावनवासी निम्बार्कसम्प्रदायानुयायी गोस्वामी श्रीकिशोरीलालजी के सुपुत्र, श्रीनिम्बार्क-लाइब्रेरी के संरक्षक पण्डित श्रीछबीलेलाल गोस्वामी ने 'सान्वय भावप्रकाशिका' नाम की भाषा टीका की थी। इसकी द्वितीय प्रति पर्याप्त प्रयास करने पर भी कहीं सुलभ नहीं हुई।

ग्रन्थकार श्री अनन्तरामदेव

इस 'तत्त्वसिद्धान्त बिन्दु' नामक ग्रन्थ के लेखक वेदान्त केसरी पण्डितप्रवर आचार्य श्रीअनन्तरामदेव पञ्चनद (पंजाब) देश में सहारनपुर जिले के अन्तर्गत जगाधारी ग्राम के निवासी गौड़ ब्राह्मण जातीय श्री नारायणप्रसादजी के आत्मज थे। आपका जन्म विक्रम संवत् की सप्तदश (सत्रहवीं) शताब्दी में हुआ था। परम विरक्त-शिरोमणि, सर्वशास्त्र-पारावारीण, हरिभक्ति परायण, पूज्यपाद श्रीमत्स्वभूरामदेवाचार्यजी महाराज के द्वारे की शिष्य-परम्परा में श्रीधर्मदासजी दीक्षित के आप शिष्य थे। यह निम्नलिखित पद्य से ज्ञात होता है—

धर्मं महान्तं श्रुतिसारगम्यं मुक्तोपसृप्यं पुरुषोत्तमाख्यम्।
ददन्निजेभ्यः स्वदयावशेन श्रीधर्मदासो जयतिस्म देवः।।

उक्त पद्य आप द्वारा 'गुरुनति वैजयन्ती' टीका के मङ्गलाचरण में लिखा गया है।

श्रीअनन्तरामदेव की रचनाएँ

आप वेदान्त दर्शनों के महान् प्रभावशाली विद्वान् थे। लघुवेदान्तरत्नमाला, पदार्थबोधिनी, हंसशरणागतिस्तोत्र, मुकुन्दशरणागतिस्तोत्र, द्वैताद्वैत विवरण,

आचार्यपञ्चाशतन, वेदान्त-रत्नमाला, तत्त्वसिद्धान्तबिन्दु, पुरुषोत्तमचरणभूषण, आचार्य परम्परास्तोत्र, गुरुनति वैजयन्ती, वैष्णवधर्ममीमांसा इन ग्रन्थों की आपने रचना की है।[1]

इनके अतिरिक्त आपका ही **'वेदान्ततत्त्व बोध'** भी द्वैताद्वैत-दर्शन का एक अद्वितीय ग्रन्थ है, जो पं. श्री अमोलकराम शास्त्री द्वारा विनिर्मित 'बालबोधिनी' टीका के साथ अ.भा. श्रीनिम्बार्क महासभा, वृन्दावन के प्रधानमन्त्री के प्रयास से महाराजा श्री भूपालसिंहजी (महाराणा, उदयपुर) द्वारा संवत् 1995 वि. में प्रकाशित कराया जा चुका है। आपकी वेदान्तरत्नमाला पर भी पं. श्री अमोलकरामजी शास्त्री के द्वारा निर्मित 'चन्द्रिका' नामक टीका उपलब्ध है।

'वेदान्ततत्त्वमाला' (संस्कृत पद्यमय) एवं 'श्रुति सिद्धान्त-रत्नाकर' (व्रजभाषामय) ये दोनों ग्रन्थ भी आपकी ही रचना है। इनका प्रकाशन हो चुका है।[2]

तत्त्व-सिद्धान्त-बिन्दु

यह 'तत्त्व-सिद्धान्त-बिन्दु' भी श्री अनन्तरामदेवजी की एक मौलिक रचना है। इसमें केवल 25 श्लोक में आपने वेदान्त के सारार्थ का सफल रीति से निरूपण किया है। मङ्गल श्लोक में ही इस उद्देश्य का उल्लेख कर दिया है। यथा—'प्रणम्य सर्ववेदान्त-सारार्थः कथ्यते मया' इति।

प्रतिपाद्य विषय

सभी वेदान्तों में सार रूप से तीन तत्त्वों की विवेचना की गई है—(1) भोक्ता, (2) भोग्य और (3) नियन्ता। चित् (ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानाश्रय जीव) भोक्ता है, तो अचित् (समस्त जड़ पदार्थ) उसका भोग्य है। भोक्ता (चित्) तथा भोग्य (अचित्) दोनों पदार्थों का नियन्त्रण करने वाला, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र जगत् का अभिन्न निमित्त व उपादान कारण श्रीसर्वेश्वर नियन्ता है। यह ही नियन्तृ तत्त्व ईश्वर, सर्वेश्वर, परब्रह्म आदि शब्दों का वाच्य है। उक्त तीनों के अतिरिक्त चौथा कोई तत्त्व नहीं है। ये तीनों तत्त्व एवं इनका परस्पर सम्बन्ध निरूपण प्रस्तुत पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है।

ग्रन्थ-नाम व्युत्पत्ति

ग्रन्थ के नाम में तीन पद हैं—'तत्त्व', 'सिद्धान्त' और 'बिन्दु-तत्त्व' पद से वेदान्त के तीन पदार्थों का संकेत किया है—भोक्ता, भोग्य एवं नियन्ता। क्रमशः चित्, अचित्, ईश्वर उक्त तीनों तत्त्वों के नामान्तर हैं। **'सिद्धान्त'** में वादी व प्रतिवादी द्वारा सम्मत आक्षेप रहित निश्चय होता है। **'सिद्धान्तो निश्चयो यस्मिन्निति सिद्धान्तः'** यह सिद्धान्त पद का अवयवार्थ है। 'राद्धांत' भी 'सिद्धान्त' का पर्याय है। 'समौ सिद्धान्त-राद्धान्तौ' यह निर्देश अमरकोश में किया है। **'बिन्दु'** का अर्थ है—अवयव। यह सिद्धान्त के संक्षिप्त स्वरूप का ज्ञापक है। यहाँ कर्त्ता में औणादिक 'उ' प्रत्यय हुआ है।

"तत्त्वानां (भोक्तृ-भोग्य-नियन्तृणां चिदचिदीश्वराणां) सिद्धान्तस्य (भ्रान्ति-संशयादिहीनस्यान्तिमनिर्णयस्य) बिन्दुः (संक्षिप्ततया ज्ञापकः) यो ग्रन्थः स तत्त्व-सिद्धान्त-बिन्दुः" इस व्युत्पत्ति से यह ग्रन्थ भोक्ता, भोग्य और नियन्ता इन तीनों तत्त्वों के भ्रान्ति, संशय आदि रहित अन्तिम निर्णय रूप सिद्धान्त का ज्ञान कराने वाला है।

अनुबन्ध-चतुष्टय

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है? उसका ग्रन्थ के साथ कैसा सम्बन्ध है? किस प्रयोजन से वह लिखा गया है? इसके अध्ययन का अधिकारी कौन है? इन प्रश्नों का समाधान ही अनुबंध चतुष्टय है।

जैसा कि 'तत्त्व सिद्धान्त-बिन्दु' इस ग्रन्थ के नाम की व्युत्पत्ति में निरूपित किया जा चुका है—भोक्ता, भोग्य, नियन्ता—इन तीनों तत्त्वों के भ्रान्ति, संशय आदि से रहित अन्तिम निर्णय रूप सिद्धान्त तथा इसके परस्पर सम्बन्ध का प्रतिपादन करना इसका विषय है। उक्त विषय का ग्रन्थ के साथ प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। 'तत्त्वज्ञान होने से भगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष होना' इसका **प्रयोजन** है, जिज्ञासु **अधिकारी** है।

ग्रन्थकार ने उक्त अनुबन्ध चतुष्टय का संकेत श्लोक सं. 25 में किया है, जिसका विशेष विवेचन 'तत्त्वज्योति' में कर दिया गया है।

तत्त्वत्रय

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्व्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मएतत्"।[3]

तत्त्व तीन हैं—1. चित् (भोक्ता), 2. अचित् (भोग्य) और 3. ब्रह्म (प्रेरिता, नियन्ता)। यद्यपि तीनों के स्वरूप पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी ब्रह्मात्मक होने से ये तीनों ब्रह्म के ही रूप हैं।

चित्पदार्थ

'वेदान्त कौस्तुभ' में श्री श्रीनिवासाचार्यजी ने चित्पदार्थ का स्वरूप निर्देश करते हुए इसे अचिद्वर्ग से भिन्न निरूपित किया है। वे लिखते हैं—

"अचिद्वर्गभिन्नो ज्ञानस्वरूपो ज्ञातृत्व-कर्तृत्वादिधर्मकोऽहमर्थरूपो भगवदायत्त-स्थिति-प्रवृत्तिकोऽणु परिमाणकः प्रतिशरीरं भिन्नो बन्ध-मोक्षार्हश्चित्पदार्थः।"[4]

जो अचिद्वर्ग से भिन्न, ज्ञानस्वरूप, ज्ञातृत्व-कर्तृत्व आदि धर्मवान्, अहमर्थ रूप है, जिसके स्वरूप की स्थिति व प्रवृत्ति हरि के अधीन है, जो अणु परिमाण वाला है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है, बन्धन व मोक्ष के योग्य है, वह चित्पदार्थ है।

यह चित्पदार्थ ही जीव है। इसका धर्म भूतज्ञान संकुचित है, क्योंकि वह अनादि माया से परिमुक्त (परिवेष्टित) है। अपट घटना पटीयसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही भगवान् की अनादि माया है, जो जीव के स्वरूप का ज्ञान नहीं होने देती।

घटस्थ दीपक की प्रभा घटावरण रूप प्रतिबन्ध के कारण जिस प्रकार संकुचित रहती है और घट रूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति होने पर उस प्रभा का प्रकाश विस्तृत हो जाता है, वह वेद्य

हो जाती है। उसी प्रकार अनादि माया (अविद्या) उसे स्वकृत कर्म बन्धन रूप घट से आवृत्त कर देती है, अतः प्रमाण सिद्ध होते हुए भी जीवन के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। इसका तो वास्तविक ज्ञान श्रीसर्वेश्वर प्रभु की कृपा से ही होता है। सुख-दुःख आदि के हेतुभूत समस्त भोग्य पदार्थों का भोग करने के कारण वह जीव ही 'भोक्ता' भी कहा जाता है।

चित् (जीव) के भेद

मुख्यतया जीव दो प्रकार के होते हैं—1. बद्ध और 2. मुक्त। अनादि कर्मवासना के कार्यभूत देव, तिर्यक् आदि अनेकविध शरीरों में आत्मत्व व आत्मीयत्व के अभिमान से सुदृढ़ बँधे हुए जीव बद्ध कहे जाते हैं। ये भी मुमुक्षु तथा बुभुक्षु भेद से दो प्रकार के होते हैं। संसार के विविध दुःखों से क्लेश युक्त (पीड़ित) हो कर जो विरक्त हो जाते हैं तथा इससे मुक्ति पाना चाहते हैं, वे मुमक्षु जीव होते हैं। जो सांसारिक विविध विषय सम्बन्धी आनन्द के इच्छुक हैं, वे बुभुक्षु होते हैं। इनमें मुमुक्षु के दो भेद हैं—प्रथम वे, जो भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष को चाहते हैं। दूसरे निज स्वरूपापत्ति रूप मुक्ति को चाहते हैं। प्राकृत सुख की कामना करने वाले बुभुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं—1. भाविश्रेयस्क और 2. नित्य संसारी। जो भविष्य में श्रेय की इच्छा करते हैं, वे भाविश्रेयस्क कहे जाते हैं तथा जो इस लोक में बार-बार जन्म लेते हैं और मरते हैं वे नित्य संसारी होते हैं। इस प्रकार बद्ध जीवों के चार भेद किये जाते हैं।

मुक्त जीव भी दो प्रकार के होते हैं। नित्यमुक्त और मुक्त। नित्यमुक्त जीव प्रकृति के सम्बन्ध से सदा निर्मुक्त रहते हैं। इनका गर्भवास, जन्म, जरा, मरण आदि नहीं होता। प्रकृति के कार्यभूत सुख दुःख आदि का इन्हें कालत्रय में भी अनुभव नहीं होता। भगवान् के नित्य दर्शन और उनकी सेवा में तत्परता से आविर्भूत आनन्दरस का ये अनवरत साक्षात्कार करते रहते हैं।

नित्यमुक्तों के भी दो भेद हैं—1. आनन्तर्य तथा 2. पार्षद। भगवान् के किरीट, कटक, कुण्डल, वंशी आदि आनन्तर्य नित्यमुक्त जीव हैं। विष्वक्सेन, गरुड़ आदि पार्षद नित्यमुक्त जीव हैं।

मुक्त जीवों के भी दो प्रकार हैं। एक वे जिनको निरतिशयानन्द रूप भगवद्भाव की प्राप्ति हो गई है। दूसरे स्वस्वरूपानन्द की प्राप्ति मात्र से ही सन्तुष्ट रहते हैं। इनमें भगवद्भावापन्न जीव भगवदिच्छा के अनुरूप निजेच्छा से भगवदवतार के समान ही अनन्त विग्रहों (शरीर) का परिग्रहण यथासमय कर लेते हैं "स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति" इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण हैं।

जीवों के उल्लिखित मुख्य भेद वेदान्तरत्नमञ्जूषा के आधार पर प्रदर्शित किए हैं। ऐसे ही अन्य भी अनेक भेद होते हैं, जिनका निरूपण अधिक विस्तार के कारण यहाँ नहीं किया जा रहा है।

अचित्पदार्थ

यह[6] चेतन का विजातीय पदार्थ है। इसमें ज्ञातृत्व, कर्तृत्व आदि धर्म नहीं होते, अतः भोक्ता नहीं, अपितु भोग्य है।

इसके[7] तीन भेद निरूपित किये गये हैं—अप्राकृत, अचेतन और कालस्वरूप अचेतन।

प्राकृत अचेतन

मूल में अप्राकृत अचेतन का प्रथम निर्देश होते हुए भी दृष्ट से अदृष्ट की ओर ले जाने वाले मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम दृष्टि अनुभूत प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले प्राकृत अचेतन का स्वरूप निरूपण किया जाता है।

माया[8] प्रधान, तम, अव्यक्त आदि पदों से अभिधेय पदार्थ प्राकृत अचेतन होता है। शुक्ल, लोहित, कृष्ण आदि भेद, जो सत्त्वादि गुणों के कहे गये हैं, इसी प्राकृत अचेतन में रहते हैं।[9] अतः शुक्लादि पदाभिधेय सत्त्वादि गुणत्रय का यह आश्रय है।[10] यह ही गुणत्रयाश्रयीभूत द्रव्य साम्यावस्था की स्थिति में प्रधान आदि शब्दों से कहा जाता है। इसमें अनादि जीवों के अदृष्ट के अनुसार श्रीपुरुषोत्तम की इच्छा से विक्षोभ होकर जब गुणों का वैषम्य होता है,[11] तब अव्यक्त (गुणत्रय की साम्यावस्थावाली) प्रकृति का व्यक्तीभाव हो जाता है। प्रकृति का कारणावस्था (अव्यक्त) से कार्यावस्था (व्यक्त) में आने को ही सृष्टिक्रम कहते हैं। यह अव्यक्त का परिणाम है।[12]

भूमि,[13] जल, अग्नि आदि अष्टधा प्रकृति भगवान् श्रीकृष्ण की ही है, अतः यह ब्रह्मात्मक है। त्रिकाल में वर्तमान होने से यह अजा है। इसके स्वरूप का परिणाम होता है, विनाश नहीं होता, अतः नित्य है।

सृष्टि काल में 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति.' (छा. 6/2/3) इस संकल्पमात्र से प्रकृति में ब्रह्म की शक्ति का विक्षेप होकर सत्त्वादि गुणों का वैषम्य हो जाता है। इसे ही शक्ति विक्षेप लक्षण परिणाम कहते हैं।[14] "जिस प्रकार ऊर्णानाभि (मकड़ी) अपनी शक्ति का तन्तु (जाला) के रूप में विक्षेप करके उसी में वह प्रविष्ट हो जाती है, वैसे ही[15] ब्रह्म भी शक्ति विक्षेप द्वारा विश्व को सृष्टि (परिणति) करते इसी में प्रविष्ट हो जाता है। इसी से इसकी ब्रह्मात्मकता व नित्यता सिद्ध होती है।

'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।' (छा.6/2/1)

यह श्रुति भी सत्कार्यवाद का निरूपण करती है। कारण में कार्य की सत्ता पहले से ही होती है। तभी वह उत्पन्न (प्रकट) होता है।[16] असत् का तो भाव (होना) सम्भव ही नहीं है। गगन कुसुम की कभी उत्पत्ति नहीं होती, अतः सत् ही कार्य उत्पन्न होता है और वह कारणात्मक रहता है, यह सिद्धान्त है। इसी के अनुसार प्रकृति आदि का ब्रह्म से उत्पन्न होना अतएव ब्रह्मात्मक भी होना उचित है।

प्रकृति[12] आदि जीवों के भोग्य, भोगोपकरण और भोग स्थान होते हैं। शब्दादि तथा तद्विशिष्ट द्रव्य, अन्न, पानीय आदि जीवों के भोग्य पदार्थ हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जड़ पदार्थ भोग के उपकरण (साधन) हैं। ब्रह्म के अन्तर्गत चतुर्दश भुवन भोग के स्थान हैं।

काल स्वरूप अचेतन

प्राकृत[13] और अप्राकृत—इन दोनों से भिन्न अचेतन द्रव्य विशेष को काल कहते हैं।[14] सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थ काल के अधीन हैं। काल ब्रह्म के आधीन है।[15] यह अखण्ड होने के कारण स्वरूप से नित्य तथा कला मुहूर्तादि औपाधिक कार्य रूप से अनित्य भी है। सूर्य की परिभ्रमण रूप क्रिया ही काल की उपाधि है,[16] जिससे भूत, वर्तमान, भविष्य आदि का व्यवहार होता है। अतः काल परमाणु आदि से परार्द्धपर्यन्त व्यवहार का असाधारण कारण है।

विभूति योग में 'कालः कलयतामहम्' (गी. 10/30) कह कर क्षण, घन्टा, दिन आदि के रूप में सोपाधिक काल का निर्देश किया है। 'अहमेवाक्षयः कालः' (गी. 10/30) वचन से निरुपाधिक अखण्ड नित्य व व्यापक काल का निरूपण हुआ है। भगवान् स्वयं काल के भी काल हैं। लोकों का नाश करने के लिए काल में अपनी ही शक्ति का विक्षेप करते हैं।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः (गी. 11/32)

यह वचन विराट् रूप दर्शन के समय स्वयं भगवान् ने अर्जुन को कहा है।

काल सबका नियामक होते हुए भी श्रीसर्वेश्वर प्रभु का नियम्य है। 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववेद्यः' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। भगवान् की लीला[17] विभूति में तो काल की परतन्त्रता का अनुकरण (अभिनय) मात्र है, पर नित्य विभूति में तो काल के प्रभाव की कोई शंका भी नहीं होती।

3. अप्राकृत अचेतन

प्राकृत[18] (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) और काल से अत्यन्त भिन्न प्रकृति मण्डल से भिन्न देशवर्ती, नित्यविभूति, विष्णुपद, परम व्योम, परमपद, ब्रह्मलोक आदि पदों से वाच्य, त्रिपादूर्ध्व, भगवद्धाम, गोलोक, अप्राकृत अचेतन है।

यह[19] आदित्यवर्ण अर्थात् अनावरक स्वभाव वाला तथा तम (प्रधानादि परवाच्य प्राकृत व काल) से परे है। भगवदीय अनादि संकल्प से भगवान् और नित्यमुक्तों के भोग्य रूप से अनेक प्रकार का है। इसमें भोग्य भगवद्विग्रह आदि हैं। भूषण, आयुध, पान, आसन, अलंकार, कुसुम, पत्र, फल आदि भोग के उपकरण हैं। गोपुर, चौक, महल, मणिमण्डल, वन, उपवन, सरोवर आदि भोग के स्थान हैं।

नित्यधाम में ईश्वर व नित्यमुक्तों के विग्रह संस्थान भगवदीय आदि अनन्त इच्छाओं से सिद्ध है, अतः स्वाभाविक ही है। इनमें जन्मत्वादि विकार की कोई शंका नहीं, अतः निर्विकार है। जिस प्रकार उत्सव आदि के अवसर पर राजा अपने भृत्यों को पूर्व सिद्ध वस्त्र,

भूषण आदि देते हैं, उसी प्रकार बद्धमुक्तों को भी भगवत्कृपा से प्रकृति-वियोग के समय में पूर्वसिद्ध, नित्य, सर्वविकार शून्य, भगवत्सेवोपकरण रूप विग्रह (शरीर) आदि प्राप्त होते हैं। भगवान् का नित्य मङ्गलविग्रह स्वरूप सदृश अनन्त कल्याण गुणों का आश्रय है। वे गुण निरतिशय सौन्दर्य, मार्दव, लावण्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि अपरिमित हैं। कालातीत होने से यहाँ काल का कोई प्रभाव नहीं होता।

शुद्ध सत्त्वस्वरूप[20] यह अप्राकृत अजड़ (दिव्य) है। प्राकृत और काल-स्वरूप अचेतन जड़ (अदिव्य) है। चेतन (ब्रह्म और जीव) से भी यह भिन्न है और स्वयं ज्योति स्वरूप है।

अजड़ शब्द का प्रयोग दिव्य द्रव्य के लिए किया गया है। इसके पराक् और प्रत्यक् ये दो भेद हैं। इनमें भी पराक् दो प्रकार का है—1. धर्मज्ञान एवं 2. त्रिपादूर्ध्व (शुद्धसत्त्व)। प्रत्यक् के भी दो भेद हैं। 1. पर व 2. अपर। पर प्रत्यक् ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है तथा अपर प्रत्यक् जीव है। इस प्रकार अजड़ (दिव्य) द्रव्यों में त्रिपादूर्ध्व शुद्धसत्त्व ही अप्राकृत अचेतन है।

3. ब्रह्म पदार्थ

'बृंहि बंहि वृद्धौ'। वृद्धि अर्थ वाले 'बृंहि' धातु से बृंहेर्नोऽच्च (उ. 4/146) इस औणादिक सूत्र द्वारा 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'ब्रह्म' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। बृंहयतीति ब्रह्म अर्थात् स्वरूप तथा बृहद् गुणों के योग से जो बृहत्तम वस्तु है, उसे ब्रह्म कहते हैं।

'बृंहति बंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म' यह श्रुति तथा—

एष प्रकृतिरव्यक्तः कर्त्ता चैव सनातनः।
परं च सर्वभूतेभ्यस्तस्माद् बृद्धतमोऽच्युतः।।

"बृद्धत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म..." इत्यादि स्मृति इसमें प्रमाण हैं।

उक्त योगवृत्ति से ब्रह्म का निरतिशयबृंहत्व और परत्व सिद्ध होता है। इसका संकोच न होने से यह देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से शून्य अर्थात् अपरिच्छिन्न है। इस प्रकार ब्रह्म भगवत् शब्द का वाच्य पुरुषोत्तम, राधाकान्त, श्रीकृष्ण ही है। परत्व होने से ही श्रीकृष्ण की व्यूहाश्रिता है, यहाँ 'व्यूह' शब्द अन्य अवतारों व मूर्तियों का उपलक्षक है। समस्त अवतारों के आप अवतारी हैं। विश्व में अनन्त देवी-देवताओं की मूर्तियाँ श्रीकृष्ण की ही मूर्तियाँ हैं, क्योंकि सब नाम, कर्म, लिङ्ग, गुण, काम, धर्म और रूप परब्रह्म श्रीकृष्ण के ही हैं। "सर्वनामा, सर्वकर्मा, सर्वलिङ्गः, सर्वगुणः, सर्वकामः, सर्वधर्मः" यह श्रुति (वेदान्तरत्न-मञ्जूषा) उक्त अर्थ का प्रतिपादन करती है। नित्य विभूति और अवतार विभूति इन दोनों के अधिपति श्रीकृष्ण ही हैं। अतएव 'सर्वदेव-नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' यह शास्त्र किसी भी देवी-देवता के लिए किए गए नमस्कार को परम्परा से श्रीकृष्ण के पास पहुँचने का निर्देश करता है।

परब्रह्म श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वर व सर्वज्ञ हैं। आप स्वाभाविक अचिन्त्य, अनन्त कल्याण गुणों के आश्रय हैं। सभी आत्माओं में वर्तमान गुण व शक्तियों के भी आप ही आधार हैं।

स्वरूप व स्वरूपगतगुणों से दिव्य मङ्गल विग्रह तथा विग्रहगत सौन्दर्य, सौकुमार्य, माधुर्य, लावण्य आदि गुणों से साधारण्य होने के कारण ब्रह्मादि से चाण्डाल पर्यन्त सभी के द्वारा वरणीय हैं। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण सभी प्राणियों के उपास्य हैं।

उपासनीयं नितरां जनैः सदा । (वेदान्तकामधेनु)

सभी जन[16] भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना के अधिकारी हैं, क्योंकि भगवान् सभी प्रकार के अधिकारियों के अनुरूप उपासना के विषय हैं, अतएव यहाँ सामान्य 'जन' शब्द का प्रयोग किया गया है। यदि कोई वैदिक विधि से उपासना करना चाहे तो उसमें केवल त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का ही अधिकार होगा। पौराणिक उपासना में तो चतुर्थ वर्ग (शूद्र) भी अधिकारी होता है।

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (गीता 18/61)

इत्यादि शास्त्र-वचनों से चराचर विश्व के नियन्ता श्रीकृष्ण ही है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि समस्त दोषों से स्वभावतः शून्य हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति द्वारा निर्दिष्ट सत्यत्वादिमान् है। जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं, ब्रह्म अथवा नियन्ता एक ही तत्त्व है।[17] वेदमाता गायत्री से प्रतिपाद्य ब्रह्म भी रमाकान्त श्रीकृष्ण ही हैं।

श्रीनिम्बार्काभिमत ब्रह्म

ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए श्री निम्बार्क भगवान् ने 'वेदान्तकामधेनु' में लिखा है—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।।
अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।

परब्रह्म श्रीकृष्ण स्वभाव से ही पञ्चक्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) षड्विकार (जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, मरण) प्राकृत, सत्त्व, रज और तमोगुण तथा इन गुणों से होने वाले समस्त दोषों से रहित हैं। ज्ञान (सर्वदेश, सर्वकाल, सर्ववस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव), शक्ति (असम्भव को भी सम्भव करने का सामर्थ्य), बल (विश्व के धारण, पोषण आदि की शक्ति), ऐश्वर्य (समस्त ब्रह्माण्डों के शासन की शक्ति), तेज (अपरिमित परिश्रम का हेतु होते हुए भी परिश्रम का अभाव), वीर्य अर्थात् स्वयम् अभिभूत न होते हुए दूसरों को पराभूत करने (दबाने) वाली शक्ति तथा सौशील्य, वात्सल्य, आर्जव, सौहार्द्र, सर्वशरण्य, कारुण्य, स्थैर्य्य, माधुर्य्य, मार्दव आदि सम्पूर्ण कल्याण गुणों की एक राशि (पुञ्जस्वरूप) हैं।

व्यूह (चतुर्व्यूह-वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और द्वादश व्यूह—ऊर्ध्वपुण्ड्र विधायक, 'केशवाय नमः, नारायणाय नमः, माधवाय नमः' आदि द्वादश मंत्रों के केशव, नारायण, माधव आदि द्वादश देवता) के अङ्गी है।

मुमुक्षु जनों द्वारा अनन्य भाव से उपास्यरूपेण वरण करने योग्य ये ही हैं। ध्यान करने वाले भक्तों के पाप, पुण्य को आकर्षित (दूर) करने के कारण ये 'कृष्ण' पद के अभिधेय हैं। कमलनयन व कमला के द्वारा पूज्य दृष्टि से अवलोकित, सर्वत्र सुन्दर, मनोहर, ध्याताओं के पाप-पुण्यों का हरण करने वाले श्रीहरि भगवान् श्रीकृष्ण का हमें ध्यान करना चाहिए।।1।।

अनन्त अचिन्त्य शक्तिमान् परब्रह्म श्रीकृष्ण के वाम भाग में आनन्द से विराजमान, अनुरूप (समानरूप) होने से परम सुन्दर, सहस्रों सहचरियों से सदा परिसेवित, भक्तों के सकल मनोरथ पूर्ण करने वाली, प्रेमाह्लाद शक्ति की अधिष्ठात्री देवी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजी का हमें स्मरण करना चाहिये।।2।।

यहाँ 'सखी सहस्रैः परिसेविताँ' में 'सहस्र' पद और इसके भी बहुवचन के प्रयोग से पूज्यपाद श्रीनिम्बार्क भगवान् ने परब्रह्म श्रीकृष्ण की[18] अनन्त कोटि शक्तियों की ओर संकेत किया है। इन सब की अधिष्ठात्री[19] दुर्गा श्रीराधिकाजी ही हैं।

आह्लाद, ऐश्वर्य और आधार की अधिष्ठात्री प्रमुख तीन शक्तियाँ हैं। इनमें आह्लाद की अधिष्ठात्री श्रीप्रियाजी हैं। ऐश्वर्याधिष्ठात्री के रूप में श्रीरमा (श्रीरुक्मिणीजी) तथा आधार शक्ति के रूप में श्रीसत्यभामाजी का भी[20] 'तु' शब्द से संग्रह किया है। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद होने से ये सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं।

ब्रह्म की व्यूहाङ्गिता

'व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यम्' में व्यूह शब्द चतुर्व्यूह, द्वादशव्यूह और अवतारों का भी उपलक्षक है।

चतुर्व्यूह

अन्तःकरण के 4 भेद हैं—(1) अहंकार, (2) चित्त, (3) मन और (4) बुद्धि, क्रमशः शंकर, अच्युत, चन्द्र च चतुर्मुख—इनके देवता है। अहंकार से गर्व होता है। चित्त में चिन्तन करने से प्रकाश होता है। मन संशय-प्रधान होता है, तो बुद्धि में निश्चय की प्रधानता होती है। चतुर्भुज भगवान् चार कर-कमलों में चार ही आयुध हैं। इनमें गदा गर्व का प्रहार करने वाली है। शङ्ख चित्त में प्रकाश करने वाला है। श्रीसुदर्शन मन के संशय को दूर करता है, तो पद्म बुद्धि द्वारा निश्चय कराता है। इन चारों आयुधों के प्रधान चार देवता है—सङ्कर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न। श्रीनारद-पञ्चरात्र में लिखा है—

शङ्खः साक्षाद् वासुदेवो गदा सङ्कर्षणः स्वयम्।
बभूव पद्मं प्रद्युम्नोऽनिरुद्धस्तु सुदर्शनः।।

ये ही चार व्यूह भगवान् के अङ्ग हैं। इनमें मनोनेता सुदर्शनस्वरूप अनिरुद्ध नामक व्यूह ने ही श्रीनिम्बार्काचार्य के रूप में अवतार लिया है। इन सभी व्यूहों के अङ्गी स्वयं भगवान् हैं।

द्वादश व्यूह

'देवो भूत्वा देवं यजेत' इस विधि के अनुसार अपने शरीर के द्वादश स्थानों में तिलक स्वरूप बताते हुए—केशवाय नमः, नारायणाय नमः आदि मन्त्रों द्वारा केशव, नारायण आदि देवताओं का अर्चन सम्पन्न किया जाता है। ये भी द्वादश व्यूह नाम से प्रसिद्ध हैं। इन केशवादि सभी व्यूहों के अङ्गी परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

अवतार

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।[31]

इन वचनों के अनुसार धर्म ग्लानि व अधर्म का अभ्युत्थान होने पर साधु-परित्राण, दुष्ट-विनाश एवं धर्म-संस्थापन के लिए भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। अवतार का अर्थ है—नित्य धाम से उतर कर इस भू-मण्डल में पधारना। श्रीनिम्बार्क भगवान् ने तो अवतार का एकमात्र हेतु भक्तजनों को आनन्दित करना कहा है—'भक्तेच्छयोपात्त-सुचिन्त्यविग्रहात्.'।

शास्त्रों ने अवतारों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—1. गुणावतार, 2. पुरुषावतार और 3. लीलावतार। इन अवतारों का भी ग्रहण 'व्यूह' शब्द से ही किया जाता है।

गुणावतार

सत्व, रज, तम, गुणों के अभिमानी देवता, काल के द्वारा सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश गुणावतार हैं।

पुरुषावतार

यह तीन प्रकार का होता है—1. कारणार्णवशायी 2. गर्भोदशायी 3. क्षीरोदशायी।

1. महत्तत्त्व की सृष्टि करने वाले प्रकृति के नियामक कारणार्णवशायी पुरुषावतार हैं।
2. समस्त विश्व के अन्तर्यामी गर्भोदशायी पुरुषावतार हैं।
3. प्रत्येक के अन्तर्यामी क्षीरोदशायी पुरुषावतार हैं।

लीलावतार

यह भी तीन प्रकार का होता है—1. स्वांशावेशावतार 2. शक्त्यंशावेशावतार 3. स्वरूपावतार।

1. नर-नारायण आदि स्वांशावेशावतार रूप लीलावतार है।
2. शक्त्यंशावेशावतार भी प्रभव व विभव सांक शक्तियों के कारण दो प्रकार का स्वीकृत किया गया है—

(क) धन्वन्तरि, परशुराम आदि प्रभव संज्ञक शक्त्यंशावेशावतार रूप लीलावतार हैं।

(ख) श्रीसनकादि, श्रीनारद, श्रीव्यास, श्रीकपिलदेव, श्रीऋषभदेव आदि विभव संज्ञक शक्त्यंशावतार रूप लीलावतार हैं।

3. स्वरूपावतार भी दो प्रकार के होते हैं—(1) अंशावतार व (2) पूर्णावतार।

(क) श्रीहंस, मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, हयग्रीव आदि अंशावतार भूत स्वरूपावतार रूप लीलावतार हैं।

(ख) श्रीनृसिंह, दाशरथी राम, श्रीकृष्ण पूर्णावतार भूत स्वरूपावतार रूप लीलावतार हैं। ये सभी व्यूह एवं अवतार अङ्ग हैं और इन सबके अङ्गी (प्रधान) पर ब्रह्म स्वयं भगवान् हैं, अतः इन अङ्गों के अन्तर्गत देवताओं तथा सृष्टि, स्थिति, संहार कर्त्ता ब्रह्मादि देवों के भी कारण रूप, बृहत्तम, परम उत्कृष्ट, ब्रह्म श्रीकृष्ण को ही व्यूहाङ्गी कहा है।

श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं

"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" 1/1/1 इस सूत्र का वाक्यार्थ करते हुए श्रीनिम्बार्क भगवान् ने **'वेदान्त पारिजात सौरभ'** में लिखा है—

अनन्ताऽचिन्त्य-स्वाभाविक-स्वरूप-गुण-शक्त्यादिभिर्बृहत्तमो यो रमाकान्तः पुरुषोत्तमो ब्रह्मशब्दाभिध्यस्तद्विषयिका जिज्ञासा सततं सम्पादनीया।

यहाँ 'रमाकान्तः' का अर्थ 'राधाकान्तः' समझना चाहिए। 'रमणाद् रमा' इस योगवृत्ति से रमा का अर्थ राधा ही है। 'वेदान्त कौस्तुभ' में 'श्रीकृष्णः' 'श्रीवासुदेवः' आदि प्रयोगों से उक्त अर्थ की पुष्टि हो जाती है।

अचिन्त्य,[32] अनन्त, निरतिशय, स्वाभाविक बृहत्तम स्वरूप गुण आदि का आश्रयभूत सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर सर्वकारणरूप समानातिशय से शून्य, सर्वव्यापक, सर्ववेदैकवेद्य श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं।

इसकी[33] उपासना के लिए मुमुक्षु जीव अधिकारी हैं। ब्रह्म आदि शब्दों के वाच्य, सर्वज्ञ, स्वाभाविक, अचिन्त्य, अनन्त तथा यावदात्मवृत्ति गुण शक्ति आदि का आश्रय, ब्रह्म, रुद्र, इन्द्र, प्रकृति, परमाणु, काल, कर्म, स्वभाव आदि के नियन्ता, दोषों से अस्पृष्ट, चित् व अचित् के साथ स्वाभाविक भेदाभेद के आश्रय,[34] जगत् के अभिन्न, निमित्त, उपादान कारण, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति द्वारा निर्दिष्ट सत्यत्वादिमान्, भगवान् वासुदेव श्री पुरुषोत्तम ही उपासना का विषय है। विषय-विषयिभाव लक्षण सम्बन्ध और भगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष-प्रयोजन है।

ब्रह्म जड़ नहीं है। यह तो सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। यदि ब्रह्म जड़ होता तो 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छा. 6/2/3) आदि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित एक से अनेक रूप में होने की इच्छा उसमें कैसे होती? "प्रकृति के योग से ही ब्रह्म में सक्रियता का आभास होता है।"

ऐसा विचार भी शास्त्र व युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सत्त्वादिगुणाश्रय प्रकृति तो स्वयं जड़ है। इसमें ब्रह्म का ही शक्ति विक्षेप लक्षण परिणाम होता है। श्रीराधा प्रकृति है और श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं—यह समझ भी उचित नहीं है। यहाँ तो राधाकृष्ण दोनों ही ब्रह्म हैं। एक ही ब्रह्म ज्योति के ये दो रूप हैं। श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। कहने का अभिप्राय है—श्री(राधा) से युक्त कृष्ण।

एक ही ब्रह्म की युगल-रूपता

ब्रह्म एक ही है।[32] वह रसस्वरूप है। उसे प्राप्त करके ही जीव आनन्दी (मुक्त) होता है। रसोपासना वैदिक है। इसे वेद से परे की कहना उचित नहीं।

एक ही[33] अनादि पुरुष ब्रह्म में समस्त रसों का समाहार होता है। वह स्वयं नायिका रूप धारण करके रसोपासना में तत्पर हो जाता है। ब्रह्म के इस नायिका रूप को ही वेदविद् विद्वान् 'रसिकों के लिए आनन्दस्वरूपिणी श्रीराधा' कहते हैं। इसी हेतु यह लोक आनन्दमय है।

श्रीराधाकृष्ण[34] रस के सागर हैं। इनका देह एक ही है। लीलाविस्तार के लिए युगल रूप धारण किया है। दोनों[35] की परस्पर एक-दूसरे से अधिक शोभा है। आह्लाद के साथ ऐश्वर्य भी आवश्यक है। आह्लाद की अधिष्ठात्री श्रीराधिका को वेद में 'श्री' शब्द से कहा है। ऐश्वर्य की स्वामिनी का प्रयोग 'लक्ष्मी' शब्द से किया है। इनका[36] परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ नित्य (अनादि सिद्ध) दाम्पत्य सम्बन्ध है।

लीला विभूति (अवतार काल) में तो इनके विवाह की लीला मात्र की गई। श्रीकृष्ण ने[40] अपने ही स्वरूपान्तर श्रीराधा को आज्ञा दी है, "आप वृषभानु के यहाँ कीर्तिदा में प्रकट होवें।" श्रीवसुदेव के[41] घर में स्वयं ने प्राकट्य लीला की।

तदनन्तर आप नन्द पत्नी यशोदा में अवतीर्ण अपनी योगमाया के पास जा पहुँचे। नन्दपत्नी को निद्रा के वशीभूत करके पुत्र अथवा पुत्री उत्पन्न होने का कुछ पता नहीं लगने दिया। वह तो यह समझी कि इस बाल ने ही मेरे यहां जन्म लिया है।[42]

इस अवतार काल में सम्पन्न हुई विवाह आदि लीलाओं में साधारण मानव की बुद्धि करके राधाकृष्ण को केवल ऐतिहासिक पुरुष मानना तथा श्रीराधा में परकीया नायिका की कल्पना करना एकमात्र अविवेक व भ्रम है। वास्तव में यह नित्य द्रव्य दम्पती ही परब्रह्म है। ये किसी के पुत्र अथवा पुत्री नहीं हैं। सम्पूर्ण विश्व के अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से ये ही जगत् के माता-पिता है।[43] मूल प्रकृति श्री सर्वेश्वरी श्रीराधिका ही सृष्टिकाल में महाविष्णु की माता होती है तथा श्रीकृष्ण ही जगत् के पिता है।

लक्ष्मी,[44] त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि शक्तियाँ श्रीराधिकाजी के ही अंश हैं। इस दिव्य युगल में कोई अन्तर नहीं।[45] श्रीराधाकृष्णात्मिका है, तो श्रीकृष्ण राधात्मक है।[46] गौर तेज के बिना केवल श्याम तेज का जप व ध्यान आदि करने वाला जीव पातकी होता है।

युगल उपासना[47] करने वाले भक्त के हाथ में मुक्ति स्थित है। जो कृष्ण है, वह ही राधा है, जो राधा है, वह ही कृष्ण है। इन दोनों में अन्तर (भेद) मानने वाले की संसार से मुक्ति नहीं होती, अतः एक ही ब्रह्म की युगलरूपता उपासना का विषय है।

वेदादि शास्त्र-मूलकता

"मैं मंदिर में जाता हूँ, कथा श्रवण करता हूँ, प्रसाद पाने में आनन्द आता है। गिर गया। चोट आ गई। पीड़ा हो रही है। इत्यादि सक्रियता में सुख व दुःख का अनुभव प्रत्यक्ष होता है। शव शरीर निष्क्रिय है। माल्यार्पण से इसे सुखानुभूति नहीं होती। चिता में रखकर अग्निदाह कर देने से कोई दुःखानुभूति नहीं होती" आदि लोक व्यवहार व प्रत्यक्ष अनुभव से स्वतः यह ज्ञात हो जाता है कि शरीर जड़ है तथा इसमें रहने वाला चेतन (अहमर्थ) जीव है, किन्तु ब्रह्म को जानने के लिए कोई ऐसा लोक व्यवहार या अनुभव नहीं होता, जिससे हम प्रत्यक्ष अनुभव कर सकें।

मैं आँख से सब कुछ देख लेता हूँ, पर आँख को नहीं देखता। दर्पण में जिस आँख को देखता हूँ, वह तो आँख का स्थान मात्र है। जैसा मेरे है, वैसा ही आकार-प्रकार अंधे के भी है, पर मैं देखता हूँ वह नहीं देखता। अतः यह मानना होगा कि देखने की कोई न कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जो दर्शन का साधन है, किन्तु वह स्वयं नहीं दीखती। इससे उसकी सत्ता का निषेध तो नहीं कर सकते। यह ही कहा जा सकता है कि वह जो भी कुछ है—अमूर्त है। उसी का नाम चक्षुरिन्द्रिय है।

काला, पीला, हरा, लाल आदि रूप का ज्ञान इसी चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से होता है, अतः इसकी गणना ज्ञानेन्द्रियों में की गई है। इसी प्रकार रस, गंध, स्पर्श व शब्द का ज्ञान कराने वाली जिह्वा, घ्राण, त्वक् व श्रोत्र इन्द्रियाँ हैं। ये सभी अमूर्त हैं। अमूर्त का भी आश्रय मूर्त ही है, अतः इनके स्थानों में आँख, कान, नाक आदि व्यवहार किया जाता है।

ये इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन मात्र हैं। ज्ञानाश्रय व ज्ञानस्वरूप न होने से ये सब जड़ (अचेतन) हैं। जड़ साधनों से जड़ का ज्ञान हो जाना स्वाभाविक है पर जो अजड़ (दिव्य) है, उसका प्रत्यक्ष जड़ से होना सम्भव नहीं है। इसी तथ्य को विराट् दर्शन कराते समय भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया था। अपने दिव्य रूप का दर्शन कराने के लिए ही उसे दिव्य चक्षु का प्रदान किया था।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।[48]

अतएव सिद्धान्त मन्दाकिनीकार ने द्रव्य के दो भेद किए हैं—जड़ और अजड़।

तच्च द्विधा भवेन्नूनं जड़ाजड़-विभागशः।[49]

इसी प्रकार इन्द्रियों के भी दो भेद किए हैं—दिव्य व अदिव्य। श्रीसर्वेश्वर प्रभु (ब्रह्म) एवं मुक्त जीवों की इन्द्रियाँ दिव्य होती हैं और बद्ध जीवों की अदिव्य होती हैं।

तानि तु द्विविधान्येव दिव्यादिव्यप्रभेदतः।
सर्वेश्वरस्य मुक्तानां दिव्यानि प्रभवन्ति च।
बद्धानामितराण्येव स्थूलसूक्ष्मोभयानि च।।[30]

अदिव्य इन्द्रियों से ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव नहीं, पर ज्ञान अवश्य किया जा सकता है। इसमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान से ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि साधारण अदिव्य इन्द्रियों में दिव्य ब्रह्म अर्थ के सन्निकर्ष का सामर्थ्य नहीं। अनुमिति करण रूप अनुमान प्रमाण भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं करा सकता, क्योंकि अनुमिति परामर्शजन्य होती है। व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञान को परामर्श कहते हैं। व्याप्ति का अर्थ है—साहचर्य नियम।

'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' यह व्याप्ति बिना प्रत्यक्ष के नहीं बन सकती। इस प्रकार अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष मूलक होने से ब्रह्म का ज्ञान कराने में सशक्त नहीं होता।

कुछ लोग प्रायः कह दिया करते हैं, जिसका कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके ज्ञान से भी क्या प्रयोजन? 'ब्रह्म अथवा ईश्वर' तो निठल्लों की कल्पना मात्र है। 'मूर्त्ति' उनका एक खिलौना है। सेवा पूजा के बहाने वे इससे खेलते रहते हैं। यह सब निकम्मों के कालयापन का एक प्रकार है। जो मूर्त्ति अथवा मूर्त्ति में कल्पित भगवान् अपनी धूल नहीं झाड़ सकते, अपने ऊपर चढ़ी चुहिया को नहीं हटा सकते, एक चिड़िया भी नहीं उड़ा सकते वे दूसरों का क्या हित कर सकेंगे?... आदि आदि।

वे नहीं सोचते कि "विश्व के समस्त पदार्थों का ज्ञान एकमात्र प्रत्यक्ष से नहीं होता। कुछ ऐसे भी प्रमेय हैं, जहाँ प्रत्यक्ष व अनुमान की दाल नहीं गलती।"

घर में ही देख लीजिए। परिवार के किसी एक व्यक्ति को आप पिताजी कहते हैं? क्या प्रमाण है? ये आपको उत्पन्न कर रहे हैं। इसका आपने कभी प्रत्यक्ष किया? यदि नहीं तो उसे पिता मानना भी क्या एक कल्पना ही है? इन प्रश्नों का समाधान आपकी माताजी ही कर सकती हैं।

माताजी का प्रत्यक्ष आपका प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस ज्ञान में आपका इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष नहीं हुआ है। माताजी कहती हैं, "बेटा! ये तेरे पिता है। इन्हें पिताजी कहा करो।" इन शब्दों पर विश्वास करके ही आप उन्हें पिताजी समझने लगे हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'शब्द' भी एक ऐसा प्रमाण है, जिससे प्रमेय का ज्ञान किया जा सकता है। वह शब्द आप्त व्यक्ति का होना चाहिए। तभी यथार्थ ज्ञान होगा। पिता का परिचय कराने वाली माता आप्त अर्थात् यथार्थवादिनी है, अतः माता का शब्द (प्रमाण) पिता (प्रमेय) के ज्ञान का हेतु बन गया। इसी प्रकार अपने पूर्वजों, राजा महाराजाओं, देशसेवकों तथा राम-कृष्ण आदि को भी इतिहासगत शब्द प्रमाण से ही हम जान सकते हैं अन्यथा नहीं। महर्षि वाल्मीकि व व्यास के लिखे रामायण एवं महाभारत इतिहास कोटि में आते हैं। इन्हीं में लिखे शब्द प्रमाण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सम्बद्ध सभी प्रमेय अदिव्य हैं तथा प्रकृति व काल से भिन्न दिव्य हैं। उक्त इतिहास ग्रन्थों से ही यह पता चलता है कि जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण श्रीसर्वेश्वर ब्रह्म है।

यह साधारण पुरुष नहीं है। सम्पूर्ण वेद इसी के निःश्वसित रूप हैं। इसी हेतु वेदों को अपौरुषेय माना है। ये ईश्वर की वाणी है, अतः सर्वोपरि शब्द प्रमाण है। ईश्वर जगत् का नियन्ता है। यह दिव्य है। इसका ज्ञान वेद की दिव्य वाणी से ही हो सकता है। मनुजी ने वेद को ही समस्त धर्मों का मूल कहा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।[31]

वेद के विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करने वाली स्मृति आदि की भी आपने निन्दा की है—

या वेद बाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।।[32]

अतः ब्रह्म अथवा नियन्तृ तत्त्व का ज्ञान एकमात्र वेदादिशास्त्र-मूलक ही है।

वेदादि शास्त्र और निम्बार्क सम्प्रदाय

वेदान्त पारिजात सौरभ, वेदान्त कौस्तुभ, वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, दशश्लोकी, श्रीनारद नियमानन्द गोष्ठी रहस्य, वेदान्त रत्नमञ्ज(116)षा, सिद्धान्तरत्नाञ्जलि आदि-आदि निम्बार्क सम्प्रदाय के प्राण हैं, अतएव यह अपने को 'अनादि-वैदिक सम्प्रदाय' कह कर गौरव का अनुभव करती है।

पूज्यपाद आद्याचार्य एवं अन्य पूर्वाचार्य चरणों ने जिस स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसे श्रुति व स्मृति के वचनों से ही प्रमाणित किया है।

यदि[33] कोई कहे, "मुमुक्षु के लिए वैदिक वर्णाश्रम धर्म अनावश्यक है" तो यह ठीक नहीं। ऐसा करने पर सर्वशास्त्रों से विरोध होता है।[34] निम्बार्क सम्प्रदाय अपने-अपने वर्ण व आश्रम के अधिकारानुसार नित्य व नैमित्तिक कर्मों को भी भगवदाज्ञापालनात्मक भजन के रूप में करते रहने का आदेश देती है। जो महात्मा वैदिक मर्यादा को छोड़कर मनमानी अपनी रहनी सहनी बना लेते हैं, उनको निम्बार्क सम्प्रदाय[35] नग्न कहती है।

वेदान्त दशश्लोकी के ब्रह्मनिरूपणात्मक 'स्वभावतोऽपास्त समस्तदोषम्', इत्यादि श्लोक को श्री पुरुषोत्तमाचार्यचरण तो[36] वेदमाता गायत्री की व्याख्या रूप मानते हैं। इनके ध्येय गायत्री के विषय-भूत हैं।[37]

इस प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय में जो भी कुछ तत्त्व हैं, उसका मूल वेदादि शास्त्र ही है। सरलता की दृष्टि से संस्कृत के अनभिज्ञजनों का हित सम्पादन हेतु पूज्य आचार्य चरणों ने वाणी-ग्रन्थों के रूप में जो कृपा-प्रसाद दिया है, उसका वेद व शास्त्र की मर्यादा का अतिक्रमण करते हुए ही अर्थ करना चाहिए। इससे विपरीत अर्थ को निम्बार्क सम्प्रदाय अपने में स्थान नहीं दे सकती।

पूर्वाचार्य चरणों ने वेद व शास्त्र को जो महत्त्व दिया है, उसके कतिपय उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र.सू. 1/1/3) का वाक्यार्थ करते हुए श्री निम्बार्क भगवान् ने ब्रह्म ज्ञान का कारण शास्त्र को ही माना है।[1]

श्री श्रीनिवासाचार्यजी ने शास्त्र का वेद अर्थ किया है और सिद्धान्त पक्ष में वेद को ही ब्रह्म ज्ञान के लिए प्रमाण कहा है। अनुमानादि अन्य प्रमाणों से उसकी असम्भवता प्रतिपादित की है।[2]

वेदादि शास्त्र[3] श्री सर्वेश्वर प्रभु के नि:श्वसित हैं, अत: ये अन्तरङ्ग हैं। अन्य कल्पित अनुमानादि बहिरङ्ग हैं।

ब्रह्म[4] अन्तरंग वेदादि शास्त्रों से ही जाना जा सकता है बहिर्भूत अनुमानादि से नहीं, यह कह कर श्रीनिवासाचार्यजी महाराज ने ब्रह्म ज्ञान के लिए वेदादि शास्त्रों को ही अन्तरङ्ग प्रमाण स्वीकृत किया है।

समस्त वेदों का साक्षात् अथवा परम्परा से परब्रह्म वासुदेव श्रीकृष्ण में ही समन्वय होता है, अत: ये ही जिज्ञासा के विषय हैं।[5]

इस प्रकार वेदादि शास्त्रों को ही सर्वस्व व सर्वोपरि प्रमाण मान कर चलने व उपदेश करने वाले पूर्वाचार्य चरणों के लिए जो कोई कहे, "पूर्वाचार्य चरणों को शास्त्रों की अपेक्षा नहीं" तथा जो कोई वेद विहित विधि निषेध को जञ्जाल समझ कर तिलाञ्जलि देने के लिए तत्पर हो एवं शास्त्रीय विधि-विज्ञान-परक उपासना को पूर्व पक्षीय उपासना मान कर वेद की निन्दा करे तो उसे उन्मत्त ही समझना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को शास्त्रकारों ने नास्तिक संज्ञा दी है। 'नास्तिको वेदनिन्दक:' यह वचन प्रसिद्ध है।

वस्तुत: आस्तिक दर्शनों में अन्यतम निम्बार्क दर्शन द्वारा प्रतिपादित श्रीराधाकृष्णात्मक युगल रूप ब्रह्म के ज्ञान का मूल एकमात्र वेदादि शास्त्र ही है।

अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता

मृत्तिका से घट का निर्माण होता है। घटाकार में भी वह उसके साथ रहती है। इन दोनों का समवाय सम्बन्ध है। इसे ही तादात्म्य भी कहते हैं। जो कार्य जिस कारण में समवाय सम्बन्ध से रहता है, वह उसका समवायि-कारण होता है। घट (कार्य) मृत्तिका (कारण) में समवाय (तादात्म्य) सम्बन्ध से रहता है, अत: मृत्तिका घट (कार्य) की समवायिकारण है। इस समवायी कारण को ही उपादान कारण कहते हैं। यह कार्य से अभिन्न होता है।

घट-निर्माण के सहकारी दण्ड, चक्र, चीवर आदि साधन घट (कार्य) के निमित्त कारण होते हैं। ये अपने कार्य (घट) से भिन्न होते हैं, अभिन्न नहीं।

— "यह विश्व पृथिव्यादि महाभूतों की समष्टि है। पृथिव्यादि भूत सावयव व कार्य रूप हैं। जो जो कार्य होता है, वह सकर्तृक होता है। वह कर्त्ता ही उस कार्य का कारण हो जाता है, अत: जिस प्रकार घट (कार्य) बिना कुम्भकार के नहीं बनता। वह घट का कर्त्ता होने से उसका कारण है, उसी प्रकार पृथिव्यादि सावयव भूत भी कार्य रूप होने से सकर्तृक ही हैं। इनका जो भी कोई कर्त्ता है, वह ही कारण ब्रह्म है।" इस अनुमान पद्धति से ब्रह्म को जगत्

का कारण सिद्ध करने लगें तो वह सही नहीं होगा, क्योंकि उक्त अनुमान में पृथिव्यादि की कार्य रूपता मानी है और कार्य रूपता होने से ही उसमें सकर्तृकता तथा कर्त्ता के रूप में ब्रह्म की कारणता सिद्ध की गई है। इसमें पृथिव्यादि को हेतु बनाया है। वह सभी सिद्ध न होने से असिद्ध हेत्वाभास है। पृथिव्यादि स्थूल भूत को प्रत्यक्ष से जान लिया है, किन्तु आकाशादि नित्य व विभु पदार्थ भी एक महाभूत है, कि उत्पत्ति का ज्ञान जिस वेद के बिना नहीं होता और इसके ज्ञान के बिना इसमें कार्यत्व भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। अत: शब्द में गुणत्व सिद्ध करने के लिए चाक्षुषत्व हेतु के समान उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध होने से यह अनुमान हेत्वाभास ग्रस्त हो गया है।

यदि कहें, "आकाशादि महाभूतों की उत्पत्ति का ज्ञान वेद से कर लिया जायेगा, ज्ञात होने पर इनकी कार्यता सिद्ध हो जायेगी। इससे ब्रह्म के अनुमान में स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास दोष नहीं रहेगा।" तो वह प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार महाभूतों की उत्पत्ति का ज्ञान वेद से करेंगे, उसी प्रकार ब्रह्म का भी ज्ञान वेदों द्वारा स्वत: हो जायेगा, फिर अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। शब्द प्रमाण से ही सब कुछ सिद्ध हो जायेगा, जो दार्शनिकों का परम उपादेय प्रमाण है।

यदि कहें, "पृथिवी अंकुर आदि प्रसिद्ध कार्यों का तो कार्यत्व हेतु से तत्कारणत्वेन ब्रह्म का अनुमान किया ही जा सकता है, तो वह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि अंकुर आदि कार्यों की भूमि, बीज, जल, जीव आदि दृष्ट पदार्थों में कारणता सम्भव है। फिर एतदर्थ अदृष्ट ब्रह्म की कारणता कल्पित करना सर्वथा असंगत है।"

वास्तव में जहाँ-जहाँ कार्यत्व दृष्टि है, वहाँ-वहाँ उस-उस कार्य के अनुरूप क्षेत्रज्ञ कर्त्ता भी अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु सम्पूर्ण विश्व का कार्यत्व वेद के बिना अप्रसिद्ध होने से ज्ञात नहीं होता, अत: जगत्कर्त्ता ब्रह्म भी वेद के बिना हजारों अनुमान करने पर भी जाना नहीं जा सकता।

प्रत्यक्ष प्रमाण से भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म का प्रत्यक्ष करने में इन्द्रियों का कोई सामर्थ्य नहीं है। यह चर्चा पीछे की जा चुकी है।

ऐसी स्थिति में बहिर्भूत अन्य कल्पित अनुमानादि प्रमाणों से ब्रह्म की कारणता का ज्ञान सम्भव नहीं है। सर्वज्ञ ब्रह्म के नि:श्वसित होने से अन्तरङ्ग वैदिक शब्द प्रमाण से ही ब्रह्म की जगत्कारणता ज्ञात हो सकती है।

वेदों में ब्रह्म को जगत्कारण कहा है। सृष्टि, स्थिति आदि जिससे होती है, वह ही ब्रह्म है। तैत्तिरीय उपनिषद् के भृगुवल्ली नामक तृतीय अध्याय के प्रथम अनुवाक में गुरुवरुण संवाद रूप आख्यायिका के प्रसङ्ग में निम्नलिखित मंत्र है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तज् ब्रह्मेति।[6]

"जिस पुरुषोत्तम से महदादि तृण पर्यन्त भूतों की उत्पत्ति होती है" इस मंत्र भाग से 'सृष्टि' कही गई है। "उत्पन्न हुए प्राणी जिसके द्वारा जीवित रहते हैं", यह 'स्थिति' का बोधक है, "जिसमें पुनः लीन हो जाते हैं" इससे 'प्रलय' का संकेत किया है। "समस्त कर्मों का ध्वंस होने के पश्चात् जिसको प्राप्त होते हैं" यह 'मोक्ष' का ज्ञापक है। यहाँ अनादि निधन चेतन के देहादि से संयोग के हेतु रूप विचित्र विज्ञान के विकास को जन्म कहा है और उस के संकोचपूर्वक कारण में प्रवेश का नाम प्रलय है।"[4]

इस शब्द प्रमाण से यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ब्रह्म ही जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय व मोक्ष का कारण है।

ब्रह्म का कोई पति, ईशिता व लिङ्ग (ज्ञापक हेतु) नहीं है। वह ही सबका कारण, जनिता व स्वामी है।"[5]

ब्रह्म का कोई कार्यरूप (प्राकृत शरीर) तथा कारण (ज्ञान व कर्म की साधन भूत इन्द्रियाँ) नहीं है। इसकी परा (स्वरूप से विलक्षण) स्वाभाविकी (स्वस्वरूप वे समान नित्य) विविध (अघट घटना पटीयसी अचिन्त्य अनन्त प्रकार की) शक्ति सुनी जाती हैं। इसमें अनिर्वचनीयत्व, मिथ्यात्व, औपाधिकत्व आदि की कल्पना करना उचित नहीं है। समस्त देश, काल, वस्तु विषयक प्रत्यक्ष अनुभव रूप ज्ञान, विश्वधारणादि शक्ति रूप बल, ज्ञान व बल के साथ विश्व की सृष्टि आदि क्रिया तथा सभी गुण, कर्म आदि भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ब्रह्म के ही हैं। इसके समान व अधिक अन्य कोई नहीं है।"[6]

परा अपरा आदि[7] शब्द वाच्य अपनी स्वाभाविकी सूक्ष्म अवस्था में वर्तमान इन शक्तियों तथा उन-उन शक्तियों में निहित सद्रूप कार्यों को स्थूल रूप से प्रकाशित करना उपादान कारणत्व है।

अपने-अपने अनादि कर्म[8] संस्कारों के वशीभूत अत्यन्त संकुचित भोग स्मरण के अयोग्य ज्ञान धर्म वाले चेतनों (जीवों) को स्वकर्मफल भोग के योग्य ज्ञान प्रकाशित करके उन-उन कर्मों के फल व भोग साधनों के साथ नियोजित करना निमित्त कारणत्व है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. 3/14/1), 'यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै. 2/6), 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे. 6/11) इत्यादि श्रुति वचनों से जगत् की ब्रह्मात्मकता प्रतिपादित की गई है, अतः ब्रह्म जगत् से अभिन्न है। इस प्रकार ब्रह्म की जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणता शास्त्र प्रमाण से ज्ञात होती है।

पदार्थ परिचय

श्रीनिम्बार्क दर्शन में कुल कितने पदार्थ माने गए हैं और उनका वर्गीकरण किस प्रकार किया गया है? इसका परिचय करना भी आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में श्री वैष्णवदासजी शास्त्री ने 'सिद्धान्तमन्दाकिनी' (संस्कृत ग्रन्थ) और 'पदार्थ परिचय' (हिन्दी निबन्ध) लिखा है, जहाँ आकर ग्रन्थों के आधार पर पदार्थों का

विस्तृत विवेचन किया है। यहाँ केवल वस्तु के नाम सङ्कीर्तन द्वारा सामान्य ज्ञान के लिए पदार्थों की गणना मात्र प्रस्तुत की जाती है।

1 चित् (जीव) 2 प्राकृत अचित् 3 काल स्वरूप अचित् 4 अप्राकृत अचित् 5 ब्रह्म (नियन्ता) ये पाँच प्रमेय पदार्थ हैं। जीव और ब्रह्म ज्ञान स्वरूप व ज्ञान के आश्रय भी हैं। धर्मीभूत ज्ञान के रूप में जीव व ब्रह्म हैं तो इनमें रहने वाला सूर्य की प्रभा के समान प्रकाश गुण का आश्रय होने से धर्मभूत ज्ञान भी एक स्वतन्त्र प्रमेय (छठा पदार्थ) माना गया है। जीव व ब्रह्म दोनों धर्मीभूत ज्ञान होते हुए भी अल्पज्ञता व सर्वज्ञता तथा परतन्त्र सत्ता व स्वतन्त्र सत्ता के कारण पृथक्-पृथक् हैं।

इनमें प्राकृत अचेतन व काल स्वरूप अचेतन को जड़ (अदिव्य) द्रव्यों में परिगणित किया है।

शेष चार पदार्थों की गणना अजड़ (दिव्य) द्रव्यों में की गई हैं।

'सिद्धान्तमन्दाकिनी' के पदार्थ संग्रह प्रकरण में द्रव्यों की गणना निम्न लिखितानुसार है—

द्रव्यं प्राकृत-कालौ हि शुद्ध-सत्त्वं शरीरकः।
ईश्वरो धर्म-ज्ञानं च कथितं तत्त्वपारगैः।।

यहाँ 'शुद्ध सत्त्व' से अप्राकृत (दिव्य) अचेतन तथा 'शरीरिकः' से जीव (चित् पदार्थ) अभिहित हुए हैं। इन छह द्रव्यों के अतिरिक्त दो अद्रव्य भी हैं—1. गुण और 2. अभाव।

गुण आठ प्रकार के हैं तथा अभाव एक ही प्रकार का (अत्यन्ताभाव) स्वीकृत किया गया है।

रूपं रसस्तथा गन्धः स्पर्शः स शब्द एव च।
सत्ता संयोग-शक्त्याख्या गुणा एते प्रकीर्तिताः।।

प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण हैं। बाह्य व आभ्यन्तर भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। सुखावबोध के लिए पदार्थ परिचय चित्र निम्नलिखितानुसार प्रस्तुत किया जाता है।

अन्य दर्शनों के सभी प्रमेयों का अन्तर्भाव निम्बार्क दर्शन के उल्लिखित प्रमेयों में हो जाता है। यहाँ तो नाममात्र से वस्तु सङ्कीर्तन किया गया है। इनके विस्तृत परिचय के लिए **'सिद्धान्त मन्दाकिनी पदार्थ परिचय'** तथा अन्य आकर ग्रन्थों का अध्ययन व मनन आवश्यक है।

'सम्बन्ध' समीक्षा

भोक्ता, भोग्य और नियन्ता—इन तत्त्वों के स्वरूप का निरूपण किया जा चुका है। अब इनके पारस्परिक सम्बन्ध का भी ज्ञान करना आवश्यक है। यह सम्बन्ध समीक्षा ही विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के वैशिष्ट्य की मूल भित्ति है। स्वाभाविक द्वैताद्वैत सम्बन्ध निम्बार्क-दर्शन का मूल है, तो विशिष्टाद्वैत सम्बन्ध रामानुज दर्शन को प्रस्तुत करता है।

श्रीमाध्वाचार्य आदि केवल भेद सम्बन्ध को प्रधानता देते हैं तो प्राचीन मायावादी तथा भगवत्पाद शंकराचार्य अत्यन्ताभेद अथवा अद्वैत सम्बन्ध की स्थापना करते हैं।

स्वाभाविक भेदाभेद

श्री निम्बार्काचार्य चरण ने ब्रह्म ज्ञान का कारण एकमात्र शास्त्र को माना है। सम्पूर्ण धर्मों का मूल वेद है। वेद विपरीत स्मृतियाँ अमान्य हैं। जहाँ श्रुति में परस्पर द्वैध (भिन्न रूपत्व) भी आता हो, वहाँ श्रुति रूप होने से दोनों ही धर्म हैं। किसी एक को उपादेय तथा अन्य को हेय नहीं कहा जा सकता। तुल्य बल होने से सभी श्रुतियाँ प्रधान हैं। किसी के प्रधान व किसी के गौण भाव की कल्पना करना उचित नहीं है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भिन्न रूप श्रुतियों का भी समन्वय करके निम्बार्क दर्शन ने स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध को स्वीकृत किया है।

इसमें समन्वयात्मक दृष्टि होने से भिन्न रूप श्रुति का भी परस्पर कोई विरोध नहीं होता। अतएव निम्बार्क दर्शन को 'अविरोध मत' के नाम से भी अभिहित करते हैं।

श्रुतियों में कुछ भेद का बोध कराती हैं तो कुछ अभेद का निर्देश देती हैं। यथा—

'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च' (श्वे. 6/8) **सर्वाँल्लोकानीशते ईशनीभिः** (श्वे. 3/1) **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति'** (तै. 3/1/1) **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्** (कठ. 5/13)' **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।'** (गीता 10/8) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म और जगत् के भेद का प्रतिपादन करती हैं।

'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा. 6/2/1) **'आत्मा वा इदमेकमासीत्'** (तै. 2/1) **'तत्त्वमसि'** (छा. 6/14/3) **'अयमात्मा ब्रह्म'** (बृ. 2/5/19) **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छा. 3/14/1) **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणि-गणा इव'** (गी. 7/7) इत्यादि अभेद का बोध कराती हैं।

इस प्रकार 'भेद और अभेद' दोनों विरुद्ध पदार्थों का निर्देश करने वाली श्रुतियों में से किसी एक प्रकार की श्रुति को उपादेय अथवा प्रधान कहें तो दूसरी को हेय या गौण कहना पड़ेगा। इस से शास्त्र की हानि होती है, क्योंकि वेद सर्वांशतया प्रमाण हैं। श्रुति द्वैध यदि कहीं हो तो भी वहाँ दोनों ही धर्म माने जाते हैं, ऐसा स्मृतियों का निर्णय है।

अतः तुल्य होने से भेद और अभेद दोनों को ही प्रधान मानना होगा। व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं। भेद अभेद नहीं हो सकता और अभेद को भेद नहीं कह सकते। ऐसी स्थिति में कोई ऐसा मार्ग निकालना होगा कि दोनों में विरोध न हो तथा समन्वय हो जाये।

श्रीनिम्बार्काचार्यपाद ने उक्त समस्या का समाधान करके ऐसे ही अविरोधी समन्वयात्मक मार्ग का उपदेश किया है।

आपश्री का कहना है—

"ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। उपादान अपने कार्य से अभिन्न होता है। स्वयं मिट्टी ही घड़ा बन जाती है। इसके बिना घड़े की कोई सत्ता नहीं। कार्य अपने कारण में अतिसूक्ष्म रूप से रहते हैं। उस समय नाम रूप का विभाग न होने के कारण कार्य का पृथक् रूप से ग्रहण नहीं होता, पर अपने कारण में उसकी सत्ता अवश्य रहती है। इस प्रकार कार्य व कारण की ऐक्यावस्था को ही अभेद कहते हैं।"

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्,' इत्यादि श्रुतियों का यह ही अभिप्राय है। इसी से सत् ख्याति की उपपत्ति होती है। सद्रूप होने से यह अभेद स्वाभाविक है।

दृश्यमान जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है। वह दूध से दही जैसा नहीं है। दूध, दही बनकर अपने दुग्धत्व (दूधपने) को जिस प्रकार समाप्त कर देता है, वैसे ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत होकर अपने स्वरूप को समाप्त नहीं करता, अपितु मकड़ी के जाले के समान अपनी शक्ति का विक्षेप करके जगत् की सृष्टि करता है। यह ही शक्ति विक्षेप लक्षण परिणाम है।

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः।
स्वभावतो देव एकः। समावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्।।"
यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्"

इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

ब्रह्म ही प्राणियों को अपने-अपने किए कर्मों का फल भुगताता है, अतः जगत् का निमित्त कारण होने से ब्रह्म और जगत् का भेद भी सिद्ध होता है, जो कि अभेद के समान स्वाभाविक ही है।

उपादान व निमित्त कारण के सम्बन्ध में विशेष विवेचन 'अभिन्न निमित्तोपादान कारणता' शीर्षक बिन्दु में किया जा चुका है।

इसी समन्वयात्मक दार्शनिक प्रणाली को स्वाभाविक भेदाभेद अथवा स्वाभाविक द्वैताद्वैत शब्द से अभिहित करते हैं, जिस का उपदेश श्री निम्बार्काचार्य चरण ने किया है।

अन्य मत

तत्त्व सिद्धान्त बिन्दुकार ने तत्त्वत्रय के सम्बन्ध-निरूपण विषय में अन्य मतों का भी उत्थापन करके उनकी समीक्षा की है। अन्ततः सिद्धान्त पक्ष के रूप में उक्त 'स्वाभाविक भेदाभेद' की ही स्थापना की है।

अन्य मतों में यहाँ अत्यन्ताभेद, औपाधिक भेदाभेद, केवल भेद और विशिष्टाद्वैत वादों की समीक्षा की है। जिज्ञासु जनों के हितार्थ उक्त मतों का स्वरूप निरूपण तथा आलोचना संक्षिप्त व सरल रूप में यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

अत्यन्ताभेद (अद्वैतमत)

यह मायावादियों का सिद्धान्त है। इसी के आधार पर आगे चल कर भगवत्पाद श्री आद्य शंकराचार्य ने अद्वैत-मत की स्थापना की है।

इस मत के अनुसार 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। (छा. 6/2/1) 'आत्मा वा इमेकमासीत्' (तै. 2/1) 'तत्त्वमसि' (छा. 6/14/3) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ. 2/5/19) सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा. 3/14/1)

ये अभेद बोधक श्रुतियाँ एकमात्र ब्रह्म को ही सद् वस्तु कहती हैं। ब्रह्म से भिन्न किसी द्वितीय का पारमार्थिक अस्तित्व नहीं है। 'जीव और जगत्' माया का कार्य है। यह पारमार्थिक सत्य नहीं है, क्योंकि अन्त:करण उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है। प्रपञ्च का भी आरोप या भ्रम ब्रह्म में ही किया जाता है, अत: जीव व जगत् मिथ्या है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह अद्वैत मत का सिद्धान्त है।

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (श्वे. 6/13) (काठक. 2/2/13)

'अजामेकां लोहित-शुक्ल कृष्णां बह्वी: प्रजा: सृजमानां समानाम्।'
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य:।।[71]
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।[72]
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृ-भोगार्थ-युक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।।[73]
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे पराध्य:।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता:।।[74]

इत्यादि द्वैत बोधक श्रुतियों की व्याख्या अद्वैत परक ही करनी होगी, क्योंकि ये सब वाक्य मुख्यार्थ में अभिहित नहीं हुए हैं, गौण अर्थ में ही उक्त हुए हैं।

जीव जब तक माया के बंधन में है, तभी तक यह सत्यवत् भासित होता है और जगत् भी इसके लिए तभी एक सत्य है, जब तक अज्ञान का नाश न हो। अज्ञान की निवृत्ति एवं ज्ञान का उदय होने पर तो ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। सभी तरह का द्वैत बोध तिरोहित हो जाता है।

उस समय ज्ञाता या ज्ञेय कुछ भी नहीं रहता है। स्वत: सिद्ध ब्रह्म का ही स्फुरण होता है। जीव ब्रह्म सागर में अपना अस्तित्व खो बैठता है। वह ब्रह्म के साथ एक हो जाता है। उस समय भेद सम्बन्ध किसका रहेगा?

अत: उक्त तत्त्वत्रय में भेद का भान अज्ञान कृत है। वास्तव में तो इनका अत्यन्त अभेद सम्बन्ध ही है। इसी का नाम अद्वैत है। इसमें द्वैत (भेद) बोध पारमार्थिक नहीं है।

समीक्षा

उक्त मत (अत्यन्ताभेद) की समीक्षा करते हुए ग्रन्थकार ने इसके अनौचित्य के सम्बन्ध में दो तर्क प्रस्तुत किए हैं—

(1) भोक्ता, भोग्य व नियन्ता—इन तीनों तत्त्वों के पृथक्-पृथक् गुण व स्वभाव का आपस में साङ्कर्य हो जायेगा।

(2) शास्त्र द्वारा प्रतिपादित भोक्ता (जीव) के बंधन व मोक्ष की व्यवस्था बाधित हो जायेगी।

(1)

यदि तीनों तत्त्वों में कोई भेद नहीं है, अत्यन्त अभेद सम्बन्ध है, तो जीव (भोक्ता) भी ब्रह्म के समान सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् होने लगेगा तथा नियन्ता (ब्रह्म) में भी उत्क्रांति, गति, आगति आदि जीव के एवं अचेतन प्रकृति के गुण स्वभाव का साङ्कर्य हो जायेगा।

भोग्य (अचेतन) प्रकृति भी जीव के समान घूमने, फिरने व बोलने लगेगी। एक-दूसरे के गुण स्वभाव आपस में एक-दूसरे से मिल जायेंगे तो भोक्ता, भोग्य व नियन्ता को पहिचानना कठिन हो जायेगा।

शव और जीवित शरीर, स्वस्थ, अस्वस्थ, सुखी-दु:खी, मनुष्य व पशु, चेतन व अचेतन, स्वामी व सेवक, अल्पज्ञ व सर्वज्ञ में अत्यन्त अभेद सम्बन्ध मानने पर (परस्पर गुण-स्वभाव साङ्कर्य होने से) कोई अन्तर ही नहीं होगा। वास्तव में यह अभेद तो शास्त्र व प्रत्यक्ष अनुभव से भी सर्वथा विपरीत है। जब यह त्रिरूपता (भोक्ता, भोग्य, नियन्ता ये तीनों तत्त्व) श्रुति व सूत्रों से साधित पृथक्-पृथक् गुण स्वभाववाली है, तो इसमें अत्यन्त अभेद सम्बन्ध को स्वीकृत करना शास्त्र संगत नहीं है।

(2)

अत्यन्त अभेद सम्बन्ध स्वीकृत करने पर एक दूसरी यह भी आपत्ति होगी कि अन्त:करण की उपाधि हटते ही जीव ब्रह्म हो जायेगा। जीवित अवस्था में भी 'सोऽहम्' कह कर जीव अपने को ब्रह्म ही मानता रहेगा फिर ब्रह्म का तो विभु होने से कोई बंधन व मोक्ष होता नहीं। यह तो व्यवस्था शास्त्रों में जीव के लिए है। बंधन मोक्ष व पुनर्जन्म आदि जीव के ही होते हैं। ऐसी स्थिति में शास्त्र द्वारा प्रतिपादित जीव की बन्धार्हता व मोक्षार्हता की व्यवस्था बाधित हो जायेगी। अत: अत्यन्त अभेद (अद्वैत) सम्बन्ध स्वीकार करना उचित नहीं है।

विशेष

अत्यन्त अभेद अथवा अद्वैतवाद के सम्बन्ध में विशेष रूप से सप्रमाण समीक्षा ब्रज विदेही महन्त और चतु: सम्प्रदाय के श्री महन्त श्रीस्वामी घनश्यामदासजी काठिया बाबा (तर्क तीर्थ व्याकरण तीर्थ) ने स्वरचित **'निम्बार्क वेदान्त का संक्षिप्त सार'** नामक ग्रन्थ में की है। विशेष जिज्ञासुओं को उक्त ग्रन्थ का (पृ.सं. 105 से 215 तक का) अध्ययन तथा मनन अत्यन्त आवश्यक है।

औपाधिक भेदाभेद

श्री भास्कराचार्य आदि, भेद को औपाधिक तथा अभेद को वास्तविक मानते हैं। ब्रह्मसूत्रों का भाष्य करते हुए श्री भास्कराचार्य ने प्रतिपादित किया है कि 'जीव'[70] और ब्रह्म में अभेद स्वाभाविक तथा भेद औपाधिक है। उपाधि हटने पर भेद भी समाप्त हो जाता है।

इस प्रपञ्च[76] जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है और अपने कारण ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।

मुक्तावस्था में[77] कोई दूसरा आत्मा नहीं रहता। वह मुक्तजीव परमात्मा ही बन जाता है।

जीव का[78] अणुत्व औपाधिक है। कर्तृत्व,[79] भोक्तृत्व आदि धर्म भी उपाधि जन्य हैं, अतः आगन्तुक व अनित्य हैं। ये शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं।

श्री भास्कराचार्य ने ब्रह्म का ही कार्य रूप से नानात्व (भेद) और कारण रूप से अभेद स्वीकृत किया है। सुवर्ण रूप में अभेद तथा कुण्डल आदि आकार के रूप में भेद होने का दृष्टान्त दिया है—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा।।[80]

यहाँ कुण्डलादि आकार ही भेदबोध की उपाधि है। यह ही ब्रह्म की कार्यरूपता है।[81]

सारांशतः ब्रह्म के साथ जीव व जगत् का भेदाभेद केवल कार्यावस्था में ही रहता है, अतः कार्यावस्था में यह सत्य है। कारणावस्था, प्रलयावस्था एवं मोक्षावस्था में सत्य नहीं है। इन अवस्थाओं में भेद न रहकर एकमात्र अभेद ही हो जाता है। अतएव ये भेद को औपाधिक तथा अभेद को वास्तविक मानते हैं।

समीक्षा

उक्त मत में कार्यरूप ब्रह्म ही जीव है, अतः उपाधि सम्बन्ध से जीव में होने वाले सुख-दुःख परिणाम आदि का कार्यरूप ब्रह्म में भी प्राप्त होना स्वाभाविक है। यह स्थिति भेद को औपाधिक मानने पर ही आती है, जो शास्त्र सम्मत नहीं है। इस प्रकार (शास्त्र विरुद्ध होने से) यह मत (औपाधिक भेदाभेद) मान्य नहीं है।

केवल भेद (द्वैत मत)

यह श्रीमध्वाचार्य आदि का सिद्धान्त है। आपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा है—'जीव समूह निश्चय ही अंश है। परमात्मा अंशी है। जीव परमात्मा का अंश होने से भिन्न है। ब्रह्म केवल निमित्त कारण है।' इस प्रकार श्रीमध्वाचार्य ने केवल भेद (द्वैत) सम्बन्ध स्वीकृत किया है।

समीक्षा

केवल भेदवाद नैयायिकों तथा श्रीमध्वाचार्य आदिकों का सिद्धान्त है। इस मत में ब्रह्म को निमित्त कारण मात्र माना है। तत्त्वसिद्धान्त-बिन्दुकार ने इसमें होने वाली आपत्तियों का निर्देश किया है। वे इस प्रकार हैं—

1. उक्त मत के अनुसार ब्रह्म सीमित व व्याप्य हो जाता है।
2. ब्रह्म की व्यापकता तथा नियन्तृता में व्याघात आता है।
3. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. 3-14-1) (यह सब कुछ ब्रह्म ही है) और 'अहं ब्रह्म अस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि श्रुति वचन केवल भेदवाचक स्वीकृत करने पर बाधित हो जाते हैं।
4. सर्वज्ञत्व, सर्वनियन्तृत्व आदि ब्रह्मवर्ती समस्त धर्मों की हानि भी इससे होती है।

विशेष

केवल द्वैतवादी भेद सिद्धि के लिए नैयायिकों के समान ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण ही मानते हैं। ऐसा मानने पर 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा. 6/2/1) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा. 7/26/1), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. 6-14-1), 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गी. 10/8), 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' (गी. 7/7) इत्यादि श्रुति स्मृति से प्रतिपादित ब्रह्म की सर्वोपादानता, सर्वात्मकता में व्याघात आता है।

सेश्वर सांख्यवादियों का कहना है, "लोक में चेतन कुलाल आदि की ही निमित्त कारणता देखी जाती है; क्योंकि सृष्टि ईक्षा पूर्विका होती है, अतः ईक्षिता परमेश्वर जगत् का निमित्तकारण मात्र हो सकता है। उपादान कारण तो घटादि का मृदादि के समान महदादि का तदधिष्ठित प्रधान ही होगा।" यह कथन उचित नहीं है। प्रतिज्ञा और दृष्टांत का सामञ्जस्य होने से ब्रह्म ही प्रकृति (उपादान कारण) और निमित्त कारण है। 'प्रकृतिश्च प्रतिदृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्र.सू. 1-4-23) इसका वाक्यार्थ करते हुए श्रीनिम्बार्क भगवान् ने 'प्रकृति' शब्द से उपादान कारण एवं 'च' कार से निमित्त कारण परमात्मा को ही कहा है।[82]

प्रतिज्ञा और दृष्टांत के सम्बन्ध में आपश्री ने छान्दोग्य उपनिषद् के एक प्रसङ्ग का संकेत किया है, जिसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखितानुसार है—

अरुण का पौत्र उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु 12 वर्ष का हो गया था। पिता उद्दालक ने इसको कहा, "पुत्र! वेदाध्ययन के लिए गुरुकुल में निवास करो।" पिता की आज्ञा के अनुसार श्वेतकेतु ने 12 वर्ष तक गुरुकुल में रहकर साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन कर लिया है। प्रज्ञा में मेरे समान अन्य कोई नहीं है...।" आदि दर्प-पूर्ण भावों के साथ अनूधानमानी वह श्वेतकेतु अपने पिता के पास पहुँचा। पिता पुत्र को अपने समान विद्वान् देखकर प्रसन्न हुआ, किन्तु उसके अभिमान की निवृत्ति करने हेतु पिता ने पूछा, "गुरुजी से तुमने कौनसी विशेष बात सीखी?" पुत्र ने प्रत्युत्तर दिया, "भगवन्! वज्ञादि समस्त कर्म विषयक साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण वेद का मैंने अध्ययन कर लिया है।" पिता ने कहा, "कर्मादि विषयक वेदाभ्यास में वृथा परिश्रम किया है। केवल शास्त्र व आचार्य (श्रीगुरु चरण) के उपदेश से गम्य (ज्ञेय) उस आदेश को भी प्राप्त किया? जो पर ब्रह्म का ज्ञान कराता है। जिसके सुनने पर अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, अमत भी मत हो जाता है, अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है।"[83] यह ही शास्त्र

की प्रति है। इससे परमात्मा की उपादानता अभिव्यक्त होती है। उपादान के श्रवण, मनन आदि से उपादेय का ज्ञान स्वतः हो जाता है।

आगे श्वेतकेतु के पूछने पर उद्दालक ने उक्त प्रतिज्ञा वाक्य का आशय समझाने के लिए दृष्टान्त देते हुए कहा, हे सौम्य! जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के (मृद् द्रव्य के रूप में) जान लेने पर सम्पूर्ण मृण्मय (मिट्टी के विकार घट, शराव आदि) का मृदात्मकतया ज्ञान हो जाता है तथा हे सौम्य! जिस प्रकार एक लोहमणि (स्वर्ण-पिण्ड) का स्वर्णत्व के रूप में ज्ञान होने पर उसके कार्यभूत समस्त कटक मुकुट आदि का भी ज्ञान हो जाता है। घट, शराव, कटक, मुकुट आदि जितने भी उपादेय कार्य हैं, वे अपने उपादान कारण (मृत्तिका अथवा लोहमणि आदि) से अपृथक् सिद्ध हैं। अर्थात् उपादान से भिन्न (पृथक्) नहीं हैं, अतः उपादान कारण के विज्ञान से उपादेय कार्यों का जान लेना सुलभ है। कारणीत मृत्तिका ही स्वतन्त्र सत्ता की आश्रय है, घट शरावादि कार्य नहीं, क्योंकि ये मिट्टी के बिना कहीं उपलब्ध नहीं होते, अतः उपादान कारण (स्वतन्त्र सत्ताश्रय) मृत्तिका ही सत्य है।" इसी प्रकार आकाशादि प्रपञ्च जात ब्रह्म के उपादेय हैं, अतः ब्रह्मात्मक हैं। ये स्वतन्त्र सत्ता के अधिकरण नहीं हैं। अपने उपादान कारणभूत ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध है।

उक्त प्रतिज्ञा व दृष्टान्त का सामञ्जस्य होने से जगत् की प्रकृति (उपादान कारण) और निमित्त कारण भी ब्रह्म ही है। इसी आशय से 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्' सूत्र का वाक्यार्थ करते हुए श्रीनिम्बार्क भगवान् ने लिखा है—

"उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यविज्ञातं विज्ञातं भवति" इति प्रतिज्ञायाः, "यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इति दृष्टान्तस्य च सामञ्जस्यात्। (वे.पा.सौ.)

उक्त विशेष समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल द्वैत मत शास्त्र व अनुभव से विपरीत होने के कारण सङ्गत नहीं है।

विशिष्टाद्वैत वाद

"चित्, अचित् से विशिष्ट, निखिल हेय गुण (दोष) से रहित, सार्वज्ञादि व सौशील्यादि समस्त कल्याण गुणों के आकर, श्रीपुरुषोत्तमाख्य परब्रह्म वेदान्त के प्रतिपाद्य हैं" यह श्रीभाष्यकार भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्यजी का सिद्धान्त है।

चेतन (भोक्ता, जीव) व अचेतन (भोग्य जड़ पदार्थ जात) परब्रह्म (अन्तर्यामी होकर नियामक ईश्वर) के विशेषण भूत हैं। इन दोनों से विशिष्ट सार्व{37}य आदि अचिन्त्य अपरिमित गुणों के समुद्र, जगत् के उदय (सृष्टि) विलय (संहार) आदि के अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म हैं।

"चेतन-विशिष्टं चाचेतन-विशिष्टं चेति विशिष्टे। तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्।" इस व्युत्पत्ति से विशिष्टाद्वैत वाद में चेतन (जीवात्मा) और अचेतन (जड़ वर्ग) भी ब्रह्म के ही प्रकार (विशेषण) भूत हैं। इनका ब्रह्म में विशेषण विशेष्य भाव अंशांशीभाव के रूप में होते

हुए भी स्वाभाविक वैलक्षण्य स्वभाव परक श्रुतियों का इनमें समन्वय हो जाता है तथा विशेषणों का विशेष्य पर्यन्त आश्रय लेकर अभेद श्रुतियों की प्रवृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार चेतन, अचेतन और ईश्वर के स्वरूप तथा स्वभावगत भेद बताने वाले वाक्यों में जो कार्य-कारण भाव एवं इसकी अभिन्नता के निर्देशक वचन हैं, उनमें परस्पर मतभेद प्रतीत होता है, पर जड़ चेतन का सदा परमात्मा से शरीरात्म भाव है। शरीर भूत जड़ चेतन की कारणावस्था में नाम रूप विभाग रहित सूक्ष्म दशा तथा कार्यावस्था में नाम रूप विभाग वाली स्थूल दशा बताने वाली श्रुतियों से उक्त मतभेद का परिहार हो जाता है।"

चित्, अचित्, ब्रह्म स्वभावतः भिन्न हैं, यह श्रुति-सिद्ध है। "ईश्वर आत्मा है। समस्त जड़ चेतन उसका शरीर है।" ऐसा धर्म धर्मीबोधक श्रुतियों से समर्थित होता है। अन्य श्रुतियों में इनका जो कार्य-कारण भाव और कार्य कारण अभेद बताया गया है, वह अविरुद्ध ही सिद्ध होता है।"

समीक्षा

ग्रन्थकार ने उक्त विशिष्टाद्वैत मत को युक्ति से प्रकाशित तथा लक्षणादि का समन्वय न होने से केवल आपात रमणीय जैसा कहा है, क्योंकि शास्त्रों के ज्ञाता अन्य वस्तु के व्यावर्तक को विशेषण कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार उन दोनों (चित् और अचित्) की विशेषणता विदचित् के अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता न होने के कारण चरितार्थ नहीं होती।

जिस प्रकार गोत्व, मनुष्यत्व, श्यामत्व आदि विशेषणों से गवादि भिन्न महिषी आदि की व्यावृत्ति की जाती है, वैसे ही चित् और अचित् विशेषणों द्वारा किसकी व्यावृत्ति होगी? क्योंकि चित्, अचित् एवं ब्रह्म इन तीनों के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व ही नहीं हैं।

व्यावृत्य वस्तु के अभाव में किसी की व्यावर्तकता सिद्ध नहीं होती। व्यावर्तकता अथवा विशेषणता एक ही अर्थ के बोधक दो शब्द हैं। चित् और अचित् को ब्रह्म का विशेषण कहने पर चिदचिद् भिन्न कौनसी ऐसी वस्तु है, जो संसार में हो तथा ब्रह्म में नहीं हो, जिसकी व्यावृत्ति के लिए चित् अचित् को विशेषण बनाया जाये। इस प्रकार जब तत्त्वत्रय के अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है, फिर ब्रह्म को विशिष्ट कैसे कह सकते हैं?

चित्, अचित् और ब्रह्म—इन तीनों तत्त्वों का विभिन्न श्रुतियों ने किस प्रकार के सम्बन्ध की मुख्यता का निर्देश किया है? इसका विवेचन करते हुए श्रीरामानुजाचार्य चरण ने 'प्रकाशादिवत्तु नैवं परः' (ब्र.सू. 2-3-45) के श्रीभाष्य में कहा है—

"जैसा जीव है, वैसा पर (ब्रह्म) नहीं है। जिस प्रकार प्रभा से प्रभावान् भिन्न है, उसी प्रकार प्रभा स्थानीय अंशभूत जीव से अंशी पर (ब्रह्म) भी अर्थान्तर (भिन्न) है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में विशेषण विशेष्य कृत स्वभाव वैलक्षण्य को लेकर भेद निर्देश्या एवं पृथक् सिद्धि के अयोग्य विशेषणों की विशेष्यता का आश्रय लेकर अभेद निर्देश मुख्यतया उपपन्न होते हैं।"[47]

इस प्रकार ब्रह्म के साथ जीव और जगत् के भेद व अभेद सम्बन्ध की मुख्यता को श्रुति सिद्ध मान कर भी विशिष्ट के ऐक्य (विशिष्टाद्वैत) का प्रतिपादन करने में इनको लज्जा नहीं आती? अतः लाघव (भेदाभेद) का परित्याग करके गौरव (विशिष्टाद्वैत) का आश्रय लेने के कारण विशिष्टाद्वैत वादियों द्वारा अज्ञ जन वञ्चित कर दिये गये हैं।"

उपसंहार

इस प्रकार विभिन्न मतों के स्वरूप निरूपण एवं समीक्षा से यह स्पष्ट हो गया है कि ब्रह्म के साथ चित् व अचित् का निश्चय से स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है। अतः शास्त्र के अविरुद्ध इस का ही मुमुक्षु जन को सदा चिन्तन व मनन करना चाहिये।

यद्यपि श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है तथा इसका अधिकांश साहित्य संस्कृत में ही है, किन्तु वर्तमान युग में इसके ज्ञाता बहुत कम हैं, अतः सर्व साधारण वैष्णवों के हितार्थ प्राचीन संस्कृत साहित्य का हिन्दी रूपान्तर होना अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्तुत ''तत्त्व सिद्धान्त बिन्दु'' का हिन्दी लेखन व सम्पादन इसी पावन भावना से पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्रीआचार्यचरण श्रीश्रीजी महाराज के निर्देशानुसार किया गया है। पाठकजनों को इससे किञ्चिन्मात्र भी लाभ हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

पाद टिप्पणियाँ

1. सन् 1919 में प्रकाशित 'वेदान्तरत्नमाला' (मूल) की भूमिका के आधार पर।
2. 'अ.भा. विराट् सनातन धर्म सभा' (पृ.सं. 288) द्रष्टव्य।
3. 'वेदान्तरत्नमाला' (मूल) की भूमिका से ज्ञातव्य।
4. श्वेता. 1/12
5. ब्र.सू. 1/1/1 वे.को.
6. अचेतनत्वञ्च चेतन-विजातीयत्वं ज्ञातृत्वाश्रयाधिकरणत्वञ्च।
   (वे.का. श्लोक 3 की वेदान्तरत्नमञ्च(116)पा)
7. अव्याकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्। (वे.का.)
8. मायाप्रधानादिपदाद्यवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र। (वे.का.)
   मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् (श्वे. 4/10)
   प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः। अव्यक्तात्पुरुषः परः इति श्रुतिभ्यः (वे.र.मं.)
9. शुक्लादि पदाभिधेय-सत्त्वादि गुणत्रयाश्रयत्वं प्राकृतत्वम्।
   अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णामिति श्रुतेः। (वे.र.मं.)
10. ''अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमैः।
    प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्।।'' (वे.र.मं.)
11. इदमेव गुणत्रयाश्रयीभूतं द्रव्यं साम्यावस्थापन्नं सद् गुणवैषम्यं भजते, स एव कार्योन्मुखी-भावकालः।
    विष्णुपुराणे—
    प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
    क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ।। इति स्मृतेः।। (वे.र.मं.)
12. ''तत्र गुणत्रयाश्रयं द्रव्यं प्राकृतम्, तच्च नित्यं परिणामादिविकारि च।।'' (वे.को.)

13. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
    अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। (गीता 7/4)
14. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
    यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।। (मुण्डक 1/1/8)
15. 'यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै.ब्रह्म-अनु. 6)
16. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः (गी. 2/16)
17. प्रकृत्यादीनि च जीवानां भोग्यं भोगोपकरणं भोगस्थानानि। तत्र भोग्यं शब्दादिकं
    तद्विशिष्टद्रव्यमन्नपानादिकं च। भोगोपकरणं शरीरेन्द्रियमनोबुद्धि(216)ादि। भोगस्थानानि
    ब्रह्माण्डान्तर्गतचतुर्दश भुवनानि।
    (वेदान्त रत्न मञ्च(116)पा)
18. अथ प्राकृताप्राकृतोभयभिन्नचेतनद्रव्यविशेषः कालो नित्यो विभुश्च।
    (वेदान्त कौस्तुभ ब्र.सू. 1/1/1)
    प्राकृताप्राकृतोभयभिन्नत्वे सत्यचेतनद्रव्यविशेषः कालशब्दवाच्यः। स च नित्यो विभुश्च।
    (वेदान्तरत्न मञ्च(116)पा)
19. सर्वमपि प्राकृतं वस्तु कालतन्त्रम् कालस्य सर्वनियामकत्वेऽपि परमेश्वरनियम्यत्वमेव।
    (वेदान्त कौस्तुभ ब्र.सू. 1/1/1)
20. स च कालोऽखण्डत्वात् स्वरूपेण नित्यः। कार्य्यरूपेणानित्यः। तत्कार्यमौपाधिकम्। उपाधिश्च
    सूर्यपरिभ्रमणरूपा क्रियेति विवेकः। (वे.र.मं.)
21. स च भूतभविष्यवर्तमानत्रुट्यचिरक्षिप्रादिव्यवहारासाधारणहेतुः, सृष्ट्यादि सहकारी च,
    परमाण्वादिपाद्मनिसानव्यवहारासाधारणकारणं च।
    (वेदान्त कौस्तुभ 1/1/1)
22. लीला-विभूतौ तु परमेश्वरस्य कालपारतन्त्र्यानुकरण-मात्रमेव। नित्यविभूतौ तु न तदप्यवशंकाऽपि।
    कल्पमुहूर्तादिमत्त्वकालो न यद्विभूते परिणाम-हेतुरित्यादिवचनात्।
    (वेदान्तरत्न-मञ्च(116)पा)
23. अव्याकृतं नाम त्रिगुण प्रकृति-कालात्यन्तभिन्नमचेतनञ्च प्रकृतिमण्डल-भिन्नदेशवृत्ति नित्य-विभूति-
    विष्णुपद-परमपद-ब्रह्मलोकादि पदाभिधेयम्।;(वेदान्त कौस्तुभ ब्र.सू. 1/1/1)
24. तत्त्वं नाम त्रिगुणाश्रयप्रधानकालविलक्षणं प्रकाशात्मकावारकस्वभावमचेतन-द्रव्यत्वम्। आदित्यवर्णं
    तमसः परस्तादित्यादि श्रुतेः, तमः शब्दाभिधेयाभ्यां प्रधान-कालाभ्यां परं विलक्षणम्।
    आदित्यवत्प्रकाशरूपमित्यर्थः।
    (वेदान्तरत्न मञ्च(116)पा)
25. अजडाचेतनं तेजः पराक् स्वयं प्रकाशकम्।
    आराम-भवनैः साकं शुद्धसत्त्वं निरुपमम्।।
    (सिद्धान्तमन्दाकिनी)
26. श्रीभगवदुपासनस्याधिकारि साधारणसूचनाय सामान्य 'जन' शब्दप्रयोगः श्री भगवतः
    सर्वाधिकार्यनुरूपोपासन-विधेयकत्वसाम्यात्। वैदिकोपासने तु त्रैवर्णिक एवाधिकारीति। पौराणिके
    चतुर्थेऽपीति विवेकः। (वे.र.मं.)
27. तस्मात् सावधीमन्नतिशयाद्यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तकल्याणगुणाश्रयः श्रीभगवान्
    पुरुषोत्तमो रमाकान्त एवेति सिद्धम्। (वे.र.मं.)
28. पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च। (श्वे. 6/9)

29. 'दुर्गाऽधिष्ठातृदेवता' (क्रमदीपिका)। 'यः कृष्णः सैव दुर्गा या दुर्गा कृष्ण एव सः' (बृहद्गौतमीयतन्त्र) 'यः कृष्णः साऽपि राधा या राधा कृष्ण एव सः' (ब्रह्मसंहिता)। 'तत्र श्रीराधिकायाः सर्वश्रेष्ठत्व-श्रुतिप्रामाण्यात्' (सिद्धान्त रत्नं.) इत्यादि प्रमाणबलेभिः 'दुर्गा' इति शब्दस्य दुर्गमा दुर्लभा, दुर्लभावेत्यवयव-शक्तिलभ्यार्थविशिष्टा श्रीराधिकैवार्थः अत्र मायांश-भूता दुर्गा चण्डिकेत्यर्थे न भ्रमितव्यम्। अतः सा दुर्गा (दुर्लभा) श्रीराधिकैवाधिष्ठात्रीति विवेकः।

30. 'तु' शब्देन रमा-सत्यभामयोर्ग्रहणम्। तु पुनः कृष्णस्य वामांगे रमां सत्यभामां स्मरेमेत्यर्थम् (लघुमन्त्र(116)वा)। 'तत्र श्रियौ द्वे रूपे श्रीश्च लक्ष्मीश्चेति। या च लक्ष्मीः सा रुक्मिण्यादि रूपा।' (सिद्धान्त रत्नांजलि) 'वयमुक्तलक्षणस्याऽघटघटनापटुतराऽचिन्त्याऽनन्तविचित्रशक्तिमतो भगवतः श्रीकृष्णस्य वामांगेऽनुरूपसौभगां लक्ष्मीं रुक्मिण्याख्यां सदा स्मरेम।' (वे.र.मं.)

31. गीता 4/7-8

32. ब्रह्म चाचिन्त्यानन्तनिरतिशयस्वाभाविकबृहत्तमस्वरूपगुणाद्याश्रयभूतः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वेश्वरः सर्वकारणरूपः समानातिशयशून्यः सर्वव्यापकः सर्वैकैकवेद्यः श्रीकृष्ण एव।
(वेदान्त कौस्तुभ 1/1/1)

33. "मुमुक्षुरिहाधिकारी। विषयस्त्वास्य ब्रह्मादिशब्दाभिधेयः सर्वज्ञः स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तनवाकारात्मवृत्ति-गुणशक्त्याद्याश्रयो ब्रह्मरुद्रेन्द्र-प्रकृति-परमाणु-काल-कर्म-स्वभावादि-नियन्ता दोषासृष्टसीमा चिदचित्स्वाभाविक-भेदाभेदाश्रयो भगवान् वासुदेवः श्रीपुरुषोत्तमः। विषय-विषयिभावलक्षणः सम्बन्धः। श्रीभगवद्प्रापत्तिलक्षणो मोक्षोऽत्र प्रयोजनम्।"
(वे.का. 1/1/1)

34. जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे सति सत्यत्वादिमत्त्वं ब्रह्मलक्षणं सिद्धम्।
(वेदान्त कौस्तुभ 1/1/2)

35. "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।"
(तै.अ. 2 अनु. 7)

36. "अनायोऽयं पुरुष एक एवास्ति, तदेवं रूपं विधाय सर्वान् रसान् समाहरति, स्वस्यमेव नायिकारूपं विधाय समाराधनतः परोऽभूत् तस्मात्तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति, तस्मादानन्दमयोऽयं लोक इति।"
(सामवेद संहिता उत्तरार्चिक)

37. 'देवं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्।'
(अथर्ववेद)

38. 'राधा वा माधवो देवो माधवेनैव राधिका। विभ्राजते जनेष्विति।'
(ऋग्वेद-आश्वलायनीय शाखा)

39. 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'
(यजुर्वेद)

40. "वृषभानोः कीर्तिदायामाविर्भव शुचिस्मिते।"
(ब्रह्मवैवर्त)

41. वसुदेव-गृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः। जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः।।
(भाग. 10/1/23)

42. "यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुद्ध(216)ति।
न तर्ह्येवं परिश्रान्ता स्त्रियाऽप्यमतसंज्ञितः।।" (भाग. 10/3/59)

43. 'सृष्टिकाले च सा देवी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
माता भवेन्महाविष्णोः स एव च महान् विराट्।।
श्रीकृष्णो जगतां तातो जगन्माता च राधिका।'
(श्रीनारद पञ्चरात्र)

44. "यस्या अंशे लक्ष्मीः दुर्गादिका शक्तिः।"
(अथर्व. पुरुषार्थ.)

45. "राधा कृष्णात्मिका नित्यं कृष्णो राधात्मको ध्रुवम्।।"
(ब्रह्माण्ड.)
"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।।"
(बृहद्गौतमीय तन्त्र)

46. "अहं सर्वेश्वरो राधा सर्वशक्ति-निषेचिता।"
(कृष्णयामलतन्त्र, अ. 16)

47. "राधिका सहितं कृष्णं यः पूजयति नित्यशः।
भवेद् भक्तिर्भगवति मुक्तिस्तस्य करे स्थिता।।
यः कृष्णः साऽपि राधा या राधा कृष्ण एव सः।
अनयोरन्तरदर्शी संसारान्न विमुच्यते।।
(श्रीनारद पञ्चरात्र)

48. गीता 11/8

49. सि. मन्दा. 1/4

50. सि. मन्दा. 4/5-6

51. मनु: 2/6

52. मनु. 12/95

53. 'केचिदत्र वर्णाश्रमधर्माणां मुमुक्षुत्वान्यत्वं भावयन्ति, तदुच्छं सर्वशास्त्र-विरोधादप्रमाणकत्वाच्च।'
(नारद.नि.गो.र.पृ. 58)

54. "नित्य-नैमित्तिकं च स्ववर्णो श्रमाधिकारानुसारेणावश्यं कर्त्तव्यं भगवदाप्तात्मक-भजन-रूपत्वात्।"
(नारद.नि.गो.र.)

55. ऋग्यजुः सामसंज्ञेयं त्रयी वर्णावृत्तिर्द्विजैः।
एतामुन्नयति यो मोहात् स नरः पातकी स्मृतः।।
(नारद.नि.गो.र.)

56. किञ्च वेदमातृ-व्याख्यारूपोऽप्ययं श्लोकः। (वे.र.मं.)

57. तच्छब्दो गायत्री विषय-भूत-ध्येयमन्तर्यामिणमाह।

58. शास्त्रमेव योनिस्तज्ज्ञप्तिकारणं यस्मिंस्तत्तदेवोक्तलक्षण-लक्षितं वस्तु ब्रह्मशब्दाभिधेयमिति।
(वे.पा.सौ.)

59. ब्रह्म वानुमानादिगम्यं, किन्तु वेद-प्रमाणकम्। कुतः? शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रं वेदः योनिः कारणं ज्ञापकं प्रमाणं यस्मिंस्तच्छास्त्रयोनिः। तस्य भावस्त्वत्वम्। तस्माच्छास्त्रयोनित्वात्। शास्त्र-प्रमाणकत्वात् वेदैक-प्रमाणकमेव ब्रह्मेति सिद्धान्तः।
(वे.की.)

60. "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः" (बृ. 4/5/11)
61. "सर्वज्ञ-ब्रह्म-निःश्वसितैरन्तरंगैर्वेदैरेव ब्रह्म वेद्यं न बहिर्भूतैरन्यकल्पितानुमानादिभिरिति फलितोऽर्थः।" (वे.की.)
62. जिज्ञास्यं ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणकमेव नान्यप्रमाणकम् समस्त-श्रुतीनां साक्षात् परम्परया वा तत्रैव समन्वयात्। तस्मात् सर्वज्ञः सर्वाचिन्त्यशक्ति-विश्व-जन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यः सर्वैभिज्ञाभिज्ञो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयस्तत्रैव सर्वं शास्त्रं समन्वेतीत्यौपनिषदानां सिद्धान्तः। (ब्र.सू. 1/1/4, वे.पा.सौ.)
तस्मात् कृत्स्नस्य वेदस्य सर्वज्ञे स्वाभाविकानन्ताचिन्त्यशक्तौ जगत्कारणे ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे चिदचिद्विजाभिन्ने श्रीकृष्णे समन्वय इति सिद्धम्।
(वे.की. 11/4)
63. तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1
64. "यतो वस्याच्छ्रीपुरुषोत्तमादिमानि महदादितृणान्तानि भूतानि जायन्त, इति सृष्टिकर्त्ता येन जातानि जीवन्तीति स्थितिकर्त्ता, अभिसंविशन्तीति लयो दर्शितः, यत्प्रयान्ति यं सर्वकर्मक्षयानन्तरं प्राप्नुवन्तीति मोक्ष उक्तः। अत्र चेतनस्यानादिनित्यस्य देहादिसंयोगहेतुकविचित्रविज्ञानविकाशो जन्म, तत्संकोचपूर्वकः कारणप्रवेशः प्रलयः।"
(वेदान्त कौस्तुभ 1/1/2)
65. "न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।।"
(श्वे. 6/9)
66. "न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।"
(श्वे. 6/8)
67. "परापरादि शब्दाभिधेयानां स्वस्वाभाविकीनां सूक्ष्मावस्थापन्नानां शक्तीनां तद्गत-सदरूप-कार्यांशाञ्च स्थूलतया प्रकाशकत्वमुपादानत्वम्।"
68. "स्वस्वादिकर्म संस्कार-वशीभूतात्यन्तसंकुचितभोगस्मरणानर्हज्ञान-धर्माणां चेतनानां कर्मफलभोगार्हज्ञानप्रकाशनेन तत्तत्कर्मफललाभभोगसाधनैः सह यो नियितृत्व-निमित्तत्वम्।"
(वेदान्त कौस्तुभ 1/1/2)
69. श्वे. 6/10
70. तै. 2/6
71. श्वे. 4/5
72. (श्वे 4/6)
73. श्वे. 1/9
74. काठक. 1/3/1
75. जीव-परयोश्च स्वाभाविकोऽभेद औपाधिकस्तु भेदः स तन्निवृत्तौ निवर्तते।
(ब्र.सू. 4/4/4 का भास्कर भाष्य)
76. यतः प्रादुर्भूतास्तत्रैव स्वकारणे प्रलीयन्ते।
(ब्र.सू. 4/2/14 का भास्कर भाष्य)

77. मुक्तः परमात्मा भवतीति समुदितार्थः नहि मुक्तावस्थायामात्मान्तर कारणान्तरं वाऽस्ति।
(ब्र.सू. 1/4/21 का भा. भाष्य)
78. तदिदमौपाधिकमणुत्वं जीवस्यातो द्रष्टव्यम्।
(ब्र.सू. 2/3/29 का भास्कर भाष्य)
79. औपाधिकमिदं कर्तृत्वं यावद्युपाध्यनुवर्ति कर्तृत्वभोक्तृत्वे यावच्छरीरभाविनी।
(ब्रह्म सू. 3/4/29 का भास्कर भाष्य)
80. ब्र.सू. 1/1/4 का भास्कर भाष्य
81. तत् कारणात्मना कार्यात्मना द्विरूपेणावस्थितम्। ब्रह्मैव हि कारणात्मना कार्यात्मना व्यवस्थितम्।
(ब्र.सू. 1/1/11 का भास्कर भाष्य)
82. प्रकृतिरुपादानकारणं चकारान्निमित्तकारणं चं परमात्मैव।
(वे.पा.सौ. 1/4/23)
83. उत तमादेशमप्राक्ष्यः (छा. 6/1/2) येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। (छा. 6/1/3)
84. यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं भवति, स्वाद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।।
यथा सौम्यैकेन लोहमणिना सर्वंलोहमयं विज्ञातं स्वाद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।।
(छा. 6/1/4/5)
85. एवं चिदचिदीश्वराणां स्वभावभेदं स्वरूपभेदं च वदन्तीनां कार्यकारण-भावं कार्यकारणयोरनन्यत्वं च वदन्तीनां सर्वासां श्रुतिनामविरोधः। चिदचितोः परमात्मनश्च सर्वदा शरीरात्मभावं शरीरी-भूतयोः कारणदशायां नामरूप विभागानर्हसूक्ष्मदशापत्तिं कार्यदशायां च तदर्ह-स्थूलदशापत्तिं वदन्तीभिः श्रुतिभिरेव ज्ञायत इति।
(श्रीभाष्य ब्र.सू. 1/1/1)
86. चिदचिदीश्वराणां पृथक् स्वभावतया तत्तच्छ्रुति सिद्धानां शरीरात्मभावेन प्रकार-प्रकारितया श्रुतिभिरेव प्रतिपन्नतया श्रुत्यन्तरेण कार्यकारणभाव-प्रतिपादनं कार्यकारणयोरैक्य-प्रतिपादनं च ह{216}विरुद्धम्। (श्रीभाष्य ब्र.सू. 1/1/1)
87. एवं जीव-परयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चोपपद्यते। तदिदमुच्यते नैवं पर इति। यथा भूतो जीवः न तथा भूतः परः। यद्वैव हि प्रभावाः प्रभवान-यद्भूतः तथा प्रभास्थानीयात् स्वांशाज्जीवादंशी परोऽप्यर्थान्तर भूत इत्यर्थः। एवं जीव-परयोर्विशेषण-विशेष्यत्वकृते स्वभावे च वैलक्षण्यमाश्रित्य भेद निर्देशाः प्रवर्तन्ते। अभेद-निर्देशास्तु पृथक् सिद्ध{216}तत्तद्विशेषणाद्यं विशेष्य-पर्व-तत्त्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोपपद्यन्ते।
(श्रीभाष्य ब्र.सू. 2/3/45)
88. विशिष्टाद्वैत की सर्वोपरता का विशेष ज्ञान करने के लिए 'निम्बार्क वेदान्त का संक्षिप्त सार' (उत्तरार्द्ध) पृ.सं. 81 से 100 तक द्रष्टव्य है।

गोपालकुञ्ज, पुरानी बस्ती, जयपुर

□

श्रीनिम्बार्काचार्यजी का समन्वयात्मक दार्शनिक दृष्टिकोण

हरिशरण उपाध्याय, दर्शनविभागाध्यक्ष
श्री नि.सं. महाविद्यालय, वृन्दावन

श्रुतिर्विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः।।

इस सिद्धान्त के अनुसार श्रुतियों में, स्मृतियों में भी परस्पर विरुद्ध वाक्य मिलते हैं। निर्णेताओं की वाणी भी इत्थंभूत प्रमाण के रूप में नहीं आ सकती। इस स्थिति में और कोई चारा नहीं है, सिवाय महापुरुषों के आनुगत्य के। महाजनों का मार्ग वेदानुकूल होता है। जब कभी वैदिक मार्ग उच्छिन्न-सा होता है, तब पथ-विभ्रान्त लोगों को सदुन्मुख बनाने के लिए महाविभूतियों का इस धराधाम पर अवतार होता है।

ऐसी महाविभूतियों में सर्वप्रथम अवतीर्ण होने वाले चक्रराज सुदर्शन के अवतार भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य हैं, जिनका लोक-वेद विख्यात द्वैताद्वैत सिद्धान्त है। द्वैताद्वैत सिद्धान्त वेदविहित है। वेदानुकूल धर्मशास्त्र भी इसी का समर्थन करते हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि—

"श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।"

जहाँ पर श्रुतियाँ दो बातों का प्रतिपादन करती हैं, वहाँ समझ लेना चाहिए कि दोनों धर्म यथार्थ हैं। वेद वाक्य सब समान रूप के हैं, उनमें बाध्य-बाधक भाव की कल्पना करना अन्याय होगा। मानव की निर्मूल कल्पना से सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो सकता। वेदमूलक कल्पना ही युक्तिसंगत है। वेद जो कुछ कहते हैं, जिसका प्रतिपादन करते हैं, उनको उसी रूप में मानना आस्तिकता है और शास्त्रीयता है। वेद पर किन्तु-परन्तु की टीका टिप्पणी करना, प्रत्यक्षानुवादिनी-परोक्षानुवादिनी कहकर श्रुतियों को खींचातानी में लाना भी उनके साथ अन्याय करना है। यदि वेद कण्ठरव से ऐसा कहते तो मान भी लिया जाता। वेद तो साफ-साफ द्वैताद्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करते हैं। वेद न केवल द्वैत, न केवलाद्वैत, न विशेषण-विशेष्य, न शुद्ध द्वैत न शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं, वेद तो जो वस्तुस्थिति है उनकी सेवा करते हैं। इसीलिए तो वेदों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। द्वैताद्वैत को समन्वित वैदिक सिद्धान्त समझकर शिरोधार्य किया गया है। उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र-गीता के

आजतक के भाष्यकारों की सैद्धान्तिक अपनी-अपनी मान्यताएँ भिन्न होने पर भी मूलतः द्वैताद्वैत में समाविष्ट हो सकती हैं।

यद्यपि ईश्वर सब कुछ है, सर्वावस्था में है। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है। ईश्वर को जिस दृष्टि से देखा जाय, समझा जाय, भावना की जाय, सतत स्थितियों में वह है ही। अस्ति में भी ईश्वर है, नास्ति में भी है। अस्ति-नास्ति इस विप्रतिषिद्धावस्था में भी ईश्वर का अपलाप नहीं किया जा सकता। जो है वह त्रिकालाबाधित है। है को नहीं से अपलाप नहीं किया जा सकता, नहीं कहना केवल वाचारम्भमात्र है, वस्तुस्थिति नहीं है। अतएव ईश्वर की ईश्वरता निरतिशय महिमाशाली है। यदि कहीं किसी अवस्था में न्यूनता (अभाव) आ जाय तो ईश्वर का ईश्वरत्व नहीं रहेगा। अतः "सदा सर्वत्र सर्वगः" ईश्वर है। इन दृष्टियों से विचार करने पर तो द्वैताद्वैत, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद, सभी दार्शनिक दृष्टियों में तत्तत् रूप से ईश्वर प्राप्त होगा। ईश्वर तो एक शाश्वत सार्वत्रिक सत्ता है।

किन्तु अब यह विचार करना है कि मूलतः वेद क्या कहते हैं? और शास्त्रसम्मत तर्क क्या कहते हैं? श्रुति-सूत्र-धर्मशास्त्रानुकूल तर्क द्वारा कौन सा सिद्धान्त युक्तिविरुद्ध नहीं है, इसको भी देखना है। अब हम यहाँ द्वैताद्वैत को लेकर विचार करते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि तमः प्रकाशवत् विरुद्ध स्वभाव वाले द्वैत और अद्वैत का सैद्धान्तिक सामञ्जस्य कैसे सम्भव है?

खास कर आलोचकों के द्वैताद्वैत सिद्धान्त में दो प्रश्न होते हैं। द्वैताद्वैत मानने पर समानाधिकरणता न होने से द्वैताद्वैत वादी सम्मत कर्मधारय समास नहीं होगा और एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की वैदिक प्रतिज्ञा भी उत्पन्न नहीं होगी। ...

द्वैताद्वैत सिद्धान्त आपाततः विरुद्ध प्रतीत होता है, किन्तु विचार करने पर सिद्ध होता है कि विरोध का लेशमात्र भी नहीं है। निम्बार्कसिद्धान्त में चित्, अचित् और ईश्वर नाम के तीन शाश्वत तत्त्व माने गए हैं; श्रुतियाँ भी **"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म होतत्"** कहकर इसी सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं। चिदचित् का ब्रह्म के साथ स्वाभाविक भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध है। इस बात को समझने के लिए सर्वप्रथम द्वैत और अद्वैत पदार्थ को समझना आवश्यक है।

द्वि = इत शब्द से द्वैत शब्द निष्पन्न होता है, उसके साथ नञ् समास करने पर अद्वैत होता है। पर द्वि शब्द का अर्थ है—दो प्रकार से। इत शब्द का अर्थ है ज्ञात। इसका समष्टयर्थ हुआ दो प्रकार से ज्ञात, अद्वैत का अर्थ है द्वैतविपरीत एक प्रकार से ज्ञात। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत का सामञ्जस्य (समानाधिकरणता) जिस पदार्थ का या सिद्धान्त में हो, उसको द्वैताद्वैत कहते हैं। जैसे जिसमें शैत्य और पावनत्व युक्त जल हो उसको गंगा कहते हैं। गंगा का शैत्य और पावनत्व के साथ स्वाभाविक भेदाभेद है। शीतत्वेन पावनत्वेन ज्ञात होते हुए भी गंगाधीन शीतत्त्व पावनत्व के होने से गंगात्वेन भी ज्ञात होता ही है।

ठीक इसी प्रकार चिदचित् का चित्वेन अचित्वेन भेदरूप ज्ञातत्त्व के साथ-साथ चिदचित् की ब्रह्माधीन स्थिति प्रवृत्ति होने के कारण एक ही ब्रह्मात्मकत्व रूप से ज्ञातत्त्व है

ही। एक कालावस्था में भी उक्त प्रकार के भेदाभेद सम्बन्ध की समञ्जसता होने से सामान्याधिकरण न होने के कारण कर्मधारय समास नहीं हो सकता, यह शंका निर्मूल हो जाती है।

व्याप्य-व्यापक भाव तथा कार्य-कारण भाव से स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध तो सर्वत्र देखा गया है, यह सर्ववादी को मानना ही पड़ेगा।

दीपक की प्रभा, सूर्य का तेज:प्रकाश, वृक्ष की शाखा, गंगा का शैत्य पावनत्व, स्फटिक मणि की शुक्लता, जपाकुसुम की रक्तिमा, सुवर्ण का कुण्डल, अहि-कुण्डल इत्यादि स्थलों में स्वभावत: भेदाभेद सम्बन्ध स्पष्ट है।

एक सुवर्ण कुण्डल, कटक, मुकुटादि पदार्थ में कुण्डलत्व-कटकत्वादिरूप अनेक प्रकार से ज्ञातत्व के साथ-साथ एक सुवर्णत्वेन भी ज्ञातत्व विद्यमान है।

दूसरी बात यह है कि "अहिकुण्डल' इस प्रयोग में देखिए, वलयाकार में विद्यमान सर्पकुण्डल कार्य है, सर्प कारण है। कुण्डल कार्य और परतन्त्र तथा व्याप्य है, सर्प उसकी अपेक्षा स्वतन्त्र व्यापक तथा कारण है। इस स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य-व्याप्य-व्यापक, कार्यकारणभाव से भेदसम्बन्ध भी है। सर्प के बिना कार्यभूत कुण्डल की स्थिति प्रवृत्ति न होने से कुण्डल का सर्प के साथ अभेदसम्बन्ध भी है। इसी प्रकार जीव-जगत् का ब्रह्मशक्तिमत्वेन व्याप्यत्वेन पारतन्त्र्येण ब्रह्म के साथ भेदसम्बन्ध है और उनकी ब्रह्म व्यतिरिक्त स्थिति प्रवृत्ति न होने से अर्थात् ब्रह्माधीन स्थिति प्रवृत्तिक होने से अभेद सम्बन्ध भी स्वाभाविक है।

उपर्युक्त व्याख्यान केवल गल्प नहीं है। इस विषय में सहस्रों प्रमाण मिलते हैं। भगवान् मनु ने कहा है—

एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता।
अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वेदितुमर्हति।।

अर्थात् "एकत्वे = सुवर्णत्वे सति नानात्वं कटककुण्डलादित्वं, नानात्वे = कटककुण्डलादित्वे सति एकता = सुवर्णतैव" एक ही सुवर्ण को कटक कुण्डलादिरूप अनेक-आभूषणों के रूप में भी देख सकते हैं। उसी भूषणादि दर्शनकाल में एक ही सुवर्ण रूप से भी देखा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार चिदचित् का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए। इस तथ्य को बताने वाले वेद ही हमारी शरण है।

कुछ लोगों का कहना है कि उक्त तत्त्वत्रय को शाश्वत मानने से एकविज्ञान से सर्वविज्ञानवाद की वैदिक प्रतिज्ञा उच्छिन्न हो जाती है। किन्तु यह कहना अदूरदर्शिता का ही परिणाम है। क्योंकि सिद्धान्त में तत्त्वत्रय अत्यन्त भेदरूप में स्वीकृत नहीं है। सब ब्रह्मात्मक है। अत: द्वैताद्वैत (भेदाभेद) सिद्धान्त में ही एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की वैदिक प्रतिज्ञा का निर्वाह होना सम्भव है, अन्यत्र नहीं। अद्वैतवाद में तो उक्त प्रतिज्ञा घट ही नहीं सकती। क्योंकि अद्वैतवाद में तो एकविज्ञान से सर्वविज्ञान होने के बजाय सर्वविज्ञान ही सर्वथा लोप हो जाता है। ब्रह्म व्यतिरिक्त मिथ्या ज्ञान को सर्वविज्ञान कहना ही असंगत हो जाएगा।

इसी प्रकार अत्यन्त भेदवाद में भी सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा समन्वित नहीं हो सकती। कहीं ऐसा नहीं देखा गया है कि घट विज्ञान से पट विज्ञान हो जाय।

अत: सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा द्वैताद्वैतवाद में घट सकती है। श्रीनिम्बार्काचार्य जी की वेदनिष्ठा का ही परिणाम था, जो कहीं भी किसी भी अवस्था में वेदवाक्य को खींचातानी के रूप में नहीं लाया गया, इसीलिए उन्होंने वेदाविरुद्ध द्वैताद्वैत सिद्धान्त को शिरोभूषण माना। श्रुतियाँ द्वैत और अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करने वाली हैं। यदि हम विशुद्ध अद्वैतवादी बनते हैं तो द्वैतवादिनी श्रुति बाधिक हो जाएगी। हम यदि विशुद्ध द्वैतवादी बनते हैं तो अद्वैत प्रतिपादक श्रुति का बाध होगा, ऐसी स्थिति में अर्धनास्तिकता आ जाएगी। किसी धर्माचार्य के लिए यह उचित भी नहीं है। वेद तो स्वयं ज्ञानरूप हैं, सर्वज्ञ हैं। उनका तात्पर्य केवलाद्वैतवाद में होता अथवा केवलद्वैत में होता तो एक ही वाद का प्रतिपादन करने वाले वाक्य मिलते। अत: सहृदयों को समझना है कि वेद भगवान् का तात्पर्य स्वाभाविक भेदाभेदवाद में ही है। इसी तथ्य को, वेद की वस्तुस्थिति को समझकर ही आचार्यपाद द्वारा उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।

इस वाद का समर्थन सभी आचार्यों द्वारा हुआ है। सबको भेदाभेद सम्बन्ध इष्ट है। भले ही भिन्न-भिन्न नाम से सिद्धान्त का नामकरण किया हो, वस्तुस्थिति में सब द्वैताद्वैत में समाविष्ट हैं। वेद कल्पतरु हैं, उनकी छायाश्रित होने वाले महानुभावों को भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतीत होते हैं, उसका ही परिणाम सम्प्रदाय है।

जो भी हो, सभी वादों का समन्वय द्वैताद्वैतवाद में सावकाश हो जाता है।

अद्वैतवाद का समावेश

द्वैताद्वैतवाद में अद्वैतवाद का समावेश तो स्वभावत: है ही। स्वयं श्री शंकराचार्यजी ने भी ब्रह्मसूत्र के अहिकुण्डलाधिकरण में भेदाभेदवाद को स्वीकार किया है। "**तत्रैवमुभयव्यपदेशे सति यद्यभेद एवैकान्ततो गृह्यते, भेदव्यपदेशे निरालम्बन एव स्यात्। अत उभयव्यपदेशदर्शनादहिकुण्डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति**" अर्थात् इस प्रकार श्रुतियों में दोनों के व्यपदेश होने पर यदि एकान्तत: अभेद का ही ग्रहण किया जाय, तो भेदव्यपदेश निरालम्बन हो जायेगा। अत: सर्प इस प्रकार अभेद है, आभोग वक्राकार कुण्डलाकार आदि तो भेद हैं और अगले सूत्र में कहा है कि—"**यथा प्रकाश: सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नात्यन्तभिन्नौ उभयोरपि तेजस्त्वात्-विशेषात्**" अर्थात् जैसे सूर्य का प्रकाश और उसका आश्रय अत्यन्त भिन्न नहीं है, क्योंकि दोनों में तेजस्त्व समान है। इन दोनों की अत्यन्ताभिन्नता भी नहीं है। दोनों ही भेदव्यपदेश के भागी हैं।

शंकराचार्यजी के उद्धरण पर विचार करने से सिद्ध होता है कि वे भी भेदाभेदवाद से असहमत नहीं हैं। यद्यपि उन्होंने उपक्रम में '**भेदस्तु अविद्याकृतोऽस्ति**' अर्थात् भेद तो अविद्याकृत है, ऐसा कहा है, तथापि भेदाभेदव्यपदेश के समर्थन में जिन श्रुतियों का उद्धरण दिया है, उनमें अविद्याकृत भेद का प्रतिपादन तो क्या, उसकी गन्ध मात्र भी नहीं है। ध्यातृध्येय-गंतृगन्तव्यता की धारा तो अविच्छिन्न है ही। अविद्या (प्रकृति) को भी उन्होंने

सान्त मानने पर भी अनादि माना है। अनादित्व साम्यात् उसका सम्बन्ध ब्रह्म के साथ है ही। सान्त का तात्पर्य यदि सर्वतोभावेन सार्वत्रिक है तो उसका पुनराविर्भाव नहीं होना चाहिए। अतः सान्त का तात्पर्य है, साधक सम्बन्ध परिहार। इसलिए गीता में भगवान् ने कहा है— **"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"** भगवत्प्रपत्ति से माया संतरण की शक्ति आती है, माया को एकान्ततः सान्त बनाने की गति नहीं हो सकती।

इन दृष्टियों से विचार करने पर आचार्य श्रीशंकर का अद्वैतवाद भी द्वैताद्वैतवाद में समाविष्ट हो जाता है। 'एकमेवाद्वितीयम्' इन श्रुतियों से भी भेदाभेदवाद में कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि अद्वितीयता का तात्पर्य स्वसमानता के निषेधालोक में यह देखा जाता है कि "अद्वितीय पण्डित है, अद्वितीय प्रतिभाशाली है" ऐसे प्रयोगों का व्यवहार होता है। यहाँ अद्वितीयता का तात्पर्य पण्डितान्तर के निषेध में नहीं है, प्रत्युत स्वसमानता के प्रतिषेध में ही उसका पर्यवसान है।

विशिष्टाद्वैतवाद का समन्वय

द्वैताद्वैतवाद में विशिष्टाद्वैतवाद का भी समावेश है। इस सिद्धान्त में भी केवलाद्वैत अभीष्ट नहीं है। किन्तु चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म अद्वैत है। चिदचित् विशेषण के होने से भेदाभेद तो गुणगुणी के समान आ गया। इसके लिए यह केवल मेरी ही युक्ति नहीं है, स्वयं श्रीरामानुजाचार्यजी ने अपने पूर्ववद्वा 3/2/28 सूत्र के भाष्य में लिखा है कि— **"विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यः। विशेष्य-विशेषणयोः स्वरूप-स्वभावेन भेदव्यवहारी मुख्यः ब्रह्मणो निर्दोषत्वञ्च रक्षितम्।"**

अर्थात् विशेषण-विशेष्यभाव का व्यवहार भेदाभेद रूप से ही होता है। विशेष्य से विशेषण अत्यन्त भिन्न नहीं है। विशेष्याधीन विशेषण के होने से अभेद व्यवहार मुख्य है। विशेष्य-विशेषण का स्वरूप स्वभाव से भेदव्यवहार भी मुख्य है। इन शब्दों पर विचार करने पर सिद्ध होता है कि श्रीरामानुजाचार्य का सिद्धान्त स्वाभाविक भेदाभेदपरक है। केवल सम्प्रदायसिद्धि के लिए दर्शन का नामकरण भिन्न रूप से किया है।

शुद्धाद्वैतवाद का समावेश—

द्वैताद्वैतवाद में शुद्धाद्वैतवाद भी समन्वित हो जाता है। इस सिद्धान्त में ब्रह्म के तीन अंश माने गए हैं। सदंश, चिदंश और आनन्दांश। संक्षेप में सदंश जगत् है, चिदंश जीव है, आनन्दांश ब्रह्म है। ऐसा अंशांशीभाव में सच्चिदंश का आनन्दांश के साथ अभेद होना स्वाभाविक है। सत्त्वेन चित्त्वेन विद्यमान वस्तु का भेदत्वेन व्यवहार भी सिद्ध है। इस बात की पुष्टि श्रीवल्लभाचार्य जी महाराज ने की है। **'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्'** इस सूत्र के भाष्य में लिखा है कि—**"एवं च ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपेण सर्वेषां ब्रह्माभेदः, ब्रह्मणस्तु कार्यलक्षणेन सर्वस्माद् भेदः"।**

इस प्रकार भेदाभेद सिद्धान्त को श्रीवल्लभाचार्यजी ने भी स्वीकार किया है। यह दूसरी बात है कि सिद्धान्त का नामकरण भिन्न है। यह भी सम्प्रदाय सिद्धि के लिए है।

भेदवाद का समावेश

द्वैताद्वैतवाद में भेदवाद का प्रवेश होना भी स्वाभाविक है। किन्तु यह भेदवाद वैदिकसिद्धान्त के अनुरूप प्रतीत नहीं होता। अत्यन्त भेद मानने पर एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भी उच्छिन्न हो जाती है, तथापि ब्रह्म की सर्वस्वता इसमें स्वीकृत है। मध्वाचार्य दर्शन में लिखा है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचराः नीचोच्चभावं गताः।।

जीवात्मा भगवदधीन है, अनुचर है, जगत् भी तदधीन है। ऐसी स्थिति में कण्ठरव से भेदाभेद को घोषित न करने पर भी उसको मानना गलेपतित है ही।

इस प्रकार सभी वादों का समन्वय द्वैताद्वैतवाद में हो जाता है। द्वैताद्वैतवाद विशुद्ध वैदिक है। द्वैताद्वैतवाद तो जो वेद की वस्तुस्थिति है, जो वेद का स्वरस है, वह ही है। अतएव भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा है—

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मशत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता।।

यह दूसरी बात है कि कल्पतरु स्वभाव वेदविद्वान् को जिस रूप में देखो, समझो, वह उसी रूप में भासित होता है। सम्प्रदायसिद्धि के लिए दर्शन से भिन्न नाम होने पर भी वास्तविकता द्वैताद्वैत ही है।

❑

श्रीनिम्बार्काचार्य का भेदाभेद सिद्धान्त

भू.पू.ब्र.वि.च.सं. श्रीमहान्त धनञ्जयदासजी
तर्कतीर्थ, काठिया बाबा

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीवेदव्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र के भाष्यों में विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया है। इन सभी मतवादों में श्रीनिम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत मत अन्यतम है। उनके मतानुसार ब्रह्म का जीव और जगत् से स्वरूपतः भेदपरक एवं अभेदपरक दोनों ही रूपों में सम्बन्ध है। इस मत को द्वैत (भिन्नता मानने वाला) और अद्वैत (अभिन्नता मानने वाला) मत से सम्बोधित किया जाता है। वास्तव में इस मत में सत्यता भी प्रतीत होती है। कार्य-कारण सम्बन्ध पर विचार करने से इस मत की पूर्ण पुष्टि हो जाती है। जैसे कार्य (घट) कारण (मिट्टी) से भिन्न भी है और साथ ही अभिन्न भी। क्योंकि दोनों के नाम, रूप, आकार आदि में भिन्नता है, किन्तु दोनों की सामग्री एक ही होने से अभिन्नता भी है। इसी प्रकार जगत् (कार्य) ब्रह्म (कारण) से भिन्न और अभिन्न उभय रूप है।

विचारपूर्वक यदि देखा जाय तो यह निश्चय होता है कि ब्रह्म अपनी अनन्त शक्ति से जीव और जगत् रूप में प्रकाशित होने के कारण उनसे अभिन्न रूप में प्रतिष्ठापित है। साथ ही अतीत रूप में विद्यमान होने के कारण जीव और जगत् से भिन्न भी है। अतः ब्रह्म, जीव और जगत् में परस्पर भेद (द्वैत) और अभेद (अद्वैत) दोनों ही हैं और यही श्रीनिम्बार्काचार्य का प्रतिपाद्य है। उनके इस द्वैताद्वैतवादी सिद्धान्त को विस्तार से हृदयंगम करने के लिए ब्रह्म, जीव और जगत् सम्बन्धी उनकी मान्यताओं का विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

ब्रह्म

श्रीनिम्बार्काचार्य ने ब्रह्म को आनन्दमय कहा है, जिसमें आनन्द की प्रचुरता का ही प्राधान्य है।[1] आनन्दमय का अर्थ विकारवान् कदापि नहीं, उसका आनन्द भूमा की अवस्था में जाकर स्थित होता है।[2] वस्तुतः जीवात्मा को आनन्द देने के कारण भी परमात्मा ही आनन्दमय कहा जायेगा।[3] ब्रह्म जगत् का केवल प्रकृति अर्थात् उपादान कारण नहीं है, वह जगत् का निमित्तकारण भी है।[4] क्योंकि उसके द्वारा अश्रुत,श्रुत हो जाता है। अमूर्त, मूर्त हो जाता है। अविज्ञात विशेषरूप से ज्ञात हो जाता है। जैसे एक मिट्टी के ढेले को देखने से सम्पूर्ण मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। अतः परमात्मा ही जगत का कारण है, ऐसा निश्चय होता है। वह सृष्टि का उपादान कारण भी है। क्योंकि 'उसने अभिलाषा की कि मैं बहुत हो जाऊँ' इस वाक्य से भी अभिलाषा प्रकट करने वाला ब्रह्म चैतन्य स्वतन्त्र परमात्मा है।[5] वह आनन्दमय, अप्राकृत, सर्वशक्तिमान्, पुरुषोत्तमस्वरूप है। उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि जब वह सृष्टि करने की कामना करता है तो संकल्पमात्र से

सृष्टि कर लेता है।[6] श्रुतियों का भी एकमात्र ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। 'रसो वै सः' 'आनन्दो ब्रह्म' आदि उसी के द्योतक हैं। आनन्द उसका ही एक विशिष्ट गुण है, जिसका कि पृथक्-पृथक् रूप से उल्लेख हुआ है। उन सबका उपसंहार उस परमात्मा में ही समझना चाहिए।[7] वह स्वरूपतः अव्यक्त होते हुए भी भक्ति योग में ध्यान द्वारा व्यक्त हो जाता है। ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि होने पर ही विशुद्ध अन्तःकरण में उस ब्रह्म की स्पष्ट झाँकी परिलक्षित होती है।[8]

वह भक्ति से ही सर्वसुलभ है। वह सर्वप्रकार से परिपूर्ण, चिद्रूप और विभु है। सम्पूर्ण जीव उसी के चिदंश की किरणों के रूप में विद्यमान हैं।[9] उसमें अनन्त वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति है। उस शक्ति में ही सभी वस्तुएँ सारतः विद्यमान हैं। वह अपनी शक्ति का अनुभव मात्र करने से संसार का रूप धारण करता है। वस्तुतः वह ब्रह्म नानारूपी विश्व की सृष्टि, लय आदि का हेतु है। अचिन्त्य शक्तियों का आधार भी वही है। वेदों का प्रतिपाद्य, जगत्-जीवमय विश्वात्मा, सर्वरूप से भिन्नाभिन्नावस्था में रहते हुए, आनन्दमय परमतत्त्व वासुदेव के रूप में प्रतिभासित होता है।[10] वह परमात्म मायाधीश है। जन्म आदि विकारों से शून्य, स्वाभाविक और अचिन्त्य अनेक गुणों का सागर, विभूति सम्पन्न है। वह मुक्त जीवों को ऐश्वर्यानुभूति कराता है।[11] वह सत्यकाम और सत्यसंकल्पवान् है। जीवों के स्वरूप का आविर्भावकर्त्ता, मुक्ति-प्रदाता भी वही है। उसी की परम कृपा से जीवों को उसकी प्राप्ति होती है। वह अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र विद्यमान है। वह सुख-दुःख के भोगने वाले शरीरी जीवों से अधिक उत्कृष्ट है। शरीर का भी कर्ता है। आत्म के अन्दर वह परमात्मा ही शासनकर्त्ता है।[12] श्रीनिम्बार्काचार्य की दृष्टि में वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि आदि का कारण ब्रह्म ही है। वह कारणों का कारण, सभी का नियंता एवं स्वामी है। उसकी अध्यक्षता में ही प्रकृति-चराचरात्मक जगत् की सृष्टि करती है। प्रकृतिस्थ जगत् का एकमात्र अधिष्ठाता ब्रह्म ही है।[13]

जीव

श्रीनिम्बार्काचार्य ने वेदान्तकामधेनु के एक ही श्लोक में जीव के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन कर दिया है। वे आत्मवेत्ता, जीव को चैतन्य (ज्योतिस्वरूप) शरीर से संयुक्त और वियुक्त होने वाला, अणु परिमाण वाला, सूक्ष्म, अनेक शरीरों में अलग-अलग होने से अनन्त तथा परमात्मा के अधीन बतलाया हैं—

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीर-संयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववंतं यमनंतमाहुः।।

—वेदान्तकामधेनु (दशश्लोकी)

ब्रह्म का अंश होने के नाते जीव भी ब्रह्म ही है तथापि जीव और ब्रह्म का पूर्णतः अभेद स्वीकार्य नहीं। भेदाभेद सम्बन्ध ही मान्य है। जीव को स्वरूपतः अणु मानते हुए भी निम्बार्क ने उसके गुण और ज्ञान को विभु की संज्ञा दी है। अणु, चित् होते हुए उसका ब्रह्म से नित्य सम्बन्ध बना रहता है। इस प्रकार भगवत् साधर्म्य प्राप्त कर जीव सर्वज्ञ की कोटि में पहुँच जाता है। जिस प्रकार महान् गुण के कारण परमात्मा महान् है, उसी प्रकार जीवात्मा अणु परिमाण का होकर भी गुण से महान् है।[14] जीवात्मा अणु परिमाण वाला होकर भी सारे शरीर

के सुख-दुःख का अनुभव करता है।[15] जीवात्मा के प्रकाश से ही सारा शरीर प्रकाशित होता है, ठीक वैसे ही, जैसे कि कमरे में एक स्थान पर स्थित दीपक सारे कमरे को आलोकित करता रहता है।[16]

श्रीनिम्बार्काचार्य के अनुसार आनन्दमय परमात्मा ही है, जीव नहीं। वस्तुतः ब्रह्म का संयोग पाकर ही जीव आनन्दानुभव करता है। बद्ध जीव को इसीलिए अज्ञ अथवा अल्पज्ञ की संज्ञा दी गई है। ब्रह्म के साथ जीव का क्रमशः विभु और अणु का सम्बन्ध ही स्थापित होता है। जीवात्मा न तो जन्म लेता है और न ही मरता है। वह नित्य और अजन्मा है। इससे जीव की नित्यता भी सिद्ध होती है।[17] मुक्त जीव ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसके पूर्ण आनन्द में निमग्न हो जाता है, किन्तु बद्ध जीव को आनन्दात्मक जगत् का अनुभव केवल जड़रूप को आनन्दात्मक जगत् का अनुभव केवल जड़रूप में ही प्रतिभासित होता है। उसे अपने चिदंशस्वरूप का विस्मरण हो जाता है। श्रीनिम्बार्क ने ज्ञान और जीव में धर्म-धर्मी सम्बन्धरूप से भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित किया है। यद्यपि चिदंश-रूप होने के नाते जीव और उसके ज्ञान में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता।[18]

परमात्मा आनन्दयोग से जीवात्मा पर शासन करता है। अर्थात् जीव अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा नियन्त्रित होता है। वह उस परमात्मा से भिन्न है, जिसके सकाश से आनन्दयोग की स्थिति बनती है। वह परमात्मा रसस्वरूप है, जिस रस की अनुभूति कर जीवात्मा आनन्दित होता है।[19] इस प्रकार जीव और ब्रह्म के बीच स्वरूपतः, गुणतः एवं शक्तितः शाश्वत भेद है। किन्तु भोक्ता जीव और नियन्ता ब्रह्म के बीच वह भेदत्व ठीक वैसा ही है, जैसा कि समुद्र और उसकी तरंग एवं सूर्य और उसकी प्रभा के बीच विद्यमान है।[20] अतः यह ब्रह्म और जीव के बीच अभेदत्व के साथ भेदत्व सिद्ध हुआ। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जीव या चित् ज्ञान स्वरूप और ज्ञानाश्रय है। वह ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। वह अणु है। मुक्तावस्था में भी वह कर्त्ता रहता है। उस समय वह ईश्वर से केवल एक बात में भिन्न रहता है। वह यह कि ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य। अंशांशिभाव रहने से जीव और परमात्मा में भेदाभेद दिखाया गया है। वस्तुतः जीव परमात्मा का अंश है, कारण 'ज्ञ' (सर्वज्ञ) 'ईश' (ईश्वर) और 'अज्ञ' (असर्वज्ञ) 'अनीश' (जीव) दोनों ही 'अज' (जन्मरहित एवं नित्यसत्य) है—इस श्रुति वाक्य में जीव और ईश्वर में भेद उपदिष्ट हुआ है।[21]

इस प्रकार श्रीनिम्बार्काचार्य ने ब्रह्म और जीव में भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित किया है। इस बात की उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है कि जीव ब्रह्म का अंश होने से उनके बीच परस्पर भेदाभेद समबन्ध भी नित्य शाश्वत और स्वाभाविक है।

जगत्

श्रुति इस बात का प्रमाण है कि ब्रह्म ही जगत् रूप से प्रकाशित है। श्रीनिम्बार्काचार्य ने 'आत्मकृतेः परिणामात्' सूत्र के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा है कि सर्वशक्तिमान् परमात्मा स्वशक्ति के विक्षेप से जगत् के आकार में परिणत हो जाता है। वह अव्याकृत

स्वरूप में रहकर ही अपनी शक्ति और कृति से जगत् रूप को प्राप्त होता है। ब्रह्म ही निमित्त और उपादान कारण है। जगत् उसी की अनुकृति है।[22]

जगत् ब्रह्म की लीलार्थ की हुई संकल्पमूलक परिणति है। कार्य जगत् का कारण ब्रह्म से अनन्यत्व (अभेद) सम्बन्ध है, अत्यन्त भिन्नत्व (भेद) नहीं है। मृत्तिका सत्य है, क्योंकि उसके द्वारा निर्मित घटादि भिन्न प्रतीत होते हुए भी पृथ्वी के ही विकृत रूप होने के कारण उससे अभिन्न ही हैं। वस्तुतः यह सारा दृश्यमान जगत् परमात्मस्वरूप ही सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि कारण और कार्य में न तो सर्वथा भेद ही होता है और न अभेद ही। भेदाभेद ही नित्यसिद्ध रहता है। कार्य दोषों से मुक्त होता है। इसी प्रकार जगत् (कार्य) के दोष ब्रह्म कारण में नहीं होते।[23] परमात्मा के व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूप एक साथ ही स्वीकार किए जाते हैं। मूर्त और अमूर्त (स्थूल और सूक्ष्म) विश्व (जगत्) अपने कारण रूप ब्रह्म में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से रह सकता है। ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार सर्प इच्छानुसार कुण्डली बनाकर बैठ जाता है और अपनी इच्छानुसार ही विस्तृत हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म अपने संकल्पमात्र से ही जगत् की सृष्टि और लय का हेतु है।[24]

उक्त अहि-कुण्डल न्याय से स्थित विश्व को ब्रह्म से भिन्न भी नहीं कह सकते और सर्वथा अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता। बद्ध और मुक्त जीवों की आसक्ति और अनासक्ति का कारण भी यह जगत् ही है। ब्रह्म का शक्ति होने के कारण जगत् भी नित्य सत्य है, किन्तु नित्य होते हुए भी वह परिवर्तनशील है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूपों से प्रकाशित समग्र जगत् परमात्म ज्ञान में नित्यरूप से प्रतिष्ठापित है। यह जगत् पहले से ही सत्ववान् था। प्रत्येक वस्तु की सत्ता थी, जो कालान्तर में जगत् रूप में प्रकट हो गई। यह जगत् भी प्रलय होने पर सूक्ष्म रूप से संकुचित होकर परमात्म में स्थित हो जाता है और सृष्टि के समय पुनः इसका विस्तार होने लगता है।[25] जगत् की सृष्टि आदि तथा नाना रूपता में परिणति ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता द्वारा ही होती है। जगत् का एकमात्र आधार ब्रह्म ही है, क्योंकि वह नियन्ता एवं अन्तर्यामी रूप से सदैव विद्यमान होता है। कुम्हार को घट के निर्माण करने में चक्र, मिट्टी, दण्ड आदि बाह्य उपकरणों का संग्रह करना पड़ता है, किन्तु परमात्मा तो ऐसा नहीं करता। वह तो दूध से दही अथवा जल से बर्फ की भाँति प्राकृतिक शक्ति से स्वतः जगत् रूप में परिणत हो जाता है।[26] वस्तुतः आनन्दमय, सर्वशक्तिमान् पुरुषोत्तम को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि जब वह सृष्टि करने की कामना करता है तो संकल्प मात्र से जगत् की सृष्टि कर लेता है। उसने कामना की कि एक से बहुत हो जाऊँ।?[27] जिस प्रकार कपड़े को प्रथम समेटकर बाद में पुनः विस्तृत कर दिया जाय, उसी प्रकार परमात्मा भी विश्व को अपने में समेटकर पुनः उसे प्रसारित कर देता है। इससे प्रलय के बाद भी जगत् की सत्ता सिद्ध होती है।[28] पुनः स्पष्ट करते हैं कि जैसे प्राणायाम की क्रिया द्वारा रुककर प्राण वायु अपने संकुचित रूप में अवस्थित रहता है, वैसे ही यह जगत् भी प्रलय होने पर सूक्ष्म रूप से संकुचित होकर परमात्म में स्थित हो जाता है और सृष्टि के समय पुनः विस्तृत हो जाता है।[29] अतः जगत् और ब्रह्म का कार्यकारण, शक्ति-शक्तिमान् के आधार पर परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध का ही प्रतिपादन किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीनिम्बार्काचार्य ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में स्वीकार किया है। जीव और जगत् की सत्यता पर भी उन्होंने बल दिया है। उनकी दृष्टि में जीव और जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं। श्रीनिम्बार्काचार्य का अद्वैत (ब्रह्म) द्वैत (जीव, जगत्) से पृथक् नहीं है, अपितु जीव और जगत् को ब्रह्म का अङ्गीभूत रूप से एक करके ही है। किन्तु अद्वैत मतावलम्बी अद्वैत (ब्रह्म) में जीव और जगत् का स्थान स्वीकार नहीं करते, इसलिए कि उनके मत में जगत् मिथ्या है और जीव का पृथक् रूप से कोई अस्तित्व ही नहीं है। फिर भी आश्चर्यजनक तो यह है कि अद्वैत (ब्रह्म) की सत्ता का पूर्ण समर्थन करते हुए भी वे (अद्वैतवादी) जीव और जगत् की सत्ता को अस्वीकार न कर सके। उन्हें व्यावहारिक भाव से इनकी सत्ता को स्वीकार करना पड़ा। ब्रह्म से भिन्न करने से व्यावहारिक रूप से जीव और जगत् की सत्ता स्वीकार करने के कारण द्वैतवाद की प्रतिष्ठा होती है। अतः अद्वैतवादियों के मत की यथार्थ पुष्टि नहीं होती। वस्तुतः द्वैताद्वैतवादी श्रीनिम्बार्काचार्य ही यथार्थ रूप में अद्वैतवादी हैं, क्योंकि उनके द्वैताद्वैतवाद में अद्वैत (ब्रह्मवाद) और द्वैत (जीव, जगत्वाद) सत्ता का एकपक्षीय द्योतन न होकर उभयपक्षीय द्योतन होता है। यही द्वैताद्वैतवाद की परम विशेषता है। इसमें समन्वय की अभूतपूर्व क्षमता विद्यमान है।

संदर्भ

1. 'आनन्दमयः परमात्मा एव न तु जीवः'—निम्बार्कभाष्य 1/1/13
2. 'निरतिशय-सुखरूपत्वामृतत्वस्वमहिम प्रतिष्ठितत्वादीनां परमात्मन्येवोपपत्तेश्च भूमा परमात्मैव।' वही 1/1/9
3. 'जीवानन्द हेतुत्वादपि परमात्मैवानंदमयः' वही, 1/1/15
4. 'प्रकृतिरुपादानकारणं चकारान्निमित्तकारणं च परमात्मैव।'—निम्बार्कभाष्य 1/4/23
5. 'तदैक्षत बहुस्याम्' इत्यादिना तदुपदेशात् ब्रह्मणः स्रष्टृत्वप्रकृतित्वे वर्तते'—वही, 1/4/24
6. 'कामात् संकल्पादेव, सोऽकामयत बहुस्यामः, इत्यादि श्रुतेः अतः तद्धित्र आनन्दमयः'।—वही 1/1/19
7. आनन्दादयस्तु गुणाः गुणिनः सर्वत्रैक्यादुपसंहियंते।'—वही, 3/3/13
8. 'भक्तियोगे ध्याने तु व्यज्यते, ब्रह्मज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्वः, ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।'—निम्बार्कभाष्य 3/2/24
9. 'अविभागोऽपि समुद्रतरंगयोरिव, सूर्य तत्प्रभयोरिव तयोर्विभागः स्यात्'।—निम्बार्कभाष्य 1/1/13
10. 'सर्वज्ञः सर्वाचिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यः सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव।'—निम्बार्कभाष्य 1/1/4
11. 'जन्मादि विकार-शून्य-स्वाभाविकाचिन्त्यानंतगुणसागरं सविभूतकं ब्रह्मैव, मुक्तोऽनुभवति।' वही 4/4/19
12. 'सुखदुःख-भोक्तुः शारीरादधिकमुत्कृष्ट ब्रह्म जगत् कर्तुः ब्रूमः, आत्मानमंतर्यामयति।'—निम्बार्कभाष्य 2/1/21

13. 'कृत्स्नजगत् सृष्ट्यादि व्यापाराहं ब्रह्मैव, स कारणं कारणाधिपाधिपः सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरं।'—निम्बार्कभाष्य 4/4/20
14. 'दृश्यते बृहदेव प्राज्ञो गुणैरपि बृहद्भवति दार्ष्टान्ते तु जीवो अणु परिमाणत्वे गुणेन विभुरिति विशेषः।'—वही, 2/3/28
15. 'जीवोऽपि प्रकाशयति, अतः कृत्स्नशरीरे सुखायनुभवो न विरुध्यते।'—निम्बार्कभाष्य 2/3/23
16. 'देहे प्रकाशो जीवगुणादेव, कोष्ठे दीपालोकादिवत्।'—वही, 2/3/25
17. 'न जायते म्रियते वा विपश्चित् नित्यो नित्यानां।'—वही, 2/3/17
18. 'जीवतद्ज्ञानयोर्ज्ञात्वाविशेषेऽपि धर्मधर्मीभावो युक्त एव।'—वही 2/3/27
19. 'तयोर्गं आनन्दयोगं शास्ति श्रुतिः "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति" इति जीवस्य 'लाभादानन्दं योगः स तस्मादन्वः इति सिद्धम्।'—निम्बार्कभाष्य 1/1/20
20. 'अविभागोऽपि समुद्र तरंगवोरिव सूर्य तत्प्रभयोरिव तयोर्विभागः स्यात्।'—वही 2/1/13
21. 'अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितव मधीयत एके।' (अंशांशिभावाज्जीवपरमात्मनोर्भेदौ दर्शयति, परमात्मनो जीवैंऽशः 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इत्यादि' ...)
22. 'ब्रह्मैव निमित्तमुपादानं च ... सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्ति विशेषेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमय्य, अव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति।' वही, 1/4/26
23. 'कार्यस्य कारणानन्यत्वमस्ति न त्वत्यंताभिन्नत्वं ... एतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं तत्त्वमसि सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'—निम्बार्कभाष्य 2/1/14
24. 'मूर्तामूर्तस्याप्रतिषेध्यत्वं द्रढयति, मूर्तामूर्तादिकं विश्व ब्रह्मणो स्वकारणे भिन्नाभिन्नसम्बन्धेन स्थातुमर्हति भेदाभेद-व्यपदेशादहिकुण्डलवत्।' वही, 2/2/27
25. 'सदैव सौम्येदमग्र आसीत्' 'विगत-विरोधश्चांजसा ततदरूपेणावगृह्यते तथेदमपि।'—निम्बार्कभाष्य 2/1/17,19
26. 'वतः सीरवत् कार्यकारणेन ब्रह्म परिणमते स्वसाधारण शक्तिमत्वात्।'—निम्बार्कभाष्य, 2/1/23
27. 'कामात् संकल्पादेव, 'सोऽकामयत बहुस्यामः' इत्यादि श्रुतेः'—वही, 1/1/19
28. 'यथा च पूर्वं संवेष्टितः पश्चात् प्रसारितः पटस्तद्वत् विश्वम्।'—वही, 2/1/18
29. 'यथा च प्राणपानादिनामुः ... ततदरूपेणावगृह्यते, तथेदमपि।'—वही, 2/1/19

श्री भगवान्निम्बार्काचार्य एवं उनके आराध्य भगवान् श्री सर्वेश्वर

पं. श्री दयाशंकर शास्त्री

अखिल ब्रह्माण्डनायक जगज्जन्मादिहेतु परात्पर-परमेश्वर श्री सर्वेश्वर प्रभु के विराट् स्वरूप चतुर्दश लोकों में भूलोक को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भूलोक ही कर्मलोक है। अन्य सभी लोक भोगलोक है। यहाँ कृत कर्म के फलानुसार ही जीव अन्य लोकों में भोग भोगता है। भूतल के देशों में भी भारत का जो दिव्य वैशिष्ट्य है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भारतवर्ष की सुदुर्लभ परम पुण्यमयी वसुन्धरा का गुणगान देवता एवं ऋषि-मुनि ससम्मान करते रहते हैं। इसी कारण भारत की परम पावन अवनि को परात्पर परमेश्वर प्रभु—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

इस उद्घोष के अनुसार अवतार धारण करके अपनी दिव्य रहस्यमयी मङ्गलमयी सार्वजनीन ललित लीलाओं से परम सौभाग्य प्रदान करते हुए धर्मज्ञानमधर्माभ्युत्थाननिवृत्तिपूर्व धर्म संस्थापना करके निखिल जगत् का कल्याण करते हैं। अकारण करुण-वरुणालय परब्रह्म परमात्मा कभी स्वयं किसी मंगलमय स्वरूप में पधारते हैं, जो कभी प्रभु की आज्ञा से उनके ही विभूतिस्वरूप कोई पार्षद भी आविर्भूत होकर इस धराधाम को अपने लोक कल्याणकारी प्रभापुञ्ज से आलोकित करके कृतार्थ करने का अनुग्रह करते हैं।

भगवान् श्री निम्बार्क श्री सर्वेश्वर प्रभु के प्रिय दिव्य श्री सुदर्शनचक्रराज के अवतार हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख भविष्य, वामन आदि पुराणों में हुआ है।

भविष्य-पुराणे

सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो भविष्यति।
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानिं हरिष्यति।।

भगवान् निम्बार्क का समय

प्राचीन भारत के लेखक-धर्माचार्यों की परम्परा में प्राय: यह प्रथा थी कि वे अपने प्रणीत ग्रन्थों व भाष्यों में स्व-समय का उल्लेख नहीं करते थे। अत: शोधकर्त्ताओं को उनके समय निर्धारण में बड़ी समस्या का सामना करना पड़ता है। समय-निर्धारण में प्राय: यह देखा जाता है कि आधुनिक शोधकर्त्ता शास्त्र प्रमाण न मानकर अनुमान या स्वकल्पित तथ्यों तथा युक्तियों के आधार पर काल निर्धारित करते हैं। ऐसा काल निर्धारण प्राय: अस्थिर होता है। क्योंकि कालान्तर में अनुमानादि से अन्यथा पुष्टि होने पर उनके निर्धारण में भी परिवर्तन होता

रहता है। शब्द (शास्त्र) प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान इन प्रमाणों में शब्द प्रमाण बलवान् होता है। अत: भारतीय प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता में विश्वास रखने वाले विद्वान् शोधकर्ता शब्द प्रमाण के आधार पर ही किसी के काल का निर्धारण करते हैं।

भगवान् श्री निम्बार्क के काल निर्धारण में अनेक समालोचक लेखकों ने अपने अपने विभिन्न मत अभिव्यक्त किये हैं। इस सम्बन्ध में उनका सारांश रूप से वर्गीकरण किया जाय तो तीन मत स्थापित होते हैं—

1. विक्रम संवत् की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी।
2. भगवान् श्री शंकराचार्य से पूर्व पाँचवीं शताब्दी।
3. द्वापर युग का अन्त और कलियुग का प्रारम्भ।

आधुनिक शोधकर्त्ताओं में डॉ. आर.जी. भण्डारकर ने समय-निर्धारण का प्रयास किया। उनके अनुसार श्री हरिव्यास देवाचार्य के शिष्य श्री दामोदर गोस्वामी श्री निम्बार्काचार्य परम्परा में 33वें आचार्य थे, जिनका समय वि.सं. 1806 था। श्री भाण्डारकर ने इसी अनुमान के आधार पर प्रत्येक पीठिका का औसत समय 18 वर्ष मानकर श्री निम्बार्क भगवान् का समय 12वीं शताब्दी माना है। तत्पश्चात् उनके कुछ अनुयायियों ने भी भाण्डारकर के अभिमत के आधार पर ही समय निर्धारण किया है। कुछ बंगाली आलोचकों ने एक अविवेक पूर्ण युक्ति के आधार पर समय निर्धारण का असफल प्रयास किया है। उनका कथन है कि—भारत में मुसलमानों के आक्रमण के समय शक्तिवाद का आविर्भाव हुआ और श्री निम्बार्क ने ब्रह्मसूत्र अध्याय 2 के पाद सूत्र 42 के भाष्य में शक्तिवाद का खण्डन किया। अत: श्री निम्बार्क का समय 11वीं शताब्दी है। यह उनकी घोर भ्रान्ति है। क्योंकि शाक्त, शैव, गाणपत्य सौर और वैष्णव ये मत अनादि हैं और वैदिक सनातन धर्म के अंग हैं।

श्री सत्येन्द्रनाथ वसु ने भी श्री निम्बार्काचार्य को श्री शंकराचार्य से परवर्ती सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। वे बंगला पत्रिका वसुमति (बंगला सन् 1342) में लिखा है कि—यदि श्री निम्बार्क श्री शंकराचार्य से पूर्ववर्ती होते तो श्री शंकराचार्य श्री निम्बार्क के द्वैताद्वैत सिद्धान्त की आलोचना अवश्य करते। अत: श्री निम्बार्क का समय शंकर से परवर्ती है। यह उनकी सर्वथा भ्रान्त धारणा है। इससे उनकी शंकराचार्य के भाष्य से भी अनभिज्ञता व्यक्त होती है। श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र 2/1/14 के अपने भाष्य में श्री निम्बार्क के भेदाभेद सिद्धान्त की आलोचना की है।

दार्शनिक सिद्धान्तों में यह सुप्रसिद्ध है कि—आचार्य श्रीनिम्बार्क जीव को ब्रह्म का अंश और ब्रह्म को अंशी मानते हैं। इसी अंशांशीभाव से जीव और ब्रह्म का स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत आचार्य शंकर उक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं—

'ननु भेदाभेदाभ्यामंशत्वं सिध्यतीत्युक्तम्। स्यादेतदेव। यद्युभावपि भेदाभेदौ-प्रतिपादयिषतौ स्याताम्। अभेद एव तत्र प्रतिपादयिषतः।'

शाङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र 23/48

आचार्य श्रीनिम्बार्क के मत में—जीव में स्वाभाविक कर्तृत्व है, किन्तु श्री शंकराचार्यपाद कहते हैं—

'यत्तूक्तं शास्त्रार्थवत्वादिभिरहेतुधिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वमिति। तत्र। न स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वं सम्भवति। अनिर्मोक्षाप्रसंगात्। (शांङ्करभाष्य-ब्र.सू. 2/3/40)

भगवान् श्री निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म उभयलिंग है। अर्थात् वह सविशेष भी है और निर्विशेष भी। इसी विषय को सुस्पष्ट करने हेतु श्री श्रीनिवासाचार्य का कथन है—

'श्रुतिस्मृतिषूभयलिङ्गं, स्वाभावतोऽपास्त समस्त दोषत्वं, स्वाभाविक-गुणगणमन्दिरत्वं, परब्रह्म निश्चीयते।' (वेदान्त कौस्तुभ, ब्र.सू. 3/2/1)

आचार्य शंकर इस पर कहते हैं—

'तन्नोभयलिङ्गम्। श्रुतानुग्रहादुभयलिङ्गम्, ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते, ब्रूमः। न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गमुपपद्यते। होकं वस्तु स्वत एव रूपादि विशेषोपेतं, तद् विपरीतञ्चेत्यपह्नारयितुं न शक्यम्। विरोधात्।'

इत्यादि स्थलों पर श्री शंकर ने आचार्य निम्बार्क के मत की आलोचना की है। अतः श्री निम्बार्क श्री शंकर से निश्चित रूप से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

वर्तमान युग के विख्यात समालोचक श्री बलदेव उपाध्याय भी पहले डॉ. भाण्डारकर के अभिमत से सहमत होने से श्री निम्बार्क का समय 11वीं 12वीं शताब्दी मान रहे थे, किन्तु पश्चात् प्रामाणिक प्रमाणों को जानकर उक्त भ्रान्त धारणा का परित्याग करके उन्होंने अपने 'भागवत धर्म' ग्रन्थ में लिखा है कि—'वैष्णव सम्प्रदायों में श्री निम्बार्क प्राचीनतम है।'

जैसा कि पूर्व में कहा है कि—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन प्रमाणों में शब्द (शास्त्र) प्रमाण ही प्रबल होता है। वेद, पुराण, स्मृति, आगमादि समस्त वेदानुकूल शास्त्र भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं। अतः भविष्य, वामन, भागवत आदि पुराण तथा औदुम्बर संहिता, भृगुसंहिता आदि शास्त्रों के आधार पर श्री निम्बार्क भगवान् का समय पाँच हजार वर्ष से अधिक प्राचीन है।

भगवान् श्री निम्बार्क ने ब्रह्मसूत्र पर वेदान्त पारिजात सौरभ वृत्ति भाष्य में लिखा है—

'परमाचार्यैः श्रीकुमारैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो भूमात्वेन विजिज्ञासितव्यो'। (ब्र.सू. वृत्ति —1/3/8)

भगवान् श्री निम्बार्क अरुण ऋषि के पुत्र रूप में अवतरित होने से आरुणि नाम से भी विख्यात हुए। अरुण ऋषि का समय श्री भगवान् के अनुसार पंच सहस्र से अधिक प्राचीन है।

नारदो नाम देवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः।। (भा.10/86/18)

भगवान् श्रीकृष्ण जब मिथिला के भक्तप्रवर श्रुतदेव ब्राह्मण और राजा को आमंत्रित करने पधारे तब उनके साथ जो ऋषि पधारे, उनमें श्री अरुण ऋषि भी थे।

अन्य प्रमाणों के आधार पर भगवान् श्री निम्बार्क का अविर्भाव समय द्वापर के अन्त और कलियुग के प्रारम्भ का स्थिर होता है। भृगु संहिता में भी श्री निम्बार्काचार्य की कुण्डली उपलब्ध है। उसमें उसमें जन्मकाल कलि अब्द 15 है।

रावण संहिता के अनुसार पं. बालकृष्ण दीक्षित ज्योतिर्विद् (मथुरा) ने श्री निम्बार्काचार्य जी की जन्म कुण्डली सुदर्शन पत्रिका (वि.सं. 1992 माघ मास की) में प्रकाशित कराई। तदनुसार युधिष्ठिर सं 6 कार्तिक शुक्ला 15 गोधूलि समये गुरु वासरे इष्ट 26/50 सूर्य 6/21 लग्न 1 कृत्तिकायाः चतुर्थचरणे जन्म। इस कुण्डली के आधार पर तथा शास्त्रीय प्रमाणों से लिखित आचार्य चरित्र के तृतीय विन्यास में आचार्य चरणों के जन्म कालीन ग्रहों का उल्लेख किया गया है।

अथ सर्वगुणोपेते काले परमशोभने।
कार्तिकस्य सिते पक्षे पूर्णिमायां वृषे विधौ।।
कृत्तिका भे महारम्ये उच्चस्थग्रह-पञ्चके।
सूर्यावसान-समये मेष-लग्ने निशामुखे।।
जयन्त्यां जयरूपिण्यां जजान जगदीश्वरः।
येन सर्वमिदं विश्वं वेदधर्मे नियोजितम्।। (भविष्य-पुराण)

इत्यादि शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध है कि भगवान् निम्बार्क का आविर्भावकाल द्वापर का अन्त एवं कलियुग का प्रारम्भ था।

भगवान् श्री निम्बार्क का सिद्धान्त

प्रायः सभी आस्तिक दर्शन वेद पर आधारित हैं। उनमें वेदान्त दर्शन सर्वोपरि एवं वेद का सारसर्वस्व है। वेदान्तदर्शन पर सभी धर्माचार्यों ने अपनी अपनी दृष्टि से भाष्यों का प्रणयन किया है। उनमें कहीं-कहीं विचार वैमत्य होने पर भी गहन अध्ययन करने पर उन सबका समन्वय हो जाता है। एक ही ब्रह्म के सम्बन्ध में जिन आचार्य चरणों का जैसा अपना अनुभव सिद्ध हुआ, तदनुसार ही उसका उल्लेख किया गया है। कहा भी है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

भगवान् श्री निम्बार्क का सिद्धान्त एवं सम्प्रदाय समस्त सम्प्रदायों में प्राचीनतम है। निम्बार्क सिद्धान्त में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें समस्त दार्शनिक मतवादों का सम्यक् समन्वय हो जाता है। अतः श्री निम्बार्क का सिद्धान्त सर्वांगपरिपूर्ण वेदान्त दर्शन है, क्योंकि श्रुति, स्मृति के आधार पर ही धर्माचार्यों ने अपने अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है, किन्तु निम्बार्कोत्तर—क्रमशः सिद्धान्तों में श्रुति-स्मृतियों का सर्वांग में प्रतिपादन न होकर

एकदेशीय श्रुति-स्मृतियों के आधार पर सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है और निम्बार्क सिद्धान्त श्रुति स्मृतियों के सर्वांग परिपूर्ण वचनों से परिपुष्ट हुआ है। अर्थात् वेद भगवान् के समस्त द्वैत-अद्वैत परक वचनों का आदर करते हुए उनके समन्वित रूप में अनादि वैदिक स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं, जिसके प्रकाशक भगवान् निम्बार्क है।

दर्शन शास्त्रों में ब्रह्म, जीव और जगत् के स्वरूपों का विवेचन विस्तार से हुआ है। यहाँ संक्षेप में भगवान् निम्बार्क के वेदान्त दर्शन-सिद्धान्त का दिग्दर्शन किया जा रहा है।

वेद-शास्त्र के अनुसार ब्रह्म-चतुष्पाद है अर्थात् ब्रह्म के चार स्वरूप हैं—

1. ब्रह्म, 2. ईश्वर, 3. जीव और 4. जगत्।

प्रमाण—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि।

सम्पूर्ण भूत समूह अर्थात् समस्त जगत् ब्रह्म का एक पाद है और अन्य तीन पाद अक्षर ईश्वर और जीव ये तीन पाद मृत्यु धर्मरहित चिद्रूप में स्थित है।

1. **ब्रह्म**—सत्, चित् और आनदस्वरूप है, वह निर्गुण एवं अक्षर रूप से व्याख्यात है।
2. **ईश्वर**—वही ब्रह्म जब अचिन्त्य विविध रूप विशिष्ट जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय करते हैं, तब ईश्वर कहलाते हैं। वही ब्रह्म इस संसार के निमित्त और उपादान कारण हैं।
3. वही ब्रह्म 'एकोऽहं बहुस्याम्' के अनुसार स्वीय चित् अंश को अनन्तरूप से प्रसारण करके अपने स्वरूप से अनन्त (अणोरणीयान् महतो महीयान्) के रूप में प्रकाशित जगत् के प्रत्येक अंश में पृथक्-पृथक् रूप में अनुप्रविष्ट चिदंश समूह को ही जीव कहा गया है।
4. ब्रह्म के जिन अनन्त रूपों में चिदंश (जीव) प्रविष्ट हुए हैं, उन्हीं अनन्त रूप समूह का नाम ही जगत् है।

श्रुति-स्मृतियों के अनुसार—उक्त चारों स्वरूपों में ब्रह्म परिपूर्ण रूप से विराजमान है। अतः ब्रह्म को वेदशास्त्रों ने चतुष्पाद कहा है। अर्थात् उस ब्रह्म के चार स्वरूप होने पर भी वह सर्वदा सर्वत्र पूर्ण रूप से विद्यमान है। यह श्रुति सम्मत है। यथा—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

वह इन्द्रियातीत कारण ब्रह्म चतुष्पाद होते हुए भी सर्वत्र पूर्णरूप से है, यह कार्यरूप जगत् भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण रूप कारण ब्रह्म से कार्य रूप पूर्ण जगत् की अभिव्यक्ति होती है और पूर्ण रूप इस कार्यात्मक जगत् के पूर्णत्व को ग्रहण करके प्रलय काल में पूर्ण रूप ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है।

स्वाभाविक द्वैताद्वैत-दर्शन

'द्वयोर्भावः द्वित्ता, द्वित्ता एव द्वैतम्' जीव और जगत् से ब्रह्म भिन्न जाना गया। वह द्वैत अर्थात् जीव और जगत् से ब्रह्म जिस सिद्धान्त से अभिन्न जाना गया, वह सिद्धान्त अद्वैत कहा जाता है, किन्तु श्रुति-स्मृति प्रमाणों से जीव और जगत् से ब्रह्म जिस सिद्धान्त से स्वाभाविक रूप से द्वैत भी और अद्वैत भी अर्थात् भिन्न भी और अभिन्न भी ज्ञात हो, वह स्वाभाविक द्वैताद्वैत या भेदाभेद सिद्धान्त कहा जाता है। भगवान् निम्बार्क का यही द्वैताद्वैत सिद्धान्त है।

दार्शनिक विचार से देखा जाय तो निश्चय होता है कि ब्रह्म जीव और जगत् रूप में प्रकाशित होते हुए भी जब जीव और जगदतीत रूप से वर्तमान है, तब वह जीव और जगत् से भिन्न है, जीव और जगत् जब उसी ब्रह्म का प्रकाशित रूप है, तब जीव और जगत् से वह अभिन्न भी है। अतः ब्रह्म और जीव जगत् में पारस्परिक स्वभाविक रूप से भेद और अभेद दोनों ही सम्बन्ध है। इसी को भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत सिद्धान्त कहते हैं। भगवान् निम्बार्क इसी भेदाभेद सिद्धान्त के प्रकाशक हैं।

प्रमाण—

अविभागोऽपि समुद्रतरंगयोरिव, सूर्यवत्प्रभयोरिव तयोर्विभागः स्यात्।
(ब्र.सू. भाष्य 2/1/13)

जैसे समुद्र और तरंग अभिन्न होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न भी है एवं सूर्य और सूर्य की प्रभा अभिन्न होते हुए भी भिन्न है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म अभिन्न होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न है।

भूविकार वज्र-वैदूर्यादिवत् ब्रह्माभिन्नोऽपि क्षेत्रतः स्वरूपतो भिन्न एव।
(ब्र.सू. भाष्य सूत्र 2/9/22)

जैसे वज्र, वैदूर्यादि पृथ्वी का विकार होने से पृथ्वी से अभिन्न होते हुए भी स्वरूप से भिन्न हैं, इसी प्रकार जीव ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न है। इत्यादि प्रमाणानुसार भगवान् निम्बार्क ने ब्रह्म और जीव को नित्य और स्वाभाविक भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध कहा है।

इसी प्रकार जगत् और ब्रह्म में भी भेदाभेद सम्बन्ध प्रमाण सिद्ध है—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। (ब्र.सू. 2-1-14)

कारण से कार्य का अभेद है।

यथाश्रुति प्रमाण

कार्यस्य कारणानन्यत्वमस्ति, न त्वत्यन्तभिन्नत्वम्। कुतः? वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

एतदात्मिदं सर्वम्। तत्सत्यम्। तत्त्वमसि। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

भगवान् निम्बार्क ने और भी विन विभिन्न प्रमाणों तथा दृष्टान्तों द्वारा कारण ब्रह्म से कार्य जगत् का अभेद सम्बन्ध दिखाया है, उनका उल्लेख यहाँ विस्तारभय से नहीं किया जा रहा है।

'जन्माद्यस्य यतः।' 'प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः।' इत्यादि ब्रह्मसूत्र भाष्य में ब्रह्म को जगत् की सृष्टि स्थिति और लय कर्त्ता और जगदतीत बताने से ब्रह्म और जगत् में भेद भी कहा गया है। अतएव ब्रह्म और जगत् में भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध है।

जैसे—दुग्ध में घृत अमूर्त रूप से विद्यमान है, वैसे ही समस्त वेद-शास्त्रों में द्वैताद्वैत सिद्धान्त की स्थिति निहित (अन्तर्निहित) है, उसी का प्रकाशन-भगवान् श्रीनिम्बार्क ने लोकहिताय किया। अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक भगवान् श्री शंकराचार्य ने भी अपने जीवन की अन्तिम स्थिति में द्वैताद्वैत सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए कहा—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन, समुद्रो न तारंगः।।

हे नाथ! सिद्धान्त में जीव व ब्रह्म का भेद होने पर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं, अर्थात् मुझ पर आपका सर्वाधिकार है, आप पर मेरा नहीं। यही भगवान् शंकर ने अपने स्वाभाविक एवं अन्तर्भाव को प्रभु के समक्ष स्पष्ट करते हुए द्वैताद्वैत सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

इस प्रकार गम्भीर विचार करने पर सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में यत्र-तत्र सर्वत्र स्वाभाविक द्वैताद्वैत-सिद्धान्त के दर्शन होंगे।

भारतीय वाङ्मय के मुकुटमणि श्रीभगवत्गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये, यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्।। (9/15)

साधकगण मुझे ज्ञान यज्ञ के द्वारा भजन करते हुए एक रूप से (अद्वैत भाव से) पृथक् रूप से (द्वैतभाव से) एवं विविध रूप से उपासना करते हैं।

अन्ये च संस्कृतात्मनो विधिनाभिहितेन ते।
यजन्ति तन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम्।। (भा. 10-40-7)

अनेक निर्मलान्तकरण उपासक शास्त्र-विधि के अनुसार अनेक मूर्ति एवं एक मूर्ति के रूप में आपकी उपासना करते हैं।

अन्तर्यामि जगद्रूपी सर्वसाक्षी निरञ्जनः।
भिन्नाभिन्नस्वरूपेण स्थितो वै परमेश्वरः।। (बृ.ना. पु. 3-27)

वह ब्रह्म अन्तर्यामी जगद्रूपी सर्वसाक्षी निर्मल एवं परमपावन है। वे भिन्नाभिन्न (द्वैताद्वैत) रूप से सर्वत्र विराजमान है।

द्वैतं चैव तथाद्वैतं द्वैताद्वैतं तथैव च।। (दक्ष सं. 7/48)

द्वैत, अद्वैत तथा द्वैताद्वैत, इस प्रकार से जो मत हैं, उनमें द्वैत या अद्वैत पारमार्थिक नहीं है, द्वैताद्वैत ही पारमार्थिक सर्वमान्य सिद्धान्त है।

गोस्वामी तुलसीदास जी का अपना सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत होते हुए भी उन्होंने पारमार्थिक रूपेण द्वैताद्वैत सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है—

गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दौ सीताराम पद जाहि, परम प्रिय खिन्न।।

इत्यादि सत्य शास्त्र वचनों द्वारा यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म और जीव जगत् में स्वाभाविक द्वैताद्वैत सम्बन्ध है। यही सभी शास्त्रों का सिद्धान्त है।

भगवान् श्री सर्वेश्वर

शास्त्रीय उपासना के अन्तर्गत विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपति की उपासना सनातन धर्म का अंग है और जितना सनातन धर्म प्राचीन है, उतनी उक्त उपासना भी प्राचीन है। अर्थात् वैदिक सनातन धर्म अनादि और अनन्त है, अतः उक्त उपासना भी अनादि और अनन्त है।

वैष्णव उपासना में शालग्राम उपासना का बड़ा महत्त्व है और सभी वैष्णव प्रायः शालग्राम की उपासना अपने अपने इष्ट के अनुरूप करते आ रहे हैं। शालग्राम की उपासना में यह एक महती विशेषता है कि उपासक का जो भगवत्स्वरूप इष्ट हो, उसी की उपासना शालग्राम के रूप में की जाती है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीराधाकृष्ण की उपासना इष्ट है। श्री सर्वेश्वर प्रभु (शालग्राम) श्री निम्बार्काचार्य जी के उपास्य राधाकृष्ण के रूप में हैं। अनन्त कोटि, ब्रह्माण्ड नायक परात्पर परमेश्वर के अनन्त नामों में श्री सर्वेश्वर नाम श्री निम्बार्क के इष्ट शालग्राम का नाम है। जगद्गुरु निम्बार्काचार्यों के परमाराध्य भगवान् श्री सर्वेश्वर प्रभु श्री शालग्राम का प्राचीनतम और सूक्ष्म विग्रह है। शास्त्रों के अनुसार श्री सर्वेश्वर प्रभु श्रीब्रह्मा के मानसपुत्र सनकादिकों के संसेव्य हैं। सनकादिकों के द्वारा यही सेवा हरिभक्त शिरोमणि वीणापाणि श्रीनारद को प्राप्त हुई और तत्पश्चात् यही श्री सर्वेश्वर प्रभु सेना भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के प्रिय आयुध श्रीचक्रसुदर्शनावतार निम्बार्क सम्प्रदाय के आद्याचार्य जगद्गुरु भगवान् श्री निम्बार्काचार्य को द्वापर युग के अन्त में श्री नारद मुनि से सम्प्राप्त हुई। श्री सर्वेश्वर प्रभु का इतना सूक्ष्म विग्रह संसार में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य से परवर्ती समस्त आचार्यों की पूर्वाचार्यों द्वारा परम्परा के रूप में उक्त श्री सर्वेश्वर सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है। उक्त अविच्छिन्न परम्परा के अनुसार पूर्वाचार्यों द्वारा संसेवित श्री सर्वेश्वर प्रभु अद्यावधि अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ, निम्बार्क तीर्थ, सलेमाबाद (अजमेर) राजस्थान में विराजमान हैं।

जिस रूप में भगवान् श्री सर्वेश्वर प्रभु का उपनिषदों में वर्णन है, वही श्री सर्वेश्वर भगवान् निम्बार्क के आराध्य हैं।

एष सर्वेश्वरः सर्वज्ञ, एषोऽन्तर्याम्येष।
योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययो हि भूतानाम्।। (माण्डूक्योपनिषद्-6)

जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीनिम्बार्कपादपीठाधीश्वर श्री निम्बार्कशरण देवाचार्य जी महाराज ने अपने आचार्य परम्परा प्राप्त प्रभु के रूप में श्री सर्वेश्वर का स्तवन करते हुए श्री सर्वेश्वर प्रभु के प्रिय स्तोत्र में लिखा है—

कृष्णं सर्वेश्वरंदेवमस्माकं कुलदैवतम्।

शास्त्रों में शालग्राम के सूक्ष्म स्वरूप का विशेष महत्त्व माना है—

तत्राप्यामलकी तुल्या,
पूज्या सूक्ष्मैव या भवेत्।
यथा यथा शिला सूक्ष्मा-
तथा स्यात्तन्महत्फलम्।।

उक्त शास्त्रप्रमाण से भी अतिसूक्ष्म गुञ्जाफल सदृश श्री सर्वेश्वर प्रभु का उक्त स्वरूप आज भी हमारे प्रातः स्मरणीय अनन्तश्रीविभूषित भगवान् निम्बार्क स्वरूप वर्तमान जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य जी महाराज द्वारा संसेवित आचार्यपीठ में विराजमान हैं, जिनकी आराधना आचार्य परम्परा के अनुसार आज भी यथावत् संचालित है। वर्तमान आचार्यश्री श्रीसर्वेश्वर की उपासना सम्बन्धी शास्त्रीय परम्परा का अक्षुण्ण रूप से परिपालन करते हुए पूर्वाचार्यों की प्रशस्त पद्धति पर सम्यक्तया आज भी समारूढ हैं, यह निम्बार्क-जगत् के लिए गौरव का विषय है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है—श्री निम्बार्काचार्य के उपास्य श्री सर्वेश्वर प्रभु राधाकृष्ण के रूप में आराध्य हैं।

प्राचीन परम्परानुसार नित्यप्रति मंगला आरती के पश्चात् श्री सर्वेश्वर प्रभु का पुरुषसूक्त द्वारा वैदिक विधि से अभिषेक होता है। अभिषेक के पश्चात् ही श्रीसर्वेश्वर प्रभु के दर्शन कराये जाते हैं। विग्रह गुञ्जा फल सदृश ही है, जिसके मध्य एक गोलाकार चक्र और चक्र के मध्य में दो सूक्ष्म ऊर्ध्व रेखायें लक्षित होती है। ये दोनों रेखाएँ प्रिया-प्रियतम युगल श्रीराधाकृष्ण की द्योतक मानी जाती हैं। यह दर्शन सामान्य रूप से नहीं हो सकता, अतः सूक्ष्मदर्शी यंत्र से दर्शन करने पर ही उक्त छवि का दर्शन सम्भव होता है।

श्रीराधाकृष्ण युगल स्वरूप से ही निम्बार्क सम्प्रदाय के सर्वस्व माने गये हैं। परमाराध्य श्रीकृष्ण नित्य वृन्दावन बिहारी हैं और उनके वामांग में उनकी आह्लादिनी शक्ति के रूप में श्री राधा विराजमान हैं। भगवान् श्रीनिम्बार्क कृत दशश्लोकी (वेदान्त कामधेनु) में उक्त छवि का इस प्रकार वर्णन हुआ है—

अङ्के तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।

सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।

यह सम्प्रदाय पूर्णतः वैदिक है, अतः सम्प्रदाय का व्यापक दृष्टिकोण है, अतः भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना के साथ भगवान् के अन्यान्य अवतार स्वरूप के साथ नितान्त अभिन्नता मानी गयी है। निम्बार्क सम्प्रदाय के आराध्य श्रीकृष्ण उपनिषदों में वर्णित परात्पर पूर्णतम परमात्मा है। वहीं श्रीकृष्ण ऐतरीय उपनिषदानुसार 'रसो वै सः' रस स्वरूप परम पुरुष हैं। वही श्रीकृष्ण पुरुषसूक्त के पुरुष रूप हैं। 'पुरुषेवेदं सर्वम्।' उस रस स्वरूप परमानन्द से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है। वही राधामाधव युगल इस सम्प्रदाय के सर्वस्व हैं। यहाँ केवल श्रीकृष्ण या केवल श्रीराधा उपास्य नहीं हैं, अपितु राधाकृष्ण युगल ही उपास्य हैं।

'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्याः।' इस वेद मंत्र में श्री से श्रीराधा का संकेत है। श्रीराधा श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। श्रीकृष्ण विष्णु के परात्पर स्वरूप हैं और श्रीराधा अनन्त लक्ष्मियों की मूलरूपा हैं।

सा तु साक्षान्महालक्ष्मीः,
कृष्णो नारायणः स्वयम्।।

जैसे राधा श्रीकृष्ण की आह्लाद रूपा है, तो श्रीकृष्ण आनन्द रूप है, अर्थात् आह्लाद के आनन्द हैं। यहाँ श्रीकृष्ण और राधा का अभेद स्वरूप माना गया है। एक स्वरूप (सदा द्वैताम्) महावाणी।

मैवेयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
र्देहेनैकः क्रीड़ार्थं द्विधाभूत्। (श्रीराधा तापिनी)

नैतयोर्विद्यतेभेदः स्वल्पोऽपि मुनिसत्तमः। (पद्मपुराण)

निम्बार्क सम्प्रदाय के आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण विष्णु के परात्पर मूल रूप हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन के नित्य-निकुंजबिहारी, नित्यरसमयी ललितलीला करने वाले हैं। इस परम दिव्य स्वरूप का विश्व के सृजन, पालन, संहरण आदि सृष्टि कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है, उक्त सृष्टि के कार्य तो परात्पर भगवान् श्रीसर्वेश्वर के श्रीनारायण ब्रह्मादि रूपों से ही होते रहते हैं। वे तो नित्य लीला बिहारी—'रसो वै सः' है।

वेद माता गायत्री के भर्ग भी निम्बार्क सम्प्रदाय के आराध्य श्रीकृष्ण ही माने गये हैं इसका प्रमाण आद्याचार्य प्रणीत वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी के—"स्वभावतोपास्त-समस्तदोषम्।" इस श्लोक की आचार्यवर्य श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी कृत भाष्य वेदान्तरत्न मञ्जूषा (116) पृष्ठ है।

इस सम्प्रदाय में राधा के लिए श्रीशब्द एवं श्रीकृष्ण के लिए पुरुषोत्तम शब्द का प्रयोग जहाँ भी हुआ है, वह अभिप्राय पूर्ण है। श्री शब्द का तात्पर्य वैदिक 'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च' इस मंत्र की श्री से है और पुरुषोत्तम का भाव भगवद्गीता में वर्णित पुरुषोत्तम से है। जैसा कि गीता में कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत् अहं सर्वस्य प्रभवः।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं मामेकं शरणं व्रज।।

इत्यादि गीता के परम प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण हैं। यही श्री पुरुषोत्तम नित्यनिकुंजबिहारी, यही वृन्दावनचन्द्र, नन्दनन्दन हैं। यही माधुर्य, ऐश्वर्य का सार सर्वस्व रसिकशेखर श्रीकृष्ण ही आचार्य श्रीनिम्बार्क के आराध्य हैं। श्रीराधा के अनन्तानन्त नामों में श्री शब्द सर्वातिशय पूर्ण एवं अनन्तमाधुर्य ऐश्वर्य का द्योतक है। इस सम्प्रदाय में प्रसंगवश श्रीराधा को रमा, लक्ष्मी, रुक्मणी शब्दों से भी अभिहित किया गया है। यहाँ गोपीजनवल्लभ के रूप में भी अपने आराध्य का स्मरण किया गया है। गोपी शब्द से श्रीराधा एवं उनके पाँकर स्वरूप सखिवृन्द अभिहित है। गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण किशोर ही माने जाते हैं, अतः किशोर युगल श्रीकृष्ण ही निम्बार्क भगवान् एवं सम्प्रदाय के आराध्य हैं। **नित्यकिशोरी राधिका, नित्यकिशोर नन्दनन्दन।**

वेदों में भी श्रीकृष्ण को नित्य—किशोर ही माना है।

'श्रीकुञ्ज', शास्त्री सदन, नेहरू नगर, ब्यावर (राजस्थान)

❑

मन्त्रराज और श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय

वैद्यनाथ झा, प्रधानाचार्य नि.सं.म. विद्यालय, वृन्दावन

विभिन्न उपासक-सम्प्रदायों की अपनी-अपनी अलग विशेषताएँ हैं। किसी सम्प्रदाय में सेवा की प्रधानता है, तो कहीं पूजा की, कहीं कीर्तन की प्रधानता है, तो कहीं पद गायन की। पर निम्बार्क सम्प्रदाय भावना-प्रधान सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय में श्रीराधा-माधव युगल की मानसिक रसमय भावना तथा अष्टयाम चिन्तन की प्रधानता रही है और इसका माध्यम है—महामहिम मन्त्रराज श्रीअष्टादशाक्षर गोपाल मन्त्र।

इस सम्प्रदाय में दो मन्त्र देने की प्रथा है, एक शरणागति मन्त्र, दूसरा श्रीगोपाल मन्त्र। शरणागति मन्त्र तान्त्रिक मन्त्र है, जिसका उद्गम श्रीनारद पाञ्चरात्र है। दूसरा अष्टादशाक्षर श्रीगोपाल मन्त्र-वैदिक मन्त्र है। अथर्ववेद के पिप्पलाद शाखा की श्रीगोपाल-तापिनी उपनिषद् का यह मन्त्र है। इसके कल्प ग्रन्थ हैं—गौतमीय तन्त्र, सनत्कुमार संहिता, ज्ञानामृत संहिता तथा क्रमदीपिका। इन ग्रन्थों में इस मन्त्र की पूरी इतिकर्त्तव्यता निर्दिष्ट है।

आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र की भी इन दोनों मन्त्रों पर व्याख्या है। शरणागति मन्त्र की व्याख्या का नाम प्रपन्न कल्पवल्ली है, जिसमें पचीस श्लोक हैं, जिन पर सम्प्रदाय के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य श्रीसुन्दरभट्टजी की विशद व्याख्या है, जिसका नाम **'प्रसन्न सुरतरु मञ्जरी'** है। श्रीगोपाल मन्त्र की व्याख्या का नाम **मन्त्र रहस्य षोडशी** है। इस पर भी श्रीसुन्दरभट्टजी की व्याख्या मन्त्रार्थ रहस्य व्याख्या है। ये दोनों पुस्तकें मुद्रित हैं। पहली पुस्तक पं. श्रीकिशोरदासजी बंशीवट के प्रयास से वर्धमान के महान्त श्रीमधुसूदनशरणदेवाचार्यजी ने छपवाई है। दूसरी पुस्तक दतियावाली कुञ्ज-वृन्दावन के महान्त श्रीरामचन्द्रदासजी ने छपवायी है।

ये दोनों पुस्तकें रहस्य के ग्रन्थ माने जाते हैं। अतः इन्हें रहस्य मीमांसा भी कहते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में शरणागति का बहुत सुन्दर विवेचन हुआ है। इनके अतिरिक्त जगद्विजयी आचार्य श्रीकेशवकाश्मीरीजी महराज की क्रमदीपिका में भी मन्त्रराज की व्याख्या है। पुष्पेषु मनु कल्प सौरभ में भी, जो 1945 वि.सं. में लिखी गयी है, बीज मन्त्र का बड़े विस्तार के साथ विवेचन हुआ है। इस पुस्तक में बीज की बड़ी महिमा गायी गयी है। इनके अतिरिक्त वर्तमान समय के सम्प्रदाय के उद्भट विद्वान् दार्शनिक सार्वभौम श्रीराधा कृष्णैक-जीवन हमारे पूज्यपाद गुरुदेव पं. श्री भगीरथ जी झा हरिपुर, दरभंगा (बिहार) की भी इस पर बड़ी विस्तृत व्याख्या **वेदान्त तत्त्व समीक्षा** है।

अष्टादशाक्षर श्रीगोपाल मन्त्र के पाँच पद हैं। अतः इसे पञ्चपदी कहते हैं 'एतं पञ्च व्याहृतिमयं कृष्णावभासकं सततमावर्तयेत् सततमावर्तयेत्' (श्रीगोपालतापिनी) गौतमीय तन्त्र

एवं क्रमदीपिका में इसे वाञ्छा-चिन्तामणि कहा गया है। सम्प्रदाय में इसे मन्त्रराज कहा जाता है। तन्त्र ग्रन्थों में भी इसे वैष्णव मन्त्रों का राजा कहा गया है। इसके पाँच पद पञ्चव्याहृतिमय माने गये हैं। यह महामन्त्र राधामाधव युगल का प्रकाशक है। इसे अनवरत जप करते रहना चाहिये। विश्व में कोई ऐसा दर्द नहीं जो इस मन्त्रराज के अनुष्ठान से सिद्ध न हो सके। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—कोई पुरुषार्थ ऐसा नहीं जो इस महामहिम मन्त्रराज के प्रभाव से प्राप्त न हो सके। इसके ऐश्वर्य एवं माधुर्य दो पक्ष हैं। सम्प्रदाय में कई ऐसे प्रभावी आचार्य हुए, जिन्होंने मन्त्रराज के प्रभाव से अनेक लोकोपकारी अद्भुत चमत्कार दिखाये हैं। 14वीं सदी में मथुरा में जब यवन फकीरों ने हिन्दुओं के विरुद्ध अत्याचार करने प्रारम्भ किये, उस समय सम्प्रदाय के जगद्-विख्यात आचार्य श्रीकेशव काश्मीरिजी ने इसे मन्त्रराज के प्रबल प्रभाव से त्रस्त उत्पीड़ित हिन्दु जनता की रक्षा की थी। मनुष्यों की तो बात ही क्या, देवी तक को दीक्षित कर शिष्या बनाने की सामर्थ्य आचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी को इसी मन्त्रराज की देन थी। आधुनिक काल में भी ब्रह्मचारी श्रीगिरिधारीशरणजी महाराज ने इसी मन्त्र के बल पर अनेकानेक राजाओं को शिष्य बनाया था और उनके द्वारा अनेक विशाल मन्दिर बनाये थे। जिसके ज्वलन्त उदाहरण वृन्दावन के प्रसिद्ध मन्दिर, जयपुर एवं ग्वालियर वाले राजा के मन्दिर हैं। यह सब मन्त्रराज का ही चमत्कार था। यही मन्त्रराज श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय का मुख्य धन एवं बल था। इसी के बल पर राजस्थान के समस्त राजा-महाराजा श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों के समक्ष नतमस्तक होते थे—उनसे दीक्षा ग्रहण करते थे। खेद है कि आज सम्प्रदाय में इसकी ओर ध्यान कम जाता है। पर मन्त्रराज का यह गौण पक्ष है, आनुषङ्गिक फल है। इसका मुख्य पक्ष माधुर्य है। क्योंकि इसमें गोपीजनवल्लभ रूप में श्रीकृष्ण का चिन्तन है। इसका बीज काम बीज है। इसमें साक्षात्-मन्मथ के रूप में श्रीश्यामसुन्दर का चिन्तन है। बीज में नित्यविहार का ध्यान बताया गया है। इसके ककार रसिकशेखर श्रीकृष्ण हैं। ईकार पूर्णानुराग रससागर सारमूर्ति रासेश्वरी श्रीराधा हैं। लकार, मकार एवं चन्द्रबिन्दु उन दोनों का अनन्त सखी परिकर सहित अन्योन्य रस-विलास का बोधक है। इसके साथ काम-गायत्री के जप का सम्प्रदाय में विधान है। इस प्रकार काम-बीज, काम-गायत्री तथा काम-माला, वृन्दावन योगपीठ तथा श्री गोपीजनवल्लभ रूप में श्रीकृष्ण का रसमय चिन्तन सम्प्रदाय की रसोपासना में सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं।

इसका एक पक्ष शरणागति अर्थात् सर्वात्म भाव से प्रभु पाद-पद्मों में आत्म-समर्पण भी है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

पहला पद कामबीज है। आचार्यपाद ने इसका प्रणव के साथ एकत्व बताया है। इसमें तीन अक्षर हैं—क्ल, ई, म्। प्रणव में भी तीन ही वर्ण हैं—अ, उ, म्। अकार का अर्थ है श्रीकृष्ण। 'अकारो वासुदेवः स्यात्'। 'उ' का अर्थ है गुरु और 'म्' का जीव। ऐसे ही 'क्ल' अर्थ श्रीकृष्ण, 'ई' गुरु तथा 'म्' का अर्थ जीव माना गया है। इस प्रकार प्रणव और बीज में अभिन्नता बतायी गयी है। शेष मन्त्र इसी का विवरण माना गया है। इसमें चरमार्थ (जीव) को हवि एवं मध्यमार्थ (गुरु) को स्रुवा बनाकर प्रथमार्थ वासुदेव श्रीकृष्ण में हवन करने अर्थात् समर्पण करने का विधान किया गया है। इसमें प्रपत्ति का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप बतलाया गया है।

शेष मन्त्र इसी बीजराज की व्याख्या माना गया है। इनमें कृष्णाय-गोविन्दाय—इन दो पदों से बीज के प्रथमार्थ (क्ल) की व्याख्या है। जिनमें प्रथम कृष्णाय पद के द्वारा सर्वेश्वर श्रीकृष्ण का स्वरूप, लक्षण एवं तटस्थ लक्षण के द्वारा चिन्तन किया गया है और द्वितीय गोविन्दाय पद द्वारा परमात्मा श्रीकृष्ण की अखण्ड सत्ता में वेद लक्षण प्रमाण का अनुसंधान किया गया है।

इस प्रकार औपनिषद् पुरुष के रूप में अनन्त गुण शक्त्यादि विशिष्ट आराध्य श्रीकृष्ण का अनुचिन्तन हुआ है। चतुर्थ आराध्य श्रीकृष्ण का अनुचिन्तन हुआ है। चतुर्थ पद गोपीजनवल्लभ में चरमार्थ (जीव) श्रीगुरुदेव के साथ संयोग बताया गया है और अन्तिम पद स्वाहा से आत्म आत्मीय रूप समस्त त्वंकार ममकारास्पद वस्तुओं का श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण में समर्पण रूप पराभक्ति का चिन्तन हुआ है। इस प्रकार इस दैनिक जाप्य महामन्त्र में सम्पूर्ण शरणागति वाक्यों, तत्त्वमसि आदि महावाक्यों तथा सम्पूर्ण शारीरिक मीमांसा के उदात्त एवं असमोर्ध्व भावों एवं सम्प्रदायप्रसिद्ध अर्थ पञ्चक का भी अनुशीलन हुआ है। यह है—श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय का उदात्त, वैदिक शरणागति का दिव्य स्वरूप। पर खेद है कि आज साधक-सन्तों में इस व्यापक भावना का समादर नहीं दीखता।

❑

श्रीनिम्बार्कोपदिष्ट पञ्चसंस्कार

श्री विश्वामित्र व्यास, सलेमाबाद

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आद्याचार्य चक्रराज श्रीसुदर्शनावतार श्रीभगवन् निम्बार्काचार्य द्वारा उपदिष्ट पञ्च-संस्कार वैष्णवत्व का मूल आधार है। इसका प्रतिपादन विभिन्न पुराणशास्त्रों में उपलब्ध है। चारों महर्षि श्री सनकादिक और साक्षात् गुरु देवर्षि श्रीनारदजी दोनों जगद्गुरु वैष्णवों के पञ्च संस्कार (स्वैतिह्य संस्कार) विधिव्रत के पालक और प्रचारक हैं तथा श्रीश्यामसुन्दर के ही अंशकला रूप अवतार उनके भजन में तत्पर रहने वाले हैं। उन्हीं से प्राप्त उपदेशांतर्गत श्री भगवन् निम्बार्काचार्य ने, वैष्णवधर्म प्रचार-प्रसार हेतु तथा जीव को भगवत् शरणागति प्रदान कराने हेतु निम्बार्क सम्प्रदाय में पञ्चसंस्कारों (स्वैतिह्य) के विधान-व्रताचरण का आदेश किया है, जो आद्योपान्त वैष्णवों द्वारा ऐतिह्य (सम्प्रदाय परम्परा) आचरित है।

श्रीनिम्बार्क भगवान् ने अनुगत रहने वाले अपने शिष्यों में प्रमुख स्वसिद्धान्त को धारण करने वाले श्री औदुम्बरजी को अटल स्वैतिह्य (पञ्च संस्कार) संस्कार विधान का व्रत स्पष्ट रूप से बतलाया और आदेश किया कि श्रीनिवासातुग! अनेकानेक अर्थों से संगत मेरा कहा हुआ स्वैतिह्य संस्कार (पञ्च संस्कार) विधिव्रत का श्रवण करो, जिससे श्री राधामुकुन्द के चरण-कमलों का दर्शन प्राप्त हो सके। यथा—

''त्वं श्रीनिवासातुग सन्निबोध मे,
समुच्यमानं विविधार्थ-संगतम्।
स्वैतिह्यसंस्कारविधिव्रतं शुभं,
राधामुकुन्दांघ्रितयानुदर्शनम्।।'' (औदुम्बर-संहिता)

इसी के साथ यह भी निर्देश किया है कि जब तक कोई विद्वान् यदि परम्परागत धर्म का साधन न करे तो सम्प्रदाय बहिर्मुख वह व्यक्ति अन्य भी चेष्टा न करे। यथा—

पारम्पर्यागतं धर्मं यावन्न साधयेत् सुधीः।
तावत् किमपि नेतेह सम्प्रदायविवर्जितम्।। (औदुम्बर-संहिता)

श्रुति, स्मृति, पुराणादि शास्त्रों में वैष्णव धर्म एक विशिष्ट धर्म माना गया है तथा उसके सम्बन्ध में विस्तृत विधान बतलाया गया है। उसीके अन्तर्गत वैष्णव पञ्चसंस्कार प्रमुख माने गये हैं। तंत्र ग्रन्थों में दीक्षा के अंग स्वरूप इन्हीं पाँच संस्कारों का उल्लेख मिलता है—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मंत्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्चसंस्काराः परमैकान्तहेतवः।। (नारदपञ्चरात्र)

पाठान्तर में यही श्लोक सम्प्रदाय परम्परा में 'माला मंत्रश्च' इस प्रकार बतलाया गया है। यथा—

तापः पुण्ड्रं तथा नाम माला मन्त्रश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्चसंस्कारा परमैकान्तहेतवः।।

वैष्णवों के लिए श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय विधान व्रतानुसार क्रमशः गोपीचन्दनयुक्त ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, भुजाओं पर शङ्खचक्र, गुरुदेव द्वारा भगवत् सम्बन्धी नामकरण, गले में तुलसी की कण्ठी और मंत्रोपदेश ये पाँचों संस्कार परम पद अर्थात् भगवत् प्राप्ति के हेतु (कारण) स्वरूप हैं।

('यागश्च पञ्चमः' यहाँ याग से तात्पर्य भगवत् आराधना, अर्चन, जपादि नित्यकर्मादि से है।)

जिस प्रकार गर्भाधानादि षोडश संस्कारों के करने से द्विजों में द्विजत्व प्राप्त होता है, उसी प्रकार इन पाँच संस्कारों के करने से मनुष्यों में वैष्णवत्व आ जाता है। कण्ठी, तिलक तथा शङ्ख, चक्र धारण करना वैष्णवों की पहिचान है। जिसके गले में विष्णुप्रिया तुलसी की कण्ठी, मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक और दोनों भुजाओं पर शङ्ख चक्र दिखाई देते हैं, उसे देख कर प्रत्येक व्यक्ति यह समझ जाता है कि यह व्यक्ति वैष्णव है। ये वैष्णवता के बाह्य परिचायक चिह्न भी हैं।

वेद पुराणादि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, तुलसी की कण्ठी, शङ्ख चक्रादि, भगवत्परक नाम-संस्कार एवं गुरु मंत्र, जाप उपासना का विस्तृत वर्णन मिलता है। अतः पाँचों संस्कारों का दिग्दर्शन इस प्रकार है।

1. ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक (प्रथम संस्कार)

'गोपीचन्दनवारिस्थमूर्ध्वपुण्ड्रं विधीयते' वासुदेवोपनिषद् के इस प्रमाणानुसार गोपीचन्दन को हथेली पर जल में घिसकर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक करने का विधान है। वासुदेवोपनिषद् में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि मेरे भक्त ब्रह्मादि देवों द्वारा मेरे शरीर में धारण कराये हुए इस विष्णुचन्दन को परम प्रेमभक्तिरता गोपिकाओं ने जिस स्थान पर स्नान करा कर धोया है, वह स्थान भेंट द्वारिका के समीप 'गोपीतालाब' नाम से विख्यात है। वहाँ आज भी गोपीचन्दन की बहुत सी खानें हैं। वहाँ इस गोपीचन्दन की खुदाई में कई टुकड़ों में शङ्ख चक्रादि के चिह्न भी दिखाई पड़ते हैं। भगवान् श्रीहरि के अंग स्पर्श से परम पवित्र तथा समस्त पापनाशक यह विष्णु-चन्दन भक्ति और मुक्ति का देने वाला है। भगवान् श्रीकृष्ण को गोपीजनों के द्वारा स्नान करा कर धोये जाने से तथा गोपीतालाब से उत्पन्न होने के कारण इसका नाम गोपीचन्दन पड़ा है।

गोपीचन्दनयुक्त ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक के माहात्म्य विषयक शास्त्रों में यहाँ तक वर्णन है कि—

क्रियाविहीनं यदि मंत्रहीनं
श्रद्धाविहीनं यदि कालवर्जितम्।।
कृत्वा ललाटे यदि गोपिचन्दनम्
प्राप्नोति तत्कर्मफलं सदाक्षयम्।। (गरुड पुराण)

क्रियाविहीन, मंत्रहीन, श्रद्धाहीन और समय पर कर्म करने वाला न हो, तो भी यदि ललाट में गोपीचन्दन लगाकर शुभ कर्म करता है, तो वह उस कर्म का अक्षय फल प्राप्त करता है।

श्री विष्णु भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा है—

यो मृत्तिकां द्वारवतीसमुद्भवां करे समादाय ललाटपट्टके।
करोति नित्यं पुरुषोर्ध्वपुण्ड्रं क्रियाफलं कोटिगुणं तदा भवेत्।। (गरुड पुराण)

जो द्वारिका से समुत्पन्न गोपीचन्दन को हाथ में लेकर (घिसकर) ललाट देश में ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करता है, तो उसका पुण्य कर्म कोटि गुणा अधिक फलदायक होता है।

गोपीचन्दन धारण करते समय गोपीचन्दन का ध्यान (नमस्कार प्रार्थना) करने का भी क्रम बताया गया है। यथा—

गोपीचन्दन! पापघ्न! विष्णुदेहसमुद्भव!।
चक्राङ्कित! नमस्तुभ्यं धारणान्मुक्तिदो भव।।

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक के लिए गोपीचन्दन को ही उपयुक्त माना गया है। भस्मादि से ऊर्ध्वपुण्ड्र का निषेध किया गया है। यथा—

न कदाचिन्मृदा तिर्यक् न्यसेदूर्ध्वं न भस्मना।
उभयं चन्दनेनैव वर्तुलं न कदाचन।। (हारिति)

तथा च—

ब्राह्मणेनैव मृद्धार्या न भस्म न च चन्दनम्।

ऊर्ध्वपुण्ड्र की महिमा पद्मपुराण में इस प्रकार वर्णित है—

ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रः सर्वलोकेषु पूजितः।
विमानवरमारुह्य याति विष्णोः परं पदम्।।
ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो विप्रः यः श्राद्धे भोजयिष्यति।
आकल्पकोटिपितरः तस्य तृप्ताः न संशयः।
ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो यस्तु कुर्याच्छ्राद्धं शुभानने!
कोटिकल्प-सहस्राणि वैकुण्ठे वासमाप्नुयात्।। (पद्मपुराण)

अर्थात् ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक करने वला सब लोकों में पूज्य माना जाता है। शरीर त्यागने के पश्चात् उत्तम विमान पर आरूढ़ होकर विष्णुलोक को प्राप्त होता है।

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलकधारी विप्र को जो श्राद्ध में भोजन कराता है, उसके पितृगण कोटि कल्प तक निस्संदेह तृप्त रहते हैं।

भगवान् आशुतोष ने उमा से कहा है कि ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करके जो श्राद्ध कर्म करता है, वह वैकुण्ठ में निवास करता है।

काशीखण्ड में भी गोपीचन्दन का महत्त्व इस प्रकार बताया है—

दूता शृणुत यद्भालं गोपीचन्दनलाञ्छितम्।
ज्वलदिन्धनवत्सोऽपि दूरे त्याज्यः प्रयत्नतः।।

यमराज अपने दूतों को निर्देश करते हैं कि हे दूतों! सुनो—जिसके मस्तक पर गोपीचन्दन लगा हो, उस प्रभावशाली व्यक्ति को जलती हुई लकड़ी के समान दूर से ही त्याग देना। यदि समीप जाओगे तो भस्म हो जाओगे।

ब्रह्मपुराण में ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक की महिमा बताई गई है—

अशुचिर्वाप्यनाचारो मनसा पापमाचरन्।
शुचिरेव भवेन्नित्यं ऊर्ध्वपुण्ड्राङ्कितो नरः।।
ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो मर्त्यो म्रियते यत्र कुत्रचित्।
श्वपाकोऽपि विमानस्थो मम लोके महीयते।। (ब्रह्मपुराण)

जो अपवित्र हो अथवा आचार-विचार विहीन हो तथा मनसा पाप करने वाला भी क्यों न हो, वह भी ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करने से पवित्र हो जाता है।

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करने वाला किसी भी स्थान पर शरीर त्याग करे, वह मेरे ही धाम को प्राप्त करता है। ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करने वाला श्वपच (अन्त्यज) ही क्यों न हो, वह भी विमान पर चढ़ कर मेरे ही धाम को जाता है।

औदुम्बर संहिता में स्कन्दपुराणोक्त आख्यान है कि—

ऊर्ध्वपुण्ड्रं च संस्कारं न यावद्धारयेत्सुधीः।
तावत् किमपि नेहेत तिलकं संक्रियां विना।।
समीहितस्य सर्वस्य विफलत्वाद्धि सर्वथा।
स्कान्दे तथाह भगवान् गुरुरपि गरीयसाम्।।
यशो दानं तपो होमः स्वाध्याय-पितृतर्पणम्।
भस्मीभवन्ति तत्सर्वं ऊर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम्।। (औदुम्बर-संहिता)

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य पादपद्माश्रित ऋषिवर श्री औदुम्बराचार्यजी ने अपने ग्रंथ में प्रतिपादन किया है कि ऊर्ध्वपुण्ड्र संस्कार किये बिना कुछ भी नहीं करना चाहिए। स्कन्दपुराण में भगवान् के वाक्य है कि बिना ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक किये जो कोई भी सत्कर्म करता है, तो उससे होने वाले यश, दान, तप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पणादि सब भस्मवत् हो जाते हैं।

इसी प्रकार पद्मपुराण में भी वर्णन आया है—

ऊर्ध्वपुण्ड्र-विहीनस्तु किञ्चित्कर्म करोति यः।
इष्टापूर्तादिकं सर्वं निष्फलं स्यान्न संशयः।।
ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्तु संध्याकर्मादिकं चरेत्।
तत्सर्वं राक्षसैर्नीतं नरकं चापि गच्छति।। (औदुम्बर-संहिता)

अर्थात् ऊर्ध्वपुण्ड्र किये बिना इष्टापूर्तादिक सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं। उसके किये हुए संध्या आदि नित्यकर्मों का फल राक्षसों को प्राप्त होता है और वे कर्म करने वाले नरक भोगते हैं। उनके किये हुए स्नान, दान, जप, होम पितृतर्पणादि सब व्यर्थ हो जाते हैं।

यही आशय ब्रह्मपुराण में मिलता है—

स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायं पितृतर्पणम्।
व्यर्थं भवति तत्सर्वमूर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम्।।

अर्थात् स्नान, दान, याग, जप, होम, स्वाध्याय, तर्पणादि धर्माचरण जब तक ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक न करे, तब तक सब निष्फल होते हैं।

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक का स्वरूप

नासिकामूलमारभ्य ललाटान्त-समन्वितम्।
साधिकाङ्गुलान्तरालमधिकं तूत्तरोत्तरम्।।
रेखाद्वय-विनिर्मितं सज्जं हरिमन्दिरम्।
व्रीहिमात्रं पृथुं पार्श्वे चतुरङ्गुललम्बकम्।।

'त्रिभागो मूलमुच्यते' इस आधार से नासिका के मूल भाग अर्थात् नासिका के तीन भाग में प्रथम दो भाग को छोड़कर, तीसरे भाग के आरम्भ से लेकर ललाटान्त केशपर्यन्त और मध्य में एक अंगुल से कम छेटी न हो, कुछ अधिक ही हो। ऊपर की ओर उसकी चौड़ाई उत्तरोत्तर अधिक रहे। इस प्रकार दो रेखाएँ बनावे जो सुन्दर धार (चावल) जैसे पतली हो और चार अंगुल लम्बी हो। इसका नाम हरिमन्दिर है। इसे हरिपादाकृति भी कहा जाता है अर्थात् इसकी आकृति (बनावट) भगवच्चरणारविन्द के समान है। यथा—

एकान्तिनो महाभागाः सर्वभूतहिते रताः।
सान्तरालं प्रकुर्वन्ति पुण्ड्रं हरिपदाकृतिम्।।
हरेः पादाकृतिर्ह्यार्यमूर्ध्वपुण्ड्रं विधानतः।
मध्यच्छिद्रेण संयुक्तं तद्धि वै हरिमन्दिरम्।। (पद्मपुराण)

अर्थात् एकान्तसेवी (मोक्षाभिलाषी) और सब जीवों का कल्याण करने वाले महापुरुष ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक करते हैं वे उसके बीच में छेटी (अवकाश) रखते हैं, वह हरिपादाकृति अर्थात् भगवान् के मन्दिर के समान है।

पद्मपुराण में ही ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक का स्वरूप हरिपादाकृति तथा हरिमन्दिर बताने के साथ ही जैसे मन्दिर में भगवान् विराजते हैं, उसकी संगति यहाँ इस प्रकार बतलाई है। यथा—

ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा कुर्यान्मध्ये शून्यं प्रकल्पयेत्। (पद्मपुराण)

गोपीचन्दन से ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक करके मध्य में एक शून्य (बिन्दु) धारण करे।

"कज्जाकारसमं मध्ये धारयेद्धरिमन्दिरे।" (कूर्मपुराण)

तथा च

भ्रुवौ मुक्ताकारसमं धारयेद्धरिमन्दिरे। (कूर्मपुराण)

के अनुसार नेत्र के मध्य में रहने वाले गोलक के समान श्यामबिन्दु को हरिमन्दिररूप ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक के मध्य में धारण करे। इस हरिमन्दिर में दोनों भुँहारों के मध्य छोटे मोती के समान श्यामबिन्दु के रूप में श्रीराधिका जी के सहित भगवान् को विराजमान करे। यह भाव इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है। पद्मपुराण में लिखा है, यथा—

ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य मध्ये तु विशालेषु मनोहरे।
सान्तराले समासीनो हरिस्तत्रश्रिया सह।। (पद्मपुराण)

मध्य के श्यामबिन्दु हेतु श्यामश्री का उपलब्धि स्थान—

'कज्जलस्य गिरेश्चैव राधाकुण्डं विशेषतः' (नारदपञ्चरात्र)

जगन्नाथपुरी के समीप कज्जलगिरि है। वहाँ की अथवा ब्रज में गिरिराज (गोवर्धन) की तलहटी में श्रीराधाकुण्ड है, वहाँ की श्यामश्री से श्यामबिन्दु धारण करे।

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में द्वादश तिलक करने का विधान इस प्रकार वर्णित है—

ललाटे केशवं ध्यायेन्नारायणमथोदरे।
वक्षःस्थले माधवं च गोविन्दं कण्ठकूपके।।
विष्णुं च दक्षिणे कुक्षौ बाहौ च मधुसूदनम्।
त्रिविक्रमं कन्धरे तु वामनं वामपार्श्वके।।
श्रीधरं वामबाहौ तु हृषिकेशं तु कन्धरे।
पृष्ठे तु पद्मनाभं च कट्यां दामोदरं न्यसेत्।।
तत्प्रक्षालनतोयेन वासुदेवं तु मूर्द्धनि।। (पद्मपुराण)

शरीर में द्वादश तिलक के धारण करने के स्थान इस प्रकार बतलाये हैं—

1. केशवाय नमः इस मंत्र से ललाट पर।
2. नारायणाय नमः इस मंत्र से पेट पर
3. माधवाय नमः इस मंत्र से वक्षःस्थल पर
4. गोविन्दाय नमः इस मंत्र से कण्ठ पर
5. विष्णवे नमः इस मंत्र से दक्षिण कोंख पर

6. मधुसूदनाय नमः इस मंत्र से **दक्षिण भुजा** पर
7. त्रिविक्रमाय नमः इस मंत्र से दक्षिण **कन्धे** पर
8. वामनाय नमः इस मंत्र से **वाम कोंख** पर
9. श्रीधराय नमः इस मंत्र से **वाम भुजा** पर
10. हृषीकेशाय नमः इस मंत्र से **बायें कन्धे** पर
11. पद्मनाभाय नमः इस मंत्र से **पीठ** पर
12. दामोदराय नमः इस मंत्र से **कमर** पर।

शरीर में ऊपर के मंत्रोच्चार सहित गोपीचन्दनयुक्त ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक यथास्थान धारण करना चाहिए। इसी के साथ हाथ धोया हुआ चन्दन का जल नीचे न डाला जाय, उसे वासुदेवाय नमः ऐसा बोलकर चोटी पर लगा लिया जाय।

तिलक करने का विधान

अनामिका कामदा प्रोक्ता मध्यमायुःकरी भवेत्।
अंगुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तस्तर्जनी मोक्षदायिनी।।

अर्थात् अनामिका (सबसे छोटी अंगुली के पास वाली) से तिलक करने से मनोकामना पूर्ण होती है। मध्यमा (बीच की बड़ी अंगुली) से तिलक करने से आयु की वृद्धि होती है। अंगूठे से तिलक करने पर शरीर की पुष्टि होती है। तर्जनी (अंगूठे के पास वाली अंगुली) से तिलक करने पर मोक्ष होती है। वैष्णव जन भगवद्भावापत्ति रूप मुक्ति की इच्छा ही रखते हैं, अतः तर्जनी अंगुली से तिलक करने की ही अधिक प्रथा है।

पद्मपुराण में तिलकयुक्त मनुष्य की महिमा इस प्रकार बतलाई है—

गोपीचन्दनसंपर्कात् पूतो भवति तत्क्षणात्।
गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत् तदघं कुतः।।

जो गोपीचन्दन तिलक धारण करता है, वह तत्क्षण पवित्र हो जाता है। इतना ही नहीं, गोपीचन्दन का तिलक जिन्होंने धारण किया है, उनके दर्शन से ही दर्शक का पापक्षय होता है।

वासुदेवोपनिषद् में ऐसा निर्देश है कि—

ब्राह्मणानां तु सर्वेषां वैदिकानामनुत्तमम्।
गोपीचन्दन-वारीस्थमूर्ध्वपुण्ड्रं विधीयते।।

गोपीचन्दनयुक्त ऊर्ध्वपुण्ड्र की महिमा पापात्माओं के मरणकाल का निर्देश करती है—

यस्यान्तकाले सुत! गोपिचन्दनं, बाहोर्ललाटे हृदि मस्तके च।
प्रयाति लोके कमलापते मम, गोबालघाती यदि ब्रह्म हा स्यात्।।

अर्थात् हे पुत्र! जिसके मरणकाल में गोपीचन्दन का ऊर्ध्वपुण्ड्र दोनों भुजाओं में, ललाट में, हृदय, मस्तक में लगा रहता है, तो वह गोहत्यारा, बालघाती तथा ब्रह्महत्यारा भी क्यों न हो, वह मनुष्य मेरे ही लोक को जाता है और भी—

ग्रहा न पीडयन्ति न रक्षसां गणा वक्षाः पिशाचोरगभूतनायकः।
ललाटपट्टे सुत! गोपीचन्दनं, संतिष्ठते यस्य मम प्रभावात्।।

हे सुत! जिसके ललाट में गोपीचन्दन का ऊर्ध्वपुण्ड्र लगा रहता है तो मेरे प्रभाव से उस प्राणी को ग्रह, राक्षस, वक्ष, पिशाच, उरग (सर्प) और भूतनायक भी पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं।

द्वितीय संस्कार 'शङ्ख-चक्र'

वैष्णवों के पञ्चसंस्कारों में साम्प्रदायिक परम्परानुसार एवं शास्त्रोक्त भुजाओं पर शङ्खचक्रादि धारण करना द्वितीय संस्कार बताया गया है। इनकी आवश्यकता और माहात्म्य के विषय में पुराणादि शास्त्रों का अभिमत इस प्रकार है। सर्वप्रथम गोपीचन्दन की नमस्कारपूर्वक प्रार्थना करने का वर्णन पद्मपुराण में बताया गया है। यथा—

गोपीचन्दन! पापघ्न-विष्णुदेहसमुद्भव!
चक्राङ्कित! नमस्तुभ्यं धारणान्मुक्तिदो भव।।
अग्निहोत्रं तथा नित्यं वेदस्याध्ययनं यथा।
तथैवेदं ब्राह्मणस्य शङ्खचक्रादिधारिणः।। (पद्मपुराण)

जैसे अग्निहोत्र और वेदपाठ यह ब्राह्मण के नित्यकर्म हैं, वैसे ही शङ्ख चक्र धारण करना भी नित्यकर्म है। धारण करते समय गोपीचन्दन से प्रार्थना करना चाहिए कि हे गोपीचन्दन आप विष्णु भगवान् की देह से उत्पन्न समस्त पापों को शमन करने वाले हो। मैं मुक्ति प्राप्त करने की कामना के साथ आपको प्रणाम करते हुए धारण करता हूँ।

अङ्कितः शङ्खचक्राभ्यामुभयोर्बाहुमूलयोः।
समर्चयेद्धरिं नित्यं नान्यथा पूजनं भवेत्।। (गरुडपुराण)

गरुड पुराण के अनुसार दोनों बाहुमूल में शङ्खचक्र धारण करके प्रतिदिन भगवान् की पूजा करना चाहिए। शङ्खचक्र से रहित पुरुष भगवत्पूजा का अधिकारी नहीं।

विष्णु-स्मृति में बताया गया है—

यथा श्मशानजं काष्ठमनर्हं सर्वकर्मसु।
तथाऽचक्रांकितो विप्रः सर्वधर्मबहिष्कृतः।। (विष्णुस्मृति)

जैसे श्मशान का काष्ठ सब कर्मों में अग्राह्य है, वैसे ही बिना शङ्खचक्र धारण करने वाला सब कर्मों में अनधिकारी है।

वराहपुराण में सनत्कुमारों द्वारा गोपीचन्दन युक्त शङ्ख चक्रादि धारण करने का महत्त्व बताया गया है कि—

कृष्णायुधाङ्कितो देहो गोपीचन्दनमृत्स्नया।
प्रयागादिषु तीर्थेषु स गत्वा किं करिष्यति।। (वराहपुराण)

भगवान् के आयुधचिह्न (शङ्खचक्रादि) गोपीचन्दन से अपने देह में धारण करने पर प्रयागादि तीर्थों में जाने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् इससे प्रयागादितीर्थ सेवन तुल्य फल प्राप्त होता है।

औदुम्बर संहितान्तर्गत पद्मपुराण में वर्णित शङ्खचक्रादि संस्कार प्रतिपादन इस प्रकार मिलता है—

शङ्खचक्रादिभिश्चिह्नैर्विप्रः प्रियतमैहरेः।
रहितः सर्वधर्मेभ्यः प्रच्युतो नरकं व्रजेत्।।
चक्रलांछनहीनस्य विप्रस्य विफलं भवेत्।
कालत्रये कृतं यत्तदलाञ्छनेऽर्पितं यथा।।
विष्णुचक्रविहीनं तु यः श्राद्धे भोजयिष्यति।
व्यर्थं भवति तत्सर्वं निराशा यान्ति पूर्वजाः।।
चक्र-चिह्नविहीनस्य विप्रस्य विफलं भवेत्।
क्रियमाणं तु यत्किंचिद्वैष्णवानां विशेषतः।।
एवं तापं विना कर्म विदधाद्विफलं लभेत्।
यत्किंचिदपि संस्कारं तस्माद्यावन्न धारयेत्।। (पद्मपुराण)

भावार्थ इस प्रकार है कि जो ब्राह्मण भगवत्प्रिय शङ्ख चक्रादि से रहित है, तो समझ लो वह सर्वधर्मों से च्युत है और वह नरकगामी होता है।

तीनों कालों में चक्र साधनाहीन ब्राह्मण के किये हुए कर्म व्यर्थ हो जाते हैं।

सुदर्शन चक्र के चिह्न से हीन व्यक्ति को श्राद्ध में भोजन कराना व्यर्थ है। उसके भोजन कराने से श्राद्ध करने वाले के पितर निराश हो जाते हैं।

चक्र की छाप लिए बिना वैष्णव ब्राह्मण के सब कर्म निष्फल हो जाते हैं। जब तक ताप संस्कार न हो जाय, तब तक के समस्त कर्म निष्फल हो जाते हैं। अतः ताप संस्कार अवश्य होना चाहिए।

ब्रह्माण्ड पुराण मोक्ष धर्म में भी बतलाया गया है कि—

ब्रह्मचारी गृहस्थोऽपि वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
अवश्यं धारयेच्चक्रमप्रितप्तमतन्द्रितः।।

अर्थात् ब्रह्मचारी, सद्गृहस्थ, वानप्रस्थी, भिक्षुक इन सभी वर्ग को चक्रादि तप्त मुद्रा अवश्य धारण करना चाहिए। इसी क्रम में आगे और बताया गया है—

शङ्खचक्रांकितो भक्त्या यः पूजयति मानवः।
स साक्षाद्विष्णुसामीप्यं लभते नात्र संशयः।।

दृष्ट्वा चक्रांकितं मर्त्यं मरणे समुपस्थिते।
यमदूता प्रणश्यन्ति आगच्छन्ति हरेर्गणाः।। (ब्रह्माण्ड पुराण)

अर्थात् शङ्खचक्रांकित पुरुष की जो भक्तिपूर्वक पूजा करता है, वह साक्षात् विष्णु-सन्निधि अर्थात् सामीप्य मुक्ति का लाभ प्राप्त करता है। इसमें संदेह नहीं है।

मरणकाल में भी चक्रांकित मनुष्य को देखकर यमराज के दूत भाग जाते हैं और प्रभु के पार्षद आकर उसे ले जाते हैं।

इसी क्रम में 'मत्स्यपुराण' का वचन इस प्रकार है—

मच्चक्रांकितदेहो यो मद्भक्तो भुवि दुर्लभः।
नैवाप्नोति वशं मृत्योरप्याज्ञाभंगकृन्नरः।। (मत्स्यपुराण)

भगवान् कहते हैं कि मेरे चक्र से अंकित जो मेरा भक्त है, उसके दर्शन पृथ्वी पर भाग्य से ही होते हैं। ऐसा भक्त यदि मेरी आज्ञा भंग करने वाला भी हो तो भी वह यमराज के अधीन नहीं होता—

कृत्वा काष्ठमयं बिम्बं कृष्णशस्त्रैश्च चिह्नितम्।
यो ह्यङ्कयति चात्मानं तत्समो नास्ति वैष्णवः।।
गोपीचन्दनमृत्स्नाभिर्लिखितो यस्य विग्रहः।
शङ्खचक्रादि पद्मं वा देहे तस्य वसेद्धरिः।। (पद्मपुराण)

काष्ठ के शङ्खचक्र बनाकर जो अपने शरीर को उनसे अंकित करता है, उसके समान परम वैष्णव कोई नहीं है।

गोपीचन्दन से शङ्ख चक्र गदा पद्म इन चारों से जिसका शरीर अंकित है, उसके शरीर में विष्णु भगवान् निवास करते हैं।

वामन पुराण में यहाँ तक उल्लेख मिलता है कि—

लीलयापि लिखेद्यस्तु बाहुमूले सुदर्शनम्।
कुलकोटिं समुद्धृत्य स गच्छेत्परमां गतिम्।। (वामन-पुराण)

जो लीला (खेल) रूप से भी अपने बाहुमूल में शङ्खचक्र को लिखेगा, वह कोटि कुल मनुष्यों का उद्धार कर, मुक्ति को प्राप्त होगा।

शङ्ख चक्र दो प्रकार से लिए जाते हैं (1) तप्त (2) शीतल। तप्त शङ्ख चक्र का विधान केवल द्वारिका जाकर ही लेने का बताया गया है। अन्य स्थानों पर नहीं। दीक्षाकाल में अन्य स्थानों पर शीतल शङ्खचक्र ही दिये जाते हैं।

'प्रहलाद संहिता' में इसका प्रतिपाद्य इस प्रकार बताया है—

अप्रितप्तं सदा धार्यं द्वारवत्यां विचक्षणैः।
नान्यस्थाने जातु राजन्! सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।। (प्रह्लादसंहिता)

अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष अग्नितप्त शङ्खचक्र द्वारिका में ही धारण करे। अन्य स्थान पर नहीं। हे राजन्! आपसे मैं सत्य कहता हूँ। इसी क्रम में बृहन्नारद पुराण में भी वर्णन आया है कि—

चतुर्थं द्वारिकास्थानं मद्धाम सुसेवितम्।
तत्राहं हेतिना साध्वि! तापयामि तनुं नृणाम्।। (बृहन्नारदपुराण)

भगवान् कहते हैं कि हे पृथ्वी! चतुर्थ धाम द्वारिका स्थान सब देवताओं से सेवित मेरा धाम है। उस द्वारिका में शङ्ख चक्रादि से मनुष्यों के शरीर में मैं ही तपता हूँ। शङ्ख चक्र तप्त मुद्रा धारण करने का मात्र स्थान द्वारिका ही माना गया है। इसके सम्बन्ध में और भी प्रमाण इस प्रकार है। प्रहलाद संहिता में बतलाया गया है कि—

स्वकीयशिष्यद्वारैव कलिदोष-निवृत्तये।
स्थापितानि द्वारवत्यां कुमारैः सम्प्रदायतः।।

तप्तमुद्रा के लिए सनकादि महर्षियों ने निश्चित किया है कि सम्प्रदाय परम्परानुसार कलिकाल के दोष निवृत्ति के लिए शिष्य के द्वारा, द्वारिकापुरी में ही तप्तमुद्रा धारण करना चाहिए।

'विष्णुयामल' में वर्णन आया है कि—

शङ्खं चक्रं गदां पद्माङ्कितमं विशेषतः।
धारणं द्वारवत्यां हि वैष्णवानां विधीयते।।

वैष्णवों के लिए भगवान् के आयुध शङ्ख चक्रादि की तप्तमुद्रा धारण का मात्र द्वारिकाधाम ही श्रेष्ठ है।

इससे सिद्ध होता है कि दीक्षाकाल में श्री गुरुदेव के हाथ से शीतल शङ्खचक्र चाहे जहाँ लेवें, किन्तु तप्त शङ्ख चक्र तो द्वारिका में ही लेने चाहिए। द्वारिका में किसी के हाथ से भी लेवें। भगवान् कहते हैं कि द्वारिका में शङ्ख चक्र मैं ही देता हूँ।

द्वादशारं तु षट्कोणं वलयत्रयसंयुतम्।
हरेः सुदर्शनं तप्तं धारयेत्तद्विचक्षणः।।

बारह आर, छः कोण और तीन वलय वाला अग्नि से तप्त हरि के सुदर्शन चक्र को जो बाहुमूल पर धारण करता है, वही बुद्धिमान् है।

शङ्खचक्र शरीर पर धारण करने के स्थान का प्रतिपादन 'नारद पञ्चरात्र' में मिलता है कि—

धारयेद्विष्णुभक्तस्तु चक्रं बाहौ तु दक्षिणे।
वामे तु शङ्खराजानं वैष्णवं पद आप्नुयात्।। (नारदपञ्चरात्रे)

विष्णु भक्तजन (वैष्णव) चक्र को दक्षिण बाहु में और शङ्ख को वाम बाहु में धारण करेंगे, तो वे मोक्ष को प्राप्त होंगे।

बायें हाथ की हथेली पर गोपीचन्दन घिसकर उससे मंत्रोच्चारण सहित दक्षिण बाहु पर चक्र और वाम बाहु पर शङ्ख धारण करना चाहिए।

चक्र धारण करने का मंत्र

सुदर्शन महाबाहो! कोटि सूर्य-सम-प्रभ!
अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय।।

अर्थात् हे कोटिसूर्यसम तेजधारी महाबाहो! श्री सुदर्शन चक्रराज! अज्ञानान्ध जीवों का अंधकार हरण कर उन्हें विष्णुमार्ग (भक्तिपथ) प्रदर्शित कीजिये।

शङ्ख धारण करने का मंत्र

पाञ्चजन्य! निजध्वान्त-ध्वस्त-पातकसंचयः।
पुनीहि पाणिनं घोरं संसारार्णवपातिनम्।।

अर्थात् हे पाञ्चजन्य! (श्री शङ्खराज) मेरी सम्पूर्ण पापराशि को नष्ट कर संसार सागर में गिरे हुए मुझ घोर पापी का उद्धार कर परम पवित्र कीजिये।

इस प्रकार शङ्ख चक्र को वैष्णव पञ्च संस्कारों में परम्परा के अनुसार द्वितीय संस्कार माना गया है।

तृतीय संस्कार—कण्ठी-माला

निम्बार्क सम्प्रदाय परम्परा में वैष्णवों के पञ्चसंस्कारों में तुलसी की कण्ठी गले में धारण करना तृतीय संस्कार माना गया है। इसके प्रतिपादन में शास्त्रोक्त वर्णन इस प्रकार है। यथा—

पद्मपुराण के आधार पर—

ये कण्ठलग्न-तुलसी-नलिनाक्ष-मालाः
ये बाहुमूल-परिचिह्नित-शङ्खचक्राः।।
ये वा ललाटपटले लसदूर्ध्वपुण्ड्राः
ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति।। (पद्मपुराण)

गले में सटी हुई तुलसी की कण्ठी, बाहु पर शङ्ख चक्रादि चिह्न, ललाट पर गोपीचन्दन युक्त ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक ये वैष्णवों के प्रमुख चिह्न हैं।

श्रीमद्भागवत (11/17/27) में श्रीकृष्ण भगवान् ने उद्धवजी से कहा है—

"आचार्यं मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित्"

आचार्य मेरा ही स्वरूप है, उनका कभी कोई भी अनादर न करे अर्थात् आचार्य स्वरूप में मैं ही जीवों का उद्धार करता हूँ।

आचार्य द्वारा प्राप्त कण्ठी प्रभु का दासत्व जानने का एक चिह्न है। आचार्य (श्रीगुरुदेव) कण्ठी धारण कराकर आदेश करते हैं कि तुम भगवान् के दास हो, वे ही एक मात्र तुम्हारे स्वामी हैं। उन्हीं की सेवा करने से तुम्हारा कल्याण होगा। अत: कण्ठी हरितत्त्व और जीवतत्त्व दोनों का उद्‌बोधन कराने वाली है। भगवान् और जीव का सेव्य और सेवक का सम्बन्ध है। आचार्य ही कण्ठी देकर इस सम्बन्ध का ज्ञान कराते हैं। जीव भगवान् का दास है, अत: वह यदि मालिक की दी हुई पहिचान नहीं रखेगा, तो किस प्रकार पहिचाना जायगा?

कण्ठी शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

कण्ठलग्ना तु या माला सा कण्ठी परिकीर्तिता। (प्रह्लाद संहिता)

कण्ठ से संलग्न अर्थात् सटी रहने के कारण ही इसका नाम कण्ठी है।

कण्ठी धारण करने का विधान इस प्रकार बताया गया है—

यज्ञोपवीतवद्धार्या सदा तुलसी मालिका।
नाशौचं धारणे तस्या: यत: सा ब्रह्मरूपिणी।। (स्कन्द/पद्मपुराण)

अर्थात् द्विजाति मात्र को जिस प्रकार निरन्तर यज्ञोपवीत धारण करने का विधान है, उसी प्रकार वैष्णव को भी यज्ञोपवीत के समान ही तुलसी की कण्ठी धारण करना चाहिए। जैसे यज्ञोपवीत न रहने से जल नहीं पी सकता है, वैसे ही तुलसी की कण्ठी गले में न रहने से वैष्णव को जल पीने का अधिकार नहीं है। निरन्तर धारण किये रहने पर भी तुलसी की कण्ठी कभी अपवित्र नहीं होती, क्योंकि वह तो स्वयं ब्रह्मस्वरूपा है। यथा—

अशौचे चाप्यनाचारे कालाकाले च सर्वदा।
तुलसी मालिकां धत्ते स याति परमां गतिम्।। (नारदपञ्चरात्र)

तुलसी की कण्ठी का महत्त्व शास्त्रों में इस प्रकार बतलाया है—

तुलसी-काष्ठमालां वै प्रेतराजस्य दूतका:।
दृष्ट्वा नश्यन्ति दूरेण वातोद्धूतो यथा नर:।। (प्रह्लादसंहिता)

गले में तुलसी की कण्ठी देखकर यमराज के दूत दूर से ही इस प्रकार भाग जाते हैं, जिस प्रकार वायु के वेग से मनुष्य दूर जाकर गिरता है और भी—

तुलसी काष्ठमालां यो धृत्वा स्नानं समाचरेत्।
पुष्करे च प्रयागे च स्नातं तेन मुनीश्वर।।
तुलसी काष्ठमालां यो धृत्वा भुंक्ते द्विजोत्तम।
सिक्थे सिक्थे स लभते वाजिमेधफलं लभेत्।। (स्कन्द पुराण)

अर्थात् जो तुलसीकाष्ठमाला को गले में धारण कर स्नान करता है, हे मुनीश्वर! उसको पुष्करराज और प्रयागराज के स्नान का फल प्राप्त हो जाता है।

जो तुलसी काष्ठ माला को गले में धारण कर भोजन करता है, वह जितनी बार मुख में ग्रास डालता है, उसे उतने ही अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त होता है।

स्नानकाले तु यस्यांगे दृश्यते तुलसी शुभा।
गंगादि-सर्वतीर्थेषु स्नातं तेन न संशय:।
बहुना किमिहोक्तेन शृणु त्वं वरवर्णिनि!
विड्‌त्सर्गादि काले च न त्याज्या कण्ठमालिका।।
अन्तकालेऽपि यस्यांगे तुलसीमालिका स्पृशेत्।
तस्य देहोद्भवं पापं तत्क्षणादेव नश्यति।।
कण्ठे शिरसि बाहुभ्यां कर्णयो: करयोस्तथा।
विभृयात्तुलसी यस्तु स ज्ञेयो विष्णुना सम:।। (पद्मपुराण)

अर्थात् स्नान के समय जिसके गले में पाप को हरण करने वाली तुलसी की कण्ठी दिखाई देती है, वह निस्संदेह गंगा आदि समस्त तीर्थों का स्नान कर चुका होता है।

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि हे पार्वती जी! तुलसी की कण्ठी का महत्त्व मैं कहाँ तक कहूँ। यहाँ तक कि मल मूत्र त्याग करते समय भी गले में धारण की हुई कण्ठी नहीं उतारनी चाहिए।

मरणकाल में भी जिसके गले में तुलसी की कण्ठी रहती है, उसके देह से किये हुए समस्त पाप उसी समय छूट जाते हैं।

कण्ठ में, बाहुओं में, कानों में तथा हाथों में जो तुलसी की माला धारण करता है, उसको विष्णु के तुल्य ही जानना चाहिए।

वैष्णव को कण्ठी धारण न करने पर अपराध का वर्णन भी शास्त्रों में बताया गया है। यथा—

अत: सर्वेषु कालेषु धार्या तुलसी मालिका।
क्षणार्धं तद्विहीनोपि विष्णुद्रोही भवेन्नर:।। (पद्मपुराण)

अतएव हर समय में तुलसी की कण्ठी धारण किये रहना चाहिए। एक क्षण तथा आधे क्षण भी कण्ठी का त्याग करने से वह विष्णुद्रोही कहलाता है।

न ये बिभ्रति वै मालां तुलसीकाष्ठसम्भवाम्।
ते तु बिभ्यति हि यमाद्दण्डहस्तात्कुमेधस:।। (स्कन्द पुराण)

अर्थात् जो गले में तुलसी की कण्ठी धारण नहीं करते हैं, वे कुबुद्धिजन हाथ में दण्ड लिए हुए यमराज से भयभीत रहते हैं।

धारयन्ति न ये मालां हेतुका: पापबुद्धय:।
नरकात्र निवर्तन्ते दग्धा: कोपाग्निना हरे:।। (गरुडपुराण)

तुलसी की कण्ठी धारण करने से क्या होता है? इस प्रकार समझने वाले और कहने वाले पापात्मा जो तुलसी की कण्ठी को धारण नहीं करते हैं, वे हरि के कोप से जले हुए हैं और नरकों से नहीं छूट पाते हैं।

विष्णुधर्म में स्वयं भगवान् की उक्ति भी इस प्रकार है। जैसे—

तुलसीकाष्ठमालाञ्च कण्ठस्थां वहते तु यः।
अप्यशौचो ह्यनाचारो मामेवैति न संशयः।।

भगवान् ने स्वयं कहा है कि जो सर्वदा अशौच और अनाचार अवस्था में भी तुलसी माला कण्ठ में धारण करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।

तुलसी की कण्ठी को धारण करने से पूर्व (बदलने से पूर्व भी) अभिमंत्रित करने की विधि इस प्रकार बताई गई है। यथा—

क्षालितां पञ्चगव्येन मूलमन्त्रेण मंत्रिताम्।
गायत्र्याचाष्ट कृत्वोच्चैर्मंत्रितां धूपितां च ताम्।।
तुलसीकाष्ठसंभूतां मालां यो वहते नरः।
तारितं च कुलं तेन यावद्रामकथा क्षितौ।। (प्रह्लाद संहिता)

अर्थात् जो पञ्चगव्य से स्नान कराकर मूलमंत्र (गुरु प्रदत्त मन्त्र) से अभिमंत्रित कर, आठ बार बीज मंत्र सहित गायत्री मंत्र से अभिमंत्रित करते हुए धूप देकर तुलसी की कण्ठी को गले में धारण करता है, वह जब तक संसार में राम कथा विद्यमान रहेगी, तब तक उसने अपने कुल को तार दिया।

कण्ठी धारण करने का मंत्र

तुलसीकाष्ठसंभूते! माले! कृष्ण-जन-प्रिये।
बिभर्मि त्वामहं कण्ठे कुरु मां कृष्ण-वल्लभम्।।
यथा त्वं वल्लभा विष्णोर्नित्यं विष्णुजनप्रिया।
तथा मां कुरु देवेशि! नित्यं विष्णुजनप्रियम्।।

अर्थात् तुलसीकाष्ठ से उत्पन्न श्रीकृष्ण भक्तों को प्रिय लगने वाली हे माले! मैं आपको कण्ठ में धारण करता हूँ। मुझको भी श्रीकृष्ण का प्रिय बना दो। जैसे आप विष्णु की निरन्तर वल्लभा हैं और उनके भक्तों को भी प्रिय हो, वैसे ही हे देवेशि! मुझको भी विष्णु तथा विष्णु के भक्तों का प्रिय बनादो।

इन दोनों मंत्रों से प्रार्थना करके कण्ठी को गले में धारण करना चाहिए।

निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना में उपास्यदेव युगल स्वरूप होने के कारण युगलरूप (दोलडी) कण्ठी धारण करना ही श्रीनिम्बार्क मतावलम्बियों के लिए परम चिह्न और परम धर्म है, इसे प्राणान्त के समय भी त्यागना नहीं चाहिए। नारद पञ्चरात्र में इसका प्रतिपादन इस प्रकार बतलाया गया है, यथा—

अतः परमधर्मोऽयं कण्ठिकाद्वयरूपकः।
वैष्णवानां परं चिह्नं प्राणान्तेऽपि न तत्यजेत्।। (नारदपञ्चरात्रे)

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, शङ्खचक्रादि गोपीचन्दन से धारण कराकर श्रीगुरुदेव द्वारा परम्परागत पञ्चसंस्कारान्तर्गत भगवत् सम्बन्धी नामकरण किया जाता है। अर्थात् तुम वैष्णव हो और श्रीहरि के दास हो, इस प्रकार आदेश प्रदान करते हैं।

चतुर्थ संस्कार—'नामकरण'

वैष्णवोसि हरिदासोसीति शिष्यं वदेद् गुरुः।
अङ्कयेच्छङ्खचक्राभ्यां नाम कुर्याच्च वैष्णवम्।।

पूर्व नाम यदि भगवत् सम्बन्धी न हो तो श्रीहरि के नानाविध नामों के साथ दास, शरण, प्रपन्न आदि जोड़कर नामकरण किया जाता है। जो रसिक श्री किशोरी जी के अनन्य उपासक हैं, उनके नामकरण श्रीकिशोरीजी के नामों के साथ दासी, सखी, आली आदि शब्द जोड़ कर नामकरण किया जाता है।

दासान्त आदि नाम रखने के सम्बन्ध में बहुत से विशिष्ट महापुरुषों के प्रामाणिक वचन मिलते हैं। जैसे उद्धवजी कहते हैं—

'उच्छिष्ट-भोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि'।

हे प्रभु! हमें आपकी माया के बन्धन का भय नहीं है, क्योंकि आपकी उच्छिष्ट प्रसादी पाने वाले हम आपके दास हैं।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में देवर्षि नारदजी ने भी यही प्रतिज्ञा की थी कि—

'यदानाहं होर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये।' (भागवत माहात्म्य)

हे भक्तिदेवी! यदि मैं तेरा घर घर में प्रचार न कर दूँ तो अपने को प्रभु का दास कहलाना छोड़ दूँगा।

इसी प्रकार 'महाभारत' में श्री भीष्म पितामह ने भी कहा है कि—

'प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोस्मि तव मानद।' (महाभारत)

हे प्रभो! आप चाहे जितना मेरे पर प्रहार करें, मैं तो आपका दास ही हूँ।

भगवत् सम्बन्धी नाम के महत्त्व के सम्बन्ध में श्री औदुम्बराचार्यजी ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

कृष्णदासादिकं नाम संस्कारं यावदात्मनि।
निजगुरुप्रसादेन प्रसिद्धं नैव धारयेत्।।
तावत्किमपि नेहेत सन्नामसंस्क्रियां विना।
समीहितस्य सर्वस्य निष्फलत्वात्तु सर्वदा।।

अर्थात् जब तक श्री गुरुदेव की कृपा प्राप्त करके कृष्णदास आदि भगवत् सम्बन्धी नामधारण न करे, तब तक नाम संस्कार के बिना किसी भी सत्कार्य में सफलता नहीं मिल पाती है।

इसी क्रम में सनत्कुमारों का वचन है कि—

असम्प्राप्य गुरोः साक्षान्नामसंस्कारमुत्तमम्।
हरिदासादिकं सिद्धं नाप्नोति सत्क्रियाफलम्।।
नामसंस्कारहीनेन कृतं न कुत्रचित् फलेत्।
तदपि कर्म विप्रेन्द्र भस्महुतं हविर्यथा।।

अर्थात् गुरुदेव से नाम संस्कार कराये बिना सत्कर्मों का फल नहीं मिलता। भस्म में दी हुई आहुतियों की भाँति निष्फल समझना चाहिए।

देवर्षि नारद जी का कथन है कि—

विना नामचरन् धर्मं रिक्तो भवति मंदधीः।
मुकुन्दनामसंस्कारविहीनस्तु बहिर्मुखः।।
विदधदपि सद्धर्मं फलं न पश्यति ध्रुवम्।
कृष्णभक्तिविहीनो वा पाखण्डार्पितवैभवम्।।

अर्थात् मुकुन्दादि भगवन्नामों से रिक्त मूर्ख चाहे कितना ही सत्कर्म क्यों न करे, सब निष्फल है। उस भगवत् भक्तिहीन को पाखण्डी समझना चाहिये।

इसके अतिरिक्त अपने छोटे पुत्र का भगवत् सम्बन्धी 'नारायण' नाम रखने मात्र से ही अन्तिम समय में अजामिल को विष्णु के पार्षदों ने आकर यमराज के दूतों से बचा लिया। इससे बढ़कर भगवत् सम्बन्धी नाम का और क्या महत्व होगा।

पञ्चम संस्कार—'मंत्रोपदेश'

वैष्णव पञ्चसंस्कारों में मंत्रोपदेश संस्कार की महत्ता सर्वोपरि है। तंत्र शास्त्रों का वचन है कि—

अदीक्षिताः ये कुर्वन्ति जपः होमादिकाः क्रियाः।
न भवन्ति प्रिये तेषां शिलायामुप्तबीजवत्।।

अर्थात् दीक्षा (मंत्रोपदेश) लिए बिना जपहोमादिक समस्त साधन व्यर्थ हैं, जैसे पत्थर पर बोया हुआ बीज नहीं उगता है।

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि—

अदीक्षितस्य वामोरु! कृतं सर्वंनिरर्थकम्।
पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षाहीनो मृतो नरः।।

हे पार्वती! गुरु से दीक्षा लिए बिना मनुष्य के सब कर्म निरर्थक हैं। दीक्षाहीन मनुष्य मरणोपरान्त पशुयोनि को प्राप्त करता है।

सम्प्रदाय परम्परा में मंत्र की महत्ता के प्रति पद्मपुराण के वचन हैं—

सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः।
परम्परागता ये तु ते कृष्णकरुणान्विताः।। (पद्मपुराण)

अर्थात् जो मंत्र सम्प्रदाय परम्परागत नहीं है, वह मंत्र निष्फल है और जो मंत्र सम्प्रदाय परम्परागत है, वह भगवत्कृपा से युक्त होने से लाभप्रद है।

आगम में सनकादिकों का कथन है—

अष्टादशाक्षरं मंत्रं योऽगृहीत्वा गुरोर्मुखात्।
आचरन् सर्वकर्माणि न क्रियाफलमाप्नुयात्।। (औदुम्बर-संहिता)

जो अष्टादशाक्षर गोपालमंत्र या मुकुन्द मंत्र को श्री गुरुदेव से ग्रहण किये बिना कर्म करते हैं, उनके वो सब कर्म निष्फल हो जाते हैं।

कृष्णमंत्रविहीनस्य कुर्वतो धर्मसंग्रहम्
पाकनिदानरहितं कृतं सर्वमनर्थकम्।। (औदुम्बर-संहिता)

अर्थात् मंत्र दीक्षा प्राप्त किये बिना किया हुआ धर्मसंग्रह भी विधि विपरीत पाक की तरह अनर्थपरक बन जाता है।

देवर्षि नारद जी ने कहा है—

हरिमनुरहितः कर्माचरन्यो मनुष्यः
सकलमपि सविद्यः सारहीनो यथाद्रुः।
न तु फलमधिगच्छेत् कर्मणस्तस्य साक्षा-
द्धरिगुरुबहिरास्यः स्यात्स विध्वक् निरासः।।
एवं स्यान्मंत्रसंस्कारं विना रिक्तः क्रियां चरन्।
तस्माद्यावन्न बिभृयान्मन्त्रं संस्कारमुत्तमम्।।
तावत्तु मन्त्रसंस्कारव्रतं चरेत्क्रियां त्यजन्।। (औदुम्बर-संहिता)

अर्थात् भगवान् के मंत्र की दीक्षा न लिया हुआ चाहे कैसा भी विद्वान् क्यों न हो, वह सारहीन वृक्ष की तरह है। उस हरिगुरु विमुख को कर्मों के अभीष्ट फल नहीं मिलते। वह सब प्रकार से निराश हो जाता है।

मंत्र संस्कार के बिना कर्म करने वाला फलों से रिक्त रहता है। इसीलिए मंत्र संस्कार व्रत का आचरण अवश्य करना चाहिए।

वैष्णवों के पञ्चसंस्कारों में निम्बार्क सम्प्रदाय एवं अन्य सम्प्रदायों के संस्कारों में थोड़ा अन्तर स्वसम्प्रदाय सिद्धान्तानुसार परम्परावत् आचरित है। यथा—श्रीरामानुज सम्प्रदाय में जप करते समय ही गले में तुलसी की माला धारण करते हैं, अन्य समय अथवा हर समय

धारण नहीं करते। इसी प्रकार शङ्ख चक्रादि के चिह्नों की तप्त मुद्रा ही धारण करते हैं, शीतल मुद्रा नहीं। इसके साथ रामानन्द सम्प्रदाय में नित्य तुलसी की माला (कण्ठी) धारण करते हैं। इनका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है, किन्तु इस सम्प्रदाय में शङ्ख चक्र के स्थान पर भगवान् श्रीराम के धनुष बाण के चिह्न ही अपनी भुजाओं पर अंकित करते हैं। उपासना की दृष्टि से भी रामानुज सम्प्रदाय में लक्ष्मीनारायण की तथा रामानन्द सम्प्रदाय में सीताराम जी की उपासना पारम्परित है। निम्बार्क सम्प्रदाय में राधाकृष्ण की उपासना एवं शीतल मुद्रा, गोपीचन्दन का ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि विधानव्रत स्वैतिह्य संस्कारान्वित प्रचलित हैं। अतः पञ्च संस्कार सामान्य रूपान्तर होते हुए भी वैष्णवों के वैष्णवता के परिचायक चिह्न हैं।

निम्बार्कतीर्थ, सलेमाबाद (अजमेर)

निम्बार्कदर्शन में शरणागति का स्वरूप

निम्बार्कभूषण वैद्य धनाधीशगोस्वामी
आयुर्वेदाचार्य, रतनगढ़ (राज.)

सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म तत्त्व का निरूपण विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न रूप से किया है। श्रद्धेय श्रीशङ्कराचार्य ने 'निरन्तरानन्दरस-स्वरूम्' प्रतिपादित किया है। भारतीय आस्तिक षट् दर्शन में रस परमतत्त्व का ज्ञान एकांतिक रहस्यानुभूति का विषय माना गया है। बुद्धि व मन के द्वारा जिसका विवेचन नहीं किया जा सकता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने उस परमात्म तत्त्व के विषय में कहा है, **'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी'**।

उपलब्ध निरूपणों से समाधि की उच्चतम अवस्था में किसी दिव्यरस की धारा में निमग्न होने का संकेत अवश्य प्राप्त होता है। यहाँ पहुँचकर साधन, साध्य व साधना की त्रिपुटी संपादित होकर एकाकार वृत्ति बन जाती है। इसके पश्चात् साधक के लिए अन्य कुछ जानना, पाना व करना शेष नहीं रह जाता। **"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम"** इसी को भगवान् ने गीता में अपने श्रीमुख से प्रतिपादित किया है। आनन्दातिरेक की इस विषयातीत अवस्था का प्रतिपादन वाणी द्वारा सम्भव नहीं है। परमाह्लादकारी इस तत्त्व को भगवल्लीला, चरित्र आदि शब्दों के माध्यम से विवेचित किया गया है। सर्वप्रथम इस दिव्य रस-तत्त्व के विषय में श्री सनत्कुमारों के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो भगवान् ने हँसावतार धारण कर समाधान किया। ये हँसावतार भगवान् सम्प्रदाय इसके आद्यप्रवर्तक हैं, अतः यह हंस सम्प्रदाय भी कहलाता है। हंस भगवान् के शिष्य हैं सनत्कुमार, जिन्होंने इसका उपदेश श्री नारद जी को दिया, श्री नारद जी ने इस परमतत्त्व का उपदेश श्री नियमानन्द जी अर्थात् श्रीनिम्बार्काचार्यजी को दिया। अनुभूतिगम्य इस गुह्य परमतत्त्व की उपासना भी की जा सकती है।

इस दार्शनिक पद्धति की अवतारणा अर्थात् श्री राधाकृष्ण की युगल उपासना के रूप में सर्वप्रथम श्रीनिम्बार्काचार्य जी ने ही की थी। ऐसा इतिहासविदों का कथन है। अभेदात्मक रस तत्त्व सर्वेश्वर प्रभु-लीलाविहार हित अपने को राधा सर्वेश्वर अर्थात् प्रिया-प्रियतम रूपद्वय में विभक्त कर नित्य श्री वृन्दावनधाम में रास-रमण व विविध लीलायें अपने भक्तों को आनन्दित करने हेतु करते हैं।

वैष्णव दर्शनों में श्रीनिम्बार्क भगवान् का सम्प्रदाय द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेदवाद नाम से विख्यात है। इसकी तात्त्विक मान्यता का सारांश यह है कि ईश्वर, चित्त और अचित् ये तीनों शाश्वत और त्रिकाल सत्य हैं—

श्रुति-स्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्यतं
त्रिरूपतापि श्रुति-सूत्र-साधिता।।

अर्थात् यह समस्त चेतन अचेतन (जड़) वस्तुमात्र का ज्ञान यथार्थ वस्तु विषयक होने से यथार्थ है, क्योंकि यह निखिल विश्व, अर्थात् जड़ और चेतन वर्ग (जीव समूह) ब्रह्मात्मक है, यह सिद्धान्त श्रुति (वेद) स्मृतिवाक्यों द्वारा सर्वत्र प्रमाणित है। यही सनत्कुमार, व्यास, मनु आदि वेदज्ञों का सिद्धान्त है और ब्रह्म की निरूपता (प्रकृति, पुरुष और ईश्वर) का भी वेद के सूत्रों ने प्रतिपादन किया है। जीव और जगत् ब्रह्म का कार्यरूप होने से ब्रह्मात्मक है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा चित् अचित् दोनों पदार्थों की ब्रह्मात्मकता प्रमाणित होने से यह समस्त जगत् ब्रह्ममय ही है।

श्री तुलसीदास जी ने भी इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है—

सियाराम मय सब जग जानी
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी। (रामचरितमानस)

जीव ज्ञाता, कर्त्ता व भोक्ता है। जीवात्माएँ अनेक हैं। यद्यपि जीवात्मा स्वरूप से अविनाशी है, फिर भी अज्ञान जनित शरीर एवं कर्म से संयुक्त होने के कारण वह जन्म, मरण के बंधन में पड़ता है। मुक्ति भगवत्कृपा से होती है और भगवत्कृपा की जननी भक्ति देवी है। ईश्वर जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। अतः ईश्वर और जगत् के मध्य अभेद व भेद दोनों सम्बन्ध हैं।

ईश्वर और जगत् के बीच मात्र अभेद मानने से जगत् की सीमाएँ ईश्वर पर भी आरोपित होकर उसे ससीम बना देंगी और यदि जगत् ईश्वर से पूर्णतया भिन्न मान लें तो ईश्वर की पूर्णता अर्थात् सर्वव्यापकता बाधित हो जायेगी। जीव और जगत् आत्मनिर्भर नहीं वा सत् नहीं है, अतः वे ईश्वर से भिन्न नहीं हैं। भगवान् निम्बार्काचार्य ने वेदांत दश श्लोकी में जीव का निरूपण किया है, "ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनम्" आदि उनमें परतंत्रसत्ता भाव है। अतः वे आत्मनिर्भर ईश्वर से भिन्न हैं। इस प्रकार भेद तथा अभेद दोनों एक साथ सत्य हैं। इतना होते हुए भी जीव को जब तक भगवत् प्राप्ति नहीं हो जाती, वह परमानन्द का अनुभव नहीं कर सकता।

भगवत्तत्त्व को प्राप्त करने के लिए शास्त्रों ने चार मार्गों का निर्देश किया है। ज्ञान, कर्म, भक्ति और शरणागति स्वरूप का ध्यान करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्म करने से कर्मयोग की सिद्धि होती है। भगवान् के गुण ऐश्वर्यादि तथा विश्वास से भक्ति हृदय में उदित होती है। इसी प्रकार साधक जब अपने में असमर्थता, दीनता, गुणहीनता का अनुभव करता है, तब भगवान् अपनी कृपा से उसमें शरणागति के भाव की जागृति कर देते हैं। वेदान्तदशश्लोकी में भगवान् निम्बार्काचार्यजी ने कहा है—

कृपास्यदैन्यादियुजि प्रजायते यथा भवेत् प्रेम विशेष-लक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा।।

अर्थात् जो साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग, उपासना आदि साधनों व उपायों के सिद्ध न होने के कारण तथा ऐसे साधन पथ में निरन्तर अनेक प्रकार की विघ्नबाधाओं का अनुभव करते हैं। अंत में अगति अर्थात् अनन्योपाय और साधनाभिमानशून्य होकर अपने आपको

सम्पूर्ण असमर्थ एवं असहाय जानकर अथवा अनन्यगति श्रीहरि एवं श्रीगुरु ही मेरे एकमात्र गतिस्वरूप चरमसाध्य और परम साधनोपाय हैं, यह बात निश्चित रूप से जान तथा मानकर उनके ही शरणापन्न होकर उन्हें ही सर्वसम्बन्धों के विषयरूप में वरण करके अन्य साध्य व अन्य साधनाभिनिवेश का त्याग करते हुए सब प्रकार अभिमान शून्य हो सर्वदा सख्य श्री सर्वेश्वर की कृपा लाभ के लिए दीन हीन भाव से निरन्तर प्रार्थनापरायण रहता है, ऐसे दैन्यादि भावयुक्त अकिंचन शरणागत भक्त पर निरतिशय स्वाभाविक कारुण्य वात्सल्यादि गुणनिधि परम उदारचेता सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीकृष्ण कृपा की अपार वृष्टि होती है। श्री तुलसीदास जी ने भी कहा है—

दीन वचन सुनि प्रभु मन भावा
भुज विशाल गहि हृदय लगावा। (रा.च. मानस सुंदरकाण्ड)

भगवान् ज्ञानी, कर्मयोगी व उपासक की परीक्षा लेने के उपरांत उसे अपनाते हैं, परन्तु शरणागत व प्रपन्न भक्त की परीक्षा नहीं लेते। अब भक्तराज विभीषण भगवान् की शरण में आया तो अपने गुण व साधनों का बखान नहीं किया कि मैं मंदिर बनाकर आपकी माला जपता हूँ, पूजा उपासना करता हूँ, या लंका राज्य का प्रधानमंत्री भी हूँ। उसने कहा कि—मैं तामसी शरीर वाला दशानन का भाई हूँ, भक्ति के साधनों से शून्य हूँ और मेरा आपके चरणों में वास्तविक प्रेम प्रेम नहीं है। इस प्रकार विभीषण के दैन्य वचन सुनकर भगवान् ने "कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते" वाक्यों को सार्थक करते हुए अपनी विशाल भुजाओं से उठाकर हृदय से लगा लिया। मंत्री होने के नाते सुग्रीव ने तो राजनीति के आधार से कहा था कि इसे बाँधकर बंदी बनाकर रखना चाहिए। मानों भगवान् ने सुग्रीव जी की ओर देखकर संकेत किया कि तुमने बाँधने की सलाह दी थी सो तुम्हारी भी बात मैंने मानी है, इसे अपनी भुजापाश में बाँध लिया है। इससे बड़ा बंधन और क्या हो सकता है? इससे सुग्रीवजी भी प्रसन्न और विभीषण व हनुमान जी भी प्रसन्न हो गये। भगवान् का स्वभाव है, वे शरणागत की परीक्षा लिए बिना तत्काल अपना लेते हैं। भगवान् ने अपने स्वभाव का दिग्दर्शन कराते हुए कहा है—

कोटि विप्रबध लागहि जाहू।
आएँ सरन तजउं नहीं ताहू।।

भगवान् स्वयं तो क्या मानव मात्र को आदेश देते हैं कि शरणागत कोई कैसा भी हो, प्रत्येक मानव को उसकी रक्षा करनी चाहिये। जो ऐसा नहीं करता तथा अपने अनिष्ट के भय से उसका परित्याग करता है, वह मानवों में नीच है, उसके दर्शन से भी अहित होगा। तुलसीदास जी ने कहा है—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि।। (रा.सु. 43)

भगवान् निम्बार्काचार्यजी ने प्रतिपादित किया है कि शरण्य एकमात्र श्री सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, उनके चरणों के अतिरिक्त जीव को कहीं शांति नहीं मिलती—

नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादि-वन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा—
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाश्रयात्।।

अर्थात् जो सर्वेश्वर प्रभु ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं द्वारा वंदित हैं, जो भक्त की इच्छानुरूप प्रकट होते रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ध्यानगम्य सुचिन्त्य श्री विग्रह विशिष्ट हैं, जिनके स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया शक्ति और लीला का अभिप्राय इन्द्रियातीत है, ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त जीव की अन्य कोई गति, शरणागति व आश्रय नहीं है।

वेदान्तरत्नमंजूषा में श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने छठे श्लोक में "**उपासनीयं नितरां जनैः सदा**" इस सूत्र (श्लोक) की व्याख्या करते हुए स्पष्ट संदेश दिया है कि भगवद् भक्तों व मुमुक्षुजनों के लिए जन्म मृत्यु रूप संसारचक्र से या जन्मजन्मान्तरों के कर्मबंधन से छुटकारा पाने के लिए अथवा युगलरूप श्रीराधासर्वेश्वर के चरणों में अखण्ड प्रेमस्वरूपा अनन्यायनी भक्ति या श्रीकृष्णभावापत्तिरूप मोक्ष प्राप्ति के लिए श्रीवृषभानुजा सहित परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण की उपासना करना नितांत आवश्यक बताया है। दशश्लोकी के अष्टम श्लोक में भी श्रीब्रह्मा श्रीशिवादि देव ईश्वर कोटि के होते हुए भी श्रीकृष्ण भगवान् की स्तुति करते हैं, यह युक्ति देकर परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण का सर्वोपास्यत्व प्रदर्शित किया है। आचार्यपाद ने शरणागत भक्तों को अपना दिव्य संदेश सुनाते हुए प्रतिपादित किया है कि समस्त देवताओं, मुनियों व सिद्धयोगियों द्वारा वंदित होते हुए भी अपने एकांतिक, अनन्य व शरणागत भक्तों के प्रति अपने स्वाभाविक वात्सल्य, अहैतुकी कृपालुता एवं अनन्य साधारण भक्ताधीनतावश शरणागतभक्तों के इच्छानुरूप भावगम्य, ध्यानगम्य सुचिन्त्य श्रीविग्रह धारण करते हैं। भक्तवांछाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण वंशीधारी गिरिधारी रासविहारी दामोदर आदि अनन्तरूपों की लीलायें करते हुए सबके मनोरथों को पूर्ण करते रहते हैं।

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं, तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वंदे महापुरुषते चरणारविन्द।।
(भागवत 11/5/33)

अशेषकल्याण गुणैकराशि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों के अतिरिक्त जीव की गति नहीं है। यहाँ गति शब्द करण व्युत्पत्ति अर्थ में और कर्मव्युत्पत्ति अर्थ में अर्थात् उपाय और उपेय दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अतः इन दोनों भावों से ही श्रीकृष्ण शरण्य हैं। भगवान् के समक्ष श्रीभट्टजी के शब्दों में जीव यही प्रार्थना करता है कि मैं आपके चरणों की शरण में आया हूँ। मुझे इनकी सेवा का सौभाग्य प्रदान करें। सेवा करने योग्य यह शरीर जिन माता-पिता से मिला है, वे धन्य हैं तथा जिन सद्गुरुदेव ने भगवन्नाम सुनाकर या ब्रह्म सम्बन्ध करा कर प्रभु का मार्ग दिखा दिया, वे अतिधन्य हैं। पावन तीर्थों में भ्रमण करने वाले चरण भी धन्य हैं, जो पापाच्छादित मन के कारण गोविन्द से विमुख रहते हैं वे अनेक जन्मों तक कष्ट उठाते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीभट्टजी ने गाया है—

मदन गोपाल सरन तेरी आयो।
चरनकमल की सेवा दीजै, चेरो करि राखो घर जायो।
धनि धनि मातपिता सुतबंधू धनि जननी जिन गोद खिलायो।
धनि धनि चरन चलत तीरथ को, धनि गुरु जिन हरिनाम सुनायो।
जे नर विमुख भये गोविन्द सो, जन्म अनेक महादुःख पायो।
श्रीभट के प्रभु दियो अमर पदा जम डरप्यो जब दास कहायो।।

अंग और अंगी अभिन्न होने के कारण श्रीकृष्ण और उनके चरण एक ही हैं, भिन्न नहीं। भगवच्चरणारविन्दों की प्राप्ति, बिना प्रणति के सम्भव नहीं, 'प्रकर्षेण नति' प्रणति का तात्पर्य हुआ सभी प्रकार के साधनों का अभिमान छोड़कर तथा अन्य सभी आश्रमों को त्यागकर एकमात्र युगल चरणों को ही सर्वस्व मान उन्हें ही सर्वविध साध्य एवं साधन मान एकांत भाव से उनके ही शरणागत होना। यही शरणागति या प्रपत्ति भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गीता में उपदिष्ट 'न्यासविद्या' है, जो भक्तवत्सल भगवान् को अपने अनन्यभक्तों के प्रति आकर्षित करने वाली अहैतुकी कृपावर्षिणी दयामयी विद्या है। यह विद्या ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि साधन मार्गों की सर्वविध कठिनताओं एवं विघ्नबाधाओं को दूर कर अकिंचन, अनन्यगति दीन-हीन एकांतिक भक्त को अति सहजरूप से परमपद प्राप्त करा देती है तथा भगवान् से मिला देती है।

गीता के द्वितीय अध्याय में कहा है कि—अर्जुन पहले स्वतंत्रकर्तृत्वाभिमानवश धर्म अधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, पाप-पुण्य के विचार से मूढ़ होकर श्रीकृष्ण से तर्क-वितर्क करता रहा। जब भगवान् ने माया पट हटाया तो कहने लगा, "शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" अर्थात् मैं आपकी शरण हूँ, मुझे श्रेयस्कर मार्ग का दर्शन कराओ। इसे तभी भगवान् ने कर्म, ज्ञान, भक्ति से समाहित समग्र गीता का उपदेश दिया। प्रभु ने जान लिया कि अभी कुछ संशय शेष है, तब चरम व परमोपयोगी उपाय का निर्देश करते हुए कहा—

सर्वधर्मान् प्रहित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (गीता 18/66)

अर्थात् हे अर्जुन! धर्म अधर्म का विचार सम्पूर्ण रूप से मुझ पर छोड़कर मेरे ही शरणागत हो जाओ अर्थात् मैं जैसे कहूँ, वैसे करो। मैं तुम्हें सब प्रकार के पापों से मुक्त कर दूँगा। शोच मत करो। भगवान् के इस वाक्य का यही तात्पर्य है कि स्वतंत्र कर्तृत्वाभिमान ही सब पाप-पुण्य का जनक होता है, उसे छोड़कर सब प्रकार से भगवान् व श्री सद्गुरु देव की शरण होकर उनकी आज्ञा का पालन करना ही सब प्रकार के कर्मबंधन से मुक्ति प्राप्त करने का मुख्य साधन है। तभी शास्त्रों में "मोक्षमूला गुरोः कृपा" का भी निर्देश है। यही गति, प्रपत्ति शरणागति एवं गुर्वाज्ञानुवृत्ति कहलाती है।

विभीषण जब भगवान् राम की शरण में आये तो श्री राघवेन्द्र ने कहा—जो मनुष्य एक बार भी सच्चे हृदय से मेरे चरणों की शरण होकर कहता है कि मैं आपके आश्रित हूँ, उसे मैं ग्रह, नक्षत्र, भूत, पिशाच आदि समस्त प्राणियों से अभय कर देता हूँ।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।। (वाल्मीकि रामा.)

शरणागत भक्त को दैहिक, दैविक, भौतिक तापों का तथा काल, कर्म का भी भय नहीं रहता। भक्तराज प्रहलाद ने अपने पिता के समक्ष नवधा भक्ति का निरूपण करते हुए आत्मनिवेदन रूपा शरणागति को ही सारभूता बताई। "मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे हो" यह भाव आने पर यह देह जैसी है, तुम्हारी है और देह से सम्बन्धित स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, भवन आदि समस्त आपके ही हैं, ऐसा करने से इनमें ममत्व बुद्धि नहीं रहती।

हे नाथ! मैं जैसा भी हूँ, आपका हूँ आपकी शरण में हूँ, जैसा उचित समझें करें। इस भावना का पद्य 'पदरत्नाकर' में पूज्य नित्यलीलालीन श्री हनुमान् प्रसाद जी पोद्दार ने व्यक्त किया है—

नाथ! मैं थांरो जी थांरो।
चोखो बुरो कुटिल अरु कामी, जो कुछ हूँ सो थांरो।।
बिगड्यो हूँ तो थांरो बिगड्यो, थे ही मनै सुधारो।
सुधर्‌यो तो प्रभु थांरो सुधर्‌यो, थां सूं कदे न न्यारो।।
बुरो, बुरो, मैं भोत बुरो हूँ, आखर टाबर थांरो।
बुरो कुहाकर मैं रह जास्यूं, नांव बिगड़सी थांरो।।
थांरो हूँ थांरो ही बाजूं, रहस्यूं थांरो थांरो।
आँगलियाँ नुंहं पौ न होवै, या तो आप विचारो।।
मेरी बात जाय तो जाओ, सोच नहीं कछु म्हाँरो।
मेरे बड़ो सोच यो लाग्यो, बिड़द लाजसी थांरो।।
जंचे जिस तरां करो नाथ! अब मारो चाहे त्यारो।
जाँघ उघाड्याँ लाज मरोगा, ऊँडी बात विचारो।।

अन्तर्मन से भगवान् की शरण ग्रहण करने पर जीव की अहंता और ममता स्वतः छूट जाती है। यह अहंता, ममता ही जीव के स्वतंत्र कर्तृत्वाभिमान जनित धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक और एक-दूसरे के मोह का कारण बनती है। हम आज शरीर के आराम को ही सुख क्यों मानते हैं? हमने अपने को शरीर में बैठा दिया, आत्मस्वरूप अपने को शरीर में बैठाने में 'अहंता' पैदा होती है और प्राकृत जड़ शरीर को अपने में बैठाने से 'ममता' पैदा होती है। अहंता शून्य व्यक्ति प्राप्त वस्तुओं में ममता न करे और अप्राप्त की कामना न करे तो जीवन् मुक्त हो जाता है।

निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति। (गीता 2-71)

शरणागत साधक के चित्त में ये भाव स्वतः स्फूर्त होते रहते हैं।

शरणागति का सामान्य अर्थ है मनसा वाचा कर्मणा भगवान् की शरण ग्रहण करना। विशिष्ट व गहन अर्थ की ओर जब दृष्टि डालते हैं, तो आचार्यों ने इसको छः विभागों में विभक्त किया है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यसवर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥

भावार्थ—(1) आनुकूल्यस्य संकल्पः—

जड़ चेतन रूप समस्त विश्व को भगवान् का स्वरूप मानकर नित्य निरन्तर उनका हित संपादन करने से जीव को भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।

अथवा जो सुख-दुःख विधि-विधान के अनुसार भगवान् की ओर आ रहे हैं, उनमें ही मेरा हित है तथा प्रत्येक घटना में अनुकूलता का दर्शन करता रहे। यह प्रथम अंग है।

(2) प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्—

परनिन्दा, हिंसा, द्वेष, छल, दंभ मात्सर्यादि प्रतिकूल भावों का परित्याग। अथवा दुःख, संकट, विपत्ति आदि प्रतिकूल भावों में उद्विग्न न हो और उन्हें हितकारी समझते हुए सहर्ष स्वीकार करे, तथा—

"जेहि विधि राखे राम तेहि विधि रहिये"

में दृढ़निश्चयी होना ही शरणागति का दूसरा अंग है।

(3) रक्षिष्यतेति विश्वासः—

भक्तवत्सल, पतितपावन, सर्वसुहृद्, सर्वाश्रयदाता, सर्वसमर्थ श्रीराधासर्वेश्वर प्रभु हमें अपने आश्रित जानकर हमारी रक्षा अवश्य करेंगे, ऐसा दृढ़ विश्वास होना ही तीसरी शरणागति है।

(4) गोप्तृत्ववरणम्—

भगवान् सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, समदर्शी होते हुए भी प्रार्थना शून्य, अशरणागत व भगवद्विमुख की रक्षा नहीं करते। शास्त्र में लिखा है कि, "प्रार्थनाशून्यैरात्मपरांमुखैरप्रार्थितो न गोपायति" भगवान् सर्वसमर्थोऽपि "मां रक्ष मां पालय" इति प्रार्थनामपेक्षते "अन्यथा सर्वजन-मोक्ष-प्रसंगात् शास्त्रसेतुभंगापत्तेश्च"। अर्थात् सर्वसमर्थः भगवान् प्रार्थना शून्य हरिविमुख ईश्वरद्वेषी की रक्षा नहीं करते, ऐसा न हो तो संसार में सभी प्राणियों की मोक्ष हो जावेगी तथा अहंकारी मोहविमूढ़ पापाचारी व्यक्तियों के दण्डविधान की शास्त्र-मर्यादा भंग हो जावेगी। तभी लंका से आते ही भक्तराज विभीषण ने भगवान् राम के दर्शन करते ही मुख से उच्चारण किया कि, "त्राहि त्राहि आरति हरण शरण सुखद रघुवीर" प्रार्थना सुनते ही भगवान् ने उसे हृदय से लगा लिया।

अतः शरण्य भगवान् सदा सर्वदा मेरी रक्षा करेंगे, ऐसा दृढ़विश्वास एवं सुदृढ़ निश्चय करके भक्तवत्सल श्रीसर्वेश्वर प्रभु के सम्मुख प्रार्थनापरायण होना ही चतुर्थ शरणागति का अंग है। द्रौपदी, गजराज इसके उदाहरण हैं।

(5) आत्मनिक्षेप—

आश्रयणीय, सर्वशरण्य भगवान् के समक्ष प्रार्थनापरायण होकर अंत में निजदेह की अहंता एवं संसार की ममता का परित्याग करते हुए स्वतंत्रकर्तृत्वाभिमान व भोक्तृत्व आदि स्वस्वामित्व का भार शरण्य भगवान् के श्रीचरणों में अर्पित करना ही आत्मनिक्षेप रूप शरणागति का पञ्चम अंग है।

(6) कार्पण्यभाव—

अपने साधन अनुष्ठान में जिन जिन उपायों का अवलम्बन किया जाता है, वे सिद्ध नहीं होते, अपितु इसके विपरीत असाधन स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में साधक का अपने को कर्तृत्व और साधन सामर्थ्य के प्रति अभिनिवेश रूप अहंकारहीन, पापहीन, दीन, अकिंचन अनुभव करना ही 'कार्पण्य' भावरूप शरणागति का छठा अंग है। इसी भाव को पुष्ट करते हुए आचार्यपाद ने कहा है, "कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते"।

भगवान् राम से अंगद जी ने कातर स्वर से प्रार्थना करते हुए कहा है—

बालक ज्ञान बुद्धि बल हीना, राखेहु सरन जानि जनदीना।

(रामचरितमानस)

षडङ्गभूता शरणागति का सूक्ष्म विवेचन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इनमें आत्मनिवेदन (पूर्णसमर्पण) अंगी है, अन्य पाँच अंगभूत हैं, ये अंगी की सहायता करते हैं।

एष धर्मो मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते।।

(भागवत 11/29/24)

आत्मसमर्पण भाव में अहंभाव प्रबल बाधक है, अतः अहंकारशून्य होकर अपने को जन्म-जन्म का अपराधी, दीन, हीन, अकिंचन साधन सामर्थ्यरहित प्रस्तुत करते हुए केवल प्रभुचरणों को आश्रय मानकर शरण में जाना ही जीव का परम कर्त्तव्य है। अतः निम्नलिखित प्रार्थना करनी चाहिये—

प्रार्थना

योऽहं ममास्ति यत्किंचिदिह लोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतः सद्यः चरणेषु समर्पितम्।।
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः।
अगतिश्च ततो नाथ भवन्तावेव मे गतिः।।
तवास्मि राधिकाकान्त! कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते! तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम।।
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ।
प्रसादं कुरुतां दासे मयि दुष्टेऽपराधिनि।।

❑

श्रीनिम्बार्काचार्य एवं उनका कपालवेध सिद्धान्त

डॉ. भास्कर शर्मा 'श्रोत्रिय'

नत्वा सर्वेश्वरं देवं राधिकाऽऽराधनान्वितम्।
हंस-नारद-निम्बार्कान् श्रीजीपादानुपास्महे।।

अयि परमसौशील्यादिगुणगणार्णव शरणागतवत्सल श्री सुदर्शनचक्रावतार श्रीमदाद्याचार्य भगवन् श्री 108 श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्र परब्रह्म पुरुषोत्तम श्री सर्वेश्वर भगवान् की पुनीत प्रेरणा से भागवत धर्म तथा भगवदीयानादि वैदिक सत्सम्प्रदाय प्रवर्तनार्थ इस धराधाम पर अवतीर्ण होकर संसारी जीवों के शिक्षार्थ आपने अखण्ड नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया तथा आध्यात्मिक तापत्रयसंतप्त जीव समुदाय को परमानन्दस्वरूप भगवद्भावापत्ति (मोक्ष) प्रदान करने की शुभ कामना से श्री राधाकृष्ण युगलोपासनारूप भागवत धर्म का स्वयं आचरण किया तथा स्वकीय शिष्य समुदाय को भी परम पावन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य तथा श्रीकृष्णैकैकर्य्यरूपधर्म का आचरण कराया। स्वरचित ग्रन्थों में चिदचिद् परब्रह्मस्वरूप का यथार्थतत्त्व सन्निविष्ट कर निज शिष्यों को ग्रहण कराया तथा वैदिक सच्छास्त्रों का अनुशीलन कर उनका परम सारभूत एवं अकाट्य द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस धराधाम पर सनातन भगवतधर्म का प्रतिष्ठापन एवं प्रचार-प्रसार कर श्री भगवदाज्ञा का (श्रीनिम्बार्काचार्यत्व) पूर्णतया पालन कर श्रीसर्वेश्वर प्रभु को सन्तुष्ट किया।

'भविष्य पुराण' के 'सुदर्शनो द्वापरान्ते' इत्यादि अवतरण से श्रीनिम्बार्क भगवान् का द्वापर युग के अन्त में अवतीर्ण होना सिद्ध होता है। स्वयं श्री वेदव्यासजी ने भविष्यपुराण में इनके वेध विषयक विचार प्रतिपादित किये हैं—

निम्बार्को भगवान्येषां वाञ्छितार्थ-प्रदायकः।
उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे।।

अर्थात् जिनकी परम्परा में श्रीनिम्बार्क भगवान् ही इच्छितार्थ प्रदान करने वाले हैं, उनको (निम्बार्कानुयायियों को) एकादशी आदि व्रतों में उदयव्यापिनी तिथि ग्रहण करनी चाहिए। स्मार्तश्रेष्ठ श्री कमलाकर भट्टजी ने भी उपर्युक्त श्लोक स्वरचित 'निर्णय-सिन्धु' में उद्धृत किया है, जिससे श्रीनिम्बार्क भगवान् वेदव्यासजी के समकालीन सिद्ध होते हैं।

श्रीमदाद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् के पुराण प्रसिद्ध अन्यान्य नामों से भी सिद्ध होता है कि आप द्वापर युग के अन्त में अवतीर्ण हुए थे। श्री हरि के प्रिय आयुध सुदर्शन चक्र का अवतार होने से श्रीहरिप्रियाचार्य नाम ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है। एकादशी वेध विषयक विचार प्रसंग में शौनकजी कहते हैं, "कपालवेध मित्याहुराचार्य्या ये हरिप्रियाः" इत्यादि शौनक वाक्य से यह स्पष्ट है कि श्रीनिम्बार्क भगवान् शौनकजी के पूर्व विद्यमान थे। श्रीमद्भागवत में आरुणि' (अरुणस्यापत्यं पुमान् आरुणिः) नाम उपलब्ध होता है। यथा

'उदस्मुपासते य ऋषि बर्त्मसु कूर्पदृशः परिसर पद्धति हृदयमारुणयोद्धहरम्' इत्यादि। पुनश्च चित्रकेतु आख्यान में सुप्रसिद्ध ऋषियों के नामोल्लेख में भी अरुणि ऋषि का नाम दिया गया है, यथा—

चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः।
वसिष्ठो भगवान्रामः कपिलो बादरायणिः।
दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातूकर्ण्यस्तथाऽऽरुणिः।।[2]

अपरञ्च देवर्षिवर्य्य श्री नारद भगवान् ने स्वरचित 'भक्तिसूत्र' नामक ग्रन्थ में भक्तिमार्ग प्रवर्तक मुख्याचार्यों की गणना करते हुए भगवन्निम्बार्काचार्य को आरुणि (अर्थात् अरुण मुनि का पुत्र) कहा है, यथा—

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमार व्यास शुकशाण्डिल्यगर्गविष्णु-कौण्डिन्यशेषोद्धव बारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्य्याः।

पुनश्च श्रीमद्भागवत में उल्लेख मिलता है—

वसिष्ठ इन्द्रः प्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः।
कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः।।

श्रीनिम्बार्काचार्य्य सुदर्शन चक्र अवतार रूप हैं। उक्त प्रसंग में लेख है कि जब पितामह भीष्म शरशय्या पर आसीन थे, उनके दर्शनार्थ श्री युधिष्ठिर महाराज श्रीकृष्ण भगवान् के साथ कुरुक्षेत्र में गये हुए थे तथा उनके साथ अन्यान्य ऋषि मुनि भी श्री भीष्मजी के दर्शन करने को पधारे थे। उनमें भगवान् निम्बार्क का भी उल्लेख मिलता है। अस्तु उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निम्बार्क भगवान् श्री वेदव्यासजी तथा श्रीकृष्ण भगवान् के समय में वर्तमान थे तथा श्री हरिप्रियाचार्य, आरुणि एवं सुदर्शन आदि नामों से विख्यात थे।

"श्री सनकादि-ब्रह्म-रुद्र सम्प्रदाय चतुष्टयम्" आर्ष वचनानुसार वैष्णव चतुः सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। जब धर्म का ह्रास और अधर्म की अभिवृद्धि होती है, तभी भगवान् अवतीर्ण होते हैं। कपिल, हंस, सनकादि, नारद, ऋषभ, पृथु, व्यास, नर, नारायण, दत्तात्रेय एवं सुदर्शन ये सभी धर्म रक्षणार्थ अवतीर्ण हुए हैं। आत्म ज्ञान के लिए स्वयं हरि (नारायण) ने हंसावतार धारण किया था। यथा—

हंसः स्वरूपवदच्युत आत्मयोगं,
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः।
विष्णुः शिवाय जगतां इति शास्त्रमानात्,
नारायणो रुचिर हंस वपुर्बभूव।।[3] (भा० 11.4.10)

हंस रूप से अवतीर्ण होकर भगवान् ने सनकादिकों को आत्मयोग का उपदेश दिया था। सनकादिकों के सम्बन्ध में भी यही कहा गया है, स्वयं ब्रह्माजी ने सृष्टि संरचनार्थ तप किया, तब सर्व प्रथम सनकादिकों का आविर्भाव हुआ। पूर्वकल्प में विलुप्त आत्मज्ञान पुनः प्रकटित हुआ था, यथा—

तप्तं तपो विविधलोक-सिसृक्षया मे,
आदौ सनात्स्वतपसा स चतुः सनोऽभूत्। इत्यादि।'[4]

सनकादिकों का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम हुआ, यथा—

कार्तिके शुक्लपक्षे वै नवम्यां शुभवासरे
ब्रह्मणो मनसो जाताश्चत्वारः सनकादयः।।[5]

श्रीनिम्बार्कोपदिष्ट उपासना का मूल श्री हंस भगवान् हैं। इस कारण हंस सम्प्रदाय भी इसका एक नाम है। हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के मानस पुत्र सनकादिकों ने अपने पिता से योग की ऐकान्तिकी सूक्ष्म गति के सम्बन्ध में प्रश्न किया। ब्रह्माजी प्रश्न के बीज को समझ न सके। अन्त में श्री सर्वेश्वर का ध्यान किया, उस समय कारुण्य सिंधु हंस रूप में प्रकट हुए। श्री हंस भगवान् ने सनकादिकों के प्रश्न का समाधान किया एवं अष्टादशाक्षर श्री गोपाल मंत्र व मानसी पूजा के साथ मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया।

स मामचिन्तयद् देवः प्रश्न-पार-तितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशगमनं तदा।।[6]

कार्तिक शुक्ला नवमी को श्री हंस भगवान् का प्राकट्य हुआ, यथा—

ऊर्जे सिते नवम्यां हि हंसो जातः स्वयं हरिः। (सनत्कुमारागम)

इस प्रकार श्री हंस भगवान् सनकादिकों को आत्मज्ञान, भक्ति रहस्य, शरणागति व अष्टादशाक्षरमंत्रराज का उपदेश करके अन्तर्हित हो गये। श्री सनकादि ब्रह्मा के मानस पुत्र थे। श्रीमद् भगवद्गीता में 'पूर्वे चत्वारः' पद से इन्हीं का संकेत किया गया है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।[7]

देवर्षि श्री नारदजी ब्रह्माजी की गोद से मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी को प्रकट हुए—

उत्संगान्नारदो जज्ञे ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
मार्गे शुक्ले शुभे भे च द्वादश्यां शुभवासरे।।

श्री सनकादिकों से नारदजी को भूमोपासना का उपदेश एवं अष्टादशाक्षर श्री गोपाल मंत्र की दीक्षा शब्द प्राण का वाचक नहीं, किन्तु श्री पुरुषोत्तम (परमात्मा) का वाचक है। आप ही श्री आद्य निम्बार्काचार्यजी के गुरु हैं—

नारायण-मुखाम्भोजान्मंत्रस्त्वष्टादशाक्षरः।
आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय च।।
उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्काय च तेन तु।
एवं परम्पराप्राप्तो मंत्रस्त्वष्टादशाक्षरः।।

श्रीसनकादिकों से नारदजी के ब्रह्म विद्या प्राप्त करने का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के 26वें खण्ड में मिलता है। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने वेदान्त सूत्रों पर स्वरचित वेदान्त-पारिजात-सौरभ वृत्ति में लिखा है—

परमाचार्यैः श्रीकुमारैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः''।।[1]

श्रीनिवासाचार्यजी ने वेदान्त सूत्रों पर स्वरचित 'वेदान्त कौस्तुभ भाष्य' के मंगलाचरण में भी श्रीहंस सनकादिक, श्रीनारद और श्रीनिम्बार्क भगवान् ने इन चारों की वन्दना करके अपनी गुरु परम्परा का परिचय प्रस्तुत किया है—

श्रीहंसं सनकादीन् देवर्षिं निम्बभास्करञ्च भजे।
कृपयैषां श्रीकृष्णे परमात्मनि नो भवतु भक्तिः।।

आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र

श्रीनिम्बार्काचार्य श्री सुदर्शन चक्रराज के अवतार हैं। नारद पंचरात्र में कहा है, शंख साक्षात् वासुदेव है, गदा संकर्षण रूप है, पद्म प्रद्युम्न और सुदर्शन अनिरुद्ध स्वरूप हैं, इस प्रकार ये चारों आयुध चतुर्व्यूह रूप हैं—

शंखः साक्षाद्वासुदेवो गदा संकर्षणः स्वयम्।
बभूव पद्मं प्रद्युम्नोऽनिरुद्धस्तु सुदर्शनः।।
दिनकर-शतदीप्तिं कोटि-कन्दर्प-मूर्तिं,
जलद-घन-शरीरं भक्तपक्षे ह{216}धीरम्।।
हरिकर-निजवासं त्यक्तमाया-विलासं
कृत-मुनिवर-वेषं नौमि निम्बार्कमीशम्।।

सकल मुमुक्षुजनों के हृदयान्तर्गत संशयादि ताप रूप अंधकार का निरास करने हेतु तथा भगवत्प्राप्ति के असाधारण कारणभूत निवृत्ति मार्ग के प्रवर्तन के लिए जगज्जन्मादि के अभिन्न निमित्तोपादान कारण भिन्नाभिन्न स्वभाव पर ब्रह्म भगवान् श्री पुरुषोत्तम ने अनिरुद्ध व्यूह के रूप में स्वयं ने ही श्रीनिम्बार्काचार्य के रूप में इस भूतल पर अवतार लिया।

श्रीमते सर्वविद्यानां प्रभवाय सुब्रह्मणे।
निम्बादित्याय देवाय जगज्जन्मादि-कारिणे।।

एवं ''निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थ-प्रदायकः'' इत्यादि वचनों में प्रयुक्त ब्रह्म एवं भगवत् शब्द आपके भगवत् स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। वैसे भी 'आचार्यं मां विजानीयात्' यह विधि आचार्य की भगवत्स्वरूपता का ही विधान करती है।

सुदर्शन! महाबाहो कोटि-सूर्य-समप्रभः।
अज्ञान-तिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय।।

यह भगवदादेश तथा 'सुदर्शनावताराय नमस्ते चक्ररूपिणे' इत्यादि स्तुति वाक्य श्रीनिम्बार्क की 'चक्रावतारता' का भी अभिधान करते हैं। अनिरुद्ध एवं सुदर्शन की अभिन्नता का वर्णन श्रीनारद पंचरात्र में किया है। इससे श्रीनिम्बार्क की अनिरुद्धावतारता भी स्पष्ट हो जाती है।

आद्याचार्याऽनिरुद्धस्य त्रिधा स्थितिरिति श्रुता।
आद्याचार्यो हि निम्बार्कोऽनिरुद्धः सिद्ध इत्यपि।।

नैमिष खण्ड में श्री सुदर्शन का त्रेतायुग में हविर्धान रूप से अवतार हुआ था तथा नारदजी ने विप्रफलक श्रीसुदर्शन को वेदों का सार उद्धृत करके अपनी वाणी से ग्रहण कराया था—

हविर्धिं धारयन् पुण्णन् हविनि इतीर्यते।
वेदानानन्दयेद्यस्मान्नियमानन्द ईर्य्यते।।
आम्नायरसमुद्धृत्य विप्रपालं सुदर्शनम्।
स्वया भाषा ग्रहासत्रं ग्राहयामास नारदः।।

निकुंज उपासना की दृष्टि से आप श्री रंगदेवी के अवतार हैं—

तत्रैव दामोदर-राधिकाभ्यां, पार्श्वे सखीमकल उत्तरस्थम्।
श्रीरंगदेव्या हि वपुर्धरं त्वां, दृष्ट्वा त्वदुद्विग्न-मनाः पलाये।।

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य का आविर्भाव

द्वापर युग के अन्त में **'न हि वैष्णवता कुत्र सम्प्रदायपुरःसरा'** श्रीमद्भागवत के इस देवर्षि श्रीनारदजी के वाक्यानुसार वैष्णव धर्म के लुप्त काल में धर्म स्नेही भगवद् वैष्णव वृंदों की पुकार पर गोलोक बिहारी भगवान् श्रीकृष्ण से आज्ञा पाकर कोटि सूर्यसम महाबाहु चक्रराज भूतल पर अवतरित हो अज्ञानरूप घोर अंधकार में डूबे जीवों को वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार द्वारा भक्तिमार्ग का प्रदर्शन कराने हेतु अवतरित हुए।

श्री सुदर्शन चक्रराज ने (द्वापर युग के अन्त तथा कलि के आरम्भ में) युधिष्ठिर शाके 6 कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा बुधवार को सायंकाल मेषलग्न कृत्तिका नक्षत्र में दक्षिण भारत के तैलंग (आंध्र प्रदेश) के वैदूर्यपत्तन (मूँगी पत्तन) जो कि दक्षिण हैदराबाद राज्य में आजकल पैठण के नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ गोदावरी तटवर्ती श्री अरुणाश्रम में अवतार लिया। पिता का नाम महर्षि अरुण और माता का नाम श्री जयन्तीदेवी था। आपका जन्मकालीन नाम 'नियमानन्द' था।

एक समय आपने अपने आश्रम में दिवाभोजी दण्डी महात्मा के रूप में आगत श्री ब्रह्माजी को रात्रि हो जाने पर भी अपने तपोबल से कोटि सूर्य के समान प्रकाशवान् स्व-स्वरूप निम्बवृक्ष के ऊपर से दिखलाकर उन्हें भोजन कराकर तृप्त किया। निम्ब (नीम) के वृक्ष पर अर्क (सूर्य) के दर्शन कराने पर ब्रह्माजी द्वारा आप नियमानन्द से 'श्रीनिम्बार्क' के नाम से विख्यात हुए।

भविष्य पुराण के अनुसार, पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की वर्षा करने एवं श्री युगल किशोर की स्वयं सेवा करने तथा मोक्ष रूपी पुरुषार्थ (पराभक्ति) के कारण ही 'निम्बार्क' नाम प्रसिद्ध हुआ—

पुरुषार्थ-प्रवर्षित्वान्नेवांगी कृतया स्वयम्।
कर्मणा मोक्षरूपेण निम्बार्क इति विश्रुतः।।

श्रीनिम्बार्क अष्टरूपः

श्री सर्वेश्वर प्रभु ने जब ब्रजधाम में अवतार ग्रहण किया, तब आपके निश्वास भूत (वेदाः निश्वसितं यस्य) वेद की ऋचाओं ने भी गोपी व गायों के के रूप में यहाँ अवतार लिया। श्रीनिम्बार्क भगवान् ने भी श्रीकृष्ण भगवान् की देहसंगिनी यष्टिका, गायों में धूसर गाय, नृत्य में वंशी, श्रीप्रिया राधिकाजी के श्री अंग में कांति, केशव भगवान् के करकमल में सुदर्शनचक्र, मित्र भाव में स्तोक सखा, श्रीनिकुंज सहचरी रूप में श्रीरंगदेवी एवं कलियुग में आद्याचार्य रूप से श्री निम्बार्काचार्य इस प्रकार आठ रूपों में सुदर्शनावतार भगवान् निम्बार्क ने अपने को प्रकट किया, यथा—

गोप्यो गावः ऋचस्तस्य यष्टिका देहसंगिनी।
मित्र-भावे स्तोक कृष्णः सखीत्वे रंगदेविका।।
गोषु धूसरिका चैव वंशी नृत्ये सुदर्शनः।
कान्तिरूपेण राधायां चक्ररूपेण केशवे।
कली निम्बार्करूपेण सम्प्रदाय-प्रवर्तकः।।

इनके आठ स्वरूपों में श्री रंगदेवी, वंशी व कान्ति निकुंज लीला के शेष रूप ब्रजलीला के हैं।

देवर्षि श्रीनारदजी ने इसी स्थान निम्ब ग्राम में पंचपदी ब्रह्म विद्या श्रीगोपाल मंत्रराज की दीक्षा ग्रहण कर श्री हंस सनकादि द्वारा परम्परागत स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त और श्रीराधाकृष्ण की युगल उपासना का लोक में प्रचार-प्रसार किया था।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी द्वारा रचित ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्रों पर 'वेदान्त पारिजात सौरभ' नामक भाष्य, वेदान्त दशश्लोकी, मंत्र रहस्य षोडशी, प्रपन्नकल्पवल्ली, राधाष्टक और प्रातः स्मरणादि दिव्य स्तोत्र हैं।

सिद्धान्त

श्रीनिम्बार्काचार्य का वेदान्त दर्शन (दार्शनिक सिद्धान्त) स्वाभाविक द्वैताद्वैत हैं। इसे ही भेदाभेद भी कहते हैं। जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य सुदर्शन के अवतार हैं। उक्त आचार्यचरण सभी आचार्यों से प्राचीनतम हैं तथा उनका दर्शन भी दार्शनिकों में अति प्राचीन है, अनादि है, यह बात नितांत सत्य है। इस वेदान्त में किसी आचार्य के प्रति श्रीनिम्बार्काचार्य ने प्रतिवाद नहीं किया है। यह भी निम्बार्क दर्शन की प्राचीनता में हेतु है। शाक्त सम्प्रदाय के आचार्य के मत में भी भेदाभेद सिद्धान्त है, किन्तु वह औपाधिक है। वे भेद घटित अभेद को मानते हैं।

उनके मत में भेद मिथ्या है, अभेद सत्य है। जैसे मिट्टी और उसका परिणाम घट दोनों सत्य हैं, उनमें भेद समझना मिथ्या है। ब्रह्म और जगत् दोनों सत्य हैं। इस विचार से अद्वैत श्रुतियों का निर्वाह हो जाता है। शाक्त तथा वैष्णव (रामानुज, निम्बार्क, माध्व) परिणामवाद को मानते हैं। शंकर मत वाले विवर्तवाद के पोषक हैं। यह परिणामवाद, ब्रह्म में विकार को नहीं आने देता है, क्योंकि जगत् तो ब्रह्म का ही परिणाम है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' यह अद्वैत श्रुति, जिसके समर्थक शांकर मतानुयायी हैं ब्रह्मैक्यता सिद्ध होती है, जो अद्वैत रूपान्तर ही है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह श्रुति द्वैताद्वैत का प्रतिपादन करती है। एक ब्रह्म ने बहुसंख्यक बनने की इच्छा की। इस श्रुति में अद्वैत था, इच्छा शक्ति से वह द्वैत भी हो गया। 'द्वैतयुक्तं अद्वैतमिति द्वैताद्वैतम्'। प्रलयादि में और अन्त में अद्वैत था। उक्त श्रुति से ब्रह्म एक से अनेक बना है। जीव और ब्रह्म का स्वाभाविक भेद है तथा सृष्टि से पूर्व ब्रह्म ही था। स्वाभाविक अभेद भी है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस श्रुति में स्वाभाविक भेदाभेद ही हैं, क्योंकि जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन ब्रह्म का जगत् परिणामिता का सूचक है।

अद्वैत का प्रतिबिम्बवाद चिन्तनीय स्थिति है, क्योंकि लोक में जैसे शीशे में अपना रूप दिखाई देता है। वैसी बात ब्रह्म में घटित होती है। वहाँ पर तो अविद्या है, जो हमें मान्य नहीं है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब घटित होना असम्भव है। आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद ये परस्पर रूपान्तर ही हैं। विवर्तवाद तो एक शून्य का ही स्वरूप है, जो बौद्धों की तरह है। सत्य में भी असत्य की प्रतीति कराता है, जो वेद वाक्यों के विरुद्ध है।

पुनश्च भेदाभेदसिद्धान्त सर्वथा वेद संगत है। यदि इसको स्वीकार नहीं करते हैं तो 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' श्रुति वाक्य असत्य हो जाता है, जीव और ब्रह्म की एकता को मानने पर शिष्य आचार्य के समीप ज्ञान प्राप्ति के लिए नहीं जायेगा और फिर उसका मोक्ष होना सम्भव नहीं है। **''यदेव भगवान् वेद तदैव मे ब्रूहि'' ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां''** इत्यादि श्रुतियाँ इस सिद्धान्त को न मानने पर भी व्यर्थ हो जायेंगी। अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ब्रह्मसूत्र भाष्य ''अधिष्ठानारोप्य लक्षण प्रमाण सामग्यग्यदाद्यभावेन अध्यासासम्भवस्य पूर्वाचार्यैः विस्तृतत्त्वात्'' ब्रह्मसूत्र भाष्य की पंक्तियों का सार यह है। अधिष्ठान तथा आरोप्य इन दोनों के लक्षण एवं प्रमाणों की सामग्री न होने के कारण अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती है। सामान्य का बाधक विशेष होता है, जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान? 'इदं रजतम्' यहाँ इदं असामान्य धर्म रजत का साधक है, अतः अविद्या का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। अतः अध्यास असिद्ध है। ब्रह्म आरोप्य भी नहीं है, क्योंकि जो जो आरोपित होता है, वह प्रधान युक्त होता है, जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ वैसा भी नहीं है। जैसे शश शृंग (खरगोश के सींग) इस अन्वय व्याप्ति से आरोप्य सिद्धि से अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती है। सादृश्य गुणकृत होता है, ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्गुण है। यह कौस्तुभ प्रभा भाष्य की पंक्तियाँ शंकर मत खण्डन की हैं। यहाँ पर इतना विवेचनीय है कि भाष्यों में परमत खण्डन-मण्डन न करके सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है, इस सन्दर्भ में पूर्ववर्तिता एवं परवर्तिता विचारणीय है।

'तत्त्वमसि' वाक्य से स्पष्ट है कि जीव और ब्रह्म में भेद है। असि से अभेद भी है। तत् पद से ब्रह्म और त्वं पद से जीव का ग्रहण होता है, अभिधा वृत्ति से अर्थ संगति ठीक बैठ रही हो तो फिर जहदजहल्लक्षणा क्यों स्वीकार की जाए, "अक्षे चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" यदि घर के कोने में ही शहद मिल जाता है, तो फिर पर्वत पर जाने की क्या आवश्यकता है ?

अद्वैतं परमार्थो, हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते।।

तेषामुभयथा द्वैतं, इस वाक्य से ज्ञात है कि द्वैताद्वैत सिद्धान्त गौडपाद से प्रथम का है। यदि द्वैताद्वैत सिद्धान्त प्राचीनतर नहीं होता, तो वे किस प्रकार उसका उल्लेख करते। अतः अन्यथानुपपत्ति प्रमाण के द्वारा द्वैताद्वैत प्रवर्तक श्रीमदाद्याचार्य श्री भगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्र का प्राचीनतमत्व सिद्ध होता है।

कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि श्रीशंकराचार्यजी ने जिस द्वैताद्वैत (भेदाभेद) सिद्धान्त का खण्डन किया है, वह श्री भास्कर भट्ट का औपाधिक भेदाभेद सिद्धान्त है, श्रीनिम्बार्काचार्य जी का स्वाभाविक भेदाभेद नहीं। इसका उत्तर यह है कि श्री शंकराचार्य के पहले श्री भास्कर भट्ट का अस्तित्व ही नहीं था, क्योंकि भास्कर भट्ट ने शंकराचार्य के मायावाद का (स्वरचित ब्रह्मसूत्र-भाष्य में) खण्डन किया है तथा प्रारम्भ के द्वितीय श्लोक में ही कहा है—

सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्राय-प्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये।।

सर्वप्रथम श्रीनिम्बार्क भगवान् ने ही ब्रह्मसूत्र का संक्षिप्त भाष्य लिखा है, क्योंकि अन्यान्य भाष्यकारों का जन्म श्रीनिम्बार्क भगवान् के पश्चात् ही हुआ है।

श्री निम्बार्को भगवानेवमौदुम्बराभिधम्।
अनुगृह्य ऋषेरादौ जगाम बदरी श्रमम्।।
निवसन्तत्र व्यासेन सार्कं च कतिचित्समाः।
चकार ब्रह्मसूत्रस्य व्याख्यानं प्रथमं प्रभुः।। इति।

उपासना

नित्य निकुंजबिहारी श्री राधाकृष्ण युगल ही इस सम्प्रदाय में उपास्य हैं। इनकी सन्निधि में सहचरी भाव से ही प्रवेश हो सकता है—

प्रातःकाल ही ऊहि के धारि सखी को भाव।
जाय मिले निज रूप सौं या का यहै उपाव।।

साधन के लिए गोपाल तापिनी उपनिषद् की पंचपदी विद्या (अष्टादशाक्षर श्री गोपाल मंत्रराज) का उपदेश दिया जाता है। आगम के आधार पर शरणागति मंत्र के उपदेश की भी परम्परा प्रचलित है।

युगल श्रीप्रिया-प्रियतम के अतिरिक्त भक्तों की और कोई गति नहीं है। दीन भाव से युक्त रहने वाली पर प्रिया लाल की कृपा होती है। "कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते" (वेदान्त कामधेनु)।

धाम श्री वृन्दाविपिन, धामी श्री श्याम-राधिका एवं इनका सखी परिकर सब सत्य हैं—

सत्य धाम वृन्दा विपिन, सत्य श्याम का नाम।
परम सत्य श्री राधिका, सत्य सखी अभिराम।। (आचार्य चरितावली।)

अथर्ववेदोक्त श्री गोपाल मंत्रराज में मुख्य शक्ति श्री राधा है। ईसतेर्नाशब्दम् ब्रह्मसूत्र की ईक्षण शक्ति ही श्री राधा है। 'ईक्षणं नाम पर्यालोचनमध्यवसाय' (कौस्तुभप्रभा)। पर्यालोचन एवं अध्यवसाय का काम राधाजी करती हैं, काम बीज जिसे शाक्त काली बीज एवं सुन्दरी बीज कहते हैं, वही वैष्णवों का युगल बीज मंत्र क्लीम् है। क्ल अर्थात् कृष्ण, ई अर्थात् गुरु, य अर्थात् जीव एवं उसका समर्पण है।

व्रतोपवास

दिवस विशिष्ट में विशिष्ट नियमों का पालन चिन्तन मनन ही व्रत कहलाता है। जैसे एक समय भोजनाभाव अथवा निराहार रहना। मैं फलां दिन इन इन नियमों का पालन करता हुआ एक समय भोजन करूँगा, अथवा निराहार रहूँगा, इस प्रकार की भावना संकल्प अथवा प्रतिज्ञा का नाम ही व्रत है।

इसकी विशिष्टता यह है कि "अग्नि आहार को पचाता है, किन्तु व्रतोपवास शरीर के समस्त दोषों को पचाकर नीरोगी बनाता है।" अतः व्रत एवं उपवास के दिन भगवन्नाम संकीर्तन, पठन, अर्चन द्वारा मनसा भगवच्चरणारविन्दों में शरणागत होना ही व्रतोपवास होता है।

मन, बुद्धि, इन्द्रियों की वृत्तियों को संयम द्वारा भगवान् के समीप (उप) स्थिति (वास) रखने का नाम ही उपवास होता है, यथा—

उपावृत्तस्तु पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोग-विवर्जितः।। (स्कन्दपुराण)

पापों से उपावृत्त (पृथक्) होकर अर्थात् समस्त भोगों से रहित होकर गुणों के साथ वास करने का नाम उपवास होता है। इसी विशुद्ध भावना को दृष्टिगत रखते हुए पूर्वाचार्यों ने प्रतिमास दो उपवास अर्थात् एकादशी निर्धारित की, जो कि इहलोक एवं परलोक में कल्याणप्रद है। मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों को एकाकार निराहार अथवा एक समय फलाहार कर भगवच्चिन्तन करना एकादशी व्रतोपवास का विधान किया। यह एकादशी विष्णु भगवान् के शरीर से उत्पन्न एक वैष्णवी शक्ति है। एकादशी को उत्पन्न होने के कारण यह एकादशी तिथि की अधिष्ठातृ देवी है। जैसे देवों में विष्णु प्रधान है, वैसे ही व्रतों में एकादशी व्रतोपवास प्रधान है।

वेध प्रक्रिया

निश्चित काल की दशमी से विद्ध एकादशी त्याज्य है, उस शुद्ध एकादशी के ग्रहण करने के लिए वेध काल का विचार इस प्रकार किया गया है। यह वेध तीन प्रकार का कहा गया है—सूर्योदय वेध, अरुणोदय वेध और अर्धरात्र वेध। स्मार्त सूर्योदय वेध को मानते हैं, माधवीय ग्रन्थ में कहा गया है, जो तिथियों में अतिवेध और महावेध कहे गये हैं, वे सभी अवेध जानने योग्य हैं, क्योंकि सूर्योदय में वेध इष्ट है, यथा—

अतिवेधा महावेधा ये वेधास्तिथिषु स्मृताः।
स्वैप्यवेधा विज्ञेया वेधः सूर्योदये मतः।।

गरुड़ ने कहा है, अरुणोदय दशमी वेध से संयुक्त हो तो वैष्णव को उस दिन एकादशी व्रत नहीं करना चाहिए।

दशमीवेध-संयुक्तो यदि स्यादरुणोदयः।
नैवोपोष्यं वैष्णवेन तद्दिनैकादशीव्रतम्।।

सूर्योदय से पूर्व चार घड़ी का समय अरुणोदय काल होता है। नारद के अनुसार यथा—उदयात्प्राक्चतस्रस्तु नाडिका अरुणोदयः इति। ब्रह्मवैवर्त के अनुसार प्रातःकाल चार घड़ी अरुणोदय काल होता है। यथा—**चतस्रो घटिका प्रातरुणोदय निश्चयः** इति। यह अरुणोदय वेध प्रवृत्ति मार्ग में निष्ठा रखने वाले सामान्य वैष्णवों का है तथा निवृत्ति धर्म में निष्ठा रखने वाले श्रीहरिप्रिया के लाडले वैष्णवों के लिए कपालवेध नामक अर्द्धरात्रवेध का विचार किया गया है।

श्रीनिम्बार्काचार्य सम्मत कपालवेध

व्रतोपवासादि में जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने स्पर्श, संग, शल्य और वेध इन चतुर्विध वेधों में प्रथम स्पर्श (कपाल) वेध को ही स्वीकार किया है। उन्होंने प्रत्येक एकादशी एवं भगवद्भागवत जयन्तियों में तिथि का उदय काल अर्धरात्र (45 घटी) पर ही स्वीकार किया है, यथा—

उदय-व्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे।
निम्बार्को भगवानेषां वांछितार्थ-प्रदायकः।।

कपालवेध नामक जो अर्धरात्र वेध स्मृति ग्रन्थों में लिखा है, उसका अभिप्राय है कि जिस दिन अर्द्धरात्र से परे एकादशी प्राप्त हो, उसी दिन में व्रत करना चाहिए, यथा—

अर्द्धरात्रात्परा यत्र एकादश्युपलभ्यते।
तत्रोपवासः कर्त्तव्यो न तु चेद्दशमी कला।। इति।

जब दशमी के दिन दशमी का मान 45 घटी से न्यून हो, अर्थात् एक घड़ी से संयुक्त एकादशी न हो तब ही व्रत करना श्रेष्ठ है। पूर्णातिथि (दशमी) अर्द्धरात्र का स्पर्श कर ले और जब आगे पक्ष की वृद्धि नहीं हो तब यह कपालवेध वाली एकादशी है, उसको छोड़कर शुद्धा

भद्रा नामक द्वादशी का व्रत करें। यहाँ पर 'अपक्षवृद्धि' ऐसा पदच्छेद है, पक्ष की वृद्धि में तो दशमी वेध हो तो द्वादशी को व्रत करें, यथा—

अर्द्धरात्रं स्पृशेत् पूर्णाऽपक्ष-वृद्धिर्यदाग्रतः।
कपालवेधिनी सा च शुद्धम्भद्रामुपोषयेत्।।

कूर्मपुराण के अनुसार यदि अर्द्धरात्र का अतिक्रमण (उल्लंघन) कर अर्थात् 45 घटी के उपरान्त दशमी तिथि प्राप्त हो, तो निश्चय ही एकादशी को छोड़कर द्वादशी में व्रत करना चाहिए, यथा—

अर्द्धरात्रमतिक्रम्य दशमी दृश्यते यदि।
तदा ह्येकादशीं त्यक्त्वा द्वादशीं समुपोषयेत्।।

तात्पर्य यह है कि 45 घटी के उपरान्त दशमी हो तो वह आगामी (एकादशी) तिथि का स्पर्श कर लेती है। इसलिए इस वेध का नाम 'स्पर्श' वेध है। इस स्पर्श वेध का नाम ही 'कपालवेध' है। अर्द्धभाग का नाम ही 'कपाल' है अर्थात् रात्रि के अर्द्ध भाग के वेध को स्वीकार करने से इसका नाम 'कपालवेध' है, जैसे—

अर्द्धरात्रे तु केषाञ्चिद्दशम्या वेध इष्यते।
कपालवेध इत्याहु आचार्या ये हरिप्रियाः।। (ब्रह्मवैवर्त)

जो हरिप्रिया के प्यारे आचार्य (अर्थात् हरिप्रियायुध श्रीचक्र सुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्काचार्य है) वे इस वेध को 'कपालवेध' इस नाम से कहते हैं। अतः उनके मत में अर्द्धरात्र पर ही दशमी वेध इष्ट है। ज्योतिषशास्त्र में अर्द्धरात्र काल में दूसरे दिन की प्रवृत्ति मानी जाती है, ऐसा स्वीकार किया है। इसमें मुहूर्तचिन्तामणि का वाक्य प्रमाण है कि अर्द्धरात्र से पहले जो सूर्य का संक्रमण हो तो प्रथम दिवस के अन्तिम भाग में पुण्यकाल है और जो अर्द्धरात्र के पीछे सूर्य का संक्रमण हो तो दूसरे दिन के पूर्व भाग में पुण्यकाल है। कालनिर्णयदीपिका में भी यही कपालवेध कहा है, "दिग्वेधोऽस्ति निशीथसृक् व्रतविधावाद्ये स वर्ज्यो भवेत्" इति। अर्थात् जब आज दिन में अर्धरात्र में योग है, जिसका ऐसा दशमी का वेध हो तो वह दिन व्रत की विधि में वर्जनीय है, अर्थात् उस दिन में व्रतोपवास नहीं करना चाहिए।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी के कपालवेध की प्राचीनता एवं सम्मति, यथा—

1. महर्षि पाणिनि मुनि ने स्वनिर्मित अष्टाध्यायी के एक सूत्र 'अनद्यतने लुट्' में गत रात्रि के 12 बजे से लेकर आगामी रात्रि के 12 बजे पर्यन्त के काल को अद्यतन काल (वर्तमान काल) अर्थात् आज का दिन बताया है और इससे पूर्व काल तथा पर काल को अनद्यतन काल माना है।
2. परमवीर विक्रमादित्य का नवीन सम्वत् भी चैत्रमास के अर्द्ध भाग (अर्थात् अमावस्या के पश्चात्) शुक्ल पक्ष का प्रतिपद् तिथि से ही आरम्भ होता है।

3. ईस्वी सन् (अंग्रेजी सम्वत् के महीनों) की तारीख भी रात्रि के अर्द्धभाग 12 बजे बाद ही परिवर्तित हो जाती है।
4. रात्रि के अर्द्धभाग अर्थात् 12 बजे के पश्चात् किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर भी द्वितीय दिवस की ही परिगणना स्वीकार की जाती है।
5. आर्ष ग्रन्थ सूर्य सिद्धान्त में वार प्रवृत्ति की गणना भगवान् सूर्य द्वारा लंका के अर्द्धरात्र काल से वार प्रवृत्ति मानी है। यथा—वारप्रवृत्तिः प्राग्देशे क्षपार्धेऽम्बधिके भवेत्।
6. श्रीआचार्य ने तो अपने ग्रन्थ में अर्द्धरात्र से वार प्रवृत्ति मानी है।
7. स्वयं भगवान् सूर्य के द्वारा स्पष्ट ग्रह गति आदि अर्द्धरात्र कालिक गणित के हैं तथा ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी समस्त गणना का आरम्भ अर्थात् अहर्गण साधन भी मध्यरात्रि कालिक ही विहित हैं, यथा—'लंकायामार्धरात्रिकः' (सू.सि. मध्यमाधिकार श्लोक 50)।
8. जयपुराधीश सवाई जयसिंह द्वितीय द्वारा स्वनिर्मित ज्योतिष वेधशाला (जन्तर-मन्तर) का निर्माण सन् 1727 ई. में कराया, जिसमें कपालवेध करने के लिए कपाली यंत्र विशेष रूप से निर्मित करा तिथ्यादि निर्णय तृतीय एवं दशम लग्न की महत्ता को सहज एवं उपादेय बनाया।

श्रीनिम्बार्काचार्य के कपालवेध की परमावश्यकता

कपालवेध स्वीकार करने का प्रधान कारण यह भी है कि अर्द्धरात्रि पर दशमी से स्पर्श की गई एकादशी में बीस प्रकार के दोष प्राप्त होते हैं, किन्तु अर्द्धरात्रि (कपाल) वेध को स्वीकार करने पर वे सब छूट जाते हैं। श्रीनारद पंचरात्र में उन बीस प्रकार के दोषों का निम्नप्रकार से नामोल्लेख किया है, यथा—ज्वालामुखी, महाज्वाला, भया, महाभया, त्रजा, अतित्रजा, रौद्रा, महारौद्रा, आसुरी, वन्द्या, महावन्द्या, छायाग्रस्ता, वेधा, अतिवेधा, महावेधा, षडाधिका, प्रलया, महाप्रलया, महाघोरा अथवा सम्पूर्णा राक्षसी। ये बीस प्रकार के दोष हैं।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने इन 20 दोषों से सम्बद्ध (विद्धा) एकादशी का परित्याग और इन दोषों से रहित (शुद्धा) एकादशी में व्रतोपवास करना बताया है। अतएव मुमुक्षु पुरुषों को पूर्वाचार्यों द्वारा संकथित शुद्धा एकादशी में ही व्रतोपवास करना चाहिए, जिससे उन्हें वास्तविक सच्चे सुख की संप्राप्ति हो सके। व्रतोपवास का प्रधानतया यही मुख्य कारण है।

एकादशी के भेद

विद्धा और शुद्धा इस प्रकार एकादशी के दो भेद हैं। प्रत्येक तिथि का सम्बन्ध पूर्व या पर इन दोनों तिथियों में से किसी एक के साथ तो सामान्यतः होता ही है। अतएव पूर्वातिथि (दशमी) से सम्बन्धित एकादशी को विद्धा और पर तिथि (द्वादशी) से सम्बन्धित एकादशी को शुद्धा का रूप दिया गया है। पूर्वाचार्यों के मत से विद्धा एकादशी त्याज्य और शुद्धा एकादशी ग्राह्य है। भले ही एकादशी में द्वादशी आ जाए, इस बात का दोष नहीं, पर पूर्व

तिथि (दशमी) विद्धा अर्थात् दशमी 45 घटी के ऊपर हो तो व्रत एकादशी में न करके द्वादशी में करना चाहिए।

विद्धा और शुद्धा एकादशी के परिणाम

दशमी विद्धा एकादशी करने का फल राक्षसों को मिलता है और उससे जनता में आसुरी भाव की अभिवृद्धि होती है तथा उससे विश्व का अहित होता है।

शुद्धा एकादशी के व्रतोपवास का फल देवताओं को प्राप्त होता है, जिससे जनता में दैवी भाव की अभिवृद्धि होती है और उससे मन एवं इन्द्रियों की वृत्तियाँ शुद्ध रहती हैं, जिससे धर्माचरण बनते हैं और इससे विश्व का हित होता है।

वैष्णवों के सभी धार्मिक कृत्य 'विश्व का कल्याण हो' इसी भावना के साथ-साथ हुआ करते हैं। एतदर्थ पूर्व विद्धा (दशमीविद्धा) एकादशी को त्यागकर परविद्धा (शुद्धा-द्वादशी विद्धा) एकादशी को ही उन्होंने मान्यता दी है।

पंचांगों द्वारा उत्पन्न सन्देह व निवृत्ति

आजकल प्रायः कई स्थानों से अनेक पंचांग निकलते हैं। अपने-अपने स्थान के गणितानुसार उनकी तिथियों के घटीमान में भिन्नता भी अवश्य रहती ही है। सब जगह सभी पंचांग देखने में आते ही हैं। मान लीजिये एक पंचांग में दशमी तिथि का घटीमान 44 घटी है और दूसरे पंचांग में 46 घटी मिलता है। अब एक पंचांग के अनुसार जिसमें दशमी 44 घटी है, उसके हिसाब से तो एकादशी दशमी विद्धा नहीं है, अतः एकादशी में व्रतोपवास करना चाहिए और दूसरे पंचांगानुसार जिसमें कि दशमी 46 घटी है उसके हिसाब से एकादशी दशमी विद्धा है, अतः एकादशी में व्रत न होकर द्वादशी में ही होना चाहिए। ऐसी स्थिति में भावुक सज्जनों को यह संदेह हो जाता है कि व्रतोपवास एकादशी में करना चाहिए या द्वादशी में। इस संदेह की निवृत्ति के लिए अखिल भारतीय श्री निम्बार्काचार्य पीठ सलेमाबाद द्वारा प्रकाशित **'श्रीनिम्बार्क व्रतोत्सव परिचय'** तथा जगद्गुरु निम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वर शरण देवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज के संरक्षण में श्री सर्वेश्वर संसद, जयपुर द्वारा प्रकाशित श्री सर्वेश्वर व्रतोत्सव भास्कर, एवं श्रीनिम्बार्क व्रतोत्सव भास्कर पंचांग जो इस लेख के लेखक हैं द्वारा सम्पादित है, के निर्णयानुसार आचरण करें अथवा—

बहुवाक्यविरोधेन संदेहो जायते यदा।
उपोष्या द्वादशी तत्र त्रयोदश्यां तु पारणम्।।

इस नारदीय के वचनानुसार बहुवाक्य विरोध होने पर द्वादशी में उपवास करके त्रयोदशी में पारणा कर लेना चाहिए।

अष्ट महाद्वादशी

उन्मीलिनी वञ्जु{103}लिनी त्रिस्पर्शा पक्षवर्द्धिनी।
जया च विजया चैव जयन्ती पापनाशिनी।।
द्वादश्योऽष्टौ महापुण्याः सर्वपापहरा द्विज। (ब्रह्मवैवर्त)

उन्मीलनी, वञ्जुलिनी, त्रिस्पर्शा, पक्षवर्द्धिनी, जया, विजया, जयन्ती और पापनाशिनी ये आठ महाद्वादशियाँ पुण्यप्रद हैं और सम्पूर्ण पापों को हरण करने वाली हैं। इनका योग जानने का क्रम इस प्रकार है—

1. जैसे एकादशी पूर्ण हो और दूसरे दिन भी कुछ एकादशी हो तो वह युक्ता महाद्वादशी **'उन्मीलिनी'** कहलाती है।
2. एकादशी तथा द्वादशी सम्पूर्ण हो और फिर त्रयोदशी को भी कुछ द्वादशी अवशिष्ट हो तो वह महाद्वादशी **'वञ्जुलिनी'** नाम से कही जाती है।
3. प्रातःकाल एकादशी हो और फिर द्वादशी का क्षय होकर रात्रि शेष में त्रयोदशी हो तो वह महाद्वादशी **'त्रिस्पर्शा'** कहलाती है।
4. अमावास्या या पूर्णिमा तिथि दो हो जाएँ तो वह महाद्वादशी **'पक्षवर्द्धिनी'** नाम से कही जाती है।
5. किसी भी मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी यदि पुनर्वसु नक्षत्र से युक्त हो तो वह **'जया'** नामक महाद्वादशी होती है।
6. किसी भी मास के कृष्ण पक्ष या शुक्ल पक्ष की द्वादशी यदि श्रवण नक्षत्र से युक्त हो तो वह **'विजया'** नामक महाद्वादशी है।
7. किसी भी मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी रोहिणी नक्षत्र से युक्त हो तो वह **'जयन्ती'** नाम की महाद्वादशी कहलाती है।
8. और किसी भी मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी पुष्य नक्षत्र से युक्त हो तो वह **'पापनाशिनी'** महाद्वादशी कहलाती है।

उपर्युक्त आदि की चार महाद्वादशी तो तिथियों के योग से बनती हैं और शेष चार महाद्वादशी नक्षत्रों के योग से आती हैं। अतः आठों महाद्वादशियों में से किसी का भी योग आ जाये तो शुद्धा (वेध रहित) एकादशी को भी छोड़कर महाद्वादशी में व्रत करना चाहिए, यथा—

शुद्धाप्येकादशी त्याज्या द्वादश्यां समुपोषणम्।

ऐसा ब्रह्मवैवर्त और पद्मपुराणादि का वचन है। विस्तार भय से संक्षेप में ही लिखा है, जिनको विस्तृत प्रमाण देखना हो वे 'स्वधर्मामृत सिन्धु' और 'वैष्णवधर्मसुद्रुम मंजरी' आदि ग्रन्थ देख सकते हैं।

भगवज्जयन्ती

श्रीकृष्ण जयन्ती, श्रीराम जयन्ती, श्रीनृसिंह जयन्ती और श्रीवामन जयन्ती ये चार मुख्य भगवज्जयन्तियाँ हैं। इन चार जयन्तियों में भी व्रतोपवास रखना वैष्णवों का मुख्य कर्त्तव्य है। श्रीनिम्बार्क मतानुयायी वैष्णवों को इन जयन्तियों में भी यही कपालवेध मानना चाहिए। जैसे भाद्रपद कृष्णपक्ष की सप्तमी यदि 45 घटी से ऊपर हो तो श्रीकृष्ण जयन्ती महोत्सव नवमी में

होगा। उसी दिन व्रतोपवास आदि रखना चाहिए। कारण कि वह अष्टमी कपालवेध मतानुसार सप्तमी विद्धा है। अतः उसे छोड़कर नवमी ही लेना चाहिए। भले ही अष्टमी के दिन बुधवार एवं रोहिणी नक्षत्र आदि-आदि योग से युक्त हों, पर सप्तमी विद्धा होने से उसे छोड़कर नवमी ही मान्य है। इसी प्रकार अन्य तीन जयन्तियाँ भी कपालवेध मतानुसार यदि पूर्व तिथियों से विद्धा हों तो श्रीराम जयन्ती चैत्र शुक्ला दशमी को तथा श्रीनृसिंह जयन्ती वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को होगी। श्रीवामन जयन्ती के सम्बन्ध में स्वधर्मामृत सिन्धु आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थ विशेषों में बताया है कि एकादशी और द्वादशी यदि एकादशी विद्धा भी हो तो ग्राह्य है। यदि द्वादशी का क्षय हो और एकादशी में श्रवण नक्षत्र आदि योग हों तो एकादशी में भी वामन द्वादशी हो सकती है, ऐसा प्रमाण है, त्रयोदशी को नहीं।

इनके अतिरिक्त श्रीराधा जयन्ती, श्रीजानकी जयन्ती और श्री आचार्य जयन्तियों में भी यही कपालवेध मुख्य है।

व्रत के भेद

एकभक्त, नक्त और उपवास (निराहार)। इस प्रकार व्रत के ये तीन भेद हैं, जैसे—

1. दिन में मध्याह्न में एक बार भोजन कर लिया जाए, वह एकभुक्त कहलाता है।
2. सायंकाल के बाद रात्रि में एक बार भोजन करने का नाम नक्त है। इसका प्रमाण इस प्रकार है—

   दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे।
   तन्नक्तं विजानीयान्न नक्तं निशिभोजनम्।। (मत्स्य-स्कन्द पुराण)

   दिन के आठवें भाग में जब सूर्यनारायण की किरणें मंद पड़ जाएँ, उस समय के भोजन को नक्त कहते हैं, अर्द्धरात्रि में भोजन का नाम नक्त नहीं है।
3. दिन और रात्रि भर कुछ न खा-पीकर रहने का नाम ही उपवास (निराहार) है।

व्रत फल

निराहार रहकर व्रतोपवास करने का फल विशेष है। उससे आधा नक्त (सायंकाल) और उससे आधा एकभुक्त (एक समय) का फल है। अतः स्वशक्त्यनुसार जैसा भी बने, एकादशी करना अवश्य चाहिए।

एकभुक्त और नक्त में भी अन्न के पदार्थ न रहकर फलाहार के पदार्थ ही रहें तो विशेष उत्तम है। इससे 'एकादशी में अन्न ग्रहण करना अपराध है' इस मर्यादा का भी पालन हो जाता है।

कपालवेध वेधित व्रत में आवश्यक

1. दशमी को एक बार भोजन कर एकादशी में निराहार रहकर द्वादशी में पारणा करे, यह उत्तम प्रकार है।

2. छोटी बड़ी का भेद न रखकर दोनों पक्षों की एकादशी श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। गौ कैसी भी क्यों न हो, काली या सफेद पर दूध तो दोनों सफेद ही देंगी।
3. आठ वर्ष से लेकर अस्सी वर्ष पर्यन्त के सभी आबाल-वृद्ध, नर-नारियों को यह व्रत अवश्य करना चाहिए। अत्यन्त वृद्ध और छोटे बालक एवं रोगी पर कोई प्रतिबंध नहीं है।
4. कई माताएँ सौभाग्यवती स्त्रियों को कह देती हैं कि तुम्हें यह व्रत नहीं रखना चाहिए, सो ऐसा कहना ठीक नहीं। यह व्रत तो छोटी, बड़ी, बूढ़ी, सधवा, विधवा सभी को करना चाहिए। यहाँ तक कि रजस्वला अवस्था में भी इसका त्याग नहीं करना चाहिए, यथा—

   एकादश्यां न भुञ्जीत नारीदृष्टे रजस्यपि।
   सम्प्रवृत्तेऽपि रजसि न त्याज्यं द्वादशीव्रतम्।। (ऋष्यशृंग)

5. भगवान् कहते हैं कि ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त सभी वर्णों को मेरे व्रत का अधिकार है, यथा—"सर्वेषामेव वर्णानां अधिकारोस्ति मद्व्रते।" (अगस्त्य संहिता)
6. मुचुकुन्द और रुक्मांगद प्रभृति राजाओं का तो यह नियम था कि वे दशमी के दिन ही अपने नगर में डिंढोरा पिटवा देते थे कि जो कल एकादशी का व्रत न रखेगा, वह दण्डनीय होगा।
7. **परमापदमापन्ने हर्षे वा समुपस्थिते।**
   सूतके मृतके चैव न त्याज्यं द्वादशीव्रतम्।।

   चाहे अत्यन्त आपत्ति का समय हो अथवा हर्ष (मांगलिक) समय उपस्थित हो, सूतक (जन्माशौच) या मृतक (मरणाशौच) हो, किसी भी अवस्था में व्रत का त्याग न करे।
8. भगवान् कहते हैं कि जो मेरे व्रत को आया हुआ जानकर प्रमादवश उसका उल्लंघन करता है, तो यह उसके लिए एक महापाप है।
9. व्रत के दिन चोर, पाखंडी, परदारा एवं परद्रव्यापहारी, दुराचारी, पातकी तथा दुष्टजनों से सम्भाषण न करे।
10. व्रतोपवास के दिन, दिन में न सोवे और रात्रि में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए पृथ्वी पर ही शयन करे।
11. व्रतोपवास के दिन बार-बार जलपान करने एवं एक बार पान खाने तथा दिन में शयन करने व स्त्री संग से व्रत भंग हो जाता है, इसका ध्यान रखना चाहिए।
12. मादक द्रव्यों का सेवन न करे।
13. असत्य न बोले।
14. किसी से लड़ाई झगड़ा न करे।
15. आत्मस्तुति एवं परनिन्दा से बचे।

16. बन सके तो उस रोज मौन धारण कर ले।
17. मनसा-वाचा-कर्मणा किसी भी प्राणी की आत्मा को दुःखी न करे।
18. दशों इन्द्रियाँ और एक मन, इन 11 इन्द्रियों की वृत्तियों को भगवान् के चरणों में लगाकर भजन करें।
19. व्रतोपवास के दिन बर्तन की अपेक्षा पत्रावली में भोजन करना श्रेष्ठ है।
20. जल, कन्द, मूल, फल, दूध, हवि, ब्राह्मण की इच्छा, गुरु वचन और औषध ये आठ द्रव्य व्रत को नष्ट नहीं करते हैं।
21. काँसी के बर्तन में भोजन, मांस, मसूर, चने की दाल, मधु, परान्न, दो बार भोजन और स्त्री संग से दशमी, एकादशी और द्वादशी तीनों दिन किया व्रतोपवास निष्फल हो जाता है।

हरिवासर

द्वादश्येकादशीयोगे विख्यातो हरिवासरः।
एकादश्यन्तपादेन द्वादश्यां पूर्वमेव हि।।
हरिवासरमित्याहुर्भोजनत्र समाचरेत्।

द्वादशी और एकादशी के योग में हरिवासर होता है। एकादशी के अन्तिम पाद से लेकर द्वादशी के पूर्वपाद तक के समय को हरिवासार कहते हैं, उसमें भोजन न करे।

आ-भा-का-सितपक्षेषु मैत्र-श्रवण-रेवती।
आदिमध्यावसानेषु हरिवासर कीर्तितः।।
संगमे नैव भोक्तव्यं द्वादश द्वादशीहरेत्।।

आषाढ़ शुक्लपक्ष की द्वादशी को अनुराधा, भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को श्रवण और कार्तिक शुक्ला द्वादशी को रेवती नक्षत्र हो तो इनके संग में द्वादशी को पारणा न करे। इसका कारण यह है कि—

मैत्रादि पादे स्वपतीह विष्णुः, श्रुतेश्च मध्ये परिवर्तमेति।
रेवत्युपान्ते विजहाति निद्रां, सुप्ति-प्रबोध-परिवर्तनमेव वर्ज्यम्।।

श्री विष्णु अनुराधा नक्षत्र के प्रथम पाद में शयन करते हैं। श्रवण के दूसरे पाद (चरण) में करवट बदलते हैं और रेवती के तीसरे पाद में जागते हैं, अतः शयनकाल, करवटकाल और उत्थापनकाल को (अर्थात् इन नक्षत्रों के आदि, मध्य और अन्त की बीस-बीस घड़ियों को) पारणा में त्याग देना चाहिए। इसको 'हरिवासर' कहते हैं। प्रत्येक पंचांग में इन (आषाढ़, भाद्रपद और कार्तिक तीन) मासों के सामने लिखा रहता है, हरिवासर है वा नहीं, सो देख लेना चाहिए।

महाद्वादशी व्रत करने वालों के लिए भाद्रपद में तो देखने की आवश्यकता ही नहीं है। कारण कि भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को यदि श्रवण नक्षत्र होगा तो वह 'विजया' महाद्वादशी होगी। सो उस दिन तो उपवास रहकर दूसरे दिन पारणा होगा। अब रही आषाढ़ व कार्तिक

की बात, सो यदि शुद्धा एकादशी हो तो हरिवासर देख लेना चाहिए अन्यथा विद्धा हो तो व्रत द्वादशी में होगा ही।

संसार के सभी प्राणी सुख चाहते हैं, पर सुख कहाँ है? 'सुखस्य मूलं धर्मः' सुख का मूल धर्म है। अतः धर्माचरण बिना सुख की उपलब्धि कैसे हो सकती है? अतएव इसका पालन करना अत्यन्त हितकर एवं परमावश्यक है।

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, ज्योतिष,
राजकीय आचार्य संस्कृत कॉलेज, मनोहरपुर,
जयपुर (राजस्थान)

पाद-टिप्पणियाँ

1. श्रीमद्भागवत 10/87
2. श्रीमद्भागवत 6/15
3. भागवत, 11/4/17
4. भागवत, 2/7/5
5. भागवत, 1/3/6
6. भागवत, 11/13/19
7. भागवत, 10/6
8. वेदान्तसूत्र 1/3/8 की वृत्तिः

❑

अर्धरात्र वेध समर्थन

व्रजविदेही चतुः सम्प्रदाय श्री महन्त स्वामी
श्री धनञ्जयदासजी (काठियाबाबा) महाराज
तर्क, तर्क-व्याकरणतीर्थ

वर्तमान में सूर्योदय, अरुणोदय और अर्धरात्र इन तीन प्रकार के वेधों का त्याग करके व्रत (उपवास) करने का प्रचलन देखा जाता है। 50 घड़ी का संग वेध और 55 घड़ी शल्यवेध का उल्लेख भी शास्त्र में है, किन्तु इनमें से किसी वेध का किस सम्प्रदाय में त्याग किया जाता है" यह सुनने में नहीं आया। उपर्युक्त तीनों वेधों में सूर्योदयवेध को स्मार्त और अरुणोदय वेध को गौडीय सम्प्रदाय के वैष्णव तथा अर्धरात्र वेध को निम्बार्कीय वैष्णव त्याग कर के व्रत उपवास करते हैं—ऐसी सम्प्रदाय परम्परा है और उसी के अनुसार साम्प्रदायिकों को नियम पालन करना भी चाहिये।

यस्मिन् कुले य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
श्रुतिस्मृत्यविरोधेन सदाचार स उच्यते।।
(स्वधर्मामृत. ग्रन्थोद्धृत, देवल वचन)

स्वाधिकार-विशेषेण यच्छास्त्रेषु विधीयते।
तदेव धर्ममित्याहुरधर्मस्तद्विपर्य्ययः।।
(नारद वचन, निम्बार्क-व्रतोत्सव निर्णयोद्धृत)

मरीचि के भी ऐसे ही वाक्य मिलते हैं—

येषु स्थानेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः।
तत्र तत्रावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः।।
येषु देशेषु ये देवाः येषु स्थानेषु ये द्विजाः।
येषु स्थानेषु यत्तोयं या च यत्रैव मृत्तिका।।
सैव तत्र प्रपूज्यः स्यात्तेषु कृत्यं विधीयते।
अतएव न्यायागमयोर्न निर्णायकता।
अत्रायोगिनोऽसर्वज्ञस्य धर्मतत्त्वसाक्षात्कारासम्भवात्।
शिष्टाचार प्रामाण्यमाह हेमाद्रिप्रबन्धे।।
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नाऽसौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।।

स्मार्त विद्वान् श्री रघुनन्दन लिखित एकादशीतत्त्व में स्कन्द का भी ऐसा वचन उद्धृत है—"**यस्मिन् देशे यस्मिन् काले येषु शिष्टेषु नीरागद्वेषस्य स्वस्य प्रामाण्यातिशयबुद्धिस्तदा तादृशस्याचारस्य मुख्यत्वम् इति।**"

इत्यादि शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार किसी भी सम्प्रदाय के सदाचार में दोष देखना या उसका खण्डन करना अत्यन्त असंगत है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में शास्त्रीय विधान के अनुसार प्राचीनकाल से ही अर्धरात्र वेध का त्याग करके व्रत उपवास करने की परम्परा है। तब उसमें दोष देखना या खण्डन करना हरिभक्ति विलासकार की एक भ्रांतिपूर्ण चेष्टा ही कही जायेगी।

हम श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के एक विशिष्ट महन्त पद पर प्रतिष्ठित हैं। अतः अपने कर्त्तव्यानुसार हमने इस सम्बन्ध में कई विद्वानों से चर्चा की है। विशेष करके गौड़ीय सम्प्रदाय के विद्वानों का ध्यान इधर आकर्षित करने के लिए यह निबन्ध लिखा जा रहा है। आशा है, इसे पढ़कर विद्वज्जन उदारता के साथ इस पर विचार करेंगे और अपना अभिमत प्रकाशित करने की व्यवस्था करेंगे।

इस समय पहले हम अर्धरात्र वेध त्याग के सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाण एवं विचारों को प्रदर्शित करेंगे। तत्पश्चात् खण्डन मण्डन प्रकरणों की यथोचित समालोचना की जायेगी।

अर्द्धरात्र वेध को त्याग करके एकादशी व्रत करने के विषय में श्रीशुकदेव सुधी रचित **स्वधर्मामृत-सिन्धु** के वचन यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। आप बड़े विद्वान् थे। श्रीमद्भागवत की आपने ''सिद्धान्तप्रदीप'' नामक टीका की है। उनके ये वचन हैं—

''हरिप्रियाचार्याणामभिमतः स्पर्शाख्यवेधपोषकः। कपालवेधाख्योऽर्धरात्रवेधो विचार्यते—

स चोक्तः स्मृतौ—
अर्धरात्रात्परा यत्र एकादश्युपलभ्यते।
तत्रोपवासः कर्त्तव्यो न तु चेद्दशमी कला।। इति।।
श्रीमत्कुमारः
महानिशामतिक्रम्य दशमी परगामिनी।
तत्र व्रतन्तु वैष्णवा न कुर्वन्त्यस्मदाश्रयाः।। इति।।
श्रीमन्नारदस्त्राऽऽह—
निशामध्यं परित्यज्य दशमी चेत्परं गता।
तत्र नोपवसेत्साधुर्वैष्णवीं पदवीं गतः।। इति।।
श्रीमद्धयग्रीव—
निशीथसमयं त्यक्त्वा दशमी स्यात्ततः परा।
नैवोपोष्यं वैष्णवेन तद्दिनैकादशीव्रतम्।। इति।।
अन्यत्र च—
अर्द्धरात्रमतिक्रम्य दशमी चेत्परं गता।
न कर्त्तव्यं वैष्णवेन तद्दिनैकादशीव्रतम्।। इति।।
पाद्मे—अर्द्धरात्रं स्पृशेत्पूर्णाऽपक्षवृद्धिर्यदाग्रतः।
कपालवेधिनी सा च शुद्धा भद्रामुपोषयेत्।। इति।।

अत्राऽपक्ष-वृद्धिरितिच्छेदः। पक्ष-वृद्धौ तु दशमीवेध विनाऽपि द्वादश्युपोषणं पाद्मे उक्तम्। तच्च वक्ष्यते।

कौर्मे च—
अर्द्धरात्रमतिक्रम्य दशमी दृश्यते यदि।
तदा होकादशीं त्यक्त्वा द्वादशीं समुपोषयेत्।। इति।।
किंच—
उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे।
निम्बार्को भगवान्येषां वांछितार्थप्रदायकः।। इति।।

भविष्यपुराण में उद्धृत श्री वेदव्यास वाक्य में—उदय-व्यापिनीत्यस्याद्यतनोदयव्यापिनी अद्यतन-प्रवृत्ति-व्यापिनीत्यर्थः। अद्यतन-प्रवृत्तिरर्द्धरात्रादनन्तरं भवति। तच्चाग्रे स्फुटी भविष्यति। एवं सति स्वमते अर्धरात्रोपरि पूर्वतिथिप्रवेशे सर्व्वेषु व्रतेषु वेधो भवतीति गम्यते।

इस सन्दर्भ के पश्चात् श्रीशुकसुधी ने और भी कई वचन उद्धृत करके—''ज्योतिः शास्त्र के मत से अर्धरात्रि के पश्चात् अग्रिम दिन की प्रवृत्ति होती है।'' ऐसा सिद्ध किया है और उसके पश्चात् लिखा है—

''तथा कालनिर्णयदीपिकाकारेणाऽप्ययमेव वेध उपन्यस्तः। दिग्वेधोऽस्ति निशीथयुग् व्रत-विधावाद्ये स वर्ज्यो भवेत्। इति। अस्यार्थस्तट्टीकायां—यदा—आद्ये=अद्यदिवसे, निशीथयुग्=अर्धरात्रयोगो, दिग्वेधो=दशमीवेधोऽस्ति, तदा स दिवसो, व्रतविधौ=उपवासविधाने, वर्ज्यो भवेत्, तद्दिने व्रतं न कार्य्यमित्यर्थः। अयमेव कपालवेधो दिवारात्र्योः समत्वाभि-प्रायेण स्पर्शशब्देनाऽपि उच्यते। तथाहि विष्णुधर्म्मोत्तरे ''पंचचत्वारिंशः स्पर्शः, संगः पंचाशतांमतः। पंचपंचाशता शल्यो वेधःषष्टधा सतां मतः। स्पर्शो तु घटिका पंच पंच संगे तथैव च। शल्यं पंच तथा वेधे एवं वेधश्चतु र्विधः। स्पर्शादींश्चतुरो वेधान् वर्जयेद्वैष्णवो नरः। तेषामेव नामान्तरमाह तत्रैव—सन्धिनी संगिनी शल्या विद्धालोकेषु विश्रुता। सन्धिनी संगिनी शल्या चतुर्धा वेधसंयुता। सत्यं सत्यं पुनः सत्यं, न कर्त्तव्या कदाचन। सन्धिनी धर्महीना च, अर्थहीना च संगिनी। कामविध्वंसिनी शल्या विद्धामोक्ष-विनाशिनी।

स्कान्दे च—स्कन्दं प्रति रुद्र-वाक्यम्—

एकादशी यदा पुत्र! चतुर्वेध-विवर्जिता।
प्रकर्त्तव्या विशेषेण चतुर्वर्ग-फलप्रदा।।
संस्पर्शा कुलनाशाय संसर्गा धर्मनाशिनी।
सशल्या निष्फला प्रोक्ता सवेधा नरकं नयेत्।। इति।।
पाद्मे गौतमः
सवेधं वासरं विष्णोर्यस्मिन् राष्ट्रे प्रवर्तते।
लिप्यते तेन पापेन राजा भवति नारकी।।

इस प्रकार आचार्यचरण भगवान् निम्बार्क महामुनीन्द्र सम्मत 'कपालवेध' का निर्णय सारांश रूप में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है।

उदयव्यापिनी ग्राह्याकुले तिथिरुपोषणे।
निम्बार्को भगवानेष वाञ्छितार्थ प्रदायकः। (भविष्यपुराण)

श्री हरिप्रियासुधचक्र सुदर्शनावतार आद्याचार्य जगद्गुरु सर्व सिद्धिप्रद भगवान् निम्बार्काचार्यजी ने कहा है कि हमारी परम्परा में उदय व्यापिनी तिथि ही ग्राह्य है।

स्पर्श, सन्न, शल्य और वेध इन चतुर्विध वेधों में प्रथम स्पर्श वेध को ही श्रीनिम्बार्क भगवान् ने स्वीकार किया है। उन्होंने प्रत्येक एकादशी एवं भगवद्भागवतज्जयन्तियों में तिथि का उदयकाल अर्द्धरात्र (45 घटी) के ऊपर ही माना है। उनके मत में दशमी यदि पल मात्र भी अर्द्धरात्र (45 घटी) के ऊपर हो तो एकादशी में व्रत न करके द्वादशी में करना कहा गया है। जैसे—

अर्द्धरात्रमतिक्रम्य दशमी दृश्यते यदि।
तदा होकादशीं त्यक्त्वा द्वादशीं समुपोषयेत्॥ (कूर्म पुराण)

जो अर्द्धरात्र का अतिक्रमण (उल्लंघन) कर अर्थात् 45 घटी के उपरान्त दशमी दीख पड़े तो निश्चय एकादशी को छोड़कर द्वादशी में ही व्रत करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि 45 घटी के उपरान्त दशमी हो तो वह आगामी एकादशी तिथि का स्पर्श कर लेती है। इस कारण इस वेध का नाम स्पर्श वेध है।

विद्धा और शुद्धा इस प्रकार एकादशी के दो भेद हैं। प्रत्येक तिथि का सम्बन्ध पूर्व या पर इन दोनों तिथियों में से किसी एक के साथ तो होता ही है। अतएव पूर्व तिथि दशमी से सम्बन्धित एकादशी को विद्धा और पर तिथि द्वादशी से सम्बन्धित एकादशी को शुद्धा का रूप दिया गया है। श्रीनारद पंचरात्र में बताया गया है कि—**पूर्व विद्धातिथिस्त्यागो वैष्णवस्य हि लक्षणम्** इस वचनानुसार पूर्व विद्धा त्याज्य और शुद्धा एकादशी ही ग्राह्य है भले ही एकादशी में द्वादशी आ जाय इस बात का दोष नहीं पर पूर्व तिथि दशमी विद्धा अर्थात् दशमी 45 घटी के ऊपर हो तो व्रत एकादशी में न करके द्वादशी में करना चाहिये।

इसी प्रकार श्रीराम-कृष्णादि भगवज्जयन्तियां तथा श्रीआचार्य चरणों के पाटोत्सवादि में भी इसी क्रम से पूर्व विद्धा त्याज्य और पर विद्धा (शुद्धा) तिथि ही ग्राह्य है।

यह वेध अति प्राचीन होने के कारण बहुजन सम्मत भी है। उदाहरणार्थ जैसे—

1. महर्षि पाणिनि मुनि ने स्वनिर्मित अष्टाध्यायी के एक सूत्र (अनद्यतने लुट्) में गत रात्रि के 12 बजे से लेकर आगामी रात्रि के 12 बजे तक के काल को अद्यतन काल (वर्तमान काल) अर्थात् आज का दिन बताया है और इससे पूर्व तथा पर काल को अनद्यतन काल माना है।

2. वीर विक्रमादित्य का नवीन संवत् भी चैत्र मास के अर्द्धभाग (अर्थात् अमावस्या के पश्चात्) शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से ही प्रारम्भ होता है।
3. ईस्वी सन् (अंग्रेजों के महीनों) की तारीख भी रात्रि के अर्द्धभाग 12 बजे बाद ही बदल जाती है।
4. रात्रि के अर्द्धभाग अर्थात् 12 बजे बाद किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा दिन मान लिया जाता है, इत्यादि।

इसके अतिरिक्त व्रतों में अष्टमहाद्वादशियों का भी विधान है—इनके सम्बन्ध में तो ऐसा प्रमाण है कि शुद्धा एकादशी हो और दूसरे दिन कोई महाद्वादशी भी हो तो शुद्धा एकादशी और दूसरे दिन महाद्वादशी इन दोनों का ही व्रत (उपवास या फलाहार) करे, यदि दोनों दिन व्रत करने की सामर्थ्य न हो तो एकादशी को छोड़कर महाद्वादशी का ही व्रत करे ऐसी शास्त्रीय आज्ञा है।

उन महाद्वादशी की जानकारी इस प्रकार है—चार महाद्वादशी तो नक्षत्र के योग से और चार तिथियों के योग से बनती है। जैसे—किसी भी मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी पुनर्वसु नक्षत्र से युक्त हो तो जया, रोहिणी से युक्त हो तो जयन्ती, पुष्य से युक्त हो तो पापनाशिनी और चाहे कृष्णपक्ष अथवा शुक्ल पक्ष में द्वादशी के दिन श्रवण नक्षत्र हो तो वह विजया महाद्वादशी कहलाती है।

अब तिथियों के योग से लीजिये। जैसे—एकादशी पूर्ण हो और दूसरे दिन भी कुछ एकादशी हो वह महाद्वादशी उन्मीलिनी, एकादशी तथा द्वादशी सम्पूर्ण हो और फिर त्रयोदशी को भी कुछ द्वादशी अवशिष्ट हो तो वह महाद्वादशी वञ्जुलिनी कहलाती है। इसी प्रकार प्रातः एकादशी हो फिर द्वादशी का क्षय होकर रात्रि शेष में त्रयोदशी हो वह महाद्वादशी त्रिस्पृशा कहलाती है। किसी पक्ष में अमावस्या या पूर्णिमा दो हो तो वह महाद्वादशी पक्षवर्धिनी कही जाती है।

इस प्रकार श्रीभगवन्निम्बार्क सम्मत यह कपाल वेध सिद्धान्त यहां अति संक्षिप्त रूप में परिवर्णित हुआ है। जिन्हें एतद्विषयक विशेष जिज्ञासा हो वे स्वसाम्प्रदायकि श्रीनिम्बार्कव्रत निर्णय, औदुम्बरसंहिता, स्वधर्मामृतसिन्धु आदि प्राचीनतम ग्रन्थों का अनुशीलन करें।

❑

राधाकृष्ण उपासना के प्रवर्तक श्रीनिम्बार्काचार्य

डॉ. वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी, मथुरा

ब्रह्म-जीव-जगत्-माया के विचारों को विश्व के समक्ष प्रस्तुत करने वाले आचार्यों में आचार्य निम्बार्क, आचार्य शंकर, आचार्य मध्व, आचार्य रामानुज और आचार्य वल्लभ के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त शैव और शाक्त सम्प्रदायों के अन्य आचार्यों ने भी तन्त्र-शास्त्र, मंत्र शास्त्र में अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है और चैतन्य महाप्रभु के अचिन्त्य भेदाभेद की भाँति अन्य मतवाद भी दृष्टिगोचर होते हैं।

इन सभी मतवादों के आचार्यों ने अपनी विद्वत्तापूर्वक गम्भीर गवेषणा के फलस्वरूप सूक्ष्म से सूक्ष्म तथ्यों को विचार कर कसौटी पर कसकर, विद्वत्समुदाय की पिपासा को शांत करने का प्रयास किया है। सभी सिद्धान्त वेद, उपनिषद् और पुराणों को प्रमाण मानकर अपने मत की पुष्टि करते हैं। यह आध्यात्मिक विचार-क्रांति विश्व में अनुपम है।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य के मतवाद को द्वैताद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है। ये वैष्णवों में आद्याचार्य भी कहे जाते हैं।

परिचय—आपके पिता का नाम अरुण ऋषि और माता का नाम जयन्ती देवी था।

जन्म-दिन—कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा, सायंकाल।

जन्म नक्षत्र—कृत्तिका।

राशि—वृष।

आचार्य चरित के अनुसार निम्बार्क सुदर्शनावतार हैं। एक समय ऋषि-मुनि ब्रह्माजी के समीप गये और उनसे प्रश्न किया कि दो मार्ग हैं, प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। दोनों ही वैदिक मार्ग हैं। इनमें निवृत्ति मार्ग में साधक किस प्रकार प्रवृत्त हो अपना भला कर सकता है?

ऋषियों की शंका के समाधानार्थ ब्रह्माजी उनको साथ लेकर क्षीर-सागर गये। वहाँ विष्णु भगवान् का आराधन किया और प्रार्थना की। आकाशवाणी हुई और उसमें यह उपदेश हुआ कि इसे प्रत्यक्ष करने वाले एक आचार्य उत्पन्न होंगे। सब लोग लौटकर चले आये। भगवान् ने अपने आयुध चक्र-सुदर्शन से कहा कि भागवत धर्म के प्रचार-प्रसार में कुछ काल से शिथिलता आ गई है। अतः सुमेरु पर्वत के दक्षिण में तैलंग देश में अवतीर्ण होकर प्रचार-प्रसार कीजिए। मथुरा मण्डल नैमिषारण्य, द्वारिका आदि मेरे प्रियधामों में निवास कीजिए। इनके आदेश से सुदर्शनाश्रम में भृगुवंशीय अरुण ऋषि के यहाँ भगवान् निम्बार्क पैदा हुए।

श्रीनिम्बार्क के आविर्भूत होने के समय दिशाएँ प्रसन्न हो गईं। आकाश से पुष्पवृष्टि हुई। अरुण ऋषि ने पुत्र-मुख देखकर जातकर्म संस्कार किया और इनका नाम नियमानन्द रखा।

ब्रह्मा और निम्बार्क भेंट—एक बार अरुण ऋषि बाहर गये हुए थे। बालक को देखने के लिए ब्रह्माजी यतिवेष में अरुण ऋषि के आश्रम में आये। जयन्तीदेवी ने भोजन करने का अनुरोध किया। उस समय सूर्यनारायण अस्ताचल पर्वत पहुँच रहे थे। अतः यति ने भोजन स्वीकार नहीं किया। तब बालक नियमानन्द उनके चरणों में प्रणाम करके बोला, भगवन्! अभी सूर्यदेव अस्त नहीं हुए। देखिये, उस निम्ब के वृक्ष पर सूर्य चढ़े-से दीख रहे हैं। यति ने सूर्य देख कर भोजन कर लिया। जैसे ही आचमन करके यति जी बैठे, अंधकार हो गया और ज्ञात हुआ कि रात्रि व्यतीत हुए दो घंटे हो चुके हैं। चकित होकर ब्रह्माजी ने कहा, हे चक्रराज! जिस निमित्त आपका अवतार हुआ है, वह कार्य आप करें। कुछ कालोपरान्त यहाँ नारदजी आने वाले हैं। आपने मुझे निम्ब पर अपना तेज दिखलाया, अतः अब आप लोक और शास्त्र में निम्बार्क नाम से विख्यात होंगे। आरुणि और जायन्तेय पिता-माता के नाम पर व्यवहार में लोग कहेंगे। वेदार्थ विस्तार करने के कारण आपका नाम नियमानन्द होगा, ऐसा कहकर ब्रह्माजी अन्तर्हित हो गये।

किंचित् कालोपरान्त इनके पास नारदजी आये।

नारद और निम्बार्क भेंट—श्रीनिम्बार्क ने उनका पाद्य, अर्घ्य आदि देकर सत्कार किया। जब नारदजी से उपदेश श्रवण की प्रार्थना की, नारदजी ने उन्हें श्रीगोपाल अष्टादशाक्षर मंत्रराज का उपदेश दिया। अन्य अनेक प्रश्नों के भी नारदजी ने उत्तर दिए, जिन्हें श्रीनारद नियमानन्द गोष्ठी के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

विविध चमत्कार—भारत भ्रमण के समय एक बार आप एक नदी में स्नान करने गये। वहाँ पानी में उतरते ही कच्छप का स्पर्श हो गया। वह स्पर्श पाते ही कच्छप शरीर छोड़कर दिव्य रूप धारण कर स्तुति करने लगा—

श्रीमन्निम्बार्कमाचार्यं सिंहग्रीवं महाभुजम्।
तमालश्यामलागं तं वन्दे जलजलोचनम्।।

औदुम्बराचार्य—भ्रमण करते हुए श्रीनिम्बार्काचार्य सेतु के दर्शन करने गये। वहाँ से गुजरात गये। भगवद्भक्ति का प्रचार करते हुए नारायण सरोवर पहुँचे। वहाँ से वायुक्षेत्र तीर्थ गये। वहाँ के ब्राह्मण अन्तःकरण से शैव, बाह्यवेश में शाक्त थे और समय आने पर वैष्णव भी बन जाते थे। उन ब्राह्मणों ने जब निम्बार्क का विरोध किया, तब गूलर के वृक्ष का फल आपके चरणों पर पड़ा और मानवाकार में प्रकट होकर आचार्य की स्तुति करने लगा। श्रीआचार्य ने उसका नाम औदुम्बराचार्य रखा।

ब्रजयात्रा—इस प्रकार नैमिषारण्य आदि तीर्थों पर भ्रमण करते हुए जब निम्बार्काचार्य बदरिकाश्रम गये तो वहीं उनकी भेंट उद्धवजी से हुई। उन्होंने इन्हें ब्रज के लिए प्रेरित किया। फलतः वे ब्रज में निम्बग्राम में आये।

निम्बग्राम में चमत्कार—निम्बग्राम में आने के समय एक जैन संन्यासी आया। वह उद्भट विद्वान् था, शास्त्रार्थ के लिए आचार्य श्रीनिम्बार्क को ललकारा। साथ ही तन्त्र प्रयोग से उन्हें भस्म कर देना चाहा। परन्तु सुदर्शनावतार आचार्य श्रीनिम्बार्क के प्रभाव से वह स्वयं

जलने लगा। अन्त में वह आचार्य चरणों में गिर पड़ा और आपसे उपदेश ग्रहण कर लिया। उनका नाम श्रीनिवासाचार्य प्रसिद्ध हुआ।

उपदेशक—वेदान्त कामधेनु, वेदान्त पारिजात, राधाष्टक आदि स्वरचित कृतियों को उन्हें दिया और कहा कि राधाष्टक का पाठ राधाकुण्ड में करो, भगवान् श्रीराधाकृष्ण तुम्हें दर्शन देंगे।

समय—निम्बार्काचार्य का वर्णन भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व (चतुर्थ खण्ड) अध्याय सात में उपलब्ध होता है—

उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे
निम्बार्को भगवान्येषां वांछितार्थप्रदायक: ।।[1]

इस वेदव्यास के उद्धरण से स्पष्ट है कि निम्बाकाचार्य का मत अत्यन्त प्राचीनकाल में भी व्याप्त हो गया था। दसवीं तिथि अर्द्धरात्रि के अनन्तर एक पल भी हो तो दूसरे दिन आने वाली एकादशी तिथि विद्धा कहलाती है। इसे कपालवेध भी कहा है और यह वेध श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में अंगीकृत है। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में नहीं।

वामनपुराण और निम्बार्क—वामनपुराण के बलिवामन सम्वाद में लिखा है कि निम्बार्काचार्य नामक ब्राह्मण उत्पन्न होगा। वह विष्णु भगवान् का प्रिय होगा—

भविता निम्बार्काचार्यो द्विजरूपधर: प्रभो।[2]

इस पुराण में पूर्व उक्त जन्मवृत्त भी वर्णित है।

भविष्य और निम्बार्क—भविष्य पुराण में ब्रह्मा और निम्बार्क का वृत्तान्त वर्णित है। उनका चमत्कार भी लिखा है, जो सूर्य-दर्शन के रूप में यति को कराया था।[3]

वायुपुराण और निम्बार्क—इसका विवरण हरिव्यास देवाचार्य कृत निम्बार्काष्टोत्तर शतनाम के द्वितीय नाम 'आनन्द:' की व्याख्या में लिखा है।

धर्मशास्त्र और निम्बार्क—निर्णयसिंधुकार कमलाकर भट्ट ने अपने धर्मशास्त्र के महनीय ग्रन्थ निर्णयसिन्धु में भगवान् निम्बार्क के मत का उल्लेख किया है।

औदुम्बर संहिता—इस संहिता में भी निम्बार्काचार्य के तिथि सम्बन्धी मत का विवेचन है। ये निम्बार्काचार्य के शिष्य थे।

तिथि निर्णय—भट्टोजि दीक्षित ने अपने ग्रन्थ तिथि-निर्णय में भी उदयतिथि निरूपण में निम्बार्क का उल्लेख किया है।

ज्योतिष और निम्बार्क—भृगु संहिता में भी निम्बार्काचार्य का उल्लेख मिलता है।[4] इसमें कलियुग के 15 वर्ष व्यतीत होने पर निम्बार्क का जन्म लिखा है।

शक्तिसंगम तन्त्र—में निम्बार्क को स्मार्त धर्म का विद्वेषी लिखा है—

स्वतन्त्र: स्मार्तविद्वेषी निम्बार्को भगवान् हरि: ।

विष्णुयामल—ग्रन्थ में निम्बार्काचार्य के अष्टादशाक्षर मंत्र दान का उल्लेख है।

अष्टादशाक्षर मंत्र नारायण के मुख से प्रकट हुआ। सनत्कुमारों ने नारायण से लेकर नारद को उपदेश किया और नारद ने भगवान् निम्बार्क को इसका उपदेश दिया।

निम्बार्क कवच—नैमिषखण्ड के मध्य निम्बार्क का कवच वर्णित है। इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में निम्बार्क और उनके मत की विस्तृत आलोचना प्राप्त होती है, जिनसे इनका अति प्राचीनकाल में ही होना स्वीकार किया जाता है।

मतवाद ब्रह्म—ब्रह्म ही भोक्ता, भोग्य और नियन्ता है। तीनों प्रकार से सर्वत्र वही है।

जीव—कर्त्ता, भोक्ता, प्रतिदेह भिन्न, अनन्त संख्यक है। जीव अजन्मा है, अनादि है। जीव परमात्मा का शक्ति रूप अंश है।

जगत्—जगत् प्रवाह रूप से सत्य है, अनादि है। वर्तमान रूप विनाशी है।

मोक्ष—इस सम्प्रदाय में भगवद्भावापत्ति मोक्ष अभीष्ट मानी गई है।

ब्रह्म और जीव में भेद और अभेद दोनों पारमार्थिक हैं। ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादन कारण है अर्थात् जैसे मकड़ी स्वयं जाला बनाती है। इसी देह में ब्रह्म साक्षात्कार होने पर संचित एवं क्रियमाण कर्म का विनाश हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध अवशिष्ट रहता है। एक प्रकार से वह संस्कार से निवृत्त हो जाता है।

परम मोक्ष—चरम साक्षात्कार होने पर, शरीर के भी नष्ट हो जाने पर भगवद्भावापत्ति या परम मोक्ष की उपलब्धि होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण—भगवान् श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। वे ही चतुर्व्यूह धारण कर अवतार धारण करते हैं। व्यूह का अर्थ अवतार है। अवतार नित्य है।

व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।[5]

रसिकों की दृष्टि में—श्री रमादेवी ही निम्बार्क हैं। श्रीस्वामिनीजी ने अहैतुकी करुणावश अपनी परमप्रिय सहचरी रंगदेवी को आज्ञा दी कि रसमार्ग का दर्शन तुम्हीं कराओ। फलत: वे ही आचार्य के रूप में प्रकट हुईं, जैसा कि—

करुनानिधि श्री नित्य किसोरी
करि अनुकंप किया आदेश।
आई अग्रवर्ति अलबेली
धरिवर इच्छा विग्रह बेष।[6]

राधाकृष्ण की उपासना निरन्तर करनी चाहिए। इनके ध्यान-मात्र से अविद्या का समूल नाश हो जाता है। प्रात: स्तव द्वारा महामुनि ने वृन्दावन की श्रीराधा और श्यामसुन्दर की दिव्य लीलाओं का अवेद्य रहस्य सर्वसुलभ कर दिया। श्रीवृन्दावन युगलकेलि सुधारस से सर्वदा आप्लावित है। ब्रजसुन्दरियों के दधिमंथन घोष से श्यामसुन्दर की निद्रा भंग होती है। जिनकी

अंगप्रभा मेघ के समान है तथा जिनके वाम भाग में विद्युल्लता के समान श्रीराधिका विराजमान हैं; मैं उन सर्वेश्वर प्रभु का प्रातःस्मरण करता हूँ। वृषभानुनन्दिनी नन्दनन्दन द्वारा सर्वथा अभिनन्दित हैं। अतः उनके चरणों की भी वन्दना की है—

प्रातर्नमामि वृषभानुसुता-पदाब्जं,
नेत्रालिभिः परिणुतं व्रजसुन्दरीणाम्।
प्रेमातुरेण हरिणा सुविशारदेन,
श्रीमद् व्रजेशतनयेन सदाभिवन्द्यम्।।

श्रीराधाकृष्ण की इस युगल-उपासना का प्रवर्तन आचार्यश्री ने किया, जिसने भारतीय जीवन को रससुधा से तृप्त कर दिया है और युगों तक श्रीराधा कृष्ण की ध्वनि दिशाओं में व्याप्त रहेगी।

आचार्यश्री की यह देश को अविस्मरणीय देन है।

गतश्रम टीला, मथुरा (उ.प्र.)

सन्दर्भ

1. हेमाद्रि व्रतखण्डम्
2. वामनपुराण 32वाँ अध्याय
3. भविष्य पुराण, सातवां अध्याय
4. भृगु संहिता सं. 175 तृतीय योगाध्याय
5. दशश्लोकी
6. महावाणी सि.सु

❑

रसिक साधना के उद्भव का मूल स्रोत-निम्बार्क सम्प्रदाय

श्री सत्यनारायण शास्त्री

पूर्ववर्ती समस्त वैष्णव सम्प्रदायों में कृष्ण-भक्ति की रसमयी मधुर उपासना का सबसे प्राचीन प्रचारक निम्बार्क सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय को सनक सम्प्रदाय के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है तथा ब्रह्माजी के मानसपुत्र सनकादि को इसका आचार्य माना जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत तर्कों में प्रश्नवाचक चिह्न खड़े होते गये, किन्तु अब अर्वाचीन विद्वान् भी उसकी प्राचीनता स्वीकार करने लगे हैं। श्री बलदेव उपाध्याय आदि जो डॉ. भण्डारकर के पक्षपाती थे, अन्ततः उन्हें भी निम्बार्क सम्प्रदाय की प्राचीनता स्वीकार करनी पड़ी। इस सम्प्रदाय के उद्गम पर विचार करने से भी ऐसे अकाट्य तर्क प्राप्त होते हैं, जिनसे निम्बार्क सम्प्रदाय की प्राचीनता में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

वह बात भी स्पष्ट रूप से सर्वमान्य है कि श्रीकृष्ण की रसमयी साधना जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य ने ही प्रचलित की थी। उनके सिद्धान्त एवं काव्य-ग्रन्थों से इस बात की पूर्ण रूप से पुष्टि हो जाती है। 'रसो वै सः, रसं यं लब्ध्वा आनन्दी भवति' आदि मूल मंत्रों द्वारा वेदों में जो रस की उपासना बतलाई है, वह उस रूप परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं, उन्हीं की उपासना से जीवों को सुख-प्राप्ति हो सकती है। इसी उद्देश्य से सुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने श्रीराधाकृष्ण की मधुर उपासना पर विशेष बल दिया। श्रीकृष्ण के चरणों की शरण लिए बिना कल्याण नहीं हो सकता। जीव को एकमात्र गति पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं, साथ ही उनके वामांग में निरन्तर विराजमान अनुपम लावण्य से युक्त तथा सहस्रों सखियों से परिवेष्टित सर्वेश्वरी श्रीराधा की आराधना करना परमावश्यक है।

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा,
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।
नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्,
सदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिंत्यविग्रहात्,
अचिन्त्य-शक्तेरविचिन्त्यसाशयात्।।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए श्रीराधा की उपासना को ही सर्वोपरि बताया है। वे कहते हैं—'हे राधे!' तुमने पतंग की भाँति अपने पीछे दौड़ते हुए मुकुन्द को अपने प्रेम रूपी डोरे से बाँध लिया है। वे श्रीकृष्ण तुम्हारे साथ क्रीड़ा करते हुए प्रेम का अनुसरण कर विद्यमान रहते हैं। अतः मुझ पर उनकी कृपा कराओ—

मुकुन्दस्त्वया प्रेम डोरेण बद्धः,
पतंगो यथा त्वामनुध्याम्यमाणः।
उत्क्रीडयन् हार्द्दमेवानुगच्छन्,
कृपा वर्तते कारयातो मयीष्टम्।।

(श्रीनिम्बार्काचार्य कृत राधाष्टक, श्लोक 4)

इस प्रकार अपने प्रियतम के प्रेम से प्रफुल्लित अंगों वाली, शरीर में स्वेद बिन्दुओं से युक्त, प्रेम-पीयूष की वर्षा करने वाली तथा कृपा-कटाक्ष से देखने वाली रासेश्वरी श्रीराधिका की आराधना किये बिना श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य-भक्ति पूर्ण रसमयी-साधना नितान्त असम्भव है। राधाष्टक स्तोत्र के अन्तिम श्लोक में श्रीनिम्बार्काचार्यजी इस बात की पुष्टि करते हैं कि दामोदर की परम प्रिया श्रीराधिका के उस अष्टक के सहारे ही साधना के क्षेत्र में साधक प्रिया-प्रियतम की सेवा में तत्पर होकर सखी-भाव से ही उन युगल के आनन्द का रसास्वादन कर निवास कर सकता है—

इदं त्वष्टकं राधिकायाः प्रियायाः,
पठेयुः सदैवं हि दामोदरस्य।
सुतिष्ठन्ति वृन्दावने कृष्णधाम्नि,
सखी मूर्तयो युग्मसेवानुकूलाः।। (वही, राधाष्टक, श्लोक-9)

वृषभानुनन्दिनी राधिकाजी के परम-प्रियतम, शयन से उठे हुए युगलरूप सर्वेश्वर, सुखकारी, रसिकेश्वरेश्वर, परस्पर केलिरस के चिह्नों से चमत्कृत सखियों से परिवेष्टित, सुरत-काम के शोभायमान, सुरत-सार समुद्र के चिह्नों को अपने कपोल तथा नेत्रों पर धारण करने वाले, रति आदि समस्त प्रकार के अलौकिकानन्द को प्रदान करने वाले दिव्यकाम से युक्त, पुष्पकुंज, युगलस्वरूप श्रीराधा कृष्ण की ही रसमयी-उपासना श्रीनिम्बार्काचार्यजी करते हैं—

प्रातर्भजामि शयनोत्थित-युग्मरूपं,
सर्वेश्वरं सुखकरं रसिकेश-भूपम्।
अन्योन्यकेलिरसचिह्न-चमत्कृतागम्,
सख्यावृतं सुरतकाममनोहरञ्च।।
प्रातर्भजे सुरतसारपयोधिचिह्नं,
गण्डस्थलेन नयनेन च सन्दधानौ।
रत्याद्यशेषशुभदौ समुपेतकामौ,
श्री राधिकावरपुरन्दरपुन्वपुंजौ।।

(निम्बार्काचार्य कृत 'प्रातःस्मरण स्तोत्र' श्लोक 3-4)

श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने इस प्रकार अपनी प्रत्यक्ष रसिक-साधना का स्पष्ट संदेश स्वरचित ग्रन्थों में दिया है। श्रीनिम्बार्काचार्यजी के उपरान्त उनके परम्परानुयायी शिष्यों ने उनके द्वारा आरोपित रसोपासना के पादप को पुष्पित और पल्लवित किया, जिसमें श्रीऔदुम्बराचार्यजी और श्रीनिवासाचार्यजी प्रमुख हैं। तत्पश्चात् इस परम्परा में रसमय भाव-भक्ति की वृद्धि होती गयी, जो 14वीं और 15वीं शताब्दी में श्रीभट्टदेवाचार्य और उनके पट्ट शिष्य श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी के महावाणी-साहित्य में स्पष्ट रूप से पायी जाती है।

युगलशतककार श्रीभट्टदेवाचार्यजी मधुरोपासना के ऐसे अमृतानन्दघन हुए, जिन्होंने अपनी अलौकिक रस-वृष्टि द्वारा रसिकों के मन-मधूरों को मस्त बना दिया। युगलशतक का रचनाकाल वि.सं. 1352 निर्धारित है। श्रीभट्टदेवाचार्यजी, श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य के प्रिय शिष्य थे। निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य का यह रसिक रूप इतना विख्यात हुआ कि भक्तमालकार श्रीनाभादासजी को लिखना पड़ा—

मधुर भाव सम्मिलित ललित लीला सुवलित छवि।
निरखित हरषित हृदय प्रेम, वरषत सुकलित कवि।।
आनन्दकन्द श्री नन्द सुवन श्रीवृषभानु सुता भजन।
श्रीभट सुभट प्रगटे अघट रस-रसिकन मन मोद घन।।

गो. नाभादासजी ने 'रस रसिकन मन मोद घन' इन शब्दों में यह संकेत किया है कि श्रीयुगलकिशोर की मधुर लीलाओं का ब्रजभाषा में वर्णन करने वाले रचयिताओं में श्रीभट्टजी ही प्रथम रचयिता है। श्रीभट्टजी कृत 'युगलशतक' में रूप-माधुर्य, केलिमाधुर्य और रति-माधुर्य आदि के नित्य विहार और निकुंज लीला सम्बन्धी पद प्राप्त होते हैं, जो रसमयी साधना से ओत-प्रोत है। प्रियाप्रियतम के अंग-प्रत्यंग की आनन्दात्मक रसमाधुरी का पान करते हुए श्रीभट्टजी के नेत्र चकोरवत् दृष्टि करके पलक मारना भी भूल जाते हैं—

बसौ मेरे नैनन में दोउ चंद।
गौर वरन वृषभानु-नन्दिनी, स्याम वरन नन्दनन्दन।।
गोलक रहे लुभाय रूप में, निरखत आनन्दकन्द।
जै श्री भट प्रेमरस बंधन, क्यों छूटै दुढ़ फंद।।

(श्रीभट्टजी कृत युगलशतक, पद 53)

निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीभट्टजी को हितू सखी का अवतार माना जाता है। युगलशतक के एक टीकाकार बरसानावासी लड़ैतीदास (सं. 1877) ने लिखा है—

श्री भट है हित सहचरी प्रगट कियौ शृंगार।
जुगलसत्तक विख्यात है, रसिकन को आधार।। (जुगलसत्तक की टीका)

श्रीभट्टजी ने 'युगलशतक' के छओं प्रकरण—सिद्धान्त-सुख, ब्रज-लीला, सेवा-सुख, सहज-सुख, सुरत-सुख और उत्साह-सुख में श्री राधा-माधव की मधुर रसमयी लीलाओं का सखी-भाव से ही गान किया है। श्रीनिम्बार्काचार्यजी की तरह उन्होंने भी

श्रीराधा की उपासना को ही प्रधानता दी है, जिनके चरणों में प्रियतम श्यामसुन्दर भी सदा 'पलोटते' रहते हैं और उनका संवाहन कर स्वयं को कृतकार्य मानते हैं—

प्यारी जू के चरण पलोटत मोहन।
नीलकमल के दलन लपेटे, अरुन कमल दल सोहन।
कबहुँक लै लै नैन लगावत अलि धावत मानों गोहन।।
जै श्री भट्ट छबीली राधे, होत जगे ते छोहन।।

(वही, युगलशतक, पद 76)

श्रीभट्टदेवजी के प्रधान शिष्य अनन्य रसिक श्रीहरिव्यासदेवजी का प्रादुर्भाव वि.सं. 1460 के लगभग है। निम्बार्क सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा में श्रीहरिव्यासदेवजी सर्वाग्रगण्य हैं। आदि ब्रजभाषा वाणी युगलशतक के रूप में जिन सरस रसोपासना के सूत्रों की रचना श्रीभट्टजी ने की, उसी का उत्कृष्ट रसमय मधुर महाभाष्य उनके शिष्य श्रीहरिव्यासदेवजी ने अपने 'महावाणी' नामक ग्रन्थ में किया। 'महावाणी' में शुद्ध नित्य-विहार-रस से संवलित उज्ज्वल रस की उपासना पद्धति, मधुर-रस-भीने उत्कृष्ट भाव अपनी सरस प्रांजल भाषा में व्यक्त है, जिनके कारण यह ग्रन्थ रसिकजनों का कण्ठाभरण बना हुआ है। महावाणी में पाँच सुख-सेवा-सुख, उत्साह-सुख सुरत-सुख, सहज-सुख और सिद्धान्त-सुख वर्णित हैं। सेवा-सुख में नित्य-विहार अथवा निकुंज लीला में प्रियाप्रियतम नित्य-केलि-क्रीड़ा में संलग्न रहते हैं और इस केलि के पान का अधिकारी वही हो सकता है, जो महावाणी में वर्णित श्रीहरिव्यासदेवजी की आज्ञानुसार चलता है—

जाके दस पैड़ी अति दृढ़ हैं,
बिनु अधिकार कौन तहाँ चढ़ि है।
पहले रसिक जनन कों सेवै,
दूजो दया हिये धरि लेवै।
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनिहै,
चौथी कथा अतृप्त ह्वै सुनि है।
पंचमि पदपंकज अनुरागै,
षष्ठी रूप अधिकता पागै।
सप्तमि प्रेम हिये बिरधावै,
अष्टमि रूप ध्यान गुन गावै।
नवमी दृढ़ता निश्चय गहिवै,
दसमी रस की सरिता बहिवै।

(श्रीहरिव्यासदेवजी कृत महावाणी सिद्धांत, सुख 6)

इन पंक्तियों में कहा गया है कि रसिकजनों की सेवा, प्राणीमात्र के प्रति दया, साम्प्रदायिक आचार के प्रति निष्ठा, अमृतमयी कथा का अतृप्तिपूर्ण श्रवण, पदपंकज में अनुराग, उपास्य के रूप में रत होना, हृदय में प्रेम-भाव का उदित होना, प्रियाप्रियतम के रूप

ध्यान तथा गुणगान साधना में दृढ़भाव और इन सबके फलस्वरूप अन्त में रस की धारा में आपादमस्तक मग्न होना ही साधना और साधना-लभ्य साध्य की दशा है। महावाणी में अष्टसखी—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, रंगदेवी, सुदेवी, तुंगविद्या और इन्दुलेखा का भी उल्लेख मिलता है। रसिक साधक उक्त प्रकार से साधना करता हुआ अपने लीलोपयोगी रूप (सखीभाव) को प्राप्त करके ही नित्य-विहार लीला का साक्षात्कार कर सकता है।

श्रीहरिव्यासदेवजी ने अपने साधनाबल से देवी को वैष्णवी दीक्षा प्रदान कर अपनी अपूर्व निष्ठा और सच्ची वैष्णवता का परिचय दिया है। गो. नाभादासजी को लिखना पड़ा—

हरिव्यास तेज हरि भजन-बल देवी कौं दीक्षा दई।
श्रीभट्टचरण-रज परसि के, सकल सृष्टि जाकौं नई।।

रासलीला-अनुकरण

"वेदों में बीज रूप से सब कुछ है" यह कहना या मानना असंगत नहीं कहा जा सकता। वहाँ जिस विषय का सूक्ष्म रूप से उल्लेख है, उसी का स्मृति-पुराण तंत्र आदि शास्त्रों में विशद रूप से वर्णन मिलता है।

वेदों में भी रास के सूक्ष्मरूपेण संकेत उपलब्ध होते हैं, जैसे—"रसो वै सः रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वा आनन्दी भवति"। तै.1 यहाँ रस शब्द श्रीराधाकृष्णात्मक युगलकिशोर परब्रह्म परमात्मा का वाचक है। 'अयं' शब्द से जीव और 'लब्ध्वा' आदि क्रिया-पदों से प्रकृति का बोध होता है। इस प्रकार उपर्युक्त मंत्र में तत्त्वत्रय का वर्णन है। ये तीनों तत्त्व भिन्न-भिन्न अतएव रस रूप हैं। इनका समूह रास कहलाता है—"रसानां समूहो रासः"। उदाहरणार्थ सूर्य, उनकी प्रभा और रश्मियों को ही ले लिया जाय—जिस प्रकार सूर्य-प्रभा और उसकी रश्मियाँ ये सब प्रकाश स्वरूप हैं, उसी प्रकार अखिल ऐश्वर्य-माधुर्य-सिन्धु श्रीकृष्ण, उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा और समस्त सखियाँ ये सब प्रकाश एवं रस-रूप हैं। तन्त्र-ग्रन्थों में इसी का स्पष्टीकरण किया गया है।

एको ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधव रूपकम्"—सम्मोहन तंत्र
राधया माधवो देवः माधवेन च राधिका"—ऋग्वेद परिशिष्ट
यः कृष्णः सैव राधा, या राधा सैव कृष्णः।"

जीवों को और प्रकृति को परमात्मा का अंश एवं शक्ति बतलाकर के भी गीता आदि शास्त्रों में इस आशय को पुष्टि की गई है।

जिसके द्वारा इन सबको परस्पर आनन्दानुभूति होती है, वही रास कहलाता है।

जिस प्रकार प्रत्येक दृश्यमान वस्तु का अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव इन तीन रूपों से वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार वेद-मंत्रों का भी कर्म, ज्ञान और उपासना इन तीनों अर्थों में व्याख्यान मिलता है। महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीनीलकण्ठ ने मंत्र रामायण और मंत्र भागवत के रूप में वेद-मंत्रों का संकलन करके उनका उपासना परक अर्थ किया है। उनमें

समस्त श्रीरामलीला और श्रीकृष्णलीला का वर्णन है। रासलीला के प्रतिपादक कई मंत्र है—उदाहरणार्थ एक मंत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है—

पद्मा वसते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा तस्थौ—ऋषिं रेरिहाणा।
ऋतस्य सरा विचरामि विद्वान—महद्देवानामसुरत्वमेकम्।
(ऋग्वेद 3/3/30)

इसका तात्पर्य है—रासलीला में भगवान् के अन्तर्धान होने पर गोपियों द्वारा दैव को धिक्कारना।

प्रेमी साधकों द्वारा प्राप्त होने योग्य भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी अनेक मूर्तियाँ व्यक्त कीं, यद्यपि वे प्रत्येक गोपी के दोनों पार्श्वभाग और सम्मुख स्थित हो गईं तथापि वे कामादि दोषों से निर्लिप्त रहीं। श्रीकृष्ण धर्म के आधार हैं, हम सभी गोपियाँ (जीव-समूह) उनका चिन्तन और अनुसंधान करती हैं। जिन देवों ने प्राण प्यारे श्रीकृष्ण को हमसे वियुक्त कर दिया यह उनका महान् असुरत्व है (निर्दयित्व है)

नृत्य के प्रभेदों में रास को कोशग्रन्थों में हल्लीसक नृत्य कहा गया है—

गोपीनां मण्डलीनृत्य-बन्धे हल्लीसकं विदुः।

सुन्दर, सचिक्कण, विस्तृत, गोल आकार के भूमिभाग को रास-मण्डल कहते हैं। उसके मध्य में एक बितस्त (नौ इंच) का शंकु गाड़कर उसके चारों ओर सभी पात्र खड़े होकर पैरों से नृत्य करें और हाथ, नेत्र और शरीर के ऊपरी भागों से हाव-भावों को व्यक्त करें। वह नृत्य रास एवं रास-गोष्ठी कहलाती है।

पृथुं स वृत्तमसृणं वितस्ति—
मात्रोन्नतं कौ विनिखन्य शंकुम्।
आक्रम्य पद्भ्यामितरेतरे तु
हस्तैर्भ्रुवोऽयं खलु रासगोष्ठी।।

ब्रह्मवैवर्त, पद्म एवं नारदीय आदि पुराणों के अतिरिक्त महाभारत के हरिवंश पर्व में भी रास का विशद वर्णन मिलता है—

"आश्विन शुक्ला 15 को रात्रि में पूर्णचन्द्र को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने रासक्रीड़ा की इच्छा से वंशी नाद किया, उसे सुनकर गोपियों के झुण्ड वहाँ आ पहुँचे। भाई-बन्धु, माता-पिता के रोकने पर भी गोपबालायें नहीं रुकीं। मण्डलाकार बनाकर सब नृत्य करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण भी उन गोपियों के मण्डल में शरदरात्रियों में रासलीला को सम्पन्न करके बड़े प्रसन्न हुए—

कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशि चन्द्रमसो वनम्।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति।।

× × ×

एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवाकैरलंकृतः।
शारदीषु सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी।।
(हरिवंश विष्णुपर्व 2 अ. 21 श्लोक 15-35)

रास के प्रभेद

वार्षिक रास—वर्ष भर में एक बार शरद्-पूर्णिमा को होने वाला रास वार्षिक रास कहलाता है। इसे शारदीय रास भी कहते हैं। वसन्त ऋतु में जो रास होता है, उसे वासन्ती रास कहते हैं।

श्रीजयदेवजी ने 'नृत्यति हरिरिह सरस वसन्ते' इत्यादि पदों में वासन्ती रास का उल्लेख किया है। दक्षिण और उत्तर अयनों के समय होने वाले रासों को अयन-रास कहते हैं।

प्रत्येक ऋतु, मास, पक्ष और दिन में होने वाले रास क्रमशः ऋतु-रास, मासिक, पाक्षिक एवं दैनिक रास कहलाते हैं। प्रतिक्षण होने वाला रास नित्य-रास एवं नित्य विहार कहलाता है।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में उपर्युक्त सभी रास अभिमत हैं। संस्कृत और ब्रजभाषा के ग्रन्थों में इन सबका उल्लेख है। ब्रजभाषा के पद का जब तक निर्माण नहीं हुआ था, तब तक संस्कृत पदों द्वारा रास होता था ऐसा 'रासोल्लास' आदि तन्त्र ग्रन्थों से निश्चित होता है। अभी भी प्राचीन शैली पर समारूढ रास-मण्डलियों द्वारा—

जय कृष्ण मनोहर योगतरे।

इत्यादि संस्कृत पदों के गान की परम्परा का पालन हो रहा है। संस्कृत ग्रन्थों की भाँति प्राकृत भाषा के ग्रन्थों में भी रास का उल्लेख है।

प्रत्येक उपासक के लिए रास-क्रीड़ा महोत्सव करने कराने का विधान पुराण और तन्त्र-ग्रन्थों में मिलता है। नारदीय पुराण में कहा गया है कि जो साधक रास-क्रीड़ा महोत्सव करता है, उसके चित्त में पराभक्ति का आविर्भाव होता है।

हाथी भाटा, अजमेर

❑

निम्बार्क-सम्प्रदाय में श्रीराधा

डॉ. द्वारिकाप्रसाद मीतल

श्रीनिम्बार्काचार्य ने अपने मत को प्रकाशित करने के लिए 'वेदान्त-कामधेनु' (दश-श्लोकी) की रचना की। उसमें उन्होंने ब्रह्मतत्त्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—'प्राकृतिक गुण-दोषों से निर्लिप्त, कल्याणकारी समस्त सद्गुणों के समुद्र, व्यूहों के अंगी, कमल के समान प्रफुल्लित नेत्रों वाले श्रीकृष्ण परम ब्रह्म का हम ध्यान करते हैं।' प्रफुल्लित, एक रस, अनन्त सखियों द्वारा संसेवित, श्यामसुन्दर के समान ही सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य-लावण्य आदि गुणों वाली, अतएव भक्तों के समस्त अभीष्टों को पूर्ण करने वाली उन वृषभानुजा देवी का हम निरन्तर स्मरण करते हैं, जो सदा श्रीकृष्ण के वाम अंग में विराजमान रहती हैं।

इन दो श्लोकों के द्वारा ब्रह्मस्वरूप का विवेचन करने के उपरान्त उन्होंने श्रीराधा-कृष्ण की उपासना करने का आदेश दिया। उनका कथन है, 'अज्ञान-अन्धकार (अविद्या) की अनुवृत्ति रोकने (जन्म-मरण-रूपी संसृति चक्र से छुटकारा पाने) के लिए राधा-कृष्ण युगलात्मक परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। यही उपासना-पद्धति सनकादिक मुनियों ने समस्त तत्त्वों के ज्ञाता श्रीनारदजी को बतलायी थी।

सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली, श्रीकृष्ण के वामांग में विराजित व सहस्रों सखियों से सेवित इन श्री राधादेवी की स्तुति श्रीकृष्ण के साथ करने से ज्ञात होता है कि श्रीनिम्बार्काचार्यजी ने युगल-उपासना के साथ भगवान् की माधुर्य तथा प्रेम शक्ति-रूपा राधा की उपासना पर विशेष बल दिया, क्योंकि ये राधा ही सकल कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं। पुरुषोत्तमाचार्य ने (दश श्लोकी) के 'वेदान्त रत्न मंजूषा' नामक भाष्य में वृषभानुसुता राधिका के 'अनुरूप सौभगा', 'देवी', 'सकलेष्ट-कामदा', आदि विशेषणों की व्याख्या श्रुति-पुराणादि का उल्लेख करते हुए की है। जिस प्रकार पंचरात्र या पुराणादि में विष्णु की 'अनुयायिनी' शक्ति का वर्णन है, उसी प्रकार यहाँ वृषभानुनन्दिनी हैं। श्रीराधा-कृष्ण की युगलमूर्ति जिन सहस्रों सखियों के द्वारा सदा परिसेवित होती हैं, वे परिचारिका भक्त सखियाँ श्लाघनीय हैं। ये भक्तगण इन युगल की—'सकलेष्ट-काम' की पूर्ति के लिए सदा सेवा करते हैं। राधिका श्रीकृष्ण से सुशोभित हैं। एक ही रससागर के दो विग्रह के समान वे सौन्दर्य में भिन्न नहीं है।

इस सम्प्रदाय को राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की उपासना इष्ट है। इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के साथ राधिका का साहचर्य मान्य है। श्रीनिम्बार्काचार्य के षट् शिष्य श्री श्रीनिवासाचार्य ने स्वरचित 'वेदान्त कौस्तुभ भाष्य' में ब्रह्म, रमापति, माधव आदि प्रयोगों द्वारा ब्रह्म का निर्वचन किया है। उन्होंने वेदान्त-कामधेनु (दश श्लोकी) के वाक्यों का उद्धरण भी दिया है। आचार्य श्रीनिम्बार्क के अन्यतम षट् शिष्य श्रीऔदुम्बराचार्य ने अपने ग्रन्थ

'औदुम्बर संहिता' में श्री राधा-कृष्ण के युग्म तत्त्व का विशेष स्पष्टीकरण किया है। उनका कथन है कि राधा-कृष्ण का यह युग्म सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है, यह वृन्दावन में नित्य विहार करता है। यह युग्म सच्चिदानन्द रूप है और सामान्यतया अगम्य होने के कारण विरले ही सज्जन इस तत्त्व को समझते हैं। राधा और मुकुन्द सम भावेन अवस्थित रहते हैं। दो दृष्टिगोचर होने पर भी वास्तव में दोनों एक रूप ही हैं। इनकी आकृतियाँ आपस में एक-दूसरे से नितान्त संपृक्त हैं। जिस प्रकार सरिता के वक्षःस्थल पर प्रवाहित होने वाले दो कल्लोल (लहर) पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं, परन्तु दोनों मिलकर इस प्रकार एक रूप हो जाते हैं कि उनका विश्लेषण किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता—

जयति सततमाद्यं राधिकाकृष्ण-युग्मं,
व्रजसुकृतनिदानं यत्सदैतिह्यमूलम्।
विरलसुजनगम्यं सच्चिदानन्दरूपं,
व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम्।।
कल्लोलकौ वस्तुत एकरूपकौ,
राधामुकुन्दौ समभावभावितौ।
यद्वत् सुसम्पृक्त-निजाकृति-श्रुवा,
वाराधयामो व्रजवासिनौ सदा।।

श्रीऔदुम्बराचार्य ने श्रीराधा-नाम के स्पष्ट उच्चारण एवं जप-संकीर्तन पर बल दिया है और श्री राधा की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराने पर भी आग्रह किया है। उनका कथन है कि कृष्ण के साथ हरिप्रिया राधा की भी प्रतिमा प्रतिष्ठापित की जानी चाहिये, क्योंकि दोनों के ही पूजन से परम गति प्राप्त होती है।' श्री औदुम्बराचार्य ने श्रीराधा और कृष्ण में न्यूनाधिक भाव का निषेध किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि श्री राधा और श्रीकृष्ण में यत्किंचित् भी न्यूनाधिक भावना करना महान् अपराध है—

संसेवितुं तत्र न भेदमाचरेत्,
श्रीराधिकाकृष्ण-युगार्चन-व्रती।
दोषाकरत्वाद्धि भिदानुवर्तिनां,
सत्कर्मणामेवमभेद्यभेदिनाम्।।

शास्त्रीय वाक्यों के अनुसार श्रीराधा को श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति बताया जाता है। अंश और अंशी तथा शक्ति और शक्तिमान् में स्व-स्वामित्वरूप भेद सम्बन्ध है ही नहीं। निम्बार्क सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ राधा को भी अभिन्न भाव से उपास्य के रूप में स्वीकृत किया और युगल रूप की उपासना की जाती है। परन्तु युगल उपासना के साथ भगवान् की माधुर्य तथा प्रेम-शक्ति रूपा श्रीराधा की उपासना पर अधिक जोर दिया गया है। राधा को कृष्ण की प्रकृति तथा आह्लादिनी शक्ति कहा गया है। श्रीनिम्बार्काचार्य ने राधा को 'अनुरूप सौभगा' माना है अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं उसी प्रकार श्री राधिकाजी भी सर्वेश्वरी हैं। राधा, कृष्ण के साथ हैं और उनका अपृथक्

सम्बन्ध है। महावाणी की भूमिका में श्रीसर्वेश्वर और राधा के सम्बन्ध में लिखा है, 'इसी श्रीवृन्दावनधाम में सच्चिदानन्द अखिल ब्रह्माण्डेश्वर, अव्यय पुरुष, अचिन्त्येश्वर, परमाधार, धामाधिपति-सूक्ष्म कलरव-ब्रह्म के भी ब्रह्म श्रीसर्वेश्वर अपनी आह्लादिनी शक्ति श्री राधिकाजी के संग अहर्निश सुशोभित हैं। यही श्री राधा अंतर्भूता हैं, स्वयं श्रीकृष्ण इनकी आराधना करते हैं इसलिए ये राधा कहलाती हैं। इन श्रीराधिकाजी के शरीर से ही गोपियाँ, श्रीकृष्ण की महिषियां, लक्ष्मीजी आदि उत्पन्न हुई हैं। ये श्रीराधा और श्रीकृष्ण रससागर रूप एक ही शरीर से क्रीड़ा के लिए दो हो गये हैं। ये श्रीराधिकाजी श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण सनातनी विद्या और प्राणों की अधिष्ठात्री देवी हैं। दिव्य चिन्मय नित्य श्रीवृन्दावनधाम में इन्हीं अपनी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधिकाजी के संग श्रीकृष्ण के अहर्निश विहार का नाम नित्य विहार रस है। इसलिए श्रीकृष्ण श्रीनित्यविहारी हैं।'

श्रीराधा आनन्दस्वरूप प्रियतम की आह्लादिनी शक्ति होते हुए भी सदा सनातन नित्य विहार में निरन्तर स्वतन्त्र रूपेण रमण करती रहती हैं। श्रीकृष्ण का मन श्रीप्रिया के पद-पंकज की शरण में सतत निवास की कामना करता है। वास्तव में श्रीकृष्ण और श्रीराधा दोनों एक तन, एक मन हैं। केवल दर्शन के लिए ही दो रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं। रस और वयस् में दोनों समान हैं, इनमें कोई भी न आराध्य है और न आराधक, न कोई प्रधान है और न कोई गौण। विलास में प्रिया की जो सहज प्रधानता होती है, वही वामता के कारण श्री राधा में दृष्टिगोचर होती है। श्रीराधा को अनुरूप सौभगा तथा कृष्ण की स्वकीया मानकर ही उनका स्वरूप कृष्ण के समान ही माना है। इस सम्प्रदाय में जहाँ तक युगल-उपासना का सम्बन्ध है, भगवान् की माधुर्य एवं प्रेम शक्ति-रूपा-श्रीराधा की उपासना पर बल दिया गया है, क्योंकि भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने की शक्ति राधा में ही है। निकुंजविहारी श्रीराधा-कृष्ण अनुरागात्मिका मधुर उपासना में प्रिया-प्रियतम भाव से आराध्य हैं।

श्रीसुन्दर भट्टाचार्य और श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य के उपरान्त श्रीराधा के स्वरूप का वर्णन और उनकी आराधना का प्रचार श्री श्रीभट्टदेवाचार्य और उनके पट्टशिष्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्य ने विशेष रूप से किया है। श्रीनिम्बार्काचार्य के 'अंगे तु वामे' इस श्लोक का प्राय: अनुवाद श्री श्रीभट्टदेवाचार्य के ब्रजभाषा के इस पद्य में मिलता है—

सव्य अंग वृषभानुजा,
चहुँ दिसि गोपी माल।
जय जय कहि करि कीजिये,
आरति श्री गोपाल।।

वैज्ञानिकों के अनुसार जिस प्रकार परमाणु का विभाग नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह युगल तत्त्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसलिए इसमें कभी भी विभेद नहीं हो सकता। श्रीराधा का विग्रह श्यामसुन्दर है तो श्यामसुन्दर श्रीराधा की ही मूर्ति हैं। जिस प्रकार कोई दर्पण हाथ में लेकर अपना मुख देखता है, तो उसे दर्पण में मुख-मण्डल दिखाई देता है। दर्पणस्थ मुख-

मण्डल की नेत्र-कनीनिका में दर्पण और नेत्र-सहित दर्पण देखने वाला दिखाई देता है, उसी प्रकार ये दोनों परस्पर प्रतिबिम्बित होते हैं। इनका पार्थक्य एक क्षण को भी नहीं होता—

दरपन में प्रतिबिंब ज्यौं,
नैन जु नयननि माहिं।
यों प्यारी पिय पलकहू,
न्यारे नहिं दरसाहिं।।
प्यारी तन स्याम, स्यामा तन प्यारौ।
प्रतिबिम्बित तन अरसि परसि दोऊ,
एक पलक दिखियत नहिं न्यारौ।।
ज्यौं दरपन में नैन, नैन में नैन-
सहित दरपन दिखरावौ।
श्रीभट जोट कि अति छवि ऊपर,
तन मन धन न्यौछावर डारौ।।

श्री हरिव्यासदेवाचार्य ने महावाणी ग्रन्थ में श्री राधा-तत्त्व का विशद वर्णन किया है। श्रीराधा-कृष्ण के गूढ़ भाव से सम्बन्ध रखने वाला सहज सुख का पहला पद इस प्रकार है—

सहज सुख रंग की रुचिर जोरी।
अतिहि अद्भुत, कहूँ नहीं देखी सुनी,
सकल गुन कला कौसल किसोरी।।
एक ही द्वै जु द्वै एक ही दिपहिं दिन,
किहिं साँचे निपुनई करि सुढोरी।
श्रीहरिप्रिया दरस हित दोय तन,
दर्सत एक तन एक मन दो री।।

वास्तव में यह सहज सुख की एक अद्भुत जोड़ी है। ऐसी जोड़ी कहीं देखी सुनी नहीं। सम्पूर्ण गुण, कला और कौशल की राशि हैं। एक ही ज्योति दम्पती रूप से दो रूप में हैं, इसलिए दोनों एक ही हैं। उनके तन, मन और इच्छा आदि एक ही हैं।

श्यामसुन्दर आनन्द स्वरूप हैं तथा श्रीराधा उस आनन्द का आह्लाद हैं। श्यामसुन्दर उस आह्लाद के आनन्द रूप हैं। इस प्रकार बीज-वृक्ष की भाँति इन दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यह युगल तभी नित्य है—

एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनन्द के अह्लादिनि स्यामा,
अह्लादिनी के आनन्द स्याम।।
सदा सर्वदा जुगल एक तन,
एक जुगल तन बिलसत धाम।।
श्रीहरिप्रिया निरन्तर नित प्रति,
काम रूप अद्भुत अभिराम।।

श्रीराधा की अंशकला रूप लक्ष्मी, रुक्मिणी आदि हैं। श्रीराधा, श्रीकृष्ण की साक्षात् आत्मा हैं। श्रीहरिव्यासदेवाचार्य ने अपने 'महावाणी' ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अपने मूल सिद्धान्त को प्रकट किया है—

राधां कृष्ण-स्वरूपां वै कृष्णं राधा स्वरूपिणम्।
कलात्मानं निकुंजस्थं गुरु रूपं सदाऽऽश्रये।।

पाँचों प्रकरणों (सुखों) में इसी का विशद रूप से समर्थन हुआ है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण में पूर्णरूपेण साम्य है। इस युगल जोड़ी के तो 'एक तन एक मन एक डोरी', 'एक प्राण द्वै गात' तथा 'एक स्वरूप सदा द्वै नाम' हैं। जिस प्रकार एक मन दो पदार्थों में रहने वाला 'द्वित्व' सम्बन्ध भेद-से प्रत्येक में रहता है, किन्तु उसकी पूर्ति दो में ही होती है। वह दो पदार्थों का युगल द्वित्वावच्छिन्न रूप से एकता में भी परिणत हो जाता है। इसी प्रकार श्रीराधा-कृष्ण युगल में सर्वेश्वरत्व, परमात्मत्व, ब्रह्मत्व और भगवत्ता की पूर्ति होती है। जिस प्रकार शक्ति के बिना शक्तिमान्, अंशों के बिना अंशी और आत्मा के बिना काय-व्यूह का अस्तित्व असम्भव है, उसी प्रकार श्रीराधा के बिना श्रीकृष्ण की स्थिति भी असम्भव है।

❑

निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण

चन्द्रप्रकाश अग्रवाल

निम्बार्क सम्प्रदाय में वात्सल्य रस अपने प्रमुख रस में ग्राह्य नहीं है। इस सम्प्रदाय की उपासना में मधुर रस को ही विशिष्ट स्थान है और वात्सल्य रस शृंगार के पोषित रस के रूप में ग्रहण किया गया है।

श्रीहरिव्यासदेवजी के श्रीराधा-कृष्ण विवाह वर्णन भी उनकी कैशोर लीला के रूप में चित्रित किये गये हैं और वात्सल्य रति भाव के अन्तर्गत हैं।

माधुर्य भाव के भक्तों द्वारा उपासनीय श्रीकृष्ण

सर्वातिशय माधुर्यवान्, कमनीय किशोरमूर्ति श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। श्रीप्रियाजी एवं सखी सहचरीगण आश्रयालम्बन, वंशी रव, बसन्त, कोकिल कूजन आदि उद्दीपन, कटाक्ष-स्मित आदि अनुभाव। स्तम्भादि सात्विक, आलस्य और उग्रता छोड़कर निर्वेदादिक व्यभिचारी और रति स्थायी भाव हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय की भक्ति में शांत, दास्य, सख्य और वात्सल्य की अपेक्षा केवल माधुर्य भाव की उपासना प्रधान है। **'अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा'** कहकर श्रीनिम्बार्काचार्य ने इसी भाव की उपासना की ओर संकेत किया है। अतः श्रीराधाकृष्ण का केवल माधुर्य रूप ही इस सम्प्रदाय में रति उद्बुद्ध करने के कारण स्थायी भाव के रूप में ग्राह्य है। श्रीराधा के स्वकीया भाव को ही यहाँ पर ग्रहण किया जाता है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों में अतिशय प्रेम है। अपने अपने गुणों से वे एक-दूसरे को समान रूप से आकर्षित करते रहते हैं। सम्प्रदाय के कवियों ने उनका विवाह वर्णन भी किया है।

शृंगार रस के अन्तर्गत सुरत युद्ध के वर्णन निम्बार्क सम्प्रदाय के अनेक कवियों ने किये हैं—"कुंवर दोउ सुरति-समर रनवीर"।

श्री राधा का स्वकीया रूप ही निम्बार्क सम्प्रदाय में ग्राह्य है। युगल शतक एवं महावाणी में श्रीराधा-कृष्ण के विवाह का वर्णन भी इन कवियों ने किया है। श्रीराधा के स्वकीया भाव के उपासक निम्बार्क सम्प्रदाय में मान-विरह के लिए तनिक भी आवश्यकता नहीं है, परन्तु शृंगार रस की पूर्ण परिव्याप्ति वियोगावस्था में ही होती है। अतः श्रीराधाजी को अपनी स्वयं की मुद्रा देखकर अन्य नायिका के मान से मान करने के अवसर आ गये हैं। इस रस के अन्तर्गत पूर्वानुराग, मान और विरह तीनों के वर्णन प्राप्य हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना में माधुर्य भक्ति का प्रेमाश्रित स्वरूप ही ग्राह्य है। आचार्य कवियों की रचनाओं में इसी रस का प्राधान्य है। हरिव्यास देव, श्रीरूप, रसिकदेव-प्रभृति कवियों ने एकमात्र माधुर्य रस सम्बन्धी ही रचनाएँ की हैं। श्रीभट्टजी, वृन्दावनदेवजी

आदि ने ब्रजलीला सुख का भी वर्णन किया है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत वर्णित मधुर रस कोरा शृंगार रस नहीं है, उसे शुद्ध शृंगार न मानकर साम्प्रदायिक आस्थानुसार ही उसका अध्ययन करना समीचीन है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य देव

उपर्युक्त सामग्री से वृन्दावनस्थ निम्बार्क सम्प्रदाय के श्रीकृष्ण का स्वरूप इस प्रकार ज्ञात होता है—

साम्प्रदायिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत के अनुसार सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्ण ही परमात्मा हैं। चेतन जीवात्मा और अचेतन जड़ प्रकृति इनके अंश मात्र हैं। इन अंशों की स्थिति परमात्मा से पृथक् भी है और अपृथक् भी। श्रीकृष्ण की सन्धिनी, सम्बित आदि तीन शक्तियों में से ह्लादिनी शक्ति श्रीराधा हैं। ब्रह्म अपनी ह्लादिनी शक्ति के विलास द्वारा भगवत् परिकर स्वरूप नित्य मुक्त जीवों पर कृपा करते हैं। 2. अन्तरंग नित्य मुक्त जीव सर्वेश्वर श्यामसुन्दर श्रीराधाकृष्ण की निरन्तर सन्निधि में ही रहते हैं। ये किरीट, कुण्डल, मुकुट-चन्द्रिका आदि अलंकार रूप जीव माने जाते हैं। 3. यह प्रभु गरुड़, विश्वक्सेनादि नित्य मुक्त पार्षदों द्वारा सेवित हैं। 4. उपासना के अनुसार यद्यपि इस सम्प्रदाय में ऐश्वर्य भाव से भगवान् की पूजा होती है तथापि कर्णिका लीला के नित्य विहारी स्वरूप के गायन में साम्प्रदायिक कवियों का मन रमा है। कर्णिका लीला की विहार स्थली वृन्दावन है। साधनसिद्धा और नित्यसिद्धा गोपिकों से सेवित स्वकीया श्रीराधा एवं माधुर्य मण्डित श्रीकृष्ण ही कर्णिका लीला के नित्य विहारी सर्वेश्वर जुगलकिशोर हैं।

यही नित्य विहारी सर्वेश्वर जुगलकिशोर स्वरूप वृन्दावनस्थ निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रमुख रूप से मान्य है।

श्रीमद्भागवत एवं निम्बार्क सम्प्रदाय के श्रीकृष्ण का तुलनात्मक अध्ययन

1. निम्बार्क सम्प्रदाय का श्रीमद्भागवत से सीधा सम्बन्ध है। भागवत में दिये हुए रूपक के अनुसार मानवीकृत भक्ति द्रविड़ में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में सम्मानित हुई, गुजरात में दुर्बल हुई और वृन्दावन में पुनः तरुण हुई। द्रविड़ श्रीसम्प्रदाय की, कर्नाटक मध्व सम्प्रदाय की, महाराष्ट्र विष्णु स्वामी सम्प्रदाय की और वृन्दावन निम्बार्क सम्प्रदाय की जन्मभूमि है। अतः निम्बार्क सम्प्रदाय भागवत और वृन्दावन से सीधा सम्बन्ध रखता है।

2. निम्बार्क सम्प्रदाय ने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के तेरहवें अध्याय से प्रेरणा ग्रहण की है। इस अध्याय में हंस रूप भगवान् ने सनकादिकों को उपदेश दिये हैं। उन सनकादिकों के नाम पर इस सम्प्रदाय का नामकरण "सनक सम्प्रदाय" के नाम से हुआ।

3. श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण को निम्बार्क सम्प्रदाय ने सर्वेश्वर की संज्ञा प्रदान कर समस्त शक्तियों एवं विभूतियों का अधिष्ठाता श्रीकृष्ण की भाँति ही माना है।

4. श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को कथा शैली के आधार पर परब्रह्म प्रतिपादित किया गया है, किन्तु निम्बार्क सम्प्रदाय में "सर्वेश्वर' को सिद्धांत और उपासना के दो आधारों पर

परब्रह्म प्रतिपादित किया गया है। श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यमय एवं मधुर दोनों ही स्वरूपों को मान्यता प्रदान की है।

5. श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति को श्रीनिम्बार्क ने सहस्र सखियों से सेवित **'अंगे तु वामे वृषभानुजामुदा'** कहकर स्वकीया श्रीराधा की संज्ञा प्रदान की है, किन्तु श्रीमद्भागवत में श्रीराधा का उल्लेख नहीं मिलता है। हाँ, आराधिका शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है। श्रीमद्भागवत में गोपी-तत्त्व की प्रधानता है, निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीराधा तत्व की प्रधानता है।

6. श्रीमद्भागवत के द्वारिकावासी श्रीकृष्ण स्वरूप को निम्बार्क सम्प्रदाय में ऐश्वर्यमय स्वरूप कहकर मान्यता प्रदान की गई है।

7. श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के लोक रक्षक वीर स्वरूप का विस्तृत वर्णन है, किन्तु निम्बार्क सम्प्रदाय वीर स्वरूप का स्पर्श भी नहीं करता।

8. श्रीमद्भागवत की निकुंज लीला में श्रीकृष्ण का जो रूप अंकित है, वही स्वरूप निम्बार्क सम्प्रदाय में अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से उपासना के आधार पर माधुर्य के आश्रयदाता नित्य बिहारी के रूप में प्रतीत होता है।

9. निम्बार्क सम्प्रदाय में भगवान् के श्रीकृष्ण का वीर स्वरूप नहीं मिलता। इसका अर्थ यह नहीं है कि निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण स्वरूप का विकास नहीं हुआ। वस्तुतः ऐसा जान पड़ता है कि निम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के स्वरूप का एकांगी विकास हुआ। श्रीकृष्ण के लोक रक्षक स्वरूप का तो लोप हुआ और लोक रंजक स्वरूप का अतिशयोक्तिपूर्ण विकास दर्शन, कल्पना एवं भावना के आधार पर हुआ। भागवत के जो श्रीकृष्ण मानवी गुणों का लेकर चलते थे, वही श्रीकृष्ण निम्बार्क सम्प्रदाय में दर्शन की विवेचना और दाम्पत्य शृंगार की रागात्मक भावना में विकसित हुये। इस प्रकार श्रीमद्भागवत के वीर लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण निम्बार्क सम्प्रदाय में आध्यात्मिक आधार पर साधारणतः ऐश्वर्यमय एवं रागात्मक आधार पर विशेषतः माधुर्य मण्डित 'सर्वेश्वर' बन गये।

ब्रह्म

ब्रह्म शब्द सर्व शक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्णात्मक युगलकिशोर का वाचक है। अचिन्त्य विचित्र रूप से प्रकाशित इस विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं लय उन्हीं से होती है। इसलिए जो सर्वज्ञ और अनन्त गुणों के आश्रय ब्रह्मा, महेश्वर व कालादिकों के नियन्ता हैं, वे ही ब्रह्म हैं। ब्रह्म का चिन्तन दार्शनिक सिद्धान्त और उपासना के अनुसार दो रूपों में होता है।

दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप

निम्बार्काचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद कहलाता है। द्वैताद्वैत दर्शन में परमात्मा या ईश्वर, जीवात्मा भोक्ता और जड़, प्रकृति भोग्य, ये तीन प्रधान तत्व हैं। इन तीनों में परमात्म तत्व सबसे प्रधान है। जीव और प्रकृति दोनों परमात्मा के आश्रित हैं। परमात्मा पर ही दोनों की स्थिति सम्भव है। इससे भिन्न होकर वे नहीं ठहर सकते, अतः

अभिन्न कहलाते हैं। परमात्मा के अंश होते हुए भी स्वधर्मानुसार ये तत्त्व उससे भिन्न भी हैं और नहीं भी, जैसे तरंगें समुद्र से। इस प्रकार इनका परमात्मा से अभेद और भेद भी है।

अत: तीन प्रमुख तत्त्वों में परमात्मा सर्वप्रधान है और जीव तथा प्रकृति उसके अंश मात्र हैं। परमात्मा और जीवात्मा चेतन तत्त्व हैं, किन्तु जड़ जगत् अचेतन तत्त्व है।

उपासना के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप

किसी अभीष्ट तत्त्व के सन्निकट बिठा देने वाले साधन को उपासना कहते हैं। वह चिन्तन, ध्यान, मनन, श्रवण, अर्चन आदि अनेक रूपों से की जा सकती है, जो जिसका निरन्तर चिन्तन करता है, उसमें उपास्य के गुणों का आविर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार एक कीट का भृंग के समान स्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार साधक में भी अपने उपास्य के भाव आ जाते हैं। हीन की उपासना करने वाले में हीनता आ जाती है और श्रेष्ठतम की उपासना करने वाले में श्रेष्ठता का आविर्भाव हो जाता है।

भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सच्चिदानन्द, अनन्त कल्याणमय गुणगणों के समुद्र हैं। उनका चिन्तन, मनन, ध्यान करने वाला साधक भी तद्रूप हो जाता है। स्वयं भगवान् ने ही गीता में श्रीमुख से कहा है "बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता:।"

उपासना के अनुसार एक ही ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दो स्वरूप माने जा सकते हैं।

निर्गुण स्वरूप

ब्रह्म के समान सामर्थ्यवान् और कोई नहीं, अत: उनको किसकी उपमा दी जाय। इसलिए उन्हें निरुपम एवं मायिक गुण और आकारों से निर्लिप्त होने के कारण निर्गुण निराकार कहते हैं। यद्यपि निम्बार्क सम्प्रदाय में सगुण रूप में ही श्रीसर्वेश्वर भगवान् की उपासना का विधान है, परन्तु वे सत्, रज, तम तीनों प्राकृत गुणों से सर्वतोभावेन निर्लिप्त हैं। अत: उन्हें निर्गुण भी कहा जाता है। वास्तव में सब कुछ जड़-चेतन दृश्य-अदृश्य के वे ही आधार है।

सगुण स्वरूप

नित्य बिहारी श्रीकृष्ण के वर्णन के साथ श्रीसर्वेश्वर के समर्थत्व की अद्भुत व्यंजना, धामतत्त्व की परात्परता, सर्वोपरिता, अखण्ड, नित्यता, निराकार, अविकार परब्रह्म का नित्य बिहारी रूप, श्रीराधाकृष्ण का चिदंश रूप और श्रीकृष्ण का अखिल ब्रह्माण्डाधीश एवं अण्डाधार होना प्रतिपादित है। सगुण और नित्य बिहारी एक ही है।

श्रीनिम्बार्क के मत में श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। वे दोषहीन कल्याण-गुणों की राशि, व्यूह समूह के अंगी तथा परात्पर हैं। श्रीकृष्ण की शक्ति व्यक्त और अव्यक्त तथा अंश और अंशी रूप में व्याप्त है। इसलिए इसमें द्वैत नहीं है। जीव जगत् से विलक्षण है, इसलिए द्वैत भी है। श्रीकृष्ण की शक्ति अचिन्त्य तथा अनन्त है। वे ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों के आश्रय हैं। भगवान् मुक्त-गम्य, योगी, ध्येय, कृपालभ्य तथा स्वतन्त्र सत्तावान् है।

श्रीहरिव्यासदेवजी ने लिखा है—"अन्य को छोड़कर केवल श्रीकृष्ण ही उपास्य देव हैं।" श्रीनिम्बार्काचार्य ने दशश्लोकी में—"सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली श्रीकृष्ण के वामांग में विराजित तथा सहस्र सखियों से सेवित श्रीराधादेवी की स्तुति भी श्रीकृष्ण की स्तुति के साथ ही की है।" श्रीनिम्बार्काचार्य ने युगल उपासना पर विशेष बल दिया। इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण ही उपास्य, भजनीय, सेव्य एवं पूज्य है। श्रीकृष्ण की भक्ति छोड़कर किसी और की भक्ति (पूजा) करना व्यर्थ है। **'नान्यागति: कृष्णपदारविन्दात्'** ही इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त कहा गया है, किन्तु श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा को भी इष्टदेवी के रूप में स्वीकार किया गया है।

सगुण श्रीकृष्ण के दो स्वरूप

प्रकारान्तर से सगुण श्रीकृष्ण के दो स्वरूप ऐश्वर्यानन्द और सेवानन्द प्रधान माने गये हैं। ऐश्वर्यानन्द-प्रधान-स्वरूप सकाम सेवा से जाना जाता है, क्योंकि सकाम सेवा से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और सेवानन्द प्रधान स्वरूप जानने के लिए निष्काम सेवा करनी चाहिये, क्योंकि निष्काम सेवा से ही उसकी प्राप्ति होती है। ऐश्वर्य का आश्रयदाता ऐश्वर्यमय स्वरूप है और माधुर्य का आश्रयदाता स्वरूप नित्य बिहारी स्वरूप है।

ऐश्वर्यमय स्वरूप

निम्बार्क सम्प्रदाय में ऐश्वर्य भाव से भगवान् की पूजा होती है। उसके अनुसार भूदेवी और लीलादेवी उनकी दो शक्तियाँ मानी गई हैं। **'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'** यह वेद वाक्य भगवान् के साथ इन दो शक्तियों की उपासना का निर्देश करता है। रमा, लक्ष्मी या भूशक्ति, भगवान् के ऐश्वर्य रूप की अधिष्ठात्री हैं। द्वारावती में भगवान् का चतुर्भुज रूप है।

नित्य बिहारी स्वरूप

नित्य बिहारी श्रीकृष्ण के वर्णन के साथ श्रीसर्वेश्वर के सामर्थत्व की अद्भुत व्यंजना—श्रीराधाकृष्ण का चिदंश रूप और श्रीकृष्ण का अखिल ब्रह्माण्डाधीश एवं खण्डाधार होना प्रतिपादित है। नित्य बिहारी और सगुण दोनों एक ही स्वरूप है।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस नित्य बिहारी स्वरूप से दो प्रकार की लीलाओं का प्रतिपादन करते हैं।

नित्य बिहारी स्वरूप की लीलाएँ

ये दोनों प्रकार की लीलाएँ हैं—आवरण लीला और कर्णिका लीला।

आवरण लीला

आवरण लीला को ही ब्रज लीला कहा जाता है।... निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियों का मन ब्रज लीला में नहीं रमा। उन्होंने वृन्दावन और निकुंज की लीलाओं का ही गान किया है।

कर्णिका लीला

कर्णिका लीला को ही निकुंज लीला भी कहते हैं। निकुंज लीला के अन्तर्गत नित्य विहार होता है। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार—

"निम्बार्क सम्प्रदाय के मूलाधार ग्रन्थों में नित्य विहार की निष्ठा के लिए पूरा अवकाश नहीं है। निम्बार्क मत में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। वे ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों के आश्रय हैं। "दशश्लोकी में श्रीकृष्ण को ही आराध्य कहा गया है।" नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् एकान्त विहार भावना की दृष्टि से युक्ति-युक्त नहीं। 'महावाणी' और 'युगल शतक' में नित्य विहार का विशद वर्णन है। श्रीराधाकृष्ण का प्रेम वर्णन ही सम्प्रदाय के कवियों को अभीष्ट रहा है। श्रीकृष्ण के सौंदर्य का, शृंगार का तथा नित्य विहार और निकुंज लीला का हृदयग्राही वर्णन किया गया है। गोस्वामी ब्रजवल्लभशरण के मतानुसार श्रीकृष्ण और श्री राधा दोनों ही शब्द सापेक्ष है। जिस प्रकार 'राधा' शब्द का उच्चारण करते ही श्रीकृष्ण की स्मृति हो जाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण शब्द भी श्रीराधा का साहचर्य द्योतन करता है।

कर्णिका-लीला के अंग

कर्णिका लीला के मुख्य अंग तीन हैं—वृन्दावन, गोपियाँ और श्रीकृष्ण, जिनके संयोग से कर्णिका या निकुंज लीला सम्पन्न होती है।

वृन्दावन

नित्य विहार के लीला-विधान में वृन्दावन को प्रमुख अंग माना जाता है। इस पृथ्वी मण्डल में स्थित होकर भी इसका सर्वोपरि सर्वश्रेष्ठ स्थान है। वृन्दावन नित्य एकरस आनन्दमय और प्रेम से ओतप्रोत है। यह शुद्ध माधुर्य रस की कैशोर लीलाओं का आगार है। वृन्दावन मधुर रस-रीति का निजी धाम है। यहाँ पर अनन्त प्रेम शोभा और सौंदर्य-शिरोमणि श्रीराधाकृष्ण नित्य विहार करते हैं। वृन्दावन इसी कारण अनन्त वैभव का आगार भी है। वृन्दावन की भूमि वैकुण्ठ से भी बढ़कर है। यहाँ की सौंदर्य माधुरी की समता कोई नहीं कर सकता। यहाँ के कीट-पतंग, लता-द्रुम भी महान् भाग्यशाली हैं, जो श्रीराधाकृष्ण के नित्य सहचर है। वृन्दावन का रहस्य विरलों को ही सुलभ है।

गोपियाँ

सूर्य की रश्मियों के समान ही—अनन्त प्रकाश रूप युगलकिशोर श्रीराधाकृष्ण की रश्मि-किरण रूप ही गोपियाँ है। वे उनकी अंश एवं शक्ति रूप है। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' भगवान् की इस उक्ति के अनुसार जीवमात्र प्रभु के रश्मि-अंश हैं। प्रभु उन सबके स्वामी, पति एवं पालक हैं। अतः सभी जीव-मात्र गोपियों की कोटि में आ जाते हैं। पुराणों में श्रुतिरूपा मुनिरूपा, लता-पत्र-रूपा आदि अनेक प्रकार की गोपियों का उल्लेख मिलता है। उन सबका अन्तर्भाव निम्न प्रकार के दो रूपों में किया जा सकता है।

गोपियाँ दो प्रकार की मानी गई हैं, 1. परतन्त्र और 2. स्वतन्त्र।

परतन्त्र गोपियाँ वे हैं, जो राधाजी के आधीन रहती हैं। इन परतन्त्र गोपियों को सखी या सहचरी के नाम से पुकारा जाता है, जो अहर्निश प्रभु की सेवा में संलग्न रहती हुई निरवच्छिन्न उन्हीं के चिन्तनादि में निमग्न रहती है। उन सखियों को ही सहचरी कहते हैं।

रसिकदेवजी ने सहचरी के दो भेद माने हैं, साधन सिद्धा और नित्यसिद्धा।

जितनी मुनि कन्या, ऋषि कन्या आदि हैं, वे साधन शीला होने के कारण साधन सिद्धा सहचरियों की संज्ञा में हैं।

गोपियों की नित्यसिद्धा संज्ञा में वे है, जो श्रीकृष्णचन्द्रजी की भाँति अनादि हैं। उनका मूल श्रीराधाकृष्ण ही हैं। उनके निज आनन्द की जो चार लताएँ बताई हैं, नित्यसिद्धा सखियाँ उनमें से चारों की प्रतिमूर्ति समझी जानी चाहिए।

श्रीरसिकदेवजी ने नित्यसिद्धा सहचरी वर्ग में तत्सुख-सुखी और स्वसुख-सुखी की परिकल्पना की है।

इन नित्य सिद्धा सखियों में जितनी सखियाँ तत्सुखी भावना से पूर्ण होकर एक प्रियतम के सुख में लीन रहती हैं, उन्होंने अहंभाव पर सर्वथा विजय प्राप्त करली है। ये श्रीराधा के निजी सुख को अपना सुख मानकर उसमें अवगाहन करती रहती हैं। इनको उनके प्रेम का पूर्ण सुख प्राप्त होता है, क्योंकि वे उनकी चाहना से अपनी चाहना को मिला देती है। इनका श्रीश्यामा-श्याम से पर्दा नहीं है। वे वहाँ भी पहुँचती हैं, जहाँ एकान्त में श्रीबिहारी-बिहारिणी अकेले सुख शैया पर विराज रहे हैं—किन्तु निभृत निकुंज में जो महाकेलि होती है, उसमें हर प्रकार की सखी वर्ग का प्रवेश वर्जित है। इस कुंज में तो प्रिया-प्रीतम दोनों ही महाकेलि के आनन्द को लूटते हैं।

स्वसुखी नित्यसिद्धा को एकान्त कुंजकेलि में अनुसरण करने का अधिकार नहीं। वे अन्य कुंजों में सेवा करने के अधिकारिणी हैं।

श्रीराधा

इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा को ही इष्टदेवी के रूप में स्वीकार किया गया है। यथा—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा,
विराजमानामनुरूप-सौभगाम्।
सखी-सहस्रैः परिसेवतां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्ट-कामदाम्। 1।।

अर्थात्—श्रीराधा जी श्रीकृष्ण के बराबर ही वामांग में विराजमान हैं। श्रीराधिका जी की सेवा में हजारों सखियाँ हैं। समस्त कामना की पूर्ति के लिए मुमुक्षु ऐसी श्रीराधा जी का ध्यान करे।

श्रीराधा को स्वकीया के रूप में स्वीकार करके अपनी समस्त लीलाओं में स्वकीयात्व का आरोप किया जाता है।

श्रीराधाकृष्ण की भक्ति में श्रीराधा को स्पष्ट रूप से स्वकीया के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा गर्गसंहिता के प्रमाणों द्वारा श्रीराधा का विवाहित होना तथा श्रीकृष्ण का पति के रूप में होना स्वीकार किया गया है।

श्रीकृष्ण

स्वभावतो अपास्त समस्त-दोष
मशेषकल्याण-गुणैकराशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।। 3।।

अर्थात्—भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप स्वभावत: दोषों से रहित, सम्पूर्ण कल्याण गुणों का सागर, चतुर्व्यूह के अंगी, परब्रह्म, मुमुक्षुओं द्वारा वरेण्य, ऐसे श्रीकृष्ण का ध्यान करना चाहिए।

निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रेमभक्ति के पाँच भाव माने गये हैं—

1. शांत, 2. दास्य, 3. सख्य, 4. वात्सल्य, 5. उज्ज्वल अर्थात् माधुर्य।

वामदेव आदि ने शांत भाव से भक्ति की, पत्रक और उद्धव आदि ने दास्य भाव से भक्ति की। श्रीदामा, सुदामा और अर्जुन आदि ने सख्य भाव से भक्ति की। यशोदा और नन्द ने वात्सल्य भाव से भक्ति की। गोपियों और श्रीराधा ने उज्ज्वल भाव से भक्ति की। श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी ने इस सम्प्रदाय में शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य, इन पाँच रसों का समर्थन किया और माधुर्य को उत्कृष्टता प्रदान की। प्रेम लक्षणा, अनुरागात्मिका पराभक्ति ही इस सम्प्रदाय में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। उपर्युक्त पाँचों भावों में श्रीकृष्ण का स्वरूप द्रष्टव्य है।

शांत भाव के भक्तों द्वारा रस
उपासनीय श्रीकृष्ण

शांत भाव की उपासना द्वारा हमें भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तानन्द प्रदाता स्वरूप में दर्शन होते हैं—

अब न तजौं तन मन हुवे भजि हौं,
हरि अमृत निधि प्यासे पाई। —परशुराम 1

इस रस में श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। शंकरादि देव आश्रयालम्बन, उपनिषद् विचार आदि उद्दीपन भाव, नासाग्र दृष्टि आदि अनुभाव हैं। अश्रु-पुलक आदि सात्त्विक और निर्वेद स्मृति आदि संचारी भाव हैं। 2

दास्य भाव के भक्तों द्वारा
उपासनीय श्रीकृष्ण

इस भाव के परम कारुणिक शरणागतवत्सल प्रभु श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। अर्जुन, उद्धव आदिक आश्रयालम्बन हैं। भक्त, तुलसी, पद-चिह्न, गोपी-चन्दन, प्रसादी माला आदि उद्दीपन विभाव और स्तम्भादि आठ सात्त्विक तथा हर्ष गर्वादिक संचारी भाव हैं। इस रस में स्नेहादिक स्थायी भाव हैं। 3

अपने स्वामी के वियोग से दास की प्राणान्त तक दश दशाएँ हो जाती हैं। जैसे—अंगो में ताप, कृशता, गिरना, शून्यता, अधैर्य, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्छा और मरण।

सख्य भाव के भक्तों द्वारा
उपासनीय श्रीकृष्ण

इस भाव में सत्यसंकल्प, मेधावी, परम सुन्दर सुवेश त्रिभुज श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन, मधुमंगल सुबलादि सखागण आश्रयालम्बन, शृंग वेणु आदि उद्दीपन विभाव, एक शैया, आसन, सहभोजादि अनुभाव हैं। स्तम्भादि आठों सात्त्विक और हर्ष गर्वादि संचारी तथा सख्य रति ही स्थायी भाव है। उपास्य के विरह में सखाओं की भी उपर्युक्त दश दशाएँ हो जाती हैं।

वात्सल्य भाव के भक्तों द्वारा
उपासनीय श्रीकृष्ण

श्रीहरिव्यास देवाचार्य ने अपनी सिद्धान्त रत्नावली में वात्सल्य रस को अत्यन्त कोमल रस माना है। कोमलांग कमलाक्ष सर्व सुलक्षणों से सम्पन्न लालनीय श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन हैं। नन्द, रोहिणी, यशोदा आदि आश्रयालम्बन। स्मित आदि उद्दीपन विभाव। अंगाभिमार्जन, आशीर्वाद, लालन-पालन आदि अनुभाव, स्तम्भादि सात्त्विक, स्तनक्षरणादि, विशेष हर्ष शंकरादि व्यभिचारी और वात्सल्य स्थायी हैं। वियोग में वही उपर्युक्त दश दशाएँ होती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जी जब इसके आलम्बनस्थ में आकर बैठ जाते हैं, तो उनके लालित्य, उनकी मधुरता, उनकी पवित्रता का कहना ही क्या है। इसमें शृंगार की भाँति वियोग की दश दशाएँ होती हैं।

❑

निम्बार्क मत में जीव तत्त्व

उमाशंकर दीक्षित, एम.ए.

श्रीनिम्बार्क ने जीव तत्त्व के निरूपण में उसके स्वरूप का सविस्तार एवं स्पष्ट निरूपण किया है। उनके अनुसार जीव का स्वरूप अणु है, परन्तु गुण उसका व्यापक है। जीव असंख्य हैं, जो ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका पर्यन्त जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज— इन चार प्रकार के प्रत्येक शरीर में अलग-अलग है। यह चतुर्विध शरीर संयोग और वियोग के योग्य हैं। निम्बार्कमत में जीव को स्वयं प्रकाश स्वरूप माना गया है, जो धर्मभूत ज्ञान का आश्रय भी है। इतना सब कुछ होते हुए भी जीव सभी अवस्थाओं में सर्वदा भगवदधीन है। यथा—

ज्ञानं स्वरूपं च हरेरधीनं,
शरीर-संयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं,
ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।।1।। —दशश्लोकी 1

भोक्ता तत्त्व वास्तविक रूप में उपनिषद् सिद्धान्तानुसार स्वयं ज्योति स्वरूप ही है, जिसका प्रकाश चतुरादि इन्द्रियों के व्यापाराधीन नहीं होता, वह स्वयं ज्योति स्वरूप होता है। निम्बार्काचार्य के मतानुसार जीव प्रकाश पुंज रूप और स्व ज्योति स्वरूप है। जीव का प्रकाश किसी भी इन्द्रिय के व्यापाराधीन नहीं है, वह चक्षुरादिक इन्द्रियों का भी प्रकाशक है। श्रुतियों में इसको सिद्धान्त रूप में प्रामाणिक माना गया है।

मायावाद में भी जीव को ज्ञानस्वरूप माना गया है। परन्तु मायावादियों की व्यावृत्ति के लिए निम्बार्काचार्य ने जीव को ज्ञातृत्ववान् कहा है।

मायावादियों का सिद्धान्त है कि जैसे नाली के रास्ते जल खेत में जाकर खेत के सदृश हो जाता है और उसमें पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब खेत को प्रकाशित करता है, वैसे ही अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रिय रूप नाली के रास्ते से बाहर निकल कर विषय (घट पटादि) देश में जाकर तत्सदृश हो जाती है और उसमें पड़ा हुआ आत्मा का प्रतिबिम्ब विषय को प्रकाशित करता है, तब विषय का ज्ञान होता है। प्रतिबिम्ब बिम्ब से अलग नहीं है, अपितु बिम्बस्वरूप ही है। इसी प्रकार जीव ज्ञानस्वरूप है, किन्तु ज्ञानाश्रय नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब में तो ज्ञातृत्व का उपचार मात्र है। जैसे जल में जल मिलने पर भेद ज्ञान नहीं होता है, वैसे ही दोनों का ही ज्ञानस्वरूपत्व होने से परस्पर में आश्रयाश्रयी भाव नहीं हो सकता है, किन्तु निम्बार्क मत में यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि जगत् में देखा यह जाता है कि रूपवान् पदार्थ का रूपवान् पदार्थ में प्रतिबिम्ब पड़ता है, किन्तु आत्मा और अन्तःकरण किंवा 'मायारूप उपाधि' ये सभी नीरूप और निरवयव हैं। नीरूप और निरवयव 'आत्मा' का

प्रतिबिम्ब नीरूप और निरवयव उपाधि में नहीं पड़ सकता है। अतः सूर्य के दृष्टांत से धर्मभूत ज्ञान को आत्मा का प्रतिबिम्ब मानकर उसमें ज्ञातृत्व की उपचार कल्पना करना असंगत है।

इसी प्रकार सभी धर्म और धर्म का अत्यन्त सावात्य अभेद नहीं बतलाया, किन्तु भेद के ज्ञान को ही रोकता है। धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान दोनों होने पर भी धर्मित्व और धर्मत्व रूप अवच्छेदक के भिन्न होने से दोनों ज्ञान भिन्न भिन्न हैं, किन्तु दोनों 'जल' भिन्न-भिन्न नहीं है। अतः जल का यह दृष्टान्त परस्पर आश्रय-आश्रयी भाव का खण्डन नहीं करता, किन्तु आधाराधेय भाव में ही दृष्टान्त है, जैसे प्रकाश स्वरूप सूर्य प्रकाश स्वरूपा प्रभा का आश्रय है, सुतरां तेज स्वरूप से दोनों का सावात्य होने पर आधाराधेय भाव है, वैसे ही ज्ञातृत्व रूप से दोनों का साम्य होने पर भी परस्पर आधाराधेय भाव हो सकता है।

यहाँ एक विशेष बात ध्यान देने की यह है कि ज्ञान स्वरूप और ज्ञानाश्रय तो ईश्वर भी है। सुतरां जीव और ईश्वर एक ही हैं। यहाँ इस अति व्याप्ति रूप दोष का निराकरण करने के लिए निम्बार्काचार्य ने जीव को "हरेरधीनम्" कहा है। अर्थात् जीव की स्थिति, गति और प्रवृत्ति सर्वदा भगवान् के आधीन है।

सर्व देश सर्व कालीन वस्तु विषयक ज्ञानादि में तथा सम्पूर्ण क्रियाओं की प्रवृत्ति में जीव स्वतन्त्र नहीं है, वह ईश्वराधीन है, किन्तु ईश्वर इन सब में स्वतन्त्र है। अतः जीव और ईश्वर एक ही नहीं है।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्,
जगद्वशे वर्ततेऽवकृणस्य सचराचरम्। —यह श्रुति इसका प्रमाण है।

जिस प्रकार अनेकों प्रकार के धान्यों की उत्पत्ति वृष्टि के अधीन होने पर भी उनकी विषयता बीज से ही होती है, वृष्टि से विषयता का कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार अनेकों जीव ईश्वराधीन होने पर भी अपने कर्मों के वैषम्य से परस्पर विलक्षण सुखी, दुःखी राजा और रंक होते हैं।

जीव मात्र की प्रवृत्ति ईश्वराधीन है। इसीलिए निम्बार्क ने जीव को अणु परिमाण वाला बतलाया है जबकि ईश्वर 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के अनुसार छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है। अतः जीव और ईश्वर में यही स्वाभाविक भेद है।

जीव स्वरूप से अणु होने पर भी धर्मभूत ज्ञान से व्यापक है। वह धर्मभूत ज्ञान के द्वारा समस्त शरीर के सुख दुःखों का अनुभव करता है। जैसे चन्दन के शरीर के एक देश में लगाने पर भी सम्पूर्ण शरीर शीतल हो जाता है। सूर्य के एक जगह उदय होने से समस्त जगत् का अन्धकार नष्ट हो जाता है। चम्पक, केतकी आदि के उपवन में एक जगह खिलने पर भी समस्त उपवन महक उठता है, वैसे ही अणु परिमित जीव शरीर के एक देश में रहकर सम्पूर्ण शरीर के सुख, दुःख का अनुभव करता है।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

गीता के इस वाक्य के अनुसार अज्ञान से जीव का धर्मभूत ज्ञान ढंका रहता है, इसीलिए प्राणी मात्र मोह को प्राप्त होते हैं। जैसे सम्पूर्ण घर में दीपक की प्रभा व्याप्त होने पर भी यदि उसे घट आदि से आच्छादित कर दिया जाय तो उसकी प्रभा संकुचित होकर केवल घट में ही प्रकाशित रहेगी, अन्य जगह पर उसका प्रकाशक नहीं जा सकता। ठीक इसी प्रकार के जीव का धर्मभूत ज्ञान व्यापक होने पर भी कर्मात्मिका अविद्या द्वारा आवृत्त होने पर संकुचित हो जाता है। इसके लिए उसे इन्द्रिय संभोग की आवश्यकता अनुभव होती है और जिसके साथ इन्द्रिय का संभोग होता है, उसी का अनुभव उसे होता है, अन्य का नहीं। इसीलिए दूसरे व्यक्ति के शरीर में होने वाले सुख-दुःख के साथ किसी तरह का सम्बन्ध न होने से उसका अनुभव सबको नहीं होता, किन्तु मुक्तावस्था में कर्मात्मिका अविद्या का आवरण हट जाने से जीव को भगवद् अनुग्रह पूर्वक सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान होता है।

सर्वं हि पश्यन् पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः।

जीव के अणु और निरवयव होने पर भी 'ईश्वर' अपनी असाधारण शक्ति से सबमें व्याप्त हो सकता है। अन्यथा काल-दिशादि में भी उसकी व्याप्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि ये भी निरवयव हैं।

जीव अस्मदर्थ स्वरूप है। सुषुप्ति काल में भी अस्मदर्थ का अनुभव होता है। सुषुप्ति काल में भी इतनी देर तक मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे कुछ ज्ञान नहीं रहा, मैं इतनी देर तक मूर्च्छित रहा...इत्यादि प्रतीतियों से जीव को सुख और अज्ञान विषयक ज्ञान का भाव होने से अस्मदर्थ का अनुभव होता है। जाग्रदवस्था में आत्म-स्वरूप से ज्ञात 'देहादि' का सुषुप्ति काल में ज्ञान नहीं होता, लेकिन उस समय में भी जीव को देह विषयक ज्ञानाभाव का अनुभव होने से जीव अस्मदर्थ स्वरूप है, यही सिद्ध होता है, क्योंकि अनुभव और स्मरण का सामानाधिकरण्य है। जिसने सुषुप्ति में सुख का अनुभव किया, उसी को स्मरण भी होता है। अन्यथा "मैं इतने समय तक नहीं था, इस समय हुआ हूँ। सुषुप्तिकाल में अनुभव करने वाला कोई और था, मैं उससे पृथक् हूँ" ऐसा भान होना चाहिए-लेकिन यह भान ही नहीं होता। अतः जीव का स्वरूप अस्मदर्थ है।

इसी प्रकार कर्तृत्व भी जीव का स्वाभाविक धर्म है, किन्तु बद्धावस्था में अनादि प्रकृति रूप कर्मात्मिका अविद्या के द्वारा ज्ञानादि के संकोच होने से मन तथा इन्द्रियों की आवश्यकता पड़ती है। सुषुप्ति में इन्द्रियों के सहित मन का लय (पुरीतत् नाड़ी में प्रवेश) हो जाने से विशेष कर्तृत्व का भान होने पर भी सामान्य कर्तृत्व (निश्वास-प्रश्वास रूप में) रहता ही है। मन तथा इन्द्रियों की तरह विशेष विषय और तत्सम्बन्धी क्रियाविशेष भी सहकारी कारण हैं। उनके अभाव से जाग्रदवस्था में सदा विशेष कर्तृत्व नहीं रह सकता है।

जीव ही भोक्ता है। भोक्तृत्व भी उसका स्वाभाविक धर्म है। क्योंकि सुषुप्ति काल में सुख भोक्तृत्व और मुक्तावस्था में भगवत् स्वरूप विषयक आनन्द का उपभोग जीव किया करता है।

इस प्रकार निम्बार्काचार्य ने नित्यमुक्त और मुक्त, बद्ध जीवों के सामान्य लक्षण, स्वरूप, गुण और परिमाण का निरूपण किया है। उनके अनुसार बद्ध जीव 'शरीर संयोग-वियोग योग्यम्' है। यहाँ शरीर पद से शरीर का कारण रूप "अनादि कर्मात्मिका अविद्या" को ग्रहण किया है। अतः अनादि कर्मात्मिका अविद्या का आवरण रूप बन्ध के योग्य होकर अविद्या निवृत्तिपूर्वक भगवत् भावापत्ति रूप मोक्ष के योग्य बद्ध जीव है। वह जीव कर्मात्मिका अविद्या से आवृत होकर नाना-विध शरीरों में घूमता हुआ, अनेक भाँति के सुख-दुःख भोगता हुआ श्रीसर्वेश्वर प्रभु की अहैतुकी कृपादृष्टि से संसार के सभी बन्धनों से मुक्त होकर भगवद् भावापत्तिरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है। यथा—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः
प्रसादान्महिमानमीशम्। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। तदा
विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।

अर्थात्—"यह परमात्मा जिसको स्वीकार करता है, वही उसको प्राप्त करता है। ईश्वर की प्रसन्नता से वीत हैं शोकादि जिसके, ऐसा जीव परमात्मा की महिमा को देखता है। अस्मदादिकों से पर ब्रह्मादिदेव भी जिससे अवर (छोटे) हैं। इस जीव के संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध तीनों कर्म नष्ट हो जाते हैं। विद्वान् जन उस समय पुण्य-पापों को छोड़कर माया रूपी अंजन से रहित होकर भगवान् की समता (भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

निम्बार्क के अनुसार ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त चतुर्विध देहों में जीव स्वरूपतः भिन्न है। आचार्यपाद ने जीव को 'प्रतिदेहभिन्नम्' कहा है। इस कथन से जीवों का भी परस्पर में स्वाभाविक भेद है। इस प्रकार जीव को एक मानने वालों का मत भी इस कथन से निरस्त हो जाता है।

श्रुति स्मृतियों में भी जीव, प्रकृति और ईश्वर यह तीनों पदार्थ यद्यपि नित्य माने हैं तथापि प्रलयावस्था में प्रकृति और जीव भगवान् में लय हो जाते हैं। इसलिए परमात्मा को एक चेतन कहा है और 'चेतनानाम्' पद के द्वारा जीवों के लिए बहु-वचन का प्रयोग किया है। इसी से जीवों की अनेकता प्रतिपादित हुई है। ईश्वर को सबकी कामनापूर्ण करने वाला बताया है। श्रुतियों में मुक्त जीवों को भी अनन्त माना है।

निम्बार्क के मतानुसार भी जीव 'अनन्त' हैं। जीव की अनन्तता उन्हें संख्यातीत बतलाती है। अतः किसी जीव का मोक्ष होने पर भी विश्व का अभाव नहीं हो सकता।

अनादि कर्मात्मिका अविद्या के द्वारा जीव के धर्मभूत ज्ञान का संकोच हो जाने से सर्वसाधारण को जीव के स्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो पाता है। क्योंकि 'गौरनाद्यनन्तवती' श्रुति वाक्य के अनुसार माया अनादि और अनन्त है। इस अनादि त्रिगुणात्मिका माया से परियुक्त धर्मभूत ज्ञानशाली जीव को निश्चय ही भावत्कृपा द्वारा ही जाना जा सकता है। मुक्तबद्ध और बद्ध-मुक्त आदि जीवों के अनेक भेद माने गये हैं।

जीव तत्त्व का वर्गीकरण

निम्बार्क वेदान्तानुसार जीव अनन्त हैं, ऐसा उपर्युक्त विवेचन से सर्वथा सिद्ध है। अनन्त जीव बद्ध और मुक्त दो प्रकार के माने गये हैं।

1. बद्ध जीव—अनादि कर्मात्मिका अविद्या का कार्यरूप देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि शरीरों में आत्मा का अभिधान करने वाले तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले, स्त्री, पुत्र, धन, पशु आदि में दृढ़ ममता रखने वाले जीवों को बद्ध जीव कहा गया है। ये बद्ध जीव भी मुमुक्षु और बुभुक्षु दो प्रकार के होते हैं।

(अ) मुमुक्षु—दैविक, दैहिक, भौतिक संताप, पंचक्लेश, षट्विकारों से उत्पन्न नाना प्रकार के दुःखों से विरक्त होकर उनसे सदा छूटने की इच्छा करने वाले जीवों को मुमुक्षु कहते हैं और वे भगवद् भावापत्ति को चाहने वाले तथा अपने स्वरूपज्ञान मात्र को पाकर ही संतुष्ट होने वाले दो प्रकार के होते हैं।

(ब) बुभुक्षु—शब्द, रस, रूप आदि विषयों से आनन्द चाहने वाले जीवों को बुभुक्षु कहा गया है। ये भी भाविश्रेयस्क (भविष्य में कल्याण चाहने वाले) तथा नित्य संसारी भेद से दो प्रकार के होते हैं।

2. मुक्त जीव—मुक्त जीव भी दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक तो नित्य मुक्त और दूसरे मुक्त।

(अ) नित्यमुक्त—गर्भ, जन्म, जरा, मरण आदि तथा प्रकृति का सम्बन्ध और उस सम्बन्ध से होने वाले नाना प्रकार के दुःखों के अनुभव से सर्वथा रहित तथा भगवत् दर्शन और उनकी सेवा आदि से आविर्भूत आनन्द रसका अनवरत उपभोग करने वाले जीवों को नित्यमुक्त कहा जाता है। ये नित्यमुक्त जीव भी आन्तर्य्य और पार्षद भेद से दो प्रकार के हैं। भगवान् के समस्त आभूषण आयुध आदि आन्तर्य्य और गरुड़ विश्वक्सेन आदि पार्षद नित्यमुक्त जीव हैं।

(ब) मुक्त जीव—अनादि कर्मात्मिका अविद्या निरूपित प्रकृति के कार्यस्वरूप देव, मनुष्य तिर्यग् आदि शरीरों के साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न नाना विध दुःखों से रहित जीवों को मुक्त जीव की संज्ञा दी गई है। ये मुक्त जीव भी दो प्रकार के कहे गये हैं—

एक तो वे हैं, जिन्हें निरतिशय आनन्द रूप भगवत् साधर्म्य प्राप्त हो चुका है। दूसरे वे हैं, जो अपने स्वरूप के ज्ञान से ही सन्तुष्ट हो गये हैं। जिन्हें भगवत् साधर्म्य मिल चुका है, वे जीव भगवत् इच्छा के अनुकूल रहकर स्वेच्छा से भगवद् अवतारों की भाँति ही पृथ्वी पर अवतरित होकर धर्म की रक्षा कर सकने की सामर्थ्य रखते हैं, यथा—

स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति, पंचधा भवति सहस्रधा भवति अपरिमितो भवति।

इत्यादि श्रुति वाक्यों से प्रमाणित है। इस तरह से बद्धमुक्त जीवों के अनेक भेद हो सकते हैं।

इस प्रकार भोक्ता तत्त्व के रूप में जीव का स्वरूप निम्बार्क-मत में बड़े विस्तार और गम्भीर चिन्तन के रूप में वर्णित हुआ है। निम्बार्काचार्य के अनुसार 'जीव' ज्ञानस्वरूप, धर्मभूत ज्ञान का आश्रय, कर्त्ता, भोक्ता, अस्मदर्थस्वरूप, भगवदाधीन, सर्वदा स्थिति-प्रवृत्तिशील, शरीर-संयोग वियोगार्ह, अणु-परिमाणवाला, प्रतिशरीर भिन्न, असंख्य, अनादि माया परिवेष्टित होते हुए भी पुनः भगवदनुग्रहतः मुक्त हो, अपने असाधारण यावदात्मवृत्ति गुणों से युक्त होता है।

निम्बार्क के उक्त विवेचन से जीवात्माओं के भेद, स्वरूप एवं मान्यताओं के प्रति वेदान्त-परम्परा के यथार्थवादी स्वाभाविक दृष्टिकोण का बोध होता है। प्रत्यक्ष अनुभव की प्रामाणिकता के आधार पर 'जीव' के इस तात्त्विक विवेचन को आचार्य निम्बार्क ने ग्रहण किया है।

❑

उज्ज्वल रस-उपासना और निम्बार्क सम्प्रदाय

ब्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य पंचतीर्थ

उपास्यदेव के सन्निकट पहुँचने एवं उसके अत्यन्त निकट स्थित होने के लिए जो क्रिया, जिज्ञासा, विचार तथा ध्यान आदि किया जाता है, वही उपासना कहलाती है। उसके अनेक भेदोपभेद हैं। वेदों में कर्म और ज्ञान के साथ-साथ उपासना का भी विस्तृत वर्णन है। इसीसे उनके तीनों काण्ड पूर्ण होते हैं।

उपासना क्रियात्मक और ज्ञानात्मक भी है, अतएव जहाँ-जहाँ पर उपासना का स्पष्ट और स्वतन्त्र उल्लेख नहीं मिलता, वहाँ वह क्रिया और ज्ञान उपासना रूप ही कहे जाते हैं। क्योंकि उपासना ज्ञान कर्म दोनों में अनुस्यूत रहती है।

ज्ञान और विद्या दोनों शब्द एकार्थक पर्य्याय प्रसिद्ध हैं। वेदों और उपनिषदों में उपासना के अर्थ में विद्या शब्द का प्रयोग मिलता है, जैसे कि मधु-विद्या, शांडिल्य-विद्या, प्राण-विद्या, भूम-विद्या इत्यादि। ये सब विद्याएँ उपासना ही हैं। उपासना के प्रसंग को लेकर ही वेदों में श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये तीन ब्रह्मसाक्षात्कार के उपाय बतलाये गये हैं, जो भक्ति और उसके साधक उपायों के ही अन्तर्गत हैं।

महर्षि पतंजलि ने जो अष्टांग योग का वर्णन किया है, उनमें ध्यान पर्यन्त सात अंग तो उपासना (अपराभक्ति) के अन्तर्गत है। निर्बीज (निर्विकल्पक) समाधि में ध्येय की सतत स्मृति में ध्याता और ध्यान की स्मृति विलीन हो जाती है, अतः उसे पराभक्ति के अन्तर्गत माना जा सकता है।

जिस प्रकार उपर्युक्त योग दर्शन उपासना के अन्तर्गत हो जाता है, उसी प्रकार पूर्वोत्तर मीमांसा और उनके अन्तर्गत न्याय वैशेषिक एवं सांख्य दर्शन को भी उपासना के ही अन्तर्गत समझना चाहिये।

यद्यपि दार्शनिक और उपासना ग्रन्थों का विस्तार देखकर कुछ व्यक्ति एवं दूसरे को साध्य-साधक बतलाते हुए दर्शन और उपासना की बहुत दूरी मान बैठते हैं और इन दोनों को अत्यन्त भिन्न समझने लगते हैं तथापि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुतः दर्शन और उपासना अत्यन्त सन्निकट ही नहीं हैं, अपितु दोनों का लक्ष्य एक होने के कारण ये एक ही चीज है।

वेदान्त दर्शन के आचार्यों की जितनी भी धारणाएँ हैं वे सब द्वैत-अद्वैत इन दो सरणियों से सम्बन्धित हैं। वेद, उपनिषद्, पुराण आदि शास्त्रों में जीव तथा ईश्वर को किसी रूप से अभिन्न बतलाया है और किसी रूप से भिन्न भी कहा है। इन्हीं दोनों प्रभेदों से आचार्यों की धारणाएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है।

उपास्यदेव से अपने को अभिन्न मानकर जो उपासना की जाती है, वह अद्वैत (अभिन्न) उपासना है, उसी का समर्थक अद्वैत दर्शन है। उपास्य को भिन्न समझकर की जाने वाली उपासना भेदोपासना है और वही द्वैत दर्शन है। स्वरूपतः भेद होते हुए भी जीव की स्थिति-प्रवृत्ति ईश्वर से पृथक् नहीं, अतः अभेद भी है। दोनों ही तात्त्विक हैं।

दार्शनिकों ने लौकिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि के सम्बन्ध में विचार किया है, किन्तु उपासना (भक्ति) ग्रन्थों में उन पर विशेष विचार नहीं किया गया है, केवल अपने उपास्यदेव के गुण-गण और लीला आदि के सम्बन्ध का ही विचार-प्रवाह मिलता है। इसीलिए उनको विशुद्ध भक्ति ग्रन्थ कहते हैं। बस, दार्शनिक और भक्तिग्रन्थों का यही पार्थक्य है। यह कहना असंगत न होगा कि विक्रम से पूर्ववर्ती सूत्रकार, वृत्तिकार तथा उनसे परवर्ती भाष्यकार आचार्य सभी उपासक थे। संस्कृत जगत् के क्रांतिकारी अद्वैतमत प्रचारक आचार्य शंकर के ग्रन्थों में भी उपासना का गहरा पुट मिलता है।

उन्हीं आचार्यों में वेदान्त सूत्रों के वृत्तिकार भगवान् निम्बार्काचार्य हैं। साम्प्रदायिकों की धारणा है कि वे द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ में प्रकट हुए थे। डाक्टर भाण्डारकर आदि कुछ लेखकों ने उन्हें श्रीशंकर और श्रीरामानुज के परवर्ती एवं मध्वाचार्य के पूर्ववर्ती माना था, किन्तु आज के अन्वेषक विद्वानों ने उनकी उस धारणा को भ्रान्त सिद्ध कर दिया है।

डाक्टर भाण्डारकर आदि को वह भ्रम इस कारण हुआ होगा कि उन्होंने श्रीनिम्बार्क आदि आचार्यों के ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया।

श्रीरामानुज से बहुत पूर्ववर्ती वेदान्त भाष्यकार भट्ट भास्कर हो गये हैं, जो शंकराचार्य के प्रायः समसामयिक एवं कुछ ही परवर्ती माने जाते हैं। उन्होंने श्रीनिम्बार्काचार्य के स्वाभाविक द्वैताद्वैत का ही एक रूपान्तर औपाधिक भेदोभेद को अपना कर शांकर मत की कड़ी आलोचना की है। कई स्थलों पर भास्कराचार्य ने श्रीनिम्बार्काचार्य के शिष्य श्रीनिवासाचार्य के कौस्तुभ भाष्य की भी पंक्तियों को अक्षरशः उद्धृत करके उनकी आलोना की है।

इससे स्पष्ट होता है कि श्रीनिम्बार्काचार्य ने भट्ट भास्कर और शंकराचार्य से बहुत पूर्व वेदान्त सूत्रों पर पारिजात सौरभवृत्ति का प्रणयन किया था।

श्रीनिम्बार्काचार्य की जिस प्रकार दार्शनिक आचार्यों में प्रमुखता है, उसी प्रकार भक्ति (उपासना)। प्रचारक आचार्यों में भी उनको महत्त्वपूर्ण विशिष्ट स्थान मिला हुआ है।

यद्यपि श्रीनिम्बार्काचार्य के 'भक्ति चिन्तामणि' 'प्रपत्ति-चिन्तामणि' 'सदाचार प्रकाश' तथा 'उपनिषद् भाष्य' और 'गीता भाष्य' आदि वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, जिनका कि ग्यारहवीं शताब्दी तक के विद्वान् लेखकों ने उल्लेख किया है, तथापि 'वेदान्त पारिजात सौरभ' (ब्रह्मसूत्रों की वृत्ति) वेदान्तकामधेनु (दशश्लोकी), रहस्य षोडशी, प्रपन्न-कल्पवल्ली आदि कई एक महत्त्वपूर्ण उनके ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनसे उनकी विचारधाराएँ स्पष्ट अवगत हो सकती है।

वेदान्तकामधेनु में उन्होंने संक्षेप रूप से भक्ति के दो भेद बतलाये हैं—परा (साध्य रूपा उत्तमा) और अपरा (साधनरूपा)।

प्रकारान्तर से भक्ति (उपासना) को सगुण और निर्गुण रूप से भी विभक्त किया जाता है। लोक में भी सगुण उपासना और निर्गुण उपासना का शब्द—व्यवहार प्रसिद्ध दिखाई देता है, किन्तु सगुण निर्गुण उपासना शब्दों के तात्पर्य समझने में लोगों का बड़ा मतभेद है। कुछ लोग तो ऐसी परिभाषा करते हैं—ब्रह्म (परमात्मा) को निर्गुण मानकर की जाने वाली उपासना ही निर्गुण उपासना है और उन्हें सगुण मानकर जो उपासना की जाती है, वह सगुण उपासना कही जाती है।

किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो सगुण-निर्गुण उपासना का तात्पर्य कुछ और ही है। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। यदि उपास्य (ब्रह्म) में ज्ञान, बल, क्रिया, शक्ति, रूप आदि कोई भी गुण न माना जाय तो फिर उसकी उपासना ही नहीं बन सकती। ऐसी वस्तु का क्या ध्यान किया जाय? ऐसी शून्य-कल्प निर्गुण वस्तु का तो निर्देश करना भी अशक्य है। वस्तुतः ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिनमें नाम—रूपादि कुछ भी न हों। कुछ लोगों ने निर्गुण और निराकार शब्दों को हाऊ बना डाला है। उन्होंने इन शब्दों के ऐसे कल्पित अर्थ कर डाले हैं कि जिन्हें सुनकर साधारण बुद्धिवाले तो डर जाते हैं। इन शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है, इस सम्बन्ध में शास्त्रों का ही योग लेना चाहिए।

निर्+गुण और निर्+आकार आदि समस्त पद हैं। व्याकरण शास्त्र के आचार्यों ने ऐसा नियम व्यक्त किया है कि—निर् आदि अव्ययों का पंचमी विभक्त्यन्ती शब्दों के साथ क्रान्त (अतिक्रमण) आदि अर्थों में समास होता है।

इनका विग्रह (विश्लेषण) इस प्रकार किया जाता है—निर्गतो गुणेभ्यो यः, स निर्गुणः, निर्गत आकारेभ्यो यः स निराकारः। अर्थात् जो समस्त गुणों का अतिक्रमण कर जाय (प्रकृति के सत्व, रज तम तीनों गुणों से लिप्त न हो) वही निर्गुण कहाता है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि समस्त आकारों को जो अतिक्रमण कर जाय अर्थात् इन समस्त आकारों से जिसका आकार बड़ा हो, वही 'निराकार' कहलाता है। निर्विशेष, निर्विकल्प आदि अन्य शब्दों का भी इसी प्रकार विश्लेषण-पूर्वक अर्थ किया जाता है।

व्याकरण शास्त्र के इन शब्दों के उपर्युक्त अर्थ के पोषक उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे—"निर्त्रिंशः निर्गतः त्रिंशेभ्योऽङ्गुलिभ्यो यः स निर्त्रिंशः" अर्थात् तीस अंगुल से बड़े खड्ग को निस्त्रिंश कहना चाहिये।

इसी प्रकार वेदशास्त्रों में परमात्मा का भी पृथ्वी आदि समस्त आकारों से बड़ा आकार बतलाया गया है। कहा है कि इन सब आकारों से वह दश अंगुल बड़ा है। सायणाचार्य आदि सभी भाष्यकारों ने यहाँ के दशांगुल पद को अनन्त अंगुल का उपलक्षण बतलाया है, अर्थात् पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि समस्त आकारों से परमात्मा अनन्त गुणा बड़ा है।

पुरुषसूक्त के आगे के मन्त्रों में और भी स्पष्ट कह दिया गया है कि "इन आकारों वाला यह समस्त विश्व तो उस परमात्मा के एक अंश में ही समाविष्ट है। इतना ही नहीं, ऐसे अनन्त

ब्रह्माण्ड उनके रोम-रोम में लटक रहे हैं और अनन्त ब्रह्माण्डों का यह समस्त संसार उनके उदर में इस प्रकार निहित है, जैसे कि गूलर के फल में कीटाणु स्थित रहते हैं।"

शास्त्रीय प्रमाणों के अनुसार जब अर्थ का सामंजस्य हो जाता है, फिर "निर्गता गुणा यस्मात् स निर्गुणः, एव निर्गत आकारो यस्या स निराकारः" ऐसे विश्लेषणों द्वारा सर्वथा गुण-रहित एवं आकार-रहित उपास्य (ब्रह्म) कैसे माना जाय? वस्तुतः इस अर्थ का द्योतक विग्रहशास्त्र के नियमों से भी विरुद्ध है।

अब निर्गुण-उपासना पर विचार करना चाहिये। श्रीकपिलदेव ने अपनी माताजी को भक्ति-योग के चार रूप बतलाये हैं। उसी प्रसंग में उन्होंने अव्यक्त काल-गति की भी चर्चा की है—

प्रायोचं भक्ति-योगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम्।
कालस्य चाव्यक्तगते र्योनर्थावति जन्तुषु।। (भागवत 3/32/37)

यद्यपि इस श्लोक के मूल पदों में निर्गुण सगुण शब्द का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि टीकाकारों ने 'चतुर्विधं' पद से तामस, राजस, सात्त्विक और निर्गुण इस प्रकार भक्ति का चतुर्विध रूप बतलाया है। श्रीवल्लभाचार्यजी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि—इस समय विष्णुस्वामी के अनुसार जो भक्ति प्रचलित है, वह तामसी है, तत्त्ववादी (मध्वाचार्य) के अनुसार प्रचारित भक्ति राजसी और रामानुज के अनुसार प्रचारित भक्ति सात्त्विकी भक्ति के अन्तर्गत है और हमारे द्वारा प्रतिपादित भक्ति निर्गुण भक्ति है।

वैष्णव-सम्प्रदायों के मूल आचार्य श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादिक, ये चार प्रधान आचार्य माने गये हैं। उन्हीं के अनुगत, श्रीरामानुज एवं श्रीरामानन्द, मध्व, विष्णुस्वामी और निम्बार्क ये चार सम्प्रदाय वर्तमान में प्रचलित हैं। श्री, ब्रह्म, रुद्र ये क्रमशः सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों के अधिष्ठातृ देव हैं। अतः उनका गुणों से सम्पर्क है, किन्तु सनकादिक सब प्रपंचों से मुक्त गुणातीत हैं। अतएव वे निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। तदनुसार ही श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के कई ग्रन्थकारों ने अपनी गणना निर्गुण भक्ति-सम्प्रदाय में की है।

इधर श्रीवल्लभाचार्यजी को बहुत से सज्जन श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदाय के एक सिद्धान्त-प्रचारक आचार्य मान रहे हैं, किन्तु उनकी सुबोधिनी टीका के वचनों से वह धारणा पुष्ट नहीं हो रही है। वे अपने को निर्गुण सम्प्रदाय के प्रतिपादक घोषित कर रहे हैं।

यह निर्विवाद है कि श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीवल्लभाचार्य जी से बहुत पूर्ववर्ती हैं। इसमें किसी को भी आपत्ति नहीं, फिर भी निर्गुण या सगुण किसी भी भक्ति-कोटि में उन्होंने श्रीनिम्बार्क का नामोल्लेख नहीं किया। इसका अवश्य कोई गूढ़ आशय होना चाहिए।

श्रीमद्भागवत के कपिल-देवहूति सम्वाद में कई स्थलों पर निर्गुण-भक्ति की चर्चा है, अतः निर्गुण-भक्ति का सोलहवीं शताब्दी के ही किसी आचार्य ने प्रतिपादन किया हो, यह तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि उनसे पूर्व भी हजारों वर्ष के लम्बे-चौड़े समय में निर्गुण-भक्ति के और भी कई विशिष्ट आचार्य हो चुके हैं।

श्रीमद्भागवत में केवल एक भक्ति (उपासना) ही नहीं, कर्म, ज्ञान, आवास, कर्त्ता, श्रद्धा, सुख, प्राप्य-स्थान आदि को भी सगुण निर्गुण विभागों में विभक्त किया है। उनके कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

कर्म—जो अपना कर्तव्य समझकर किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म कहलाता है। फल की इच्छा से किया हुआ राजस और हिंसात्मक कार्य तामसिक कर्म कहलाता है। जो कर्म प्रभु के निमित्त एवं उनके अर्पण कर दिया जाये, उसे निर्गुण कर्म कहना चाहिये।

ज्ञान—निश्चित ज्ञान को सात्त्विक, संकल्प-विकल्पात्मक को राजस और प्राकृतिक सांसारिक ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं। भगवत्सम्बन्धी ज्ञान को निर्गुण ज्ञान कहते हैं।

आवास—वन काननों के निवास को सात्त्विक ग्राम के वास को राजसी और जहाँ द्यूत आदि खेल होते हों, वहाँ के निवास को तामस आवास कहते हैं। भगवान् के मठ-मन्दिरों में रहना निर्गुण आवास-स्थान कहलाता है।

कर्त्ता—जो आसक्ति न रखकर कार्य करे वह सात्त्विक, राग-पूर्वक कार्य करने वाला तामस कर्त्ता कहलाता है, भगवान् का अवलम्ब लेकर जो कार्य करता है, वह निर्गुण कर्त्ता (कारक) कहलाता है।

श्रद्धा—अध्यात्म-विषयिणी श्रद्धा सात्त्विकी कहलाती है। धार्मिक कर्ममयी राजसी और अधर्ममयी श्रद्धा तामसी कही जाती है। भगवत्सेवा-सम्बन्धी श्रद्धा को निर्गुण श्रद्धा कहते हैं।

सुख—अपनी अन्तरात्मा में उद्भूत होने वाले सुख को सात्त्विक सुख कहते हैं, सांसारिक विषयों से मिलने वाले क्षणिक सुखों को राजसी सुख कहते हैं और मोह, दैन्य आदि से प्रतीत होने वाला सुख तामसी सुख कहलाता है। जो भगवान् की लीला, गुण स्वरूप आदि के चिन्तन से सुख मिलता है, वह निर्गुण सुख कहलाता है। इसी प्रकार प्राणान्त होने पर प्राप्तव्य स्थलों का भी स्पष्टीकरण किया गया है—

सत्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति, नरलोकं रजो लयाः।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः।। (भागवत 11/25/22)

अर्थात् सत्वगुण की प्रधानता में प्राणान्त होने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, रजोगुण की प्रधानता में मृत्युलोक और तमोगुण की प्रधानता में जिनका प्राणान्त होता है वे नरकों में जाते हैं। भगवान् का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ने वाले निर्गुण (परमात्म तत्त्व) को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार निर्गुण-सगुण की विवेचना के पश्चात् भगवान् ने उद्धवजी से कहा है—हे सौम्य! चित्त में उद्भूत होने वाले तीनों गुणों को जीत कर मुझमें अटूट श्रद्धा रखने वाला प्राणी निर्गुण भक्ति योग के द्वारा मुझे प्राप्त होता है। इसीलिए ज्ञान-विज्ञान-प्रादुर्भूत होने योग्य मानव तन को प्राप्त करके तीनों गुण और उनसे प्रकट होने वाले कार्यों (विषयों) से आसक्ति हटाकर विचक्षण भक्त मेरा निरन्तर भजन करते हैं।

भागवतकार के शब्दों में निर्गुण भक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

मद्गामश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।। (भा. 3/29/11-12)

श्रीकपिलदेवजी ने कहा है—हे मातः! मेरे (भगवान् के) गुणों को सुनते ही मुझ सर्वान्तर्यामी में मन की गति अविच्छिन्न (अटूट) हो जाय, यही निर्गुण भक्ति-योग का लक्षण है। वह अव्यवहित (निरन्तर) हो और अहैतुकी (निष्काम) हो।

इन सब ऊहापोहों के आधार पर यह निश्चित होता है कि गुणहीन उपास्य की उपासना निर्गुण उपासना नहीं कहला सकती, प्रत्युत सगुण-साकार परमात्मा की निष्काम और निरन्तर स्मृति वाली भक्ति को ही निर्गुण भक्ति मानना उचित है।

श्रीनिम्बार्काचार्य के भक्ति-चिन्तामणि और सदाचार-प्रकाश आदि जिन ग्रन्थों का नामोल्लेख प्राप्त होता है, सम्भवतः उसी सदाचार-प्रकाश का परवर्ती आचार्यों ने सार-मात्र संग्रहण करके एक ग्रन्थ लिखा होगा। वही आज 'सदाचार सार संग्रह' नाम से उपलब्ध होता है, जो अमुद्रित है। उसमें श्रीमद्भागवत और नारदीय पुराण आदि आर्ष ग्रन्थों के आधार पर भक्ति का विशद विवेचन किया गया है। वहाँ नारदीय पुराणोक्त दशविधा भक्ति को सगुण व निर्गुण इन दोनों प्रभेदों में अन्तर्भाव कर निर्गुण भक्ति को ही उत्तमोत्तमा संज्ञा दी गई है—

महिमानं हरेर्यस्तु किंचिच्छ्रुत्वाऽपि यो नरः।
तन्मयत्वेन सन्तुष्टः सा भक्तिश्चोत्तमोत्तमा।।
अहमेव परो धिष्ण्यमयि सर्वमिदं जगत्।
इति यः सततं पश्येत्तं विद्यादुत्तमोत्तमम्।।

भगवान् की साधारण महिमा को भी सुनकर जो साधक तन्मय एवं सन्तुष्ट हो जाय और उस तन्मयता में अपनी विस्मृति खोकर भगवद्भाव का अनुसंधान होने लगे, भगवान् ही सर्वाधार है, उन्हीं में यह समस्त जगत् स्थित है, इस प्रकार की निरन्तर अनुभूति होती रहे, उसी भक्ति को उत्तमोत्तमा निर्गुण एवं परा फलरूपा भक्ति कहते हैं। इसी भक्ति का नाम अहैतुकी भी है—

अपनी अंतरात्मा में ही आनन्दित रहने वाले संदेह-रहित मुनिजन भगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य के अनुवर्ती शिष्य-प्रशिष्यों में श्रीनिवासाचार्य, श्रीऔदुम्बराचार्य, श्रीपुरुषोत्तमाचार्य, श्रीदेवाचार्य, श्री सुन्दर भट्ट, श्रीकेशव काश्मीरी आदि बहुत से आचार्यों ने भक्ति आदि विषयों पर अपने-अपने ग्रन्थों में प्रकाश डाला है। उनके पश्चात् श्रीहरिव्यास देवाचार्य ने स्वरचित 'सिद्धान्त रत्नांजलि' (दशश्लोकी-टीका) में भक्ति का विशद विवेचन किया है। रति के अनन्तर उद्भूत होने वाली भक्ति के सम्बन्ध में दो प्रभेद चित्र (चार्ट)

निर्धारित होते हैं। उनमें एक के अनुसार 82 और दूसरे के अनुसार 142 भक्ति के प्रभेद सिद्ध होते हैं।

भक्ति के रसों (भावों) पर विचार

इस विषय के विवेचक साहित्यकारों ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शांत और वात्सल्य—इस प्रकार से दश रस माने हैं।

यद्यपि भक्ति की प्रक्रिया में भी इन सबका समावेश हो सकता है, तथापि भक्ति-रस के वेत्ताओं ने—शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य, उज्ज्वल, भक्ति के ये पाँच रस माने हैं। इन्हीं में उन दशों का भी समावेश किया जा सकता है। शांत, वात्सल्य और शृंगार नाम से उज्ज्वल इन तीन का तो स्पष्ट नाम निर्देश है ही।

जिस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने वात्सल्य रस को भरतादि मुनियों का सम्मत मान कर उल्लेख किया है, उसी प्रकार श्रीहरिव्यास देवाचार्य ने पाँच रसों का उल्लेख रस-वेदियों के मतानुसार किया है।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में परम्परागत प्रधानता किस रस की है? इस सम्बन्ध में कुछ लोग अनेक तर्क उपस्थित करते हैं। उनका आक्षेप है कि इस सम्प्रदाय में उज्ज्वल रस की उपासना श्रीहरिव्यासदेव के भी बहुत पश्चात् अपनाई गई है, क्योंकि सोलहवीं शताब्दी के पूर्व उज्ज्वल (शृंगार) रस की उपासना का उल्लेख श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य तथा अन्य ग्रन्थकारों ने नहीं किया। इस हेतु को माध्यम बनाकर कुछ लोग श्रीहितहरिवंशजी, श्री स्वामी हरिदासजी आदि सोलहवीं शताब्दी के महानुभावों को ही शृंगार रस-उपासना के प्रवर्तक सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि भक्ति के उन पाँच रसों की चर्चा श्रीरूप गोस्वामी के पूर्व किसी ने की ही नहीं।

किन्तु ये तर्क और शंकाएँ भ्रांति-मूलक हैं या प्रतिस्पर्धा के कारण ऐसे प्रयत्न किये जा रहे हैं। श्रीनिम्बार्काचार्य ने भी प्रकारान्तर से इन रसों का संकेत किया है। शांत-रस तो सामान्य रूप से सभी में अनुगत रहता ही है, अतः दास्य, वात्सल्य, सख्य और उज्ज्वल क्रमशः इन चारों का उन्होंने उल्लेख किया है। उनके उदाहरण—भृत्य, पुत्र, प्रिया और मित्र ये चारों दिये हैं।

टीकाकार श्रीसुन्दर भट्टाचार्य ने रहस्य षोडशी की व्याख्या में निर्माधिकता के तारतम्य को दिखलाते हुए उन रसों के उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया है।

साधारण व्यक्ति की अपेक्षा वेतन भोगी भृत्य का अपने स्वामी में आत्मीय भाव अधिक रहता है। पुत्र का अपने पिता में एवं पिता-माता का अपने पुत्र में उस (भृत्य) से भी अधिक आत्मीय भाव रहता है, अतः दास्य भाव की अपेक्षा वात्सल्य की कोटि ऊँची है। अर्धांगिनी एवं पति की पारस्परिक आत्मीयता और भी अधिक रहती है, अतः सख्य भाव की कोटि वात्सल्य से भी ऊँची है। सच्चे मित्रों के भावों में पूर्वोक्त तीनों उदाहरणों में निर्माधिकता अधिक रहती है, अतः यह उज्ज्वल रस कहा गया है।

सख्य और उज्ज्वल रसों की विशेष सन्निकटता है, अतः उपनिषदों में कहीं-कहीं इन दोनों के उदाहरण एकत्र भी मिलते हैं। दो मित्र पक्षी एक वृक्ष पर बैठे हुए हैं। उनमें से एक मित्र स्वयं तो उस वृक्ष के फलों का उपभोग नहीं करता, किन्तु दिखा-दिखाकर अपने दूसरे मित्र को स्वादिष्ट फलों को चखाता रहता है।

श्रीहरिव्यासदेवजी की महावाणी में भी इसी सख्य और मित्र भाव का वर्णन है। तत्सुख-सुखी भाव वाली सखियाँ अपने परमप्रिय उपास्य देव श्री श्यामा-श्याम की अहर्निश इसी भाव से सेवा करती है। उन्हीं यूथेश्वरी सखियों के अवतार स्वरूप श्रीनिम्बार्क और उनसे परवर्ती आचार्यों की एक लम्बी परम्परा का भी उन्होंने अपनी महावाणी में कई स्थलों पर उल्लेख कर दिया है।

साहित्य-ग्रन्थों में उल्लेखित दश रसों में शृंगार रस प्रधान माना गया है। इधर भक्ति के रसों में उज्ज्वल रस की प्रधानता है। यद्यपि दोनों की परिभाषाओं में कहीं-कहीं बहुत कुछ अन्तर दिखाई देता है, तथापि अधिकांशतः एकता के लक्षण मिलते हैं, इसीलिए विवेचक विद्वानों ने इस रस को उज्ज्वल, मधुर, शृंगार रस कहा है।

जिस प्रकार साहित्यिकों ने वत्सल रस को मुनि (भरत मुनि) सम्मत माना है, उसी प्रकार श्रीहरिव्यासदेव जी ने भी 'रस-वेदिभिः' शब्द द्वारा भरत मुनि आदि रस-वेत्ताओं का संकेत किया है।

पुराणों के कुछ अंशों को चाहे आलोचक विद्वान् कितना ही अर्वाचीन मानें, किन्तु पुराणों का पूरा कलेवर सर्वथा आधुनिक नहीं कहा जा सकता। इनके मूल अंश अवश्य पुराने ही हैं। इन सब पुराणों में श्रीमद्भागवत को विशेष सम्मान प्राप्त है।

आधार-आधेय एवं भोग्य-भोक्ता रूप भेद के अनुभव से जो आत्मानुभव करते हैं आध्यात्म-शांत रस उपासक भक्त माने जाते हैं।

जो उपासक ब्राह्मण और चाण्डाल चोर, सूर्य विस्फुलिंग अक्रूर आदि सब में समदृष्टि भाव से ब्रह्म का अनुभव करते हैं, उन्हें सिद्ध अर्थात् अभेद शांत रस सम्पन्न भक्त कहते हैं।

वह अभेद तात्त्विक, दैविक, प्रापंचिक भेद से 3 प्रकार का माना गया है। उनके समर्थक क्रमशः—

"**यदन्ति तत्तत्त्वविदः, ब्रह्मेति परमात्मेति.** (भा. स्क. 2)

अहमात्मा गुडाकेश! (गी. 17) **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि.** (गी. 13)

सर्वं खल्विदं ब्रह्म. (छा. उ.) **दृष्टं श्रुतं भूत भवद्भविष्यत्** (भागवत) इत्यादि वचन उपलब्ध होते हैं।

शांत रस सम्पन्न भक्तों के लक्षण श्रीमद्भागवत में कई स्थलों पर बतलाए गए हैं—वे अकिंचित्वितेन्द्रिय समुचित और यथालाभ संतुष्ट रहते हैं। अतएव उनके लिए दशों दिशाएँ

सुखमय बनी रहती हैं और कामनाओं की तो बात ही क्या, मुक्ति की भी वे लालसा नहीं रखते, अतएव स्वयं भगवान् उनके पीछे पीछे फिरा करते हैं।

दास्य रस

विषयालम्बन—सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् परम कारुणिक शरणागत पालक भक्तवत्सल श्रीकृष्ण।

आश्रयालम्बन—अर्जुन, उद्धव, परीक्षित् आदि।

उद्दीपन विभाव—भक्त, तुलसी, पदचिह्न, गुण, गोपीचन्दन, प्रसादी मालाचन्दन आदि।

अनुभाव—करुणा आदि।

सात्त्विक भाव—(1) स्तम्भ, (2) स्वेद, (3) रोमांच, (4) वेपथु, (5) स्वरभंग, (6) वैवर्ण्य (7) अश्रु, (8) प्रलय।

संचारी—हर्ष, गर्व आदि।

स्थायी भाव—स्नेह आदि।

वियोग में मरणान्त-दशा दशाएँ—ताप, कृशता, जगत्यालम्ब, अधृति, जडता, व्याधि, उन्माद, मूर्छा, मरण।

विशेष—दास्य भाव दो प्रकार का होता है—(1) स्वाभाविक खानपानादि एवं जप ध्यानादि अपने समस्त कार्य प्रभु को अर्पित कर देना। (2) सदा सर्वदा प्रभु का कैंकर्य करते रहना।

यदि जन्म जन्मान्तरों के पश्चात् भी प्रभु के प्रति दासभाव हो जाय तो वह व्यक्ति समस्त लोकों का उद्धार कर सकता है—

जन्मान्तरसहसे तु यस्य स्याद् बुद्धिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वलोकान् समुद्धरेत्।। (नारदीय पुराण)

दास भाव का आलम्बन भी गुरु-शिष्य, नारदीय पुराण पिता-पुत्र छोटे बड़े भाई, स्वामी-सेवक और राजा प्रभाव भाव, इन पाँच भावों से किया जा सकता है। जैसे कि गुरुदेव में ही श्रीकृष्ण का भाव रखना इत्यादि।

वात्सल्य रस

विषयालम्बन—कोमलांग, कलभाषी, सर्वलक्षण संयुक्त कौमार श्रीकृष्ण।

आश्रयालम्बन—नन्द, उपनन्द, रोहिणी यशोदा आदि।

उद्दीपन विभाव—स्मित, जल्पित, चेष्टित आदि।

अनुभाव—अंगाभिमार्जन, आशीर्वाद, निर्देश, लालन, पालन आदि।

सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद आदि सर्वमान्य।

व्यभिचारी—हर्ष, शोक आदि।

स्थायी—वात्सल्य।

वियोग में दश दशा—ताप आदि।

दास्य और वात्सल्य दोनों में पार्थक्य—दास्य भाव वाला भक्त प्रभु से कृपा चाहता है, किन्तु वात्सल्य भाव वाला भक्त स्वयं प्रभु पर कृपा किये रहता है और वह माता-पिता, बड़े भाई, गुरु एवं राजा की भाँति प्रभु का लालन-पालन करता रहता है।

वात्सल्य रस के द्रावक—देखने, पूछने, सुनने और आदर करने से वत्सल रस द्रावित होता है।

सख्य रस

विषयालम्बन—चतुर शिरोमणि, सत्य संकल्प, मेधावी, सुन्दर सुवेश द्विभुज श्रीकृष्ण।

आश्रयालम्बन—मधु-मंगल, सुबल आदि सखा समूह।

उद्दीपन विभाव—अंग, वेत्र आदि।

अनुभाव—रहन-सहन, सोना-बैठना एवं भोजनादि एक साथ करना कराना। विविध-विचित्र परिहास, विहार, वाह्य वाहक भाव आदि क्रीड़ायें।

सात्त्विक—स्तम्भादि।

संचारी—हर्षगर्वादि।

स्थायी रति—सख्य।

वियोग में—मरणान्त दश दशाएँ।

सख्य भाव के 3 भेद हैं—साध्य, अध्यात्म, सिद्ध। प्रकारान्तर से उपेत, अपेत, व्यवसित आदि अनेकों प्रभेद हैं। उपेत का अर्थ समीप रहने वाला, अपेत दूर रहने वाला, व्यवसित-निश्चित। उपेत समीप ही रहने वाला। उस उपेत के भी दो प्रभेद हैं। 1. नाम का मानने वाला। 2. नामी से भी नाम को अधिक मानने वाला। अपेत (सखा) दूर रहने वाले तीन प्रकार के होते हैं—1. असख्य विद् 2. विषमी, 3. विज्ञाभिमान दग्धधी। इस प्रकार बहुत से प्रभेद बतलाये गये हैं।

उज्ज्वल रस

विषयालम्बन—कमनीय एवं किशोर मूर्ति श्रीकृष्ण।

आश्रयालम्बन—श्रीकृष्ण की प्रियायें एवं सखियाँ।

उद्दीपन विभाव—गुण, वंशीरव, वसन्त ऋतु, कोकिल आदि।

अनुभाव—कटाक्ष-स्मित आदि।

सात्त्विक—स्तम्भ आदि।

व्यभिचारी—आलस्य, उग्रता आदि को छोड़कर निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं।

स्थायी—प्रियता रतिः।

प्रियाओं के प्रभेद

परतन्त्रा, स्वतन्त्रा।

नित्य देखने वाली, दर्शनों की इच्छा वाली, दर्शनेच्छुका, संगेच्छुका, वरेच्छुका।

सिद्धान्त रत्नांजलिकार ने भक्ति के भेदोपभेदों को दो विकल्पों में निम्नांकित प्रकार से बतलाया है—

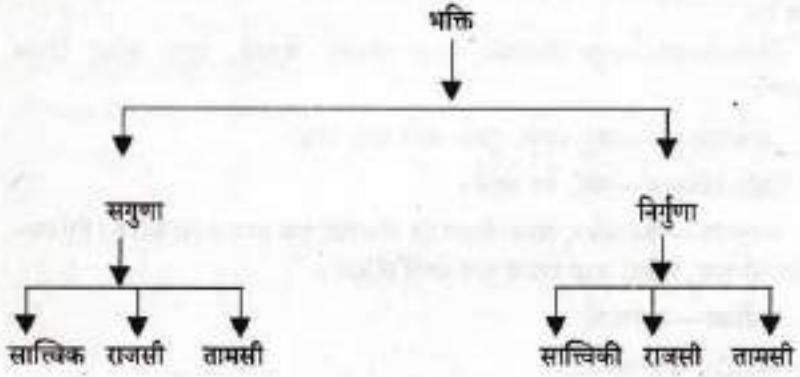

उपर्युक्त नवधा सगुणभक्ति के श्रवण कीर्तन आदि नव-नव भेद किये जाने पर 81 प्रभेद होते हैं। ऐसे निर्गुण भक्ति सहित भक्ति के 82 प्रभेद सिद्ध होते हैं।

रति के अनुसार प्रादुर्भूत होने वाली भक्ति के 142 प्रभेद किये गये हैं।

सिद्धान्त रत्नांजलि (वेदान्त कामधेनु की टीका) के अनुसार भक्ति के दो भेद हैं—विहिता एवं अविहिता। विहिता भक्ति के 6 प्रकार—फलरूपा, साधनरूपा, कामजा, द्वेषजा, भयजा, स्नेहजा। इस प्रकार इसके अन्य भेद भी किये गये हैं। आत्यन्तिकी प्रेमलक्षणा दुर्लभा है। इसे भी आगे सगुण व निर्गुण भेद से दो प्रकार का माना है जो ज्ञानमिश्रा, वैराग्यमिश्रा, कर्ममिश्रा कहलाती है। इनको भी उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा के रूप में विभाजित किया गया है।

❑

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय और सखीभाव की उपासना

बाबा दीनशरण दास

"If the soul is to go into higher spiritual Blessedness thou must become a women." Cardinal Newman.

श्री राधा-कृष्ण की सखीभाव की उपासना-पद्धति अत्यन्त प्राचीन है, जिसका आरम्भिक रूप गवेषणा करने पर श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में ही मिलता है। कितनी शताब्दी पहिले के श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायी आचार्यगणों में कोई-कोई सखीभाव की उपासना करते थे तथा इस बात का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में विशेष रूप से हुआ है।

श्रीनिम्बार्काचार्य के उपास्य श्रीकृष्ण हैं, जिनके वामांग में श्रीवृषभानुजा स्थित हैं, (दश श्लोकी 4/15) अर्थात् श्रीनिम्बार्क युगलस्वरूप के उपासक हैं। श्रीनिम्बार्क के गुरु देवर्षि नारदजी थे। श्रीस्तवावली ग्रन्थ में आचार्यपाद ने श्रीराधा का एक विशेषण दिया है—"नारद प्रमुखोद्गीते जगदानन्दि सद्यशः" श्री नारदमुनि श्रीराधा का जयगान करते हैं। अर्थात् निम्बार्क सम्प्रदाय में सद्गुरु श्रीनारदजी थे, जो युगल उपासक थे।

श्रीरामानुज, श्रीमध्वाचार्य, श्रीविष्णु स्वामी आदि कोई भी युगल उपासक नहीं थे। श्रीकेशवभट्ट के मतानुसार भी श्रीनिम्बार्क ऐतिहासिक युग में सर्वप्राचीन वैष्णवाचार्य हैं। श्री केशवभट्ट ही श्री केशव काश्मीरी नाम से विख्यात हुए। इनका समय श्री चैतन्य महाप्रभु से बहुत पहले पड़ता है।

श्री केशवभट्ट (काश्मीरी) निम्बार्क सम्प्रदाय के एक श्रेष्ठ आचार्य थे। ये प्रस्थानत्रयी के व्याख्याकार भी थे। इनके शिष्य श्री 'श्रीभट्टजी' ने 'युगल शतक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह हिन्दी भाषा का अतुलनीय ग्रन्थ है। युगल शतक का एक पद है—

हिंडोरे झूलत हैं प्रिय प्यारी।
श्रीरंगदेवी सुदेवी विशाखा झोटा देत ललितारी।

यहाँ ललिता का अर्थ ललिता आली या ललिता सखी है। श्रीभट्ट जी 'हितू' सखी के अवतार माने जाते हैं। इन्हीं के समय से श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय में सखी-भाव की उपासना विशेष रूप से प्रचलित हुई, जो सखीभाव की उपासना का ही प्रकारान्तर है। श्री नरोत्तम ठाकुर महाशय ने लिखा है—

जीवने मरणे गति राधाकृष्ण प्राण-पति" (बंगला)

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में श्रीराधाकृष्ण को प्रिया-प्रियतम कहा जाता है। बोल-चाल की भाषा में श्री स्वामी-स्वामिनी सम्बोधन ज्ञात होता है।

श्री श्रीभट्टजी के पूर्व सखीभाव की उपासना-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ रचा गया था या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। श्री जयदेव लक्ष्मणसेन के समसामयिक थे, जिनका समय ईस्वी की 12-13वीं शताब्दी था। उन्होंने श्रीराधा-कृष्ण की रहस्य-लीला का वर्णन किया है। इसी से अनुमान किया जाता है कि वे भी सखी-भाव के उपासक थे। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के निजमत सिद्धान्त ग्रन्थ में श्री जयदेव निम्बार्क सम्प्रदायी ही कहे गये हैं।

श्री भट्टजी के उपास्य श्रीराधा-कृष्ण श्रीरंगदेवी आदि सखियों द्वारा सेवित बताए गए हैं। उन्होंने श्रीराधा-कृष्ण को ललितादि सखियों द्वारा सेवित ही क्यों कहा? इस प्रश्न का उत्तर किसी के भी द्वारा सम्भव न होता, यदि श्री श्रीभट्टजी के शिष्य श्रीहरिव्यास देवाचार्य जी "सिद्धान्त रत्नांजली" में श्रीनिम्बार्क को श्री रंगदेवी का अवतार होने का सुसंवाद न देते।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में दो शाखाएँ हैं—एक शाखा के मत से श्रीनिम्बार्क सुदर्शन-चक्र के अवतार थे। वे श्री द्वारिकाधीश वासुदेव के परिकर में थे एवं श्री रुक्मिणी-वल्लभ के उपासक थे। अन्य शाखा के मत से वे श्रीरंगदेवी के अवतार थे, जो कि ब्रज के राधा-कृष्ण के सखी-भाव के उपासक थे। यह सिद्धान्त श्रीहरिव्यास देव द्वारा ही विशेष रूप से प्रचलित एवं प्रचारित हुआ। श्रीहरि व्यास देवाचार्य जी का 'महावाणी' नामक विराट् ग्रन्थ ही श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की सखीभाव की उपासना का प्रधान अवलम्बन है। साक्षात् भगवत् प्रेरणा को छोड़कर इस प्रकार के ग्रन्थ की रचना सम्भव नहीं है। ग्रन्थ में सखी नाम रत्नावली सर्व पठनीय है। इसमें तीस सखियों की वन्दना की गई है। श्रीराधाकृष्ण की प्रधान सखियाँ श्रीरंगदेवी आदि ही हैं। उनकी प्रत्येक की आठ सखियाँ है तथा उन आठों की भी प्रत्येक की आठ-आठ सखियाँ हैं। इस प्रकार कुल संख्या 584 होती है। इन सभी के नाम 'महावाणी' ग्रन्थ में दिये हैं। इनसे भिन्न भी अनेक सखियों की कथा है।

इतनी सखियों के होते हुए भी केवल तीस सखियों की वन्दना की गई है। इस विषय में जिज्ञासा हो सकती है। इसका उत्तर यही है कि श्रीनिम्बार्क भगवान् से लेकर श्रीहरिव्यासदेवजी के गुरु-पर्यन्त आचार्यों की संख्या 30 ही है।

वे सब जिन सखियों के अवतार हैं, उन्हीं की वन्दना की गई है।

श्रीहरि व्यास जी ने स्वरचित 'सिद्धान्त रत्नाजंली' ग्रन्थ के दास्यभक्ति प्रकरण में लिखा है—

निम्बादित्यावतारात्मा रंगदेवी तदाकृतिः।

श्रीरंगदेवी श्रीनिम्बार्काचार्य की मूल-स्वरूप हैं। श्रीनिम्बार्क श्रीरंगदेवी के अवतार स्वरूप है।

श्री आचार्यगणों को प्रणाम करने के अनन्तर कहा है कि श्रीनिम्बार्करूप आचार्य को प्रणाम करता हूँ। स्वीयगुरु आपके परम्परागत दो रूप हैं। आपके गुरु श्री नारदमुनि का 'स्निग्धा' नामक सखीरूप है। सनकादिक जैसे हरिणी, हारिणी, हीणा एवं हरिता नामक

सखीरूप है। उसी भाव से आपके भी श्रीनिम्बार्क एवं रंगदेवी ये दो रूप प्रकाश में हैं। आप रंगदेवी रूप से श्रीराधा के वामपार्श्व में अवस्थित हैं।

श्रीरंगदेवी की आठ सखियाँ

कलकण्ठी, शशिकला, कमला, कन्दर्पा, हितसुन्दरी, कामपत्रा, प्रेम-मंजरी और प्रेमदा। कलकण्ठी, शशिकला और कमला—इनके आठ करके चौबीस एवं कन्दर्पा के वल्लभा से लेकर हितू पर्यन्त छः। इस प्रकार कुल सखियों की संख्या तीस है। यह सब यथाक्रम श्रीनिवास जी से लेकर श्रीभट्टजी पर्यन्त तीस आचार्य रूप अवतीर्ण हुए। ऐसा संसार के लिए एक अभिनव सुसंवाद है। लेकिन श्रीव्रजवासी सम्प्रदायी रसिक भक्त-जन को छोड़कर अन्यत्र रहने वाले अन्यान्य सम्प्रदायी लोगों को यह सब अज्ञात है। उपरोक्त प्रकरण सभी वैष्णव-सम्प्रदायों में उद्घोष पूर्वक प्रचरित होना चाहिए।

श्रीहरिव्यासदेवजी ने महावाणी ग्रन्थ के सिद्धान्त सुख में योगपीठ का जो विवरण दिया है, उसमें भी रंगदेवी श्रीराधा के वामपार्श्व में अवस्थित हैं। श्रीभट्टदेवजी के युगल-शतक में भी ऐसा ही इंगित है। भक्त-जनों को अनुसंधान करके रसास्वादन करना चाहिए।

श्री सनकादिक ज्ञानशक्त्यावेश के अवतार हैं। श्रीनारदमुनि भक्त्यावेश के अवतार है। श्रीनिम्बार्क सुदर्शन-चक्र एवं श्रीरंगदेवी के अवतार हैं। श्री श्रीभट्ट जी हितूसखी के अवतार हैं। श्रीनिम्बार्क से श्री श्रीभट्ट पर्यन्त सभी श्रीराधा-कृष्ण की सखियों के अवतार हैं, यानी उनकी नित्य लीला के परिकर में ही हैं। ऐसी हृदय-स्पर्शी वार्ता अन्य किसी भी वैष्णव सम्प्रदाय के विषय में नहीं ज्ञात होती।

सखी-भाव की उपासना श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में कितनी प्राचीन हैं एवं उसका क्या रूप हैं, उसका इस संक्षिप्त आलोचना द्वारा यथेष्ट आभास मिल जायगा, ऐसी आशा है।

❑

निम्बार्काचार्य और उनकी युगल उपासना

श्री विष्णुप्रसाद शर्मा

पवित्र व सरस वृन्दावन धाम में पुष्पित, पल्लवित एवं फलित विभिन्न वैष्णव मतों में आध्यात्मिक दृष्टि से भेदाभेदवादी निम्बार्काचार्य का मत बहुत प्रसिद्ध एवं बहुचर्चित है। आचार्य निम्बार्क द्वारा प्रति स्थापित इस मत में उपास्यदेव राधाकृष्ण हैं, जो सर्वेश्वर के नाम से विशेषत: उल्लेखित किये जाते हैं।

श्यामसुन्दर के वामांग में विराजित सहस्रों रूप, गुण सम्पन्न समवयस्का सखियों से भली प्रकार सेवित, प्रसन्न बदना, नित्य रास विहारिणी श्रीराधा को निम्बार्काचार्य ने सर्वेश्वर श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं माना।

"य: कृष्ण: साऽपि राधा (च) या राधा-कृष्ण एव स:।" कृष्ण एवं राधा में भेद या न्यूनाधिक तो देखना ही नहीं चाहिये, वे तो एक रूप हैं और वास्तव में भेद-बुद्ध भक्ति रस का आस्वादन ही नहीं कर सकती।

निम्बार्काचार्य ने राधाकृष्ण की एक रूपता का वर्णन करते हुए लता गुल्मों से आच्छादित, माया एवं काल से रहित, इस परम पावन सरस वृन्दावन धाम को उनकी नित्य लीला का प्रिय स्थान बताया है और लीला के समय यमुना पुलिन में ऐसा लगता है कि यमुना तो रास रस को पाकर अपने सहज गाम्भीर्य को छोड़ लहरों से अपनी आनन्दमयता का दर्शन कराती है और वल्लरियों से आलिङ्गित पादप अपनी पुष्पाच्छादिता में हिलकर रसपान करते हुए झूम उठते हैं एवं ब्रजभूमि की सौभाग्यमयता तो सबसे अधिक स्पष्ट ही है।

यह सत्य है कि सच्चा भक्त कभी भी अपनी प्रशस्ति पसन्द नहीं करता, अत: मैं यह चाहूँगा कि आचार्य निम्बार्क की युगल उपासना पर ही अधिक ध्यान दिया जाए।

ब्रजभूमि में सर्वत्र ही राधा कृष्ण पावन लीलायुक्त चरण रखे गये हैं, अत: ब्रजभूमि की सब रेणु परम पावन है। सच्चिदानन्दमय सरस ब्रज में नित्य विहार परायण श्रीराधेश्याम सदा एक-दूसरे में तन्मय रहते हैं। ब्रजेन्द्रनन्दन रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण प्रेमातुर हो, प्रिया के चरणों में मस्तक तक झुका लेते हैं। श्रीकृष्ण को अपनी आराधना से मोहित करने के कारण ही श्रीराधा का राधा नाम सार्थक है।

श्री राधिकाजी नवलकिशोर कृष्ण की अनुपम रूप माधुरी का निरन्तर पान करती हुई रोमांचक, स्वेद, प्रकम्प आदि सात्त्विक भावों से युक्त हो प्रेमानन्द में विभोर बनी रहती है। इस प्रेम में क्षण मात्र का भी विघ्न नहीं होता है, वरन् निरन्तर औत्सुक्य भाव रहता है—

मुकुन्दानुरागेण रोमाञ्चिताङ्गैः
रहं वेप्यमाना तनु स्वेद-बिन्दुम्।

महाहार्द-वृष्ट्या कृपापाङ्ग-दृष्ट्या,
समालोकयन्तीं कदा त्वां विचक्षे।।

नारदसूत्र में यह स्पष्ट घोषणा की गयी है कि प्रेम का स्वरूप वर्णन से परे है, वह तो गूँगे के गुड़ के समान मात्र आस्वादन का ही विषय है।

अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप मूकास्वादनवत् इस प्रेमरस का आस्वादन कहाँ होता है, इस प्रश्न का मात्र एक ही उत्तर है कि प्रेम के स्वरूप का यदि कोई जिज्ञासु अनुभव करना चाहे तो वह सभाव हो, ब्रज की केलि-निकुञ्जों में होने वाली नित्य की श्री राधामाधव की रास-क्रीड़ाओं का भक्ति-भाव से अवलोकन करे। वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा अपने प्यारे श्यामसुन्दर के साथ नित्य (सर्वदा ही) ब्रज में वास करती हैं।

ब्रजन्ती स्ववृन्दावने नित्यकालं
मुकुन्देन साकं विधायाङ्ग-मालम्।।

ये दोनों ही सौन्दर्य की सीमा हैं। इनके सौन्दर्य की एक कणिका मात्र से ही सारा संसार अपने सौन्दर्य को संजोये हुए अवस्थित है। सौन्दर्य वह है, जो क्षण-क्षण में नवीनता प्राप्त करता है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति,
तदैव रूपं रमनीयतायाः।

सौन्दर्य में आकर्षण यही होता है कि प्रतिक्षण वह नवापन प्राप्त करता है। सूरदास ने इसी प्रसंग में श्रीकृष्ण के ऐसे ही अनुपम सौन्दर्य को देखकर यह पद लिखा—

स्याम सौं काहे की पहिचान।
निमिष निमिष वह रूप,
न वह छबि रति की जै जिय जानि।
एकौ पल सोभा की सींवाँ,
सकति न उर महँ आनि।।

श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीराधा संयुक्त श्रीकृष्ण की मधुर उपासना के साथ ही उपासक के लिए सखी-भाव जैसे सर्वोत्कृष्ट उदात्त भाव का भी आदेश दिया। श्रीमद्भागवत महापुराण आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं के साथ ही गोपी भाव की सर्वाधिक महत्ता स्थापित हो चुकी थी। ब्रह्मा और उद्धव जैसे परम ज्ञानी लोग भी गोपी भाव की प्राप्ति के लिए लालायित दिखाई देने लगे थे। ज्ञानी शिरोमणि उद्धव के भाव देखिये—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।।

नित्य लीला परायण श्रीराधामाधव की उस प्रेममय तन्मय लीला के अवलोकन से आनन्दानुभूति हेतु उद्धव ब्रज की कोई लता, कोई वृक्ष आदि हो जाना चाहते हैं।

सखी-भाव में उपासक अपने सुख की प्राप्ति की कामना नहीं रखता है। सखी-भाव में तो तत्सुख-सुखीत्व की भावना ही होती है। इसी को आचार्य निम्बार्क ने इसी सखी-भाव का अपने वेदान्त-कामधेनु ग्रन्थ में उल्लेख भी किया है—

सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्ट-कामदाम्।।

श्रीराधे श्यामसुन्दर की सखियाँ भी अति रूप गुण से सम्पन्न ही हैं, जो अपने प्यारे श्यामसुन्दर एवं प्यारी राधिकाजी की प्रत्येक इच्छा को स्वतः ही जानकर वैसा ही उपाय करती हैं एवं राधामाधव भी इन अभिन्न हृदया सखियों की इच्छा के अनुरूप ही लीला करते रहते हैं। निम्बार्काचार्य अभिप्रेतानुसार इन सखियों का विशेष झुकाव वृषभानुनन्दिनी राधारानी की ओर ही रहता है, वैसे तो वे दोनों की ही आराधना करती रहती हैं। राधारानी की उत्कृष्टता बताते हुए आचार्य निम्बार्क ने यह कहा है कि श्रीकृष्ण भी प्रिया के पादारविन्द की सदा वन्दना करते हैं।

प्रातर्नमामि वृषभानुसुतापदाब्जं,
नेत्रालिभिः परिणुतं व्रज-सुन्दरीणाम्।
प्रेमातुरेण हरिणा सुविशारदेन,
श्रीमद्व्रजेशतनयेन सदाभिवन्द्याम्।।

अतः जिह्वा के अग्रभाग पर सदा ही राधामाधव का नाम स्फुरित होता रहे एवं आँखों से राधेश्याम की छवि दीखती रहे, कानों से गुणानुवाद सुनाई देता रहे। निम्बार्काचार्य ने राधारानी को ही अधिक महत्त्व दिया है, वे कहते हैं कि राधाजी के कृष्ण पूर्णरूप से वश में हैं, अतः वृषभानुनन्दिनी की कृपा प्राप्त कर लेने पर श्यामसुन्दर सिरमौर तो स्वतः ही कृपावर्षक हो जायेंगे।

किसी साध्य को पाने के लिए जिस प्रकार किसी साधन की आवश्यकता अनिवार्य होती है, उसी प्रकार राधा मदनगोपाल की प्राप्ति के लिए श्रीराधा की अति निकट अवस्थिति ललिता की कृपा पाना अनिवार्य है—उनकी कृपा वे सीढ़ियाँ हैं, वह कड़ी हैं, जो राधामाधव से जोड़ देती है—

श्री ललिता पर कमल जुग, सुमिरौं बारहिं बार।
जासु कृपा लवलेस तैं, होत सकल निरधार।।
नाम लिए वृन्दाविपिन, तपनि मिटै तत्काल।
अनायास हियं आवहीं, राधा मदन गुपाल।।

सेवा का मुख्य अधिकार राधारानी का अभिन्न हृदया ललिताजी के ही हाथ है और सहचरी सखियाँ सदैव उनके साथ सेवा में तत्पर हैं—

सेवा कौ अधिकार मुख्य ललितादिक हार्थैं।
अपर सहचरि वृन्द कहे ते इनकें सार्थैं।।

ललितादि सखियाँ युगल राधेश्याम सुन्दर की रूपमाधुरी की ललित भावमय चर्चा करती रहती हैं, जिससे रसिकजन अतिसुख का अनुभव करते हैं। ललिताजी कहती हैं कि हे सखियों! व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की रूप माधुरी सुनो, जिसे जैसे रुचि उसी प्रकार दर्शित की, परन्तु फिर भी सौन्दर्य का पार नहीं पाया और यह भी बात है कि रूप माधुरी का वर्णन करे बिना कोई रहा भी नहीं। कृष्ण पीताम्बर कमर में राधारानी के प्रेम के विस्तार हेतु ही है।

पिया तन दुति बरन,
अंबर पीत पट कटि देखिये।
प्रीति की अति अवधि,
ऐसी देखतें सुख लेखिये।।
अति गम्भीर त्रिवली,
उदर डोलत स्वास तें सुख।
वक्ष परम विसाल उमगत,
प्रिया नेह विलासते।।

कृष्ण के सिर पर सुषमा युक्त किनारों वाला मुकुट है और टोपी भी पहने हैं, केसरी फेंटा बाँधे हैं।

मुकुट बहां पीड ऊपर धरयौ सुषमा छोर है।
केसरी फेंटा सज्यौ झुकि दाहिनी कछु और है।।

ललिता सखी राधामाधव की लीला में सहायक हैं। वे राधाजी के अनुपम सौन्दर्य को देखकर आनन्दानुभूति करती हुई उनको दरपन स्वच्छ करके दिखाती हैं।

रूप नख सिख देखि ललिता,
अधिक उर आनन्द छयौ।
स्वच्छ पौंछि बनाय दरपन,
विहसि मुख सनमुख कियौ।।

ललिताजी विनय भाव से वृषभानु-नन्दिनी ब्रजरानी राधाजी एवं श्यामसुन्दर रसिक शिरोमणि से अति आनन्द प्रदायिनी झाँकी देने की अभिलाषा करती हुई कहती हैं, तब राधाजी ने नेत्र निमीलन कर मन्दर स्मितावस्था में यह कहा कि तुम्हें यही एक ही उत्कट अभिलाषा निरन्तर बनी रहती है, तो ललिताजी ने प्रिया राधिकाजी को बार-बार प्रणाम किया और प्रमुदित होकर सुष्ठु भाव से सहृदय होकर पैर पकड़ लिए।

निम्बार्क मतावलम्बी श्रीकृष्णदासजी ने इस सारे वर्णन को इस प्रकार से सजाया है—

और विनती एक सुनिये,
डीट ह्वै अति भार वहीं।
निरावर नित जुगल झाँकी,
दीजिये अभिलाखहीं।।

सुनि प्रिया कछु नैंन मूँदे,
मन्द हंसि बोली अली।
रैन दिन मन में तुम्हारे,
इहै है री घरबसी।।
बार-बार प्रणाम करि,
कर जोरि ललिता सुख भरी।
सहचरि भरि मोद अति,
हिय सकल मिलि पायन परी।।

उपरिलिखित वर्णन से स्पष्ट है कि राधाजी की सभी अभिन्न हृदया अति निकटभूता सखियाँ निरन्तर सेवा-परायण हो राधामाधव की प्रेमयुक्त सरस, आनन्ददायिनी रासलीला को कराने में ही तत्पर रहती हैं एवं अपने प्रयासों में सफल भी होती रहती हैं—

मध्य को पट दूरि कीन्हो,
भयो जै जैकार हैं।
दस दिसा वें कुसुम बरखा,
होत मंगलचार हैं।।
प्रिया प्रियतम नेह पूरे,
अरस परस निहारहीं।
रूप के दोइ सिन्धु उमगे,
लहरि भुजा पसारहीं।।

और प्रिया-प्रियतम का यह मिलना वह मिलन है, जिसमें प्रेमातिरेक है। अन्तों में मिलन हेतु शैथिल्य आ जाता है। इसके विपरीत नयनों में एक टकता आ जाती है। दोनों-दोनों के सौन्दर्य को अवलोक ठगे से सब कुछ प्राप्त करते हुए स्थिर हो जाते हैं एवं आलिंगनबद्ध होकर बहुत सुख का अनुभव करते हैं ललितादि सखियाँ उस समय की कान्ति को सरसानुभूति के साथ देखकर जैसे उसमें समा जाती है।

अष्ट ललिता आदि लै,
औ सहचरि समुदाय हैं।
ता समैं की छवि उर धरी,
ते रहीं तहाँ समाय हैं।।

तभी कुछ देर में आँखें खुलने पर वे दोनों सभी सखियों की ओर देखने लगते हैं, तब ललिताजी निकट आकर नमन कर दोनों के मध्यम में दरपन दिखाती हैं, तब निज-निज रूप लख अति सुख पाकर संकेतों से भाव प्रदर्शन करते हैं। आचार्य निम्बार्क इसी अनवरत निर्बाध लीला को ही मानों सखी रूप होकर भक्ति भाव से देखते रहते हैं।

❑

युगल-शतक का काव्य-शिल्प

डॉ. श्रीनारायणदत्त शर्मा

यह साम्प्रदायिक शास्त्रोक्त परम्परा पर आधारित एक मुक्तक काव्य ग्रन्थ है, जिसमें 100 पद हैं। विषय-क्रम से यह ग्रन्थ 6 वर्गों में विभाजित है, जिन्हें 'सुखों' की संज्ञा दी गई है। उनका क्रम और पद-विस्तार निम्न प्रकार है—

1. सिद्धान्त—सुख...1-10 पद
2. ब्रजलीला—सुख...11-36 पद
3. सेवा सुख...37-52 पद
4. सहज—सुख...53-73 पद
5. सुरत—सुख...74-81 पद
6. उत्साह—सुख...82-100 पद

इस विषय विभाजन में निम्बार्कीय सिद्धान्तों एवं तात्त्विक विचारों की सहज अभिव्यक्ति हुई है। परम उपास्या और उपास्य श्रीश्यामा-श्याम के अनन्य प्रेम की एकान्त निष्ठा, सरस अध्यात्मपरक रसोपासना का मूर्तिमान् प्रतीक नित्य-विहार, भक्तों को तल्लीन कर देने वाली ब्रजलीला, प्रणय, कोप, मान, विरह और उत्कट भक्ति-भावना इस ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य हैं।

"सिद्धान्त-सुख—श्रीभट्टजी की ऐकान्तिक प्रेम निष्ठा, युगलकिशोर की शरणागति, वृन्दावन-महिमा, सेव्य तत्त्व आदि सरस सैद्धान्तिक अभिव्यक्तियों का प्रतीक है। इसके प्रथम पद में ही वे अपने आराध्यदेव की सेवा का अभेद्य कवच पहिन कर निर्भय होने की घोषणा कर देते हैं। यहीं तक नहीं, उनकी साधना से यमराज भी भयभीत हैं—

मदन गुपाल शरण तेरी आयो।
चरन कमल की सेवा दीजै,
चेरी करि राखौ घर जायो।
धनि-धनि मात-पिता सुत बन्धु,
धनि जननी जिन गोद खिलायो।।
धनि-धनि चरन चलत तीरथ कौं,
धनि गुरु जिन हरि नाम सुनायो।
श्री भट के प्रभु दियो अभय पद,
जम डरप्यौ जब दास कहायो।

नित्य विहार के चतुर्व्यूहात्मक विधायक तत्त्वों में श्रीवृन्दावन सर्वविशिष्ट तत्त्व हैं, जो विदग्धा नागरिशिरोमणि श्रीराधा और रसिकशेखर श्रीकृष्ण की रति क्रीड़ा को स्फुरित करने वाला केन्द्र बिन्दु है। उनके नित्य-विहार का यह एक मात्र धाम है। ध्याता, ध्येय और ध्यान का मूल अभिप्राय है उन युगलकिशोर का अविच्छिन्न सान्निध्य प्राप्त करना, यह परम अभिप्रेत अथवा मनोरथ तभी सम्भव है, जबकि साधक को वृन्दावन से सहज अनुराग हो। इस धाम की कुछ ऐसी महिमा है कि उसका नाम लेते ही श्रीश्यामा-श्याम अपना सान्निध्य प्रदान कर प्रणय रति को आस्वाद्य कर देते हैं। वृन्दावन पर कोटिशः कोमल और स्निग्ध मखतूलें न्यौछावर हैं।

जय जय वृन्दावन आनन्द मूल।
नाम लेत पावत जु प्रनै रति,
युगल किशोर देत निज कूल।
सरन जाय पाये राधाधव,
मिटी अनेक जन्म की भूल।।
ऐसे हि जानि वृन्दावन श्रीभट,
रज पर वारौं कोटि मखतूल।।

युगल-शतक (पद-5) में सेव्य तत्त्व का वर्णन बहुत ही सरल एवं स्पष्ट रूप से किया गया है। वे विविध निकुंजों में एक रस प्रणय केलि क्रीड़ा प्रमत्त श्रीकिशोर-किशोरी की सुखद मूर्तियों के उपासक हैं। सखी-भाव का अभीष्ट उन श्यामाश्याम का नित्य विहार देखना ही है।

सन्तो! सेव्य हमारे श्री पिय प्यारे,
वृन्दाविपिन विलासी।
नन्दनन्दन वृषभानुनन्दिनी,
चरन अनन्य उपासी।।
मत्त प्रनै बस सदा एक रस,
विविध निकुंज निवासी।
जै श्री भट्ट युगल वंशीवट,
सेवत मूरति सब सुखरासी।।

समस्त ब्रज भूमि प्रदेश श्रीभट्टजी को नितान्त मन-मोहक लगता है। उसकी निकुंजें, उसका वृन्दावन-धाम, यमुना जल, मधुर भाषिणी गोकुल-बधुएँ, ब्रजराज, ब्रजेश्वरी सभी तो एक से एक मोहक और आकर्षण के केन्द्र हैं।

ब्रजलीला-सुख

इस प्रसंग के अन्तर्गत वंशीवादन, गोपियों की दर्शनोत्कण्ठा, अधीरता, निकुंज में भोजन, युगल विहार, त्रिभंगी मुद्रा, रास विलास, श्रीकिशोरीजी का आरसी (दर्पण) में अपनी छवि देखकर उसे परपत्नी जानकर मान करना, दम्पती-मिलन प्रभृति प्रेम प्रधान विषयों का वर्णन है। प्रातः बड़े तड़के श्रीनन्दननन्दन ने सुखद वंशी बजाई। शैया पर अचेत

पड़ी सखी उस मुरली के अलाप को सुनकर जग पड़ी और प्रातःकालीन उस जागरण बेला में वंशी की उस मनोमोहक स्वर लहरी से उसके मन में हरिदर्शन की ऐसी उत्कट अभिलाषा जागृत हो गई कि वह शैया पर पड़ी न रह सकी और वंशीवादक के दर्शनों को चल पड़ी—

श्रवननि सुनि जागी अरी,
या मुरली को घोर।
कहा री करौं मन हरयौ सांवरे,
ललित बजाई भोर।
रह्यौ न परे चटपटी लागी,
बिन देखे नन्द किशोर।
(जै) श्रीभट्ट हठ न रहो नागरि कौ,
सुरति धरी हरि ओर।।

निम्बार्क सम्प्रदाय में राधाकृष्ण का नित्य दाम्पत्य भाव गृहीत है। ऐसा करने से इष्टदेव के लौकिक आलोचनात्मक इंगितों से सुरक्षा रही है। स्वकीया के साथ जागतिक प्रणय केलि क्रीड़ाओं के सम्पन्न करने में चारित्रिक दृष्टि से आपत्ति उठाने को अवकाश नहीं होता, वैसे भी बाह्य रूप से प्रणय केलि क्रीडाओं की कोटि में आने वाली समस्त चेष्टाएँ अपने आभ्यन्तर रूप में आध्यात्मिक है, जिन्हें भावना के द्वारा ही हृदयंगम किया जा सकता है। श्रीभट्टजी ने श्रीराधा के स्वकीया भाव का सुन्दर समा बाँधा है—

गोपाललाल दूलह ग्वाल बराती।
गौवन आगे सखिन यूथ में,
राधा दुलहिन लाल गवाती।।
दुंदुभि दूध दोहन की बाजी,
राजी सब गोप सजाती।
आरति पलक नेह जल मोती,
श्रीभट रूप पिवाती।।

सेवा-सुख—युगल-शतक के सेवा-सुख में श्यामाश्याम की अष्टयाम सेवा का विधान है। प्रातः मंगला, शृंगार, बीरी, भोग, दुग्ध-पान, राजभोग, उत्थापन, ब्यालू, रात्रि शैया, चंवर-ढोरन उनमें मुख्य हैं। गोपियाँ युगल-किशोर की सहचरी हैं, नित्य-विहार उनका परम काम्य है। तदन्तर्गत प्रातः से निशागम तक इन्हें सेवा के अनेक स्वर्णिम अवसर मिलते हैं। ये कभी राजभोग की व्यवस्था करती हैं तो कभी दुग्ध-पान की। सोने के समय शय्या रचना और चंवर ढोरना उनका ही काम है। निकुंज रन्ध्रों से किशोर-किशोरी की केलि-क्रीड़ा का अवलोकन उनका परम काम्य है।

ब्यारू की बेर अबेर न कीजिए जू,
बलि जाऊँ थर थोरी।

कब की बाट देखि नन्दनन्दन,
मैं तबही तें मिश्री फोरी।।

सहज-सुख

इस सुख के अन्तर्गत युगल शोभा, यमुना तट विहार, वृन्दावन विहार, मुरली हरण, प्रियाजी से मुरली याचना आदि विषयों का प्रतिपादन है और सभी स्थान सजीव एवं प्रेम सौन्दर्य से ओतप्रोत हैं। युगलकिशोर की अभिन्नता सर्वत्र व्याप्त है। इसमें श्रीश्यामा-श्याम की सहज शोभा, सौन्दर्य एवं केलि-क्रीड़ा परक भावों की सहज अभिव्यक्ति हुई है। मुरली याचना करते हुये श्रीकृष्ण की विवशता दर्शनीय है—

राधे विनय करत मोहि मुरली दीजै।
बिनु दामनु मनु मोल लियौ हौं,
जो भावै सो कीजै।
शयन पान सब सुधि बिसराई,
इतनी करुणा लीजै।।
जै श्रीभट सुघर किशोर किशोरी,
अरस परस रंग भीजे।।

सुरत-सुख

सुरत-सुख के अन्तर्गत 8 पद हैं, जिनमें रसोपासना के बीज-मंत्र नित्य-विहार का वर्णन है। नव-निकुंज में दम्पती विलास, युगल-रहस्यालाप, चरण पलोटन, युगल केलि, श्यामा-श्याम शयन, प्रिया मुख सुषमावलोकन और मोहन मन-मोहन नित्य विहार के ही अन्तर्गत हैं। भक्तजन सहचरी के रूप में लौकिक काम क्रीड़ाओं से मुक्त आभ्यन्तर रहस्य भावना प्रवृत्त प्रिया-प्रियतम के नित्य-विहार को कुंज रन्ध्रों से देखने में अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं। उनको आनन्दित करना ही युगल किशोर की नित्य केलिक्रीड़ा का प्रमुख ध्येय है—

रस की रेलि बेलि अति बाढ़ी।
दम्पती की हित बावरि विहरति,
रही सदा मेरे चित चाढ़ी।
निरखत रहौं निपट हित कारिनि,
पिय प्यारिनि की गुनगति गाढ़ी।
जै श्रीभट अति उत्कट संघट सुख,
केलि सहेलि निरन्तर बाढ़ी।।

'युगल-शतक' में उपलब्ध नित्य-विहार का यह सजीव एवं सांगोपांग वर्णन हमारी दृष्टि में नितान्त मौलिक है और परवर्ती कवियों का दिशा-दर्शक रहा है।

उत्सव-सुख—समस्त उत्सवों के प्रेरक और प्रमुख नायक हैं श्रीयुगलकिशोर। अतः उत्सव सुख के अन्तर्गत ब्रज क्षेत्र के परम प्रिय उत्सव वसन्त, होली, जल-केलि, वर्षा, हिंडोला, पवित्रा-एकादशी, प्रिया-प्रियतम की मंगल-बधाई, रास आदि उत्सवों का बहुत उत्साह पूर्ण वर्णन है। ऋतुराज वसन्त का वर्णन अत्यधिक सजीव एवं सप्राण बन पड़ा है। वसन्तागम में वृन्दावन, श्रीकृष्ण, श्रीराधा, गोपियाँ सभी नवीन हैं। कहाँ तक कहा जाय, सर्वत्र राशि-राशि में नवीनता बिखरी पड़ी है। वसन्त का नवोन्मेष कण-कण पर छा गया है।

नवल वसंत नवल श्रीवृन्दावन,
नवलहिं फूले फूल।
नवलहि कान्ह नवल सब गोपी,
निरतत एकै तूल।।
नवलहि साखि जवादि कुमकुमा,
नवलहि बसन अमूल।
नवलहि छींट बनी केशरि की,
मेटत मन्मथ शूल।।

वसन्त के पश्चात् होली आई। उसी का लाभ लेकर सहचरीगण कुछ कर डालने को उतारू हैं। श्रीराधा सखीजन के साथ महल से निकलीं, वहीं श्रीकृष्ण भी आ गये, फिर क्या था? सबसे पहले श्री राधाजी ने अपनी लम्बी भुजा करके उनके मुख पर गुलाल मला, फिर रंग भरी कमोरी झमक कर उनके ऊपर पलट दीं, जिससे उनके अंग प्रत्यंग रंग से भीग गये। फिर गुलाल का बुक्का उनके ऊपर चलाया। एक साथ इतने वारों से श्रीराधा की विजय और श्रीकृष्ण की पराजय समझी गई। गोपियाँ गालियाँ गाने लगीं, इतने में कृष्ण ने पिचकारी सम्भाली तो श्रीराधा ने उनका मुख लेपन कर दिया, फिर क्या था, सभी गोपियाँ ठट्ठा मारकर हंसने लगीं। श्रीभट्ट रंग भरी रसमयी होली में निरन्तर प्रहरों तक चलने वाले घात-प्रतिघातों के सजीव चित्र अंकित करने में सफल हुए हैं।

सब हँसी लसीं कर देय ताल,
कहि ऊँचे सुर हारे गुपाल।

होली के अनन्तर जल-यात्रा तो रस का फन्दा डालने वाली ही समझिये और वर्षा तो बसन्त से भी अधिक सुखदायिनी है। श्रीभट्टजी के श्यामा-श्याम वर्षा की रिमझिम में वन में भीगते हुए एक खाई के आवरण से ढके यमुना तट पर वर्षा विभोर हो रहे हैं—

ठाढ़े दोउ एकहि खुइयाँ माहीं।
वंशीवट वट यमुना जल में,
निरखत चंचल झाँहीं।
कारी कमरिया अन्तर दम्पती,
श्यामा-श्याम लपटाहीं।।

इस प्रसंग में श्रीभट्टजी के लोक प्रसिद्ध पद 'भीजत कब देखौं इन नैना' में श्रीराधाकृष्ण की झाँकी का भक्तों को स्मरण हो आना सर्वथा स्वाभाविक ही है।

वर्षा समाप्त होने पर शरद ऋतु आई। मेघमाला का वातावरण स्वच्छ हो गया। चाँदनी छिटकने लगी। यमुना की नव-बालुका मन हरने लगी, उस पर रमण करने, रास-विलास करने और विचरण के लिए मानों हिलोर उठने लगी, शुचि-सुगन्ध समन्वित पवन मान और तान को बढ़ाने लगा। ऐसे मादक वातावरण में श्यामा-श्याम कालिंदजा कूल पर विहार करते हुए अत्यन्त शोभित हो रहे हैं।

फूली कुमुदनि शरद सुहाई।
यमुना तीर धीर दोउ विहरत,
कमल नील पीत कर माई।
नील वरण श्यामा रुचि कीनी,
अरुण वरणता हरि मन भाई।।
(जै) श्रीभट लपटि रहे अंसन कर,
मानों मरकत कनक जराई।।

इसके अनन्तर श्रीभट्ट जी ने श्यामा-श्याम के परिणय उत्सव का भी अत्यन्त प्रसन्न और उत्साह वर्द्धक वर्णन किया है। इस प्रकार उत्साह-सुख प्रेम और आनन्द विभोर करने वाली भावावली से सर्वथा पूर्ण हैं।

'युगलशतक' में संगृहीत पदों के अतिरिक्त श्रीभट्टजी के तीन पद और प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'रे मन वृन्दाविपिन निहार' शीर्षक पद युगल उपासना का मूलाधार माना जाता रहा है। कवि अपनी युगल निष्ठा के भावावेश में कहने लगते हैं—'विपिन राज सीमा के बाहर हरिहू कौं न निहार' प्रियाजी से अलग होकर मिलने पर वह भाव कहाँ?

एक प्राचीन हस्तलिखित संग्रह में बसन्त वर्णन का—

आयो बसंत बोले किशोर।
संग में लिए श्यामा जु भोर।।

13 चालों का पद मुझे अभी प्राप्त हुआ है, जो इस बात का द्योतक है कि श्रीभट्टजी की रचनाओं के कुछ अंश अभी भी इधर-उधर अन्धकार में छिपे पड़े हैं। देववाणी में रचित उनका श्रीकृष्ण शरणापत्ति स्रोत तो युगल-शतक के साथ प्रकाश में आ चुका है।

भाषा शैली

श्रीभट्टजी प्रायः ब्रज-प्रदेश में ही रहे, अतः उनके 'युगल-शतक' में सुमधुर ब्रजवाणी का ही प्रयोग दीख पड़ता है। इनकी भाषा का रूप परम दिव्य और परिष्कृति पूर्ण है।

भाषा की सानुप्रासिकता, उसकी सजीवता, सरलता, स्निग्धता एवं मधुर भावों को पूर्णरूपेण अभिव्यंजित करने में सक्षम है।

भक्ति कालीन कवियों की प्रारम्भिक स्वच्छता, पवित्रता और सरलता उनकी भाषा में प्राप्त है। उत्तर भक्ति कालीन कृत्रिमता, शब्दों की तोड़-मरोड़ और बरबस लालित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति से उनकी भाषा सर्वथा मुक्त है। अन्य प्रादेशिक बोलियाँ, जैसे अवधी, बुन्देलखण्डी अथवा विदेशी अरबी, फारसी शब्दों से भी वह सर्वथा शून्य है। भाषा की वे सभी विशेषताएँ उसकी प्राचीनता और भट्ट की भाषा मर्मज्ञता और निष्कपटता की द्योतक हैं।

शैली की दृष्टि से भी श्रीभट्टजी ब्रज भाषा के प्राचीन कवि सिद्ध होते हैं। किसी भी भाषा की प्रथम रचनाओं में पहले छोटे-छोटे छन्द एवं सरस भावावली का ही प्रयोग होता है। दोहा इस दिशा में सर्वथा अग्रणी माना जाता है। 'युगल-शतक' के सभी छन्दों में पहले दोहे में भाव विशेष की अभिव्यक्ति हुई है और तदनन्तर उसी भाव का छोटे-छोटे पदों में विस्तार किया गया है। यह प्राचीन परिपाटी है। युगल-शतक के पद श्री भट्टजी के संगीतज्ञान पर भी अच्छा प्रकाश डालते हैं। अनेक राग-रागनियों और इकताल, तिताल, चौताल आदि ताल विषयक निर्देश भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

श्रीभट्टजी और संगीत

श्रीभट्टजी हिन्दी भक्ति साहित्य के आरम्भिक कवियों में से थे। उनके पूर्व संगीत की जीवन के विविध क्षेत्रों में बड़ी दुर्दशा थी। संगीत जीवन से बहुत दूर पड़ गया था। उन्होंने इस बीच की विशाल खाई को पाटने का कुशलता से प्रयास किया। उनके काव्य के रूप में जीवन का सौन्दर्य ऊपर उभर आया और जनसमुदाय को आकर्षित करने लगा। श्रीभट्टजी ने प्रमुखतः शांत और उज्ज्वल रस में ही लिखा है। वैदिक काल की विशद संगीत परम्परा का मध्य कालीन कवियों से तारतम्य स्थापित करने में वे बीच की एक शृंखला हैं। उनकी रचनाओं में काव्य और संगीत के अद्भुत मिश्रण के हिन्दी साहित्य में प्रथम दर्शन होते हैं। उनके समय से पूर्व ध्रुपद की गायन पद्धति प्रचलित हो चुकी थी, अतः उन्होंने ध्रुपद शैली को ही अपनाया। उनके पदों में टेक का भी अस्तित्व है। इस कारण ऐसा लगता है कि वे ध्रुपद शैली के पोषक नहीं हैं परन्तु उनके पद ख्याल की अपेक्षा ध्रुपद के अधिक निकट हैं। मूल में बात यह है कि श्रीभट्टजी ने अपनी शैली में ध्रुपद की विशेषताओं के साथ भजन एवं संकीर्तन शैलियों का समावेश किया है। ऐसा उनके प्रधान रूप से भक्त होने के कारण हुआ है। श्रीभट्टजी भक्त, गायक और कवि तीनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। उनके काव्य का उद्देश्य संगीतात्मकता के साथ भक्ति पथ की रमणीयता की ओर साधकों को आकर्षित करते हुए उनके कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना था। अतः सभी दृष्टियों से विक्रम की 15वीं शती के अन्त और 16वीं शती के आरम्भ के दो दशाब्दों के वे अनुपम रत्न और कृष्णभक्ति के अपने परवर्ती कालीन कवियों के प्रमुख प्रकाश स्तम्भ थे। श्रीभट्टजी ने राग केदारो, राग गौरी, सारंग, विलावल, विहागरो, रामकली, काफी, रायसो, कान्हरो, मारू, बसंत और मल्हार केवल 11 रागों का प्रयोग किया है। इनकी गायकी भी तालगत विशेषताओं से उनके कुछ नवीन प्रयोग भी दृष्टिगत होते हैं।

श्रीभट्टजी की एक दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने रागों के विस्तार में भावों की उपेक्षा नहीं की है। भावों और रागों—दोनों का उन्होंने अनूठे ढंग से सामंजस्य किया है। कुछ राग तो ऐसे होते हैं, जो एक क्या अनेकों रसों में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु कुछ ऐसे होते हैं, जो विशिष्ट रस एवं भावों के ही अनुकूल पड़ते हैं। श्रीभट्टजी ने रागों की गायन पद्धति में कालक्रम का भी विशेष ध्यान रखा है। प्रात:काल की लीलाएँ राग बिलावल में तथा अन्य विहागरों, कान्हरो अथवा केदारों में आई हैं। फाग और होली वर्णन में राग बसन्त, झूलना तथा हिंडोला वर्णन में राग मल्हार एवं उत्साह पूर्ण भावों में राग मारू का प्रयोग किया है।

सारांश यह है कि श्रीभट्टजी ने भारतीय संगीत के उन्नयन और विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। श्रीभट्टजी के पश्चात् वृन्दावन में भारत के प्रसिद्ध एवं अमर गायक स्वामी श्रीहरिदास जी का आविर्भाव हुआ। श्रीभट्टजी की साम्प्रदायिक परम्परा में संगीत के उत्थान और विकास प्रसार की दृष्टि से श्रीहरिव्यासदेव, रूपरसिकदेव, परशुरामदेव, नरहरिदेव, रसिकदेव आदि कई प्रसिद्ध संगीताचार्य हुए। वल्लभ सम्प्रदाय के सूरदास प्रभृति अमर गायकों की कला साधना में श्रीभट्टजी की कला की प्रेरणा का योगदान स्वीकार करना पड़ेगा।

अलंकार और रस योजना—श्रीभट्टजी के काव्य में जहाँ एक ओर भाव चित्रण की स्वाभाविकता है, वहाँ दूसरी ओर उनका रस वर्णन और अलंकार योजना भी स्वाभाविक ही है। उनके अलंकार कहीं भावोद्रेक में सहायक हैं तो कहीं रस की अनुभूति में योगदान करते हुए देखे जाते हैं। चमत्कार चातुर्य की प्रवृत्ति उनमें तनिक भी नहीं है। अलंकार अपने स्वाभाविक रूप में आये हैं। भाषा की सानुप्रासिकता के कारण अनुप्रास की बहुलता होते हुए भी भाषा बोझिल और अस्वाभाविक कहीं भी नहीं है। समतामूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अलंकारों का उनके काव्य में बाहुल्य है, विभावना, असंगति, विशेष, विरोध अथवा विशेषण सूचक अलंकार भी उन्होंने प्रयुक्त किये हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

उपमा—

जै जै श्री वृषभानु किशोरी।
राजत रसिक अंक अंकित सी,
लसी श्याम संग गोरी।।

उत्प्रेक्षा—

रंग ढोरि कमोरी झमकि झिम्ब,
नीलाम्बर मानों चपला बिंब।
भरि धरच्यौ रंग गोकुल सुचन्द,
करभनि सुकेलि मनु मद गयंद।

कैतवापह्नुति—

खेलें वारि बिहार बिहारिणी।
रुचि रंजन भंजन मिस लीला,
रसिक लाल रुचि कारिणी।

विशेष—

हो राधे वृषभानु की, कुंवरि किशोरी बाल।
थोरी वय भोरी हिये, मोहे मोहन लाल।

असंगति—

श्री भट भानु कुंवारि कौं, रस वर्द्धन यह मान।

यमक—

बने बन ललित त्रिभंग बिहारी।
बंशी धुन मानों बनसी लागी आई सब गोप कुमारी।

रूपक—

गोपाल लाल दूलह ग्वाल बराती।
गौवन आगे सखिन यूथ में,
राधा दुलहिन लाल गवाती।
दुंदुभि दूध दोहन की बाजी,
राजी सब गोप सजाती।।
आरति पलक नेह जल मोती,
श्रीभट रूप पिवाती।।

बाधकधर्मलुप्ता—

करत पलक निज पाँवड़े रूप विमोहित बाल।

विभावना—

लड़ैती के खंजन लोचना।
बिनु ही अंजन दिये बिहारी, विरह व्यथा उरमोचना।

सारांश यह है कि भाषा, भाव, रसानुभूति, व्रजलीला, निकुंज लीला वर्णन, शब्द मैत्री और अलंकार योजना सभी दृष्टियों से श्रीभट्टजी का काव्य सर्वथा निर्मल एवं पवित्र मन्दाकिनी की धारा के सदृश है, जिसमें भक्ति भाव की बहुमुखी छोटी-छोटी धाराओं ने आकर उनकी युगल किशोर निष्ठा को सर्वतोभावेन पुष्ट किया है। उनकी भक्ति भावना का निम्न पद में सुन्दर चित्रण हुआ है—

निशि दिन लगी रहो यह लालस।
श्यामा-श्याम चरण की सेवा,
बिना आन सौं उपज्यो आलस।
कहत सुनाय सुमन बध क्रम करि,
उरझि रहे जिस जुग जस आलस।
जय श्रीभट्ट प्रघट घटना में,
ढरौ सदा मन मोर सुढालस।।

अनन्यज-प्रेम की अपूर्व निष्ठा

भारत के सुप्रसिद्ध तीर्थ श्रीजगन्नाथपुरी (उड़ीसा) के महाराजाधिराज (अभी कुछ दिनों पूर्व जिनका वैकुण्ठवास हो गया है) बड़े ही कट्टर सनातनधर्मी नरेश थे। एक बार की बात है कि महाराजा साहब शेर, चीते आदि जंगली बर्बर जानवरों का शिकार खेलने की दृष्टि से जंगल में गये। अपने मंत्री को भी अपने साथ में ले गये। गर्मी के दिन थे। शिकार की तलाश में घूमते-घूमते जंगल में रास्ता भूलने से भटक गये। घोड़े पर सवार थे। ठीक दोपहर का समय था। गर्मी भी उस दिन बड़ी तेज पड़ रही थी। शरीर से पसीना छूट रहा था। उसी समय दोनों को बड़ी जोर की प्यास लगी। कण्ठ सूखा जा रहा था।

चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर देखा, पर न तो वहाँ आस-पास कोई नदी ही दिखाई दी और न कोई कुआँ-बावड़ी तालाब आदि ही दिखाई दिया। आस-पास कोई गाँव भी दिखाई नहीं दिया, जहाँ जाकर दोनों पानी पीकर अपनी प्यास बुझा सकें। अब तो महाराजा साहब और मंत्री दोनों ही बड़े घबड़ाये। प्यास के मारे बड़े ही व्याकुल हो उठे, पानी की तलाश में चलते-चलते कुछ दूरी पर एक गाँव दिखाई पड़ा तो मंत्री ने कहा 'राजन्! वह सामने गाँव दिखाई पड़ता है। जल्दी से घोड़े को दौड़ाओं और गाँव में चल करके पानी पीओ।'

राजासाहब और मंत्री ने अपने-अपने घोड़े दौड़ाये और जैसे-तैसे गाँव के समीप पहुँचे। दोनों ने एक कुएँ के पास पहुँच वृक्ष से घोड़ों को बाँध दिया। पानी खींचने के उद्देश्य से मंत्री ने कुंए पर पड़े डोल को अपने हाथ में उठाया और ज्यों ही मिट्टी से माँज कर जल खींचने के लिए उसे कुंए में लटकाया त्योंही उस गाँव के एक भंगी की स्त्री अपने सिर पर विष्ठा का टोकरा लिए उधर आ निकली। भंगी की स्त्री की जो दृष्टि पड़ी तो उसने देखा कि यह तो हमारे गाँव के महाराजा साहब हैं। फिर क्या था वह बड़ी प्रसन्न हो महाराजा साहब के पास दौड़ी आई और बोली—

भंगी की बेटी—ताऊजी! तुम यहाँ पर कब और कैसे आये?

राजासाहब—तू कौन है?

भंगी की बेटी—मैं भंगी की बेटी हूँ।

राजासाहब—कहाँ की हो बेटी?

भंगी की बेटी—श्रीजगन्नाथपुरी की हूँ।

राजासाहब—श्रीजगन्नाथपुरी की हो?

भंगी की बेटी—ताऊजी! क्या तुमने मुझे नहीं पहचाना? क्या मुझे भूल गये?

राजासाहब—नहीं बेटी, मैंने तुम्हें नहीं पहचाना।

भंगी की बेटी—मैं तुम्हारे गाँव की भंगी की बेटी हूँ।

राजासाहब—बेटी, तुम कौन से भंगी की बेटी हो?

भंगी की बेटी—ताऊजी, मैं आपके झुम्मन भंगी की बेटी हूँ।

राजासाहब—अच्छा, तुम हमारे झुम्मन भंगी की बेटी हो?

भंगी की बेटी—जी हाँ, ताऊजी मैं झुम्मन भंगी की बेटी हूँ।

राजासाहब—बेटी, तुम इस गाँव में कैसी आई?

भंगी की बेटी—ताऊजी, मैं इस गाँव में विवाही हूँ और यह गाँव मेरी ससुराल है, इसलिए मैं यहीं पर रहती हूँ।

राजासाहब—अच्छा बेटी यह बात है!

महाराजा साहब के कानों में भंगी की लड़की के यह शब्द पड़ते ही कि मैं तुम्हारे गाँव की भंगी की बेटी हूँ और मैं इस गाँव में विवाही हूँ, वह एकदम चौंक पड़े। उन्होंने विचार किया कि गाँव की बेटी है सो अपनी बेटी है, फिर जिस गाँव में अपने गाँव की बेटी विवाही है, उस गाँव का पानी पीकर घोर पाप क्यों किया जाय और अपना लोक-परलोक क्यों बिगाड़ा जाय और नरक क्यों जाया जाय? उन्होंने तुरन्त अपने मंत्री को बड़ी जोर से आवाज दी कि—'मंत्री तुरन्त उस डोल को वहीं पर डालकर जल्दी से इधर को आओ, हमें इस कुएँ का पानी बिल्कुल नहीं पीना है। इस गाँव में तो हमारे गाँव की झुम्मन भंगी की लड़की विवाही है। यदि आज हम भूल से भी इस गाँव का पानी पी लेते तो हमें बड़ा घोर पाप लगता और हम घोर नर्क में जाते? हमारे ऊपर हमारे परम इष्टदेव भगवान् श्री श्री जगन्नाथ प्रभु की बड़ी असीम कृपा है, जो आज इस गाँव का पानी पीने से हम बच गये। आज इस गाँव का पानी न पीकर हमारा धर्म भ्रष्ट होने से बच गया। भले ही हमारे प्राण चले जायें, इसकी चिन्ता नहीं है, पर जिस गाँव में अपने गाँव की बेटी विवाही है, उस गाँव का पानी पीकर नरक कैसे जायें।

मंत्री ने भी यह बात सुनी उसने भी राजासाहब की इस बात का पूर्ण समर्थन किया, उचित माना और भगवान् को बड़ा ही धन्यवाद दिया कि उन्होंने इस घोर पाप से बचाकर हमारे धर्म की रक्षा की। महाराजा साहब ने तुरन्त उस भंगी की बेटी को अपनी सगी बेटी के समान मानकर उससे बड़े ही विनम्र शब्दों में कहा—

राजासाहब—बेटी, तूने आज हमारा धर्म बचाया, यह तो बड़ा ही अच्छा किया। मुझे आज अपनी बेटी से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। पर दुःख इस बात का है कि मुझे अपनी बेटी को कुछ न कुछ अवश्य ही देना चाहिये था, सो इस समय मेरे पास और तो तुझे देने के लिए कुछ नहीं है, ले बेटी मेरे हाथ में यह एक हीरे से जड़ित सोने की अंगूठी है, सो तू इसे ही ले ले। मैं इस समय तुझे विशेष कुछ भी नहीं दे पा रहा हूँ। परिस्थितिवश बड़ा लाचार हूँ। तुम अपने मन में यह विचार कदापि न करना कि मेरे ताऊजी मुझे मिले थे और उन्होंने मुझे कुछ भी नहीं दिया।

इस प्रकार अपना धर्म समझ भंगी की बेटी को अपनी बेटी मान, उसे हीरे से जड़ित सोने की अंगूठी दे, राजासाहब अपने घोड़े पर चढ़कर बिना पानी पिये प्यासे ही वहाँ से चल पड़े। आगे के गाँव में पहुँच, पानी पीकर अपनी प्यास शांत की।

इधर जब वह भंगी की लड़की अपने घर पहुँची और अपने ताऊजी की दी हुई हीरे जड़ित सोने की कीमती अंगूठी सबको दिखाई तो चारों ओर बड़ी प्रसन्नता की लहर दौड़ पड़ी। सब जगह राजासाहब की भूरि-भूरि प्रशंसा की जाने लगी।

यह था हमारे धर्मप्राण भारत का, हमारी परम पवित्र महान् हिन्दू जाति का और हमारे सत्य सनातनधर्म का महान् उच्चादर्श, जो शास्त्रीय नियमों का यथावत् पालन करता था। अपने गाँव की सभी बेटियों को अपनी बेटी-मानकर उनका भली प्रकार यथाशक्ति आदर सत्कार किया जाता था। उन्हें बुरी दृष्टि से देखना भी घोर पाप माना जाता था। आज उसी हमारे प्राचीन शास्त्रीय महान् उच्चादर्श को ठुकराकर, जात-पांत तोड़कर अनाचार की खुली छूट दी जा रही है। चमार, भंगी आदि हमारे घर के हमारे ही अन्त्यज बन्धुओं को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के विरुद्ध भड़काकर उन्हें आपस में लड़ाकर एक-दूसरे के खून का प्यासा और घोर शत्रु बनाया जा रहा है? क्या इन शास्त्र-विरुद्ध, धर्म-विरुद्ध, मर्यादा-विरुद्ध बातों से कभी देशोद्धार होगा? जरा इस बात पर ठंडे हृदय से विचार तो करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण की इस बात को सदा सर्वदा याद रक्खो—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।

शास्त्र-विरुद्ध, धर्मविरुद्ध मनमानी चलने से न सिद्धि प्राप्त होगी और न सुख प्राप्त होगा और न परम गति प्राप्त होगी। इसलिए आज के इन तथाकथित लीडरों-प्लीडरों की बातों में न आकर अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मानुसार, शास्त्रानुसार, मर्यादानुसार सब कार्य करो, इसी में वास्तविक परम कल्याण है।

❑

रसोपासना का महनीय ग्रन्थ श्रीमहावाणी

डॉ. रामप्रसाद शर्मा

श्रीनिम्बार्क-महामुनीन्द्र ने निम्नोद्धृत श्लोक से श्रीराधिका की सहचरी-उपासना का सूत्रपात किया है—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा,
विराजमानामनुरूप-सौभगाम्।
सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।। (दशश्लोकी)

श्लोकोक्त 'अंगे तु वामे वृषभानुजां ... स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्' द्वारा राधिका-प्रधान युगलभक्ति तथा 'सखीसहस्रैः परिसेवितां मुदा' द्वारा निकुंज सेवा प्रधान सहचरी रसोपासना का निरूपण हुआ है।

श्रीमद्भागवत पुराण, बृहद्गौतमीय तन्त्र, ब्रह्म-संहिता, सम्मोहन तन्त्रादि ग्रन्थों में युगलस्वरूप श्रीराधा-कृष्ण की मधुरोपासना, निकुंज-केलि-सेवा तथा सखी-भक्ति का प्रमुख रूप से प्रतिपादन हुआ है। श्रीराधा-कृष्ण के नित्यविहार और निकुंज विलास का प्रतिपल विधान करना ही सहचरी-उपासना है। सहचरी-भाव जीव की उत्कृष्ट अवस्था है, जहाँ वह निष्काम-भाव से प्रिया-प्रियतम की निकुंज-लीला का आस्वादन करता है। तात्त्विक रूप में जीव सहचरी है, जो इष्टाराध्या श्रीराधा की कृपा से लौकिक दुःख-सुख से मुक्त होकर अप्राकृत-सहचरी-स्वरूप को धारण कर लेता है तथा अहर्निश प्रिया-प्रियतम के क्रीड़ा-विधान में तत्पर रहता है। उसके सखी-भाव में स्व-सुख की कल्पना तक नहीं होती, केवल प्रिया-प्रियतम का केलिसुख ही उसका आहार है। पद्मपुराण के पातालखण्ड में इसी सहचरी, सखी या मंजरी स्वरूप की व्याख्या हुई है—

आत्मानं चिन्तयेत् तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्।।
नानाशिल्पकलाविज्ञां कृष्णभोगानुरूपिणीम्।
प्रार्थितामपि कृष्णेन तत्र भोगपराङ्मुखीम्।
राधिकानुचरीं नित्यं तत्सेवनपरायणाम्।
कृष्णादप्यधिकं प्रेम राधिकायां प्रकुर्वतीम्।।
प्रीत्यानुदिवसं यतेत् तयोः संगमकारिणीम्।
तत्सेवासुखांह्लादिभावेनाति सुनिर्वृताम्।।
इत्यात्मानं विचिन्त्यैव तत्र सेवां समाचरेत्।
ब्राह्मं मुहूर्तमारभ्य यावत् स्यात् तु महानिशा।। (52/7-11)

'अर्थात् सखीभाव के उपासक को अपने आपके लिए श्रीकृष्ण की अन्य सखियों की भाँति मनोहारिणी रमणी के रूप में कल्पना करनी चाहिए, जो विविध कलाओं में निपुण हो तथा जो श्रीराधा की सेवा में विशेष रूप से रत हो अर्थात् वह श्रीकृष्ण से अधिक राधा से प्रेम करने वाली अनुचरी हो। तत्परता और प्रेमभाव से युगल-मिलन कराना ही जिसका अभीष्ट हो। सखी-उपासक ब्राह्म-मुहूर्त से मध्यरात्रि तक इसी भावना से मानसी-सेवा में रत होने वाला हो।'

सहचरी, सखी, मंजरी शब्दों में वस्तुतः समानता है तथा वे तात्त्विक दृष्टि से समानार्थक कहे जा सकते हैं, परन्तु गोपी शब्द इनसे पर्याप्त भिन्न है। नित्य-विहार-परायण सखियाँ सम्प्रदायों में वर्णित रासपरायण गोपियों से सर्वथा भिन्न हैं। गोपियाँ कृष्णवल्लभा हैं तथा वे श्रीकृष्ण से आलिंगन-मिलन की अभिलाषा लेकर रास में उपस्थित होती हैं, उनके हृदय में कृष्ण के प्रति रति-भाव विद्यमान रहता है, परन्तु सहचरियाँ परमाराध्या राधिका की अनुचरियों के रूप में नित्यविहार का विधान करती हैं तथा कुंज-रन्ध्रों से क्रीड़ा-विहार का अवलोकन करती हुई अलौकिक आनन्द का अनुभव करती हैं। इन राधा-किंकरियों में श्रीकृष्ण द्वारा आग्रह किये जाने पर भी उनके प्रति रति-भावोद्रेक नहीं होता। सहचरी-मन की यही भावना उसे सामान्य गोपी से पृथक् करती है।

निम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेव कृत महावाणी सखी उपासना का महनीय ग्रन्थ है। यहाँ नित्य-विहार के सरस पदों में सहचरी-स्वरूप का प्रकाशन हुआ है। श्रीवृन्दावन विहारी-विहारिणी का अप्राकृत क्रीड़ास्थल है, जिसका स्वरूप रंगमहल के सदृश है। प्रिया-प्रियतम के इस रंगस्थल पर सहचरी-गण सहित श्रीस्वामिनीजू का एकछत्र राज्य है। यहाँ लीला-विलास एवं प्रीति-पोषण के समस्त विधान नित्य नवीन रूप में उपलब्ध है। इस प्रकार के निकुंजमहल में अखिल रसामृत-सिन्धु सकल-सौंदर्य-निकेतन, रसिकेश्वर-रसिकेश्वरी विहारी-विहारिणी निरवधि नित्यविहार करते हैं तथा सखीभक्त लताओट, कुंज-रन्ध्रों से इसी दाम्पत्य लीला का उमंग सहित दर्शन करता है—

बिहरत सुमन सेज पर दोऊ।
अलबेले आनन्द की मूरति,
और तहाँ नहिं कोऊ।।
प्यारी के वदनारविन्द की,
लेत बलैया लाल।
पुनि-पुनि परम प्रसंसत प्रीतम,
प्रिया प्रेम प्रतिपाल।।
भरि अंकवारि कुंवारि कुंवर वर,
करत विहार विनोद।
मदन केलि रसमत्त मगन भये,
मन न समावत मोद।।
नेति नेति वचनामृत सुनि सुनि,

पिय हिय बढ़त मनोज।
त्यों-त्यों अति रनधीर मिलावत,
अंसन अरुन सरोज।।
नूपुर मुखर किंकिनी को अति,
होत रुनकझुन राव।
अमित अनंगन के अंगन में,
उपजत अगनित भाव।।
सुख सरसावत रस बरसावत,
रुचि तरंग नहिं पार।
श्रीहरिप्रिया निजदासी निरखत,
लता ओट निरवार।। (सेवासुख-42)

युगल केलि की साक्षी-सहचरियाँ सरस-भावों से प्रपूर्ण हो अपने अंतरंग में नित्य-विलास दर्शन का नैन-लाभ लेना चाहती है—

कहत परस्पर सहचरी, उर में भरी उछाहु।
निरखि निरखि सुख या समैं, लेहू नैनन लाहु।। (सेवासुख)

इसी नित्य विहार का दर्शन उनका स्व-सुख है, प्रेय और अभीष्ट है। सहचरी भक्त हरिप्रिया (हरिव्यासदेव) जी इसी अभिलाषा को व्यक्त करते हैं—

मेरे नैननि तें छिन जिन टरौ।
सुरत-समर रसधीर कुंवरवर,
जो मो पर करुना करौ।।
हिलन हेज हिय सुभग सेज को,
सहज सुढर ढारनि ढरौ।
श्रीहरिप्रिया रस रेलि केलि-कल,
महल-टहल मन संचरौ।। (48 सुरतसुख)

श्रीश्यामा श्रीश्याम को, यह सुख सुरत बिहार।
बसहु सदा हिय सदन में, सकल सार को सार।। (सुरतसुख)

सहचरी-भक्तों की स्वामिनी राधा हैं, वे ही उनकी सर्वेश्वरी तथा इष्टाराध्या देवी है। युगल-तत्त्व में उन्हें स्वामिनी राधा से ही विशेष अनुरक्ति है, वे उनकी ही अनुचरियाँ हैं। उन्हें राधिका से विशेष कृपा की आकांक्षा इसीलिए बनी रहती है, क्योंकि राधा-स्वामिनी की कृपा-कटाक्ष से ही उन्हें निकुंज-लीला में प्रवेश का अधिकार मिला है। महावाणी में राधिका की उपासना इसी भाव से की गई है। कृष्ण तो यहाँ राधा की क्रोड़ में छिपे हुए हैं तथा वे अपनी ही अनुरूपा-वामांगी-आह्लादिनी में नित्य रमण करते हैं। अतः सहचरी-भक्त राधा में ही कृष्ण के दर्शन करते हैं। इसीलिए उन्हें तो केवल राधिका की ही अहर्निश सेवा भाती है। हरिप्रिया ने सर्वत्र परमाराधिका श्रीस्वामिनी से उनकी भक्ति ही मांगी है—

मोहि कृपा करि दीजिए अंग-संग की सेवा।
अहो विहारिनी लाडिली मेरे तुम देवा।।
या अनन्य-व्रत-पोत के हौ तुमही खेवा।
श्रीहरिप्रियाजु सो सौंह दे पूछो किनि भेवा।। (29 सुरतसुख)

एक मैं कृपा सुदृष्टि चहौं।
सौंह तिहारी मोहिं अहो जिय,
जो मैं राखि कहौं।।
जब तुम चितवत मो तन के तन,
तब सब सुखहिं लहौं।। (44 सहजसुख)

निकुंज-सेवा प्रिया-प्रियतम के महल की टहल ही सहचरियों का स्वसुख है। इसी एकमात्र अंतरंग अभिलाषा की पूर्ति के लिए वे श्रीराधिका से ही विनय करती हैं—

जो तुम पुरवहौ मनकाम।
तौ मैं मांगत यही निसि दिन,
छिन-छिन न बिसरौं नाम।।
रहौं टहलनी महल में द्वै,
निरखि छबि अभिराम।
श्रीहरिप्रिया हित बात सुनि सुनि,
धरौं निज हिय धाम।। (45 सहजसुख)

ये ही श्रीकृष्ण की परमाधार-प्रेयसी निकुंज विहारिणी राधा सहचरी-भक्तों की जीवनाधार हैं तथा इनकी चरण-भक्ति ही उनकी इष्ट उपासना है—

बिहारिनी जीवनि मेरी हो।
सदा प्रान-प्रतिपालन हौं बलि जाऊँ तेरी हो।।
परमाधार प्रेयसी स्यामा सहज स्वरूपा एरी हो।
श्रीहरिप्रिया आस अवलंबनि तौ पद केरी हो।। (91 सहजसुख)

सहचरी-भक्तों एवं रसिकों के राधा और कृष्ण में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। वे सदा एकरस हैं, अभिन्न हैं। अप्राकृत लीलावतारी हैं तथा भक्तों को नित्य-विलास-लीला का आस्वादन कराने हेतु द्वैत हैं—

सदा सर्वदा जुगल इक, एक जुगल तन धाम।
आनन्द अरु आह्लाद मिलि, बिलसत हैं द्वै नाम।। (सिद्धान्तसुख)

परमानन्द कृष्ण भी आह्लादिनी होने से युगल तत्त्व में श्रीराधा की प्रधानता है, पर उनमें जल-मीन की भाँति पारस्परिक आसक्ति है—

मोहन मोहिनी आधीन।
रहै अति आसक्त अनुदिन कहा गति जल-मीन।।

नित्य नवतन नेह नेही परस्पर रस-लीन।
हितू श्रीहरिप्रिया रसिकन हेतु बिबि तन कीन।। (34 सहजसुख)

श्रीराधा अलौकिक सुन्दरी हैं, नित्य किशोरी हैं, रस की सींव है, सुरति-निपुणा हैं। उनके गौरांगों पर कोटि अनंग वारे जाते हैं। वह आनन्द और रस की प्रतिमूर्ति अप्राकृत सौंदर्यमयी होने से रसिकेश्वर कृष्ण की प्रान-जीवन-जरी है—

जय श्रीराधिका रसभरी।
रसिक सुन्दर सांवरे की प्रानजीवन-जरी।।
गौर अंग अनंग अद्भुत सुरति रंगनि-रती।
सहज संग अभंग जोरी सुभग-साँचे ढरी।।
परम-प्रेम प्रकाश पूरन पर पयोनिधि परी।
हितू श्रीहरिप्रिया निरखति निकट निज सहचरी।। (32 सहजसुख)

रसिकों के युगल सदा सनातन, एकरस हैं, जिनकी महिमा निगमादि से परे हैं। उनका नित्य निवास अप्राकृत वृन्दावन में है, यह वृन्दावन तथा यहाँ के सभी प्रीति-पोषक तत्त्व अप्राकृत और नित्य हैं। हरिव्यासदेव ने अन्यत्र वृन्दावन-योगपीठ का भी वर्णन किया है, जो दिव्य-रंग महल है तथा जहाँ विहारी-विहारिणी के साथ विशिष्टस्वरूपा सहचरियाँ निवास करती हैं। वह वृन्दावन गोलोक, वैकुण्ठ से भी पावन तथा परम गुह्य स्थान है, जहाँ अहर्निश युगल का केलि-विलास अबाधित रूप से होता रहता है। यहाँ स्वामिनी श्रीराधा का एकछत्र राज है तथा यहीं सहचरियों की कामनाएँ पूर्ण होती है—

जय जय वृन्दावन रजधानी।
जहाँ बिराजत मोहन राजा श्रीराधा-सी रानी।।
सदा सनातन इकरस जोरी महिमा निगम न जानी।
श्रीहरिप्रिया हितू निज दासी रहति सदा अगवानी।। (31 सहजसुख)
जय वृन्दावन धाम सब, जन-मन पूरन काम।
सुधर सहेलिन संग रंग बिहरें स्यामा स्याम।। (उत्साहसुख)

महावाणी में वर्णित पाँच सुख हैं, जिनमें सेवा-सुख और उत्साहसुख सखी-सेवा के लिए उल्लेखनीय हैं। सेवासुख में ब्राह्ममुहूर्त से लेकर मध्यरात्रि तक की निकुंज-सेवा का निरूपण हुआ है। सहचरियाँ प्रातः ही निकुंज-प्रवेश कर सहज-भाव से प्रिया-प्रियतम को अत्यन्त-दिव्य-सुभग सेज से उठाती हैं, विविध भावों से लाड़ली-लाल को लाड़ लड़ाती हैं। सुरत-समर के रति-चिह्नों को इंगित कर मुखशोधन करवाती हैं, स्नान-शृंगार का भी उपक्रम करती हैं। इसी प्रकार आरती, भोग, अचवन, ताम्बूल-चर्वण आदि की सेवाएँ करती हैं, इन सेवाओं में अत्यन्त तत्परता और निष्काम-रति का भाव बनाये रखती हैं और विविध अवसरों पर दम्पती की सहज-प्र-चेष्टाओं एवं क्रीड़ाओं का विधान करती हुई निकटस्थ-स्थिति का आनन्द लेती हैं। अष्टकालिक सहचरी-सेवा के कतिपय विधान अवलोकनीय हैं—

रति रस चिह्न संवारहीं, सहचरि निज पट छोर।
ज्यों-ज्यों सकुचत जात हैं, नागर नवल किशोर।।
लाई कुंज सनान में, निज सहचरि समुझाय।
पहिराये पट पोंछि अंग, यथारीति अहवाय।।
नखशिख सजि सिंसगार बिराजे।
लै डरपन दिखरावति सुन्दरि,
कैसे आज उदार बिराजे।।
देखि-देखि सोभा अंग-अंग की,
उमंगे उरनि अपार बिराजे।
श्रीहरिप्रिया हितू जन जिय की,
जीवनि प्रान अधार बिराजे।।

सहचरियों को युगल-काम क्रीड़ा का आस्वादन कराने हेतु लाड़ली-लाल अत्यन्त सहज भाव से विविध प्रकार की दाम्पत्य-क्रीड़ाएँ करते हैं और उनकी सहचरियाँ भी युगल की सभी सुलभ-चेष्टाओं का अन्तरंग आनन्द लेती है—

भोजन करत लाड़लीलाल।
रतन जटित कंचन चौकी पर,
आनि धर्यौ सहचरि भरि थाल।।
छप्पन भोग छतीसों खटरस,
लेह्य चोष्य भछि भोज्य रसाल।
जेंवत जाँहि सराहि सरस अति,
परसत रंग रंगीली बाल।।
जे जे बिंजन कर पलवति ते,
छुवति छबीली छई छबि जाल।
ते ते बिंजन ताहि ठौर ते,
लेत छबीलो होत निहाल।।
इहि विधि राजभोग आरोगत,
सुख संभोगत नैन विशाल।
श्रीहरिप्रिया परस्पर दोऊ,
परम प्रवीन प्रेम प्रतिपाल।। 34।।

प्रातः से शयन तक इसी प्रकार की मानसी सहचरी-सेवा का क्रम बना रहता है। मध्यरात्रि के समय युगल दिव्य सेज पर ज्यों ही क्रीड़ा-रत होते हैं, सहचरियाँ निकुंज से बाहर आ जाती है और लता-ओट, कुंज-रन्ध्रों से सुरति-समर का नैनलाभ लेती हैं, युगल-काम को उत्प्रेरणा देने हेतु सरस गीत गाती हैं तथा सुरति समरान्त युगल को रति-श्रम से थककर सोया जान धीरे-धीरे बोलती हैं—

हितू सखी हित की हितवाई।
पाँय पलोटि हरे हरे हाँके,
पट दे झट दे बाहरि आई।।
रंध्रनि मग लगि रूप माधुरी,
अवलोकति सहचरि समुदाई।
श्रीहरिप्रिया की सहज सुरति रति,
गान करति मधुरे मनभाई।। 65।।
अछन अछन उच्चरहु री, ज्यों ए पैरें न जागि।
श्रीहरिप्रिया सुख सेज पर, सोये सुख श्रम पागि।।

उत्साहसुख में वसन्त, होरी, शरद्-रास, फाग इत्यादिक अवसरों पर की जाने वाली सहचरी-सेवा वर्णित हैं। सहचरियाँ यहाँ भी विविध प्रकार से अवसर विशेष के केलि-विधान आयोजित करती हुई निकुंज-लीलास्वादन करती है। यहाँ के वर्णन अलौकिक हैं, समस्त विधान, झाँकियाँ और विलास अलौकिक हैं। हिंडोरा का पद देखिये—

आजु की सोभा बनी है बिसाल।
रंग हिंडोरे झूलत फूलत,
पहिरि पवित्रा माल।।
झोटा देत पवित्र सहचरी,
भरी प्रेम हिय आल।
जुगलचंद अरविंद वदन छबि,
निरखति नैन निहाल।।
चहुँ ओरी गोरी रसबोरी,
गावत गीत रसाल।
मृदु बाजित्र बजाय विविध विधि,
एक संच सुरताल।।
राग रंग रह्यो छाय विपिन में,
बसने को कवि जाल।
रीझि-रीझि राते मदमाते,
रसिक लाडिली लाल।।
सावन मनभावन को सुख यह,
अति पावन प्रतिपाल।
श्रीहरिप्रिया परम धन जोरी,
सदा बसौ मम भाल।। (100 उत्साहसुख)

'सुरत-सुख' निकुंज-सेवा का अत्यन्त गुह्य स्थल है, जहाँ लाड़ली-लाल की प्रेम-क्रीड़ाओं की विविध अवस्थाएँ वर्णित हैं। महावाणी के सिद्धान्तसुख में नित्यविहार के विविध तत्त्वों का सैद्धान्तिक प्रतिपादन हुआ है। अनेक प्रकार से सहचरी स्वरूप की

व्याख्याएँ हुई हैं। संक्षेप में यही कहना चाहिए कि महावाणी निम्बार्कीय रसोपासना और सहचरी-भक्तिरस का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह उपासना अत्यन्त गूढ़ और अन्तरंग होने से रसिक-जनों तक ही सीमित रही है, इसी कारण महावाणी जैसा अत्यन्त मधुर काव्य-साहित्यिक क्षेत्र में व्यापक रूप से नहीं आ सका है। निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्ति दर्शन का अध्ययन इसके बिना दुर्लभ है।

❑

श्रीनिम्बार्काचार्य का साधना मार्ग

कु. कनक माथुर

पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए आध्यात्मिक शास्त्र की प्रवृत्ति हुई। मोक्ष के प्रमुख साधन ज्ञान और भक्ति हैं, जिनका क्रमशः सम्बन्ध मुख्यतः प्रज्ञा (बुद्धि) एवं हृदय से है। भक्ति और ज्ञान के मूल स्रोत नारायण स्वीकृत किये गये हैं। भगवान् ही अद्वैत-दर्शन और वैष्णव-दर्शन दोनों के उद्गम स्थान हैं। शुकदेव के द्वारा अद्वैत ज्ञानधारा प्रवृत्त हुई है। शुकदेव के द्वारा अद्वैत ज्ञानधारा प्रवृत्त हुई। शुक, गौड़पाद, गोविन्द, भगवत्पाद, शंकराचार्य यह अद्वैत मार्ग के आचार्यों की मुख्य-परम्परा है। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदायों का उदय भगवान् से ही लक्ष्मी (श्री), ब्रह्मा, रुद्र तथा सनत्कुमार के द्वारा हुआ। नारायण से लेकर गुरु-परम्परा के आचार्य श्रीनिम्बार्क द्वैताद्वैत या भेदाभेद के प्रचारक हुये।

आचार्य निम्बार्क के प्रिय उपास्य श्रीराधा-कृष्ण हैं। श्रीजी ही श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। वे उनकी क्रियाशक्ति के रूप में जगत् की स्रष्टा हैं और ज्ञान-शक्ति के रूप में वे सत्यभामा हैं, जिनका कृष्ण से संयोग भेद-परक है। ज्ञानशक्ति ही उनकी स्वरूप शक्ति है=रुक्मिणी है, जिससे भगवद्भक्ति=सर्वसमर्पण भाव का संयोग है, जो अभेदात्मक है। इन दोनों का सम्मिलित रूप श्रीराधाजी हैं, जो निम्बार्क-मार्ग में उपास्य हैं। आचार्य अपने साध्य के लिए कहते हैं—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा,
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।
स्वभावतोऽपास्त समस्तदोष-
मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्मपरं वरेण्यम्
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।।[1]

अर्थात् श्रीकृष्ण के वामांग में प्रसन्न मुद्रा से विराजमान भगवद्रूप के अनुरूप मूर्ति धारण करने वाली, सहस्रों सखियों से सदा सेवित, सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाली वृषभानु पुत्री देवी राधिका का हम लोग स्मरण करें।

आचार्य निम्बार्क के मत में शक्तिमान् से पूर्व शक्ति पूज्य है। यद्यपि शक्ति व शक्तिमान् में भेद नहीं है। श्रीराधाजी कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं, जिनकी कृपा से कृष्ण अपने रस की अनुभूति कर पाते हैं। एकाकी ब्रह्म को रमण की इच्छा हुई, किन्तु `एकाकी न रमते, स

द्वितीयमैच्छत्, स इममेवात्मानं द्वैधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्।' (बृहद्. 1/4/3)—एकाकी रमण सम्भव न होने से ब्रह्म ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया। उसका दाहिना अंग पति और बामांग पत्नी हुआ। राधिकोपनिषद् में **'येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्।'** कहकर राधा-कृष्ण के एकत्व की स्थापना की गई है। श्रीराधाजी कृष्णमयी हैं, कृष्ण राधामय हैं। तत्त्वतः दोनों में कोई भेद नहीं है। आचार्य के मत में राधाकृष्ण में भेद नहीं है। आचार्य के मत में राधा-कृष्ण युगल सरकार ही पूज्य हैं, वे ही परम उपास्य हैं।

श्रीयुगल सरकार की उपासना का प्रमुख साधन है ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्मयज्ञ। श्रीनिम्बार्कजी को जो ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई, वह भगवद्भावरूप मोक्ष प्रदान करने वाली है। ब्रह्मविद्या का प्रधान पद प्रणव है। आचार्य ने प्रणव की तीनों मात्राओं की व्याख्या इस प्रकार की है—

अकारार्थो हरिः प्रोक्तः मध्यमार्थो गुरुस्तथा।
मकारार्थो जीव-जातो विज्ञेयो वैष्णवोत्तमैः।।

अर्थात् प्रणव की अ मात्रा कृष्ण की, उ गुरु एवं म जीव की प्रतीक है। हरि से जीव को मिलाने के लिए गुरु प्रधान साधन है।

कृष्णोपासना की 'क्लीं' बीज मंत्र और ओंकार एक ही रूप है। क्ल्=कृष्ण ई=गुरु (राधा) म=जीव का बोधक है। क्लीं कामना पूर्ति का मंत्र है। श्रीराधा-कृष्ण अखिल कामनापूर्ति करने वाले हैं। ब्रह्मविद्या का, संक्षेप में, यही रूप है। श्रीराधा-कृष्ण के प्रतीक के समक्ष इस क्लीं मंत्र का अभ्यास जप के रूप में किया जाता है।

पूजा पद्धति के रूप में की मूर्तिरूप में उपासना प्रतीकोपासना कही जाती है। प्रतीकोपासना द्विविध है, बाह्य एवं आभ्यन्तर। बाह्य प्रतीकोपासना में उपास्य एवं उपासना के साधन मूर्त रहते हैं, किन्तु आभ्यन्तर में मन में तत्तद् साधनों की परिकल्पना करते हुए हृदयस्थ कृष्ण की उपासना की जाती है। आभ्यन्तर उपासना का साधक उच्च श्रेणी का भक्त होता है, आचार्य ने मनस् प्रतीकोपासना को श्रेष्ठ बतलाया है।

उपासना के लिए गुरु की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया। निम्बार्क मत में परमगुरु श्रीराधा ही हैं। प्रारम्भ में मन को संकेतों के द्वारा (Suggestions देकर) विशेष रूप से लक्ष्य-प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है। क्योंकि बन्धन और मोक्ष—इनका कारण मन ही है। विचारशक्ति का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्त भगवान् के प्रति भावना करके ही उन्हें प्राप्त करता है। श्रीनिम्बार्क का 'ब्रह्मयज्ञ'—साधना इसी सत्य का उद्घाटन करता है।

स्वाभिमान को परमात्मा में अर्पित कर देने से वासना क्षय होता है। यही आत्माहुति-ब्रह्मयज्ञ है। इसे ही निम्बार्काचार्यजी श्रेष्ठ मानते हैं—

चरमार्थः हविः कृत्वा मध्यमं चार्पणं तथा।
प्रथमार्थे च ब्रह्माग्नावात्मानं जुहुयाद् बुधः ॥[2]

अर्थात् बुद्धिमान् उपासक अपने को गुरुकृपा (ब्रह्मविद्या) के माध्यम से ब्रह्मरूप अग्नि में हवन कर दे। ततश्च—

हुत्वात्मानं बुधश्चैवं कृतकृत्योऽभिजायते।
भवबन्ध-विनिर्मुक्तो ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयात् ॥[3]

मैं और मेरा से युक्त जो अहंकार और मन हैं, उन्हें यदि परमात्मा में अर्पित कर दिया जाय तो जीव कृतकृत्य हो जाता है। ब्रह्म का संयोग ही इस उपासना का प्राप्तव्य उत्तम फल है।

इस विद्या का अन्तिम पद 'स्वाहा' है, जिसका तात्पर्य यहाँ जीव का सर्वात्मभाव से समर्पण है। आचार्य के मत में ज्ञान और भक्ति की चरम परिणति इस पूर्ण शरणागति (पूर्ण समर्पण भाव) में ही है। यथा—

चरमेणात्महोमस्य विधानं परिकीर्त्तितम्।
अनेनैवास्य शास्त्रस्य अनुबंधा प्रकीर्त्तिताः।।

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

में आत्मनिवेदन की प्राप्ति के लिए उपासना शास्त्र के अनुबन्ध चार उक्त हैं—ब्रह्म-तत्त्व, जीव-तत्त्व, गुरु-तत्त्व एवं उपासना-तत्त्व। कृष्णगोविन्द ब्रह्म, गोपियाँ जीवबल्लभ गुरु और गुरु के आश्रय से ब्रह्म में संलग्न होकर 'क्लीं' रूप हो जाना ही उपासना है, जो कि 'स्वाहा' (आत्मनिवेदन) पर ही होती हैं। 'क्लीं' में आत्मनिवेदन का सम्पूर्ण रहस्य है, वही मुक्ति है।

देहेन्द्रियमनः प्राणैर्मायां हित्वा समाहितः।
भृत्यवत् पुत्रवत् सेवेत् प्रियावन्मित्रवत्तथा।।[4]

देहेन्द्रिय, मन प्राणादि से कर्मों की आसक्ति रूप माया को हटाकर दास्यभाव, वात्सल्यभाव, पतिभाव और मित्रभाव से परमात्मा की सेवा करे।

अध्यात्म के क्षेत्र में साधना की दो ही दिशायें होती हैं—एक क्रिया, दूसरी भाव। ये दोनों ही एक-दूसरे की अपेक्षा करती हैं। साधना के प्रारम्भ में क्रिया प्रधान रहती है और साधना की परिपक्वता भाव में होती है जिसकी रसमयी अनुभूति ही भक्ति है। ब्रह्मविद्या का जप उपासना का क्रियात्मक रूप है, जो मुख्य सहकारी साधना है, यही द्वैधी भक्ति है। इसी को समाहित होना कहा गया है। रागात्मिका भक्ति तो ध्यान और समाधि है, जो साधना के अन्तरंग साधन हैं। उसी को स्वरूप शक्ति और ज्ञान शक्ति भी कहते हैं। द्वैधीभक्ति के साधन सहयोग से रागात्मिका का प्रादुर्भाव होता है। श्रीनिम्बार्क भक्ति के प्रसंग में चार रस ही उपासना में मानते हैं। तदनुसार रागात्मिका भक्ति भी चार प्रकार की है—

प्रियावत्, पुत्रवत्

पुत्रवत् सामीप्य।

मित्रवत् सृष्टि।

दासवत् सालोक्य।

मुक्त जीव का कर्त्तव्य-भाव बना ही रहता है। यह कर्त्तव्य श्रीकृष्ण कथाओं के निरन्तर श्रवण, गायन, स्मरण और ध्यान में निहित है।

साध्य और साधन पर संक्षेप में विचार कर लेने के पश्चात् साधक पर विचार किये बिना प्रसंग अधूरा ही रह जायेगा। निम्बार्काचार्य के मत में गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भक्तियोग का जो साधन करता है, वह भी उत्तम अधिकारी है। संन्यास लेकर अरण्यौकस बनकर साधना करना ही आवश्यक नहीं है और यह तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार परम अभय रूप आश्वासन था, जिसने भक्ति को जन-जन के मध्य फैलाया। वस्तुतः पत्नी, पति, पुत्र या अन्य कुटुम्बीजनों के प्रति अनासक्त भाव रखकर सहयात्रियों के सदृश ही व्यवहार करना चाहिए। उनमें आसक्ति बन्धन है, अनासक्ति भाव मुक्ति है। गृहस्थ साधक के लिए यही मनस्व्यवहार संन्यास या निर्विण्णता है। मन ही तो मनुष्यों के मोक्ष और बन्धन का कारण है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बंधाय विषयासक्तं मोक्षं निर्विषयं स्मृतम्।।

भक्ति-योग का यह सिद्धान्त है कि विषयों के चिन्तन में मन लगाने से विषयासक्ति बढ़ती है, चित्त को परमात्मा में लगाने से वह परमात्मा के समान हो जाता है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते।। (भा. 11-14-27)

वैधी भक्ति के द्वारा मन एवं इन्द्रिय को शुद्ध किया जाता है। साधक शरीर शुद्धिपूर्वक ईश्वरानुभूति के योग्य बन जाते हैं। इसलिए साधना के प्रथम क्रम में पूज्याचार्यजी ने पंचसंस्कार, आहार एवं आचार शुद्धि पर विशेष जोर दिया है। वे पंचसंस्कार ये हैं—**ताप, पुण्ड्र, नाम, मंत्र और याग।**

1. ताप—का अर्थ है तपना। आचार्य निम्बार्क ने तप के लिए व्रत का विधान बताया है। व्रत ही प्रधान तप है। कायिक, वाचिक और मनस् रूप से यह त्रिविध है। कष्टानुभूति के बिना स्वल्पाहार के साथ व्रत किया जा सकता है। एकादशी का व्रत वैष्णवों को विशेषतः करणीय है। यह व्रत मौन के साथ रखना चाहिए। वाचिक व्रत में हित, मित, प्रिय, सत्य-भाषण और मनस् में कलुषित दूषित उद्वेगकर विचारों का निषेध निहित है।

2. पुण्ड्र—गोपीचन्दन का तिलक मस्तकादि शरीर के बाहरी अवयवों में लगाना पुण्ड्र संस्कार कहलाता है। चन्दन का लेप शीतलता, कान्ति, स्फूर्ति का संचारक होता है। तुलसी की कण्ठी को पहनना चाहिए। तुलसी वृक्ष का प्रत्येक अवयव गुणकारी है। शरीर के अन्य

अवयवों में अधिक संवेदनशील कण्ठ ही होता है। तुलसी की कण्ठी धारण करने से देह की सर्वाधिक शुद्धि होती है।

3. नाम—का महत्त्व तो सर्वविदित है ही।

4. मंत्र—का सम्बन्ध मन से है। मंत्र के अविच्छिन्न अभ्यास को जप कहते हैं। जप के तीन प्रकार कहे गये हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। मंत्र के प्रभाव से उपासक को उपास्यानुरूपता प्राप्त होती है।

5. याग-संस्कार—का तात्पर्य चर्या से है। अर्थात् इन्द्रियों की सम्पूर्ण भोग वृत्तियों को भगवान् के समर्पण कर देना है।

इस प्रकार के पंचसंस्कारों से परिमार्जित साधक का चित्त युगलसरकार श्रीराधा-कृष्ण के चरणों में आसक्त होने लगता है और श्रीजी की कृपाकटाक्ष से वह श्रीकृष्ण-रसामृत का आस्वादन कर कृतार्थ हो जाता है। श्रीराधा-कृष्ण के प्रेम में पगे भक्त सर्वस्व समर्पण कर उस सिद्धावस्था को प्राप्त होते हैं जिसके लिए देवगण भी स्पृहा करते हैं।

सन्दर्भ

1. दशश्लोकी 2, 3 श्लोक।
2. म. र. षो.
3. म.र.षो
4. दशश्लोकी से

❑

श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ : एक परिचय

निम्बार्कभूषण पं. श्री गोविन्ददास 'सन्त'
धर्मशास्त्री, द्वैताद्वैत विशारद, पुराणतीर्थ

परिचय

श्रीनिम्बार्काचार्य जी का आविर्भाव युधिष्ठिर शके 6 में कार्तिक शुक्ला 15 को सायंकाल मेष लग्न में हुआ था। जन्म समय चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु और शनि ये पाँच ग्रह उच्च स्थान में थे। माता का नाम श्रीजयन्ती देवी तथा पिता का नाम श्रीअरुण मुनि था। जन्मस्थान दक्षिण प्रान्त गोदावरी तटवर्ती श्रीअरुणाश्रम माना जाता है। यह स्थान वैदूर्यपत्तन (मूँगीपट्टन) कहलाता है, जो कि आन्ध्र-प्रदेश दक्षिण हैदराबाद राज्य में आजकल 'पैठण' के नाम से प्रसिद्ध है। आपका जन्मकालीन नाम "श्रीनियमानन्द" था। भक्तजनों की करुणा भरी पुकार पर गोलोकबिहारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने परम प्रिय आयुध श्रीचक्रसुदर्शनजी को आदेश देते हुए कहा था कि—

"सुदर्शन-महाबाहो! कोटिसूर्यसमप्रभ!।
अज्ञानतिमिरान्धानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय।।"

हे कोटि सूर्य सदृश दिव्य तेजधारी महाबाहो चक्रराज! अब शीघ्र ही भूतल पर अवतरित होकर अज्ञान रूप घोर अन्धकार में डूबे हुए जीवों को वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार द्वारा भक्ति का पथ प्रदर्शन कराओ।

इस भगवदादेशानुसार श्रीचक्रराज सुदर्शन ने उपर्युक्त द्रविड़ देश में बालक नियमानन्द के रूप में अवतार लिया।

यह निम्बार्क सम्प्रदाय अति प्राचीन है। युधिष्ठिर शके 6 को आज पाँच हजार वर्षों से अधिक समय चल रहा है। जैसे धर्मराज युधिष्ठिर शके प्रमाण 3044 वर्ष, तत्पश्चात् विक्रम सम्वत् के इस समय 2057 वर्ष इन दोनों का योग मिलाकर 6001 वर्ष हुए, जिसमें युधिष्ठिर शके 6 में आपका जन्म होने के कारण 6 वर्ष कम करने से 5095 वर्ष होते हैं। अर्थात् विक्रम सं. 2057 में आपके प्राकट्य समय को 5095 वर्ष हो चुके हैं, जो कि कई स्थानों (ग्रन्थ या व्रतोत्सव पत्रों) पर श्रीनिम्बार्काब्द के आगे अंकित रहता है।

एक बार आपने अपने आश्रम में दिवाभोजी दण्डी महात्मा के रूप में आये हुए श्रीब्रह्माजी को रात्रि हो जाने पर भोजन करने से निषेध करते देखकर आपने नीम वृक्ष पर अपने तेज तत्त्व श्रीसुदर्शनचक्र को आवाहन कर सूर्य रूप में दर्शन कराकर उन्हें भोजन कराया। निम्ब (नीम) के वृक्ष पर अर्क (सूर्य) के दर्शन कराने पर ब्रह्माजी द्वारा आपका श्रीनियमानन्द से 'निम्बार्क' नाम किया गया था। आपके द्वारा प्रसारित सम्प्रदाय को श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के नाम से कहा जाता है। आपने देवर्षि श्रीनारदजी द्वारा इसी स्थान

(श्रीगोवर्धन की उपत्यका अरुणाश्रम-वर्तमान श्रीनिम्बग्राम (नीमगाँव)) में पंचपदी ब्रह्मविद्या गोपाल मन्त्रराज की दीक्षा ग्रहण कर श्रीहंस-सनकादि द्वारा परम्परागत स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त और युगलकिशोर श्रीराधाकृष्ण की युगल उपासना का लोक में प्रचार-प्रसार किया। आपका सिद्धान्त और उपासना संक्षिप्त में इस प्रकार है—

श्रीनिम्बार्क सिद्धान्त में तत्त्वत्रय (ब्रह्म, जीव और प्रकृति) अनन्त और अनादि हैं। ब्रह्म स्वतन्त्र है। जीव और प्रकृति परतन्त्र (ब्रह्म के अधीन) है। बद्ध, बद्धमुक्त और मुक्त सामान्यतः जीवों के ये तीन प्रभेद हैं। प्रकारान्तर से अनेक हो जाते हैं, जो सिद्धान्त शास्त्रों द्वारा जाने जा सकते हैं। समस्त चराचर जगत् ब्रह्म का अंश एवं परा-पराख्यिका प्रकृति शक्ति होने के कारण सत्य है। जीव और प्रकृति रूप से चराचरात्मक संपूर्ण विश्व-ब्रह्म से भिन्न हैं, किन्तु उसका अंश एवं शक्ति होने के कारण स्वभावतः अपृथक् सिद्ध अभिन्न भी है। यही स्वाभाविक द्वैता द्वैत (भेदाभेद तथा भिन्नाभिन्न नामक) सिद्धान्त है। इस सम्प्रदाय में जीव को सखी भाव द्वारा नित्य किशोर निकुञ्ज बिहारी प्रियाप्रियतम लाल श्रीराधाकृष्ण की पंचकालानुष्ठान विधि से उपासना करने का विधान है। श्रीनित्यनिकुञ्ज में आप रंगदेवी जू के नाम से सेवा में रहते हैं।

आपके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध ग्रन्थ इस प्रकार है—बादरायण कृत ब्रह्मसूत्रों पर "वेदान्त पारिजात सौरभ" नामक भाष्य, वेदान्त दश श्लोकी, मंत्र रहस्य षोडशी, प्रपन्नकल्पवल्ली, राधाष्टक और प्रातः स्मरणादि स्तोत्र।

आचार्यवर्य श्री श्रीनिवासाचार्य

ये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र करकमलांकित श्रीपाञ्चजन्य शंख के अवतार हैं तथा श्रीनिम्बार्क भगवान् के प्रमुख शिष्य हैं। इनका निवास स्थान व्रजमण्डल में श्रीगोवर्धन के समीप श्रीराधाकुण्ड ललिता संगम पर है। यह स्थान श्रीनिवासाचार्यजी की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान पर आपके चरण चिह्न हैं, जिनकी नियमित रूप से सेवा-पूजा होती है। आपके शंखावतार होने का प्रमाण आप ही के पट्ट शिष्य श्रीविश्वाचार्यजी महाराज द्वारा निर्मित श्लोक में बताया गया है। आपके द्वारा निर्मित ब्रह्म सूत्रों पर बृहद्भाष्य 'वेदान्त कौस्तुभ" के नाम से सुप्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें केवल 'लघुस्तवराज' मिलता है। अन्य ख्याति निर्णय, पारिजात-सौरभ भाष्य, रहस्य प्रबन्ध, कठोपनिषद भाष्य आदि अनुपलब्ध हैं।

आचार्यरूप में आप श्रीपाञ्चजन्य शंखावतार हैं और निकुञ्ज उपासना में श्रीनव्यवासा (प्रियाप्रियतम श्रीयुगलकिशोर की नित्य सहचरी) के अवतार माने जाते हैं। आपका पाटोत्सव दिवस **माघ शुक्ला पंचमी (वसन्त पंचमी)** को मनाया जाता है।

श्रीआचार्य—पंचायतन

श्री हंस भगवान् से लेकर श्रीनिवासाचार्य पर्यन्त इन पाँचों आचार्यों को आचार्य-पंचायतन के नाम से कहा गया है। श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ सलेमाबाद एवं श्रीवृन्दावन धाम

आदि कई एक संस्थाओं में इन पाँचों की कहीं चित्रपट रूप में तथा कहीं शैली प्रतिमाओं के रूप में स्थापना कराई हुई है। नित्य प्रति सेवा-पूजन का क्रम भी भगवदर्चा के समान ही चलता है।

द्वादश आचार्य एवं अष्टादश भट्ट

श्री श्रीनिवासाचार्य से लेकर श्रीदेवाचार्य पर्यन्त इन निम्नांकित आचार्यों की 'द्वादशाचार्य' संज्ञा है तथा श्रीसुन्दरभट्टाचार्य से लेकर श्री श्रीभट्टाचार्य पर्यन्त अट्ठारह भट्टों की ''अष्टादश भट्ट'' संज्ञा है। उनके नाम, ग्रन्थ एवं पाटोत्सव आदि का परिचय इस प्रकार है—

(6) श्रीविश्वाचार्य

इनके द्वारा रचित कई एक ग्रन्थ हैं, उन ग्रन्थों में ''**श्रीकृष्णस्तवराज**'' इन्हीं की रचना मानी जाती है तथा अन्य ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। पाटोत्सव **फाल्गुन शुक्ला 4 (चतुर्थी)** को होता है।

(7) विवरणकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्य

इनके भी निर्मित ग्रन्थ मिलते हैं। उनमें ''वेदान्तकामधेनु दशश्लोकी'' पर विस्तृत भाष्य ''वेदान्तरत्नमंजूषा'' इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। ''वेदान्तरत्नंजूषा'' की भूमिका में इनका विस्तृत चरित्र उल्लिखित है। पाटोत्सव **चैत्र शुक्ला 6 (षष्ठी)** का होता है।

(8) श्रीविलासाचार्य

पाटोत्सव वैशाख शुक्ला 8 (अष्टमी) है।

(9) श्रीस्वरूपाचार्य

पाटोत्सव ज्येष्ठ शुक्ला 7 (सप्तमी) का है।

(10) श्रीमाधवाचार्य

पाटोत्सव आषाढ़ शुक्ला 10 (दशमी)।

(11) श्रीबलभद्राचार्य

पाटोत्सव श्रावण शुक्ला 3 (तृतीया)।

(12) श्रीपद्माचार्य

पाटोत्सव भाद्रपद शुक्ला 12 (द्वादशी)।

(13) श्रीश्यामाचार्य

पाटोत्सव आश्विन शुक्ला 13 (त्रयोदशी)।

(14) श्रीगोपालाचार्य

पाटोत्सव भाद्रपद शुक्ला 11 (एकादशी)।

(15) श्रीकृपाचार्य

पाटोत्सव मार्गशीर्ष शुक्ला 15 (पूर्णिमा)।

(16) जान्हवी (ब्रह्मसूत्र भाष्य) कार श्रीदेवाचार्य

इनके अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। जिसमें कुछ मुद्रित भी हैं। इनका विशेष परिचय मुद्रित ''जाह्नवी'' की प्रथम तरंग की भूमिका में देखना चाहिये। आपने ''ब्रह्मसूत्र'' पर जाह्नवी नामक बड़े ही सुन्दर सरस अनुपम भाष्य की रचना की है। श्रीनिम्बार्क भगवान् कृत 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' वेदान्त पारिजात सौरभ की भाँति यह भाष्य परम मननीय है। पाटोत्सव माघ शुक्ला 5 बसन्त पंचमी है।

(17) सेतुका (जाह्नवी व्याख्या) कार श्रीसुन्दरभट्टाचार्य

इनके भी रचित ग्रन्थ विपुल मात्रा में मिलते हैं। बहुत से मुद्रित भी हैं। आपने ब्रह्म सूत्रों पर श्रीदेवाचार्यजी महाराज द्वारा निर्मित जान्हवी टीका पर 'सेतु' नामक विस्तृत व्याख्यान लिखा है। नाम के अन्त में भट्ट पदवी इन्हीं आचार्य चरण से प्रारम्भ होती है। पाटोत्सव मार्गशीर्ष शुक्ला 2 (द्वितीया) है।

(18) श्रीपद्मनाभ भट्टाचार्य

पाटोत्सव वैशाख कृष्ण 3 (तृतीया)।

(19) श्रीउपेन्द्र भट्टाचार्य

पाटोत्सव चैत्र कृष्णा 4 (चतुर्थी)।

(20) श्रीरामचन्द्र भट्टाचार्य

पाटोत्सव वैशाख कृष्णा 5 (पंचमी)।

(21) श्रीवामन भट्टाचार्य

पाटोत्सव ज्येष्ठ कृष्णा 6 (षष्ठी)।

(22) श्रीकृष्ण भट्टाचार्य

पाटोत्सव आषाढ कृष्णा 9 (नवमी)।

(23) श्रीपद्माकर भट्टाचार्य

पाटोत्सव आषाढ़ कृष्णा 8 (अष्टमी)

(24) श्रीश्रवण भट्टाचार्य

पाटोत्सव कार्तिक कृष्णा 9 (नवमी)।

(25) श्रीभूरि भट्टाचार्य

पाटोत्सव आश्विन कृष्णा 10 (दशमी)।

(26) श्रीमाधव भट्टाचार्य
पाटोत्सव कार्तिक कृष्णा 11 (एकादशी)।

(27) श्रीश्याम भट्टाचार्य
पाटोत्सव चैत्र कृष्णा 12 (द्वादशी)।

(28) श्रीगोपाल भट्टाचार्य
पाटोत्सव पौष कृष्णा 11 (एकादशी)।

(29) श्रीबलभद्र भट्टाचार्य
पाटोत्सव माघ कृष्णा 14 (चतुर्दशी)

(30) श्रीश्रीगोपीनाथ भट्टाचार्य
पाटोत्सव श्रावण शुक्ला 7 (सप्तमी)।

(31) श्रीकेशव भट्टाचार्य
पाटोत्सव चैत्र शुक्ला 1 (प्रतिपदा)।

(32) श्रीगौंगल भट्टाचार्य
पाटोत्सव चैत्र कृष्णा 2 (द्वितीया)।

अनन्त श्रीविभूषित श्रीचक्रसुदर्शनावतार आद्याचार्य जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र से लेकर जगद्विजयी प्रस्थानत्रयी भाष्यकार श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी पर्यन्त सभी आचार्यचरण पंचद्राविड़ (दाक्षिणात्य ब्राह्मण कुलोत्पन्न) ब्राह्मण थे। तदनन्तर श्री श्रीभट्ट देवाचार्यजी से लेकर वर्तमान आचार्य चरण (श्री 'श्रीजी' महाराज) पर्यन्त सभी आचार्य चरण पंच गौड (गौड ब्राह्मण कुलोत्पन्न) ब्राह्मण ही पीठासीन होते आ रहे हैं।

श्रीसनकादि-संसेव्य भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु जगद्गुरु आद्याचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी को देवर्षि श्रीनारदजी से संप्राप्त हुये थे, जो कि श्रीनिम्बार्काचार्यजी से लेकर वर्तमान आचार्य चरण श्री 'श्रीजी' महाराज पर्यन्त उपर्युक्त इन सभी आचार्य चरणों (पूर्वाचार्यों) द्वारा संसेवित होते आ रहे हैं। अतः यह श्रीविग्रह अति प्राचीन और चमत्कारपूर्ण है।

वही सनकादि-संसेव्य, सभी पूर्वाचार्यों द्वारा संपूजित, अति-प्राचीन, सूक्ष्म शालिग्राम श्रीविग्रह, भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु, अद्यावधि (आज भी) अ.भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, सलेमाबाद (राजस्थान) में विद्यमान है, जो कि श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के परमाराध्य एवं कुलदेव हैं। यही कारण है कि इन्हीं श्रीसर्वेश्वर प्रभु की श्रीनिम्बार्काचार्य से लेकर वर्तमान आचार्य पर्यन्त परम्परागत सेवा चली आने के कारण श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय में एकमात्र जगद्गुरु (आचार्यगादी) अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, सलेमाबाद ही है एवं सम्बन्धित शाखा स्थान भारत में यत्र-तत्र की संख्या में विद्यमान हैं।

(33) आचार्यवर्य श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य दिग्विजयी प्रस्थानत्रयी भाष्यकार श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य इस आचार्य परम्परा में श्री हंस भगवान् से 33 वीं संख्या में श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ पर विराजमान थे। आपका आविर्भाव तैलंग देशस्थ वैदूर्यपत्तन (मूंगीपट्टन) श्रीनिम्बार्काचार्यजी की वंश परम्परा में ही हुआ था। आपका स्थिति काल 13वीं शताब्दी माना जाता है। आपने भारत भ्रमण कर कई बार दिग्विजय किया था। काश्मीर में अधिक निवास करने के कारण आपके नाम के साथ 'काश्मीरि' विशेषण प्रसिद्ध हो गया था। काश्मीर में ही आपने वेदान्त सूत्रों पर **'कौस्तुभ प्रभा'** नामक विशद भाष्य लिखा और उज्जैन में कुछ दिनों स्थाई निवास कर श्रीमद्भागवत पर ''**तत्त्व प्रकाशिका**'' नामक टीका लिखी, किन्तु उसमें 'वेदस्तुति' वाला सन्दर्भ ही उपलब्ध है। इसी प्रकार आपका एक **'क्रमदीपिका'** नामक ग्रन्थ भी है, जिसमें मन्त्रानुष्ठान का विधि पूर्वक वर्णन है। श्रीमद्भगवद्गीता एवं उपनिषदों पर भी आपकी विस्तृत संस्कृत टीका है।

एक बार आपने सुना कि श्रीकृष्ण जन्म भूमि मथुरा में विश्राम घाट के मुख्य मार्ग के दरवाजे पर तान्त्रिक यवनों ने एक ऐसा यन्त्र लगाया है कि उसके नीचे से जो कोई हिन्दू निकलता है वह सुन्नत होकर मुसलमान बन जाता है। इस प्रकार उस तान्त्रिक बल पर कई हिन्दू विधर्मी बना लिए गये, तब आपने वहाँ आकर अपनी तन्त्र-मन्त्र शक्ति से उसी स्थान पर एक ऐसा यन्त्र बाँधा, जिससे उसके नीचे से निकलने पर कई मुसलमान चोटी उत्पन्न होकर हिन्दू बनने लगे। यह आश्चर्य देख यवनों का मुखिया काजी आकर आपके शरणागत हुआ और आगे के लिए एक पट्टा (प्रतिज्ञा-पत्र) कर दिया कि हम तथा अन्य सभी व्रजमण्डल चौरासीकोश के यवन आपकी शरण में रहेंगे इत्यादि। अन्य भी अनेक विषय उस पट्टे में उल्लिखित हैं। उस प्रतिज्ञा-पत्र की प्रतिलिपि अद्यावधि भी सुरक्षित विद्यमान है। इस भाँति इन श्रीआचार्य पाद के बहुत चरित्र हैं, जिनकी विशेष जानकारी के लिए आचार्य चरित्र एवं **'श्रीकेशव दिग्विजय सार समुच्चय'** नामक ग्रन्थ देखने चाहिये। आपने मुसलमान बने हुए हिन्दुओं की पुनः शुद्धि भी की। इस प्रकार सर्वत्र फैले हुए पाखण्ड का नाश कर वैष्णव धर्म की विजय पताका फहराई।

एक बार एक मूर्ख (जड) ब्राह्मण बालक को भी जिसका पिता उसकी जड़ता पर अहर्निश चिन्तित रहा करता था, शरणागत होने पर श्रीसरस्वती देवी का आवाहन कर उसके द्वारा वरदान दिलाकर संस्कृत का धुरंधर विद्वान् बना दिया। ऐसे आपके अनेक चरित्र मिलते हैं। आप अधिकतर मथुरा में श्रीध्रुव-नारद टीला पर ही निवास किया करते थे। आपका पाटोत्सव **ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी** को मनाया जाता है।

(34) आचार्यश्री श्रीभट्टदेवाचार्य

आपका आविर्भाव गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। आपके पूज्य माता-पिता मथुरापुरी ध्रुव टीला पर निवास करते थे। आचार्य परम्परा में श्रीहंस भगवान् से आपश्री 34वीं संख्या में विद्यमान थे। प्रस्थानत्रयी भाष्यकार जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि जैसे श्री गुरुदेव तथा

महावाणीकार रसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज जैसे शिष्य आपकी दिव्य गरिमा के द्योतक हैं। इससे आपके प्रखर वैदुष्य तथा दिव्य तप का सहज ही पता लग जाता है। संस्कृत एवं हिन्दी दोनों ही भाषाओं पर आपका पूर्ण अधिकार था। आपके द्वारा निर्मित अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें भाषा ग्रन्थ "**श्रीयुगल-शतक**" का रसिक समाज तथा भक्त समाज में विशेष प्रचार है। यह ग्रन्थ ब्रज भाषा की 'आदि वाणी' नाम से कहा जाता है। ब्रजभाषा में सर्व प्रथम इसी ग्रन्थ का निर्माण हुआ। इस ग्रन्थ में श्रीप्रिया-प्रियतम की नित्य निकुञ्ज लीला विहार की सुललित रसमयी लीलाओं से सुसम्पन्न सौ पद हैं। अष्टयाम सेवा और वर्ष भर के सभी उत्सवादि का अत्यन्त मनोहर रसमय पूर्ण हृदयग्राही वर्णन है। एक समय श्रीभट्टदेवाचार्यजी ने "भीजत कब देखो इन नैना" इत्यादि पद से युगल सरकार का ध्यान किया। ध्यान करते ही तत्काल श्रीप्रभु ने अभिलाषानुसार दर्शन दिये। भगवान् श्रीराधा-कृष्ण इनकी गोद में विराजमान रहा करते थे तथा विविध प्रकार की इनके साथ क्रीड़ा किया करते थे। श्रीधामवृन्दावन में आपकी अगाध निष्ठा थी। वे अपने आपको तथा आराध्य देव भगवान् श्रीराधाकृष्ण को श्रीवृन्दावन से बाहर देखने की बात नहीं करते थे। उन्होंने एक पद में यही बताया है कि—

रे मन! वृन्दाविपिन निहार।
यद्यपि मिले कोटि चिन्तामनि तदपि न हाथ पसार।।
विपिन राज सीमा के बाहर हरि हूँ को न निहार।
जय "श्रीभट्ट" धूरि धूसर तनु यह आसा उर धार।।

धाम निष्ठा की भाँति वे अपने आराध्यदेव की अनन्य निष्ठा के सम्बन्ध में भी कहते हैं कि—

सेव्य हमारे हैं सदा, वृन्दाविपिन विलास।
नंद नंदन वृषभानुजा, चरण अनन्य उपास।।

आपका स्थिति काल 13वीं शताब्दी का अन्त और 14वीं शताब्दी का प्रारम्भ काल था। आप अपने 'श्रीयुगल शतक' के अन्तिम एक दोहे में बता रहे हैं कि—

नयन बाण पुनि राम शशि, गनौं अंग गति वाम।
प्रगट भयो श्रीयुगलशत, यह संवत अभिराम।।

इस प्रकार इस ग्रन्थ रत्न का रचना काल विक्रम सम्वत् 1352 बताया जाता है। इनका पाटोत्सव आश्विन शुक्ला 2 (द्वितीया) को मनाया जाता है।

(35) आचार्यवर्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्य

आप इस परम्परा में 35वीं संख्या में आचार्य पीठासीन थे। आपके भी संस्कृत एवं ब्रज भाषा में विरचित अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें "**महावाणी**" प्रधान ग्रन्थ है। यह रस ग्रन्थों में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। यह महावाणीजी श्रीभट्टदेवाचार्यजी कृत श्रीयुगलशतक का मानों बृहद् भाष्य ही है। श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज विशेषतया मथुरापुरीस्थ नारद टीला पर निवास किया करते थे। अधिक समय तो आप लोक कल्याणार्थ भ्रमण में ही रहा करते थे।

भ्रमण काल में वैष्णव धर्म का आपने सर्वाधिक प्रचार-प्रसार किया। सर्वत्र वैष्णव धर्म की विजय वैजयन्ती फहराई।

श्रीसर्वेश्वर प्रभु की राज भोग सेवा के पश्चात् स्थान पर या भ्रमण काल में सर्वत्र वैष्णव सेवा भी मुख्यतया आपके यहाँ बृहद् रूप से हुआ करती थी। शरणागत जनों को जहाँ-तहाँ पंच संस्कार पूर्वक वैष्णवी दीक्षा देकर परमार्थ की ओर अग्रसर करते हुए भगवद्शक्ति का प्रचार करना ही आपका मुख्य लक्ष्य था।

भगवत् सेवा परायणता, अतिथि सत्कार और जीवों को भगवद्शक्ति रूप सद्ज्ञान की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त जीव मात्र के प्रति दया के सम्बन्ध में तो उनका एक चमत्कारपूर्ण सुप्रसिद्ध वृत्तान्त इस प्रकार है, जिसका वर्णन उपर्युक्त भक्तमाल के 'छप्पय' से भी स्पष्ट हो जाता है—

एक बार आप सन्त मण्डली सहित भ्रमण करते हुए 'चटवावल' नामक ग्राम में, काश्मीर जम्बू के सन्निकट पहुँचे, वहाँ एक बहुत सुन्दर बाग और उसके समीप एक देवी का मठ था। जल जंगल की सुविधा देख आप एकान्त में वहीं ठहर गये। थोड़ी देर पश्चात् क्या देखते हैं कि देवी के मठ में पशु बलि (बकरे की बलिदान) की तैयारी हो रही है, यह देखकर आपको बड़ी ग्लानि हुई और सन्त मण्डली सहित आपने उस दिन भोजन नहीं पाया। यह भागवतापराध देवी से सहन नहीं हुआ। उसने स्वयं आचार्यश्री की सेवा में पहुँच भोजन करने की प्रार्थना की तथा स्वयं महाराज से वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर वहाँ के मुखिया जागीरदार को भी ग्राम सहित आचार्यश्री का शिष्य बनवाकर वैष्णवी दीक्षा दिलवाई और सदा के लिए अपने यहाँ पशु बलि का निषेध कर मिष्ठान्न प्रसाद बनवाकर नैवेद्य लगाने का आदेश दिया।

शिष्य परम्परा

श्रीरसिकराजेश्वर महावाणीकार नित्यनिकुञ्जेश्वर युगल-किशोर श्रीश्यामाश्याम की नित्य विहारमयी लीलाओं के उज्ज्वल रसोपासक प्रबल प्रताप परमयशस्वी ख्यातनामा अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य स्वामी श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज के मुख्यतया साढ़े बारह हजार शिष्य थे, जिनमें आधे से अधिक श्रीवैष्णवी दीक्षा सम्पन्न थे। इनमें आचार्यगादी आचार्यश्री ने शिष्य परिकर में अपने कृपापात्र श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज को दी। साथ ही अपनी निजी सेवा, पूर्वाचार्यों द्वारा परम्परागत श्रीसनकादि-संसेव्य शालिग्राम विग्रह स्वरूप ठाकुर श्रीसर्वेश्वर प्रभु (आराध्यदेव) की सेवा भी प्रदान की।

तत्पश्चात् अन्य शिष्यों ने भी अपने प्रखर वैदुष्य तथा त्याग तपस्या द्वारा शक्ति का प्रचार-प्रसार करते हुए जहाँ-तहाँ मठ, मन्दिरों की संस्थापना की, जो उनकी 'द्वारा गादी' के नाम से प्रसिद्ध है। वे भी बड़े बड़े विशाल मठ, मन्दिर हैं। इस प्रकार श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज एवं उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा भारत में सर्वत्र भक्तिपूर्ण वैष्णव धर्म का बहुत ही सुन्दर प्रचार-प्रसार हुआ।

श्री स्वामी हरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज के साढ़े बारह हजार शिष्यों का नामोल्लेख अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्री नारायणशरणदेवाचार्यजी महाराज ने स्वनिर्मित **'श्रीआचार्य चरितम्'** नामक ग्रन्थ के 14 वें विश्राम के अन्त में श्लोक संख्या 43 के अन्तर्गत किया है, वह इस प्रकार है—

श्रीमद्व्यासपदारविन्दमधुपं श्रीपर्शुरामं तथा
गोपालं मदनादिकञ्च तमहं बाहूबलं वोहितम्।
वन्दे केशव-माधवोद्धव-हृषीकेशं स्वभूरामकं
सर्वान् ज्ञानविरागभक्तिनिकरान् श्रीलापरं चंडिकाम्।।

श्रीहरिव्यासदेवाचार्यचरण चञ्चरीक-श्रीपरशुरामदेवाचार्य, श्रीगोपालदेवाचार्य, श्रीमदनगोपालदेवाचार्य, श्रीबाहुबलदेवाचार्य, श्रीवोहितदेवाचार्य, श्रीकेशवदेवाचार्य, श्रीमाधवदेवाचार्य, श्रीउद्धव (घमंड) देवाचार्य, श्रीहृषीदेवाचार्य, श्रीस्वभूरामदेवाचार्य, श्रीलपरागोपालदेवाचार्य और श्रीमुकुन्ददेवाचार्य इन सभी महात्माओं को, जो कि भक्ति और ज्ञान के प्रकाश करने वाले थे, मैं सादर दण्डवत् प्रणाम करता हूँ और इनके साथ ही साथ श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज की परम शिष्या श्रीहरिभक्तिपरायणा श्रीचण्डिका (श्रीदेवीजी) को भी प्रणाम करता हूँ।

यह देवी आजकल काश्मीर जम्बू के सन्निकट वैष्णवी देवी के नाम से प्रसिद्ध है। जहाँ जीव-हिंसात्मक बलिदान न होकर मिष्टान्न भोग लगाया जाता है।

इस प्रकार रसिक-राजराजेश्वर जगद्गुरु निम्बार्काचार्य स्वामी श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज की ख्याति देश में सर्वत्र हो गई थी। आज भी इस सम्प्रदाय के लोग एवं सन्त-जन जहाँ-तहाँ अपने आपको हरिव्यासी के नाम से कहा करते हैं। आपका पाटोत्सव **कार्तिक कृष्णा 12 (द्वादशी)** को मनाया जाता है।

सखी भाव की उपासना में आप 'श्रीहरिप्रिया' सहचरी के नाम से प्रसिद्ध है। आपके द्वारा रचित ''श्रीमहावाणीजी'' के पदों में ''श्रीहरिप्रिया'' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। श्रीमहावाणीजी श्री निम्बार्क सम्प्रदाय की अमूल्य निधि है। इसमें आपने श्रीप्रिया-प्रियतम की नित्यनिकुञ्जोपासना में सखी-भाव को ही मान्यता प्रदान की है। जैसे—

प्रातः कालहि ऊठिके, धार सखी को भाव।
जाय मिले निज रूप में, याकी वहै उपाव।।

(36) आचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्य

आचार्यवर्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्य महाराज के पश्चात् आचार्य पद पर श्रीपरशुरामदेवाचार्य महाराज अभिषिक्त हुए। इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी है। ये बड़े ही प्रतिभा सम्पन्न उच्चकोटि के सिद्ध आचार्य थे। इनकी कीर्ति और महिमा सर्वत्र फैली हुई थी। इन्होंने अपने श्री गुरुदेव के आदेश से 'पद्मपुराण' में परिवर्णित निम्बार्कतीर्थ नामक परम

पावन मरुस्थल में पुष्कर क्षेत्र के समीप पर मस्तंगशाह नामक यवन फकीर को परास्त कर वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार किया।

जहाँ पर आज कल श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ स्थित है, वह स्थान आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व भयंकर बीहड़ वन था। उस जंगल में एक प्राचीन परम मनोहर अति सुन्दर जल पुष्प और लता वृक्षों से समन्वित आश्रम था, जिस आश्रम को एक पैशाचिक सिद्धि सम्पन्न दुष्ट यवन फकीर मस्तगशाह ने अपने आधिपत्य में कर लिया था। उस आश्रम के सन्निकट होकर ही द्वारका धाम जाने का प्रधान मार्ग था। वह मदान्ध फकीर उस मार्ग से जो कोई धार्मिक जन यात्रा के लिए निकलता हो उन्हें बड़ा ही दुःख पहुँचाया करता था। एक समय कुछ साधु सन्त महात्मा इसी मार्ग से द्वारका धाम को जा रहे थे। जब ये फकीर के निवास स्थान के सन्निकट पहुँचे तो फकीर ने इन सभी सन्तों को अपनी पैशाचिक सिद्धि के बल पर रोक लिया और विभिन्न प्रकार का उनके साथ दुर्व्यवहार करते हुए तंग किया, जिससे सन्तों को महान् कष्ट हुआ। जैसे-तैसे उस नर-पिशाच से जान बचाकर वे वहाँ से लौट पड़े और मथुरापुरी में श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज के सन्निकट पहुँच कर उस यवन फकीर द्वारा किये गये दुष्कृत्य का संपूर्ण वृत्तान्त श्रवण कराया। श्रीचरणों को यह जानकर बड़ा ही दुःख हुआ। आपने अपने कृपापात्र (शिष्य) श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी को आदेश दिया कि तुम उस दुष्ट यवन को जाकर परास्त करो। कारण तुममें उसको परास्त करने का पूर्ण सामर्थ्य एवं सिद्धि बल भी है। आचार्यश्री की आज्ञा पाकर कुछ सन्तों को साथ लेकर श्रीपरशुरामदेवजी ने उस यवन फकीर को परास्त करने एवं साधु महात्माओं के तथा धर्म प्राण जनता के दुःख दूर करने और वैष्णव धर्म के प्रचार निमित्त प्रस्थान किया। सर्वप्रथम तीर्थगुरु श्रीपुष्करराज पहुँच कर स्नान किया। वह यवन यहाँ से 12 कोस की दूरी पर रहता था। एक दिन सन्त मण्डली सहित वहाँ पहुँच गये, जहाँ पर वह सन्तद्रोही दुष्ट फकीर था। आये हुए सन्तों को देख उस यवन फकीर ने अपनी सिद्धियों द्वारा सबको मूर्छित करना चाहा, किन्तु कई बार प्रयोग करने पर भी वह सफल नहीं हो पाया। साथ ही उसके संपूर्ण देह में विद्युत प्रहार की भाँति जलन पैदा होने लगी। उस यवन के पास तीन पैशाचिक सिद्धियाँ थीं, जिनको श्रीपरशुरामदेवजी महाराज ने क्रमशः हरण कर लिया। जब उसने सभी प्रकार से अपने आपको असहाय एवं असमर्थ पाया तो करुण क्रन्दन कर क्षमा याचना करने लगा। बहुत अनुनय विनय करने के अनन्तर श्रीचरणों ने उसे क्षमा करके अन्यत्र चले जाने को कहा। आज्ञानुसार उसने वैसा ही किया। वह वहाँ से चला गया, किन्तु अन्तिम समय में उसने फिर वहीं आकर अपने शरीर को इस आश्रम से कुछ दूर पर अन्त किया। जिसकी कब्र अद्यावधि श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ परशुरामपुरी (सलेमाबाद) से कुछ दूरी पर दक्षिण दिशा में विद्यमान है। वह यवन पीछे परम भगवद्भक्त हो गया था।

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी ने द्वारका धाम के मार्ग को निष्कण्टक बनाकर इस भयंकर मरुस्थल प्रदेश (रेतीले स्थान) में वैष्णव धर्म का प्रचार करते हुए श्रीनिम्बार्कतीर्थ में कुछ दिन पर्यन्त निवास कर पुनः मथुरापुरी की ओर गमन किया। श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने इनके कार्यकौशल तथा सिद्धि बल के प्रभाव को देखकर परम प्रसन्नता प्रकट की और सब प्रकार से योग्य समझकर इन्हें अपने पद पर प्रतिष्ठित करके तथा भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा देकर

अन्तिम बार यही आदेश प्रदान किया कि उसी मरुस्थल प्रदेश में जाकर वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार करो। श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी पुनश्च श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा सहित श्रीआचार्यवर्य के आदेशानुसार मरुस्थल प्रदेश में आकर भगवद्भक्ति की गङ्गा बहाने लगे। ये कभी-कभी अपने निवास स्थान से पुष्कर जाकर अनेक दिवस पर्यन्त नागेश्वर पर्वत की कन्दराओं में भी निवास करते और फिर अपने आश्रम आ जाते। इन्होंने अपने निवास स्थान के लिए किसी भी प्रकार के घर का निर्माण नहीं किया। केवल एक पीलू वृक्ष के नीचे रहकर तपस्या धूनी (हवनकुण्ड) पर श्रीयुगल आराधना करते थे। इनके द्वारा निर्मित **'परशुराम सागर'** नामक विशाल ग्रन्थ है। इसकी रचना दोहे, चौपाई, छन्द, बरवै, छप्पय और पद आदि अनेक छन्दों में हुई है। यह विशाल ग्रन्थ 4 भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन विद्वद्वर डॉ. श्रीरामप्रसादजी शर्मा एम. ए. पी-एच. डी., प्रवक्ता राजकीय महाविद्यालय किशनगढ़ (राजस्थान) ने किया है। यह ग्रन्थ परम उपादेय मनन करने योग्य है, छपाई-सफाई चित्ताकर्षक है।

इन श्रीआचार्य चरण ने यवनों के प्रबलतम आक्रमण के समय, जबकि इन दुष्ट यवनों ने संपूर्ण भारत को अपने आधिपत्य में कर लिया था, और हिन्दू जनता को विविध प्रकार से दुःखित करते थे, मन्दिरों को ध्वस्त तथा देव मूर्तियों को खण्डित करते थे। सर्वत्र यावनीय बर्बरता से त्राहि-त्राहि मचा रखी थी, तब इन दुष्टों को जहाँ-तहाँ सर्वप्रकार से परास्त कर वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार कर हिन्दू जनता का कल्याण किया था। आचार्यश्री ने जन-कल्याणार्थ सदा के लिए पुष्कर क्षेत्र में ही निवास किया। कभी आप पुष्कर निवास करते तो कभी श्रीपरशुरामपुरी तथा कभी अन्यान्य प्रान्तों में परिभ्रमण कर सनातन धर्म का उत्थान करते थे।

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज के अनेक चरित्र मिलते हैं, जो कि श्रीसर्वेश्वर प्रभु से सम्बद्ध हैं। उदाहरणार्थ एक दो चरित्र नीचे दिये जा रहे हैं।

एक समय शेरशाहसूरी बादशाह अपने कोई सन्तति (पुत्र) न होने से पुत्र प्राप्ति के लिए अजमेर ख्वाजा की यात्रार्थ आया हुआ था। परन्तु विविध उपायों के करने पर भी वह पुत्र रत्न से वंचित ही रहा। उस समय बादशाह की सेना के जोधपुर राज्यान्तर्गत खेजड़ला ग्राम के प्रसिद्ध ठाकुर श्रीशियोजी भाटी सरदार सेनापति थे और इधर ये श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी के परम्परागत शिष्य भी थे। इन्होंने एक दिन बादशाह से निवेदन किया कि यदि आप हमारे श्रीगुरुदेव से अभ्यर्थना करें तो अभिलाषा पूर्ति हो सकती है। यहाँ अजमेर से दश कोस की दूरी पर ही वे एकांत जंगल में तपश्चर्या करते हैं। उनकी यदि अनुकम्पा हो जाय तो निःसन्देह पुत्र प्राप्ति हो सकती है। बादशाह ने सहर्ष स्वीकार किया और शीघ्र ही आकर आचार्यवर्य के दर्शन किये। बादशाह ने प्रणाम करते समय एक बहुमूल्य परिधान वस्त्र (दुशाला) समर्पित किया, जिसे आचार्य-चरणों ने उस बहुमूल्य वस्त्र को चिमटे से पकड़ कर प्रज्वलित धूनी में प्रवेश कर दिया। बादशाह का वस्त्र जब जलकर भस्म होता दिखाई दिया तो उसके मन में नाना भाँति की कुतर्क भावनायें उठने लगीं, तब आचार्यश्री ने उसकी मानसिक भावनाओं को जानकर प्रज्वलित धूनी में से उसी प्रकार के सैकड़ों दुशाले चिमटे से निकाल कर बाहर

एकत्रित कर दिये, और बादशाह से कहा तू दुःखी मत हो, तेरा इनमें से जो वस्त्र हो, उसे उठा ले जा। हमारा तो यही खजाना है। आता है, जो इसमें रख देते हैं। बादशाह ने जब यह अलौकिक विचित्र चमत्कार देखा तो उसके आश्चर्य का पारावार नहीं रहा और अपने कुत्सित विचारों पर पश्चात्ताप करता हुआ श्रीचरणों से क्षमा प्रार्थना करने लगा। आचार्यपाद ने विनय करने पर उसे क्षमा प्रदान की। तदनन्तर बादशाह ने पुत्र प्राप्ति के लिए आपसे प्रार्थना की। आपने कहा पुत्र प्रदाता तो भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु ही हैं, जाओ। तब भाटी सरदार श्रीसियोजी ने इशारा किया कि चलिए। नमन करके बादशाह अपनी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर पुनः अपने स्थान को चला गया। जब उसके पुत्र हो गया तो उसका नाम रखा सलीमशाह। फिर श्रीआचार्य चरणों की सन्निधि में आकर सेवा के लिए प्रार्थना करने लगा। आपने बहुत प्रकार से प्रार्थना करने पर भी कुछ अंगीकार नहीं किया। बादशाह यह नहीं जानता था कि इनके समक्ष मेरा वैभव तुच्छातितुच्छ तृण सदृश भी नहीं है। अन्त में उसने एक नगर निर्माण के लिए प्रार्थना की और कहा कि उस नगर का नाम मेरे पुत्र के नाम से विख्यात हो। विविध भाँति से प्रार्थना करने पर आपने इसे स्वीकार कर लिया। बादशाह जब जाने लगा तो उसने गायों के चरने के लिए 6 हजार बीघा जमीन समर्पित की। बादशाह के पुत्र के नाम से उस स्थान पर नाम **सलेमाबाद** पड़ा, यद्यपि इसका पौराणिक नाम निम्बार्कतीर्थ ही प्रसिद्ध है।

अभी भी आपके समय-समय पर प्रत्यक्ष रूप से भक्त-जनों को दर्शन होते रहते थे। उसी समय से आपके भजन स्थान पर अब भी वह स्थान जिसको 'धूनी' कहते हैं, वहाँ स्वामीजी महाराज एवं धूनी का नित्य अर्चन पूजन होता है। वह स्थान परम मनोहर एवं दर्शनीय है। वर्तमान आचार्यश्री ने इसको और भी चित्ताकर्षक बनवा दिया है, जहाँ के दर्शन कर दर्शकों का चित्त अत्यन्त भाव-विभोर हो जाता है। धूनी की विभूति लेकर अनेक भक्त-जन अपने कष्टों की निवृत्ति तथा मनोवांछित फल प्राप्त करते हैं। आपके अनेकों ही अलौकिक विलक्षण चमत्कार हैं, उनके सम्बन्ध में कहाँ तक लिखा जाय। केवल एक दो घटनाओं का वृत्तान्त नीचे दिया जा रहा है।

(1) एक बार एक ब्राह्मणकुमार घर-बार छोड़ एक ज्ञान मार्गी गुरु की शरण में पहुँचा और बहुत वर्षों तक ज्ञान प्राप्त करता रहा, किन्तु आत्मतुष्टि न होने के कारण आचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज की चरण-शरण ली। तब आपने भी उसको पंच-संस्कार युक्त वैष्णवी दीक्षा देकर भगवत्तत्त्व का सदुपदेश दिया। इस ज्ञान को पाकर उसे परम शान्ति की प्राप्ति हुई। आपकी सत्कृपा ने कालान्तर में जाकर उस ब्राह्मण को एक उच्च कोटि का सन्त बना दिया। आगे चल कर यही महात्मा **श्रीतत्त्ववेत्ताचार्यजी** के नाम से विख्यात हुए।

एक दिन आपने उसको सब प्रकार से योग्य जान यह आज्ञा दी कि अब तुम इस मारवाड़ प्रदेश में ही भ्रमण कर वैष्णव धर्म का प्रचार प्रसार करो। आपकी आज्ञा पाकर वे भी धर्म प्रचारार्थ भ्रमण करते हुए एक दिन, पूर्व गुरु के आश्रम में जा पहुँचे। उन्होंने इनको इस प्रकार वैष्णवी चिह्नों से चिह्नित देख कर कहा कि यह क्या किया? तब उसने भी अपने मन

का समस्त अभिप्राय प्रकट किया और कहा कि वास्तविक आत्म-शान्ति वैष्णव भक्ति मार्ग में ही है।

उनका अभिप्राय सुन कर पूर्व गुरु ने उनको एक जल पूर्ण कुम्भ (जल का भरा हुआ घड़ा) देकर कहा कि जाओ अपने गुरु के पास इसको बिना कहे सुने ही उनके समक्ष धर देना। इन्होंने वैसा ही किया। उस गुरु का यह अभिप्राय था कि मैंने इसको पहिले ही पूर्ण बना दिया था, तब फिर आपने इसमें क्या विशेषता की? श्रीचरणों ने भी उसके अभिप्राय को जानकर सेर भर बतासे मंगवाये और श्रीसर्वेश्वर प्रभु का नाम स्मरण करते हुए शनैः शनैः क्रमशः एक एक करके उसमें छोड़ दिए। सब बतासे पानी में घुल मिल गये तब महाराज ने उन्हीं के द्वारा उस घड़े को वहाँ भेज दिया और यह कह दिया कि तुम भी उनसे कुछ न कहना। केवल जाकर उनके सामने धर देना। उन्होंने वैसा ही किया। आपका अभिप्राय भी यह था कि आपने इसको पूर्ण बना दिया किन्तु रस नहीं था। हमने इसमें मधुरता प्रकट कर दी। इस भाव को जान कर वे महात्मा बड़े प्रसन्न हुए। ब्राह्मण बालक भी महाराज श्री के आश्रम में आकर पहिले की भाँति निवास करने लगे। एक दिन आपने कहा कि तुमने भगवत्तत्त्व को जान लिया है, अतः आज से तुम्हारा नाम संसार में **'तत्त्ववेत्ता'** के नाम से प्रसिद्ध होगा।

(2) एक बार एक सन्त ने आपके यहाँ छत्र, चँवर, हाथी, घोड़े, रथ, पालकी और सोने चाँदी के पात्र आदि देखकर कहा कि आप तो प्रपंच (माया) में फंसे हुए हैं। महात्माओं का रहन-सहन ऐसा क्यों?

तब उससे आपने विनम्र शब्दों में कहा कि भाई! क्या करें हमने तो माया को सर्वथा त्याग दिया है, किन्तु यह नटनी ऐसी है कि हमारे पीछे-पीछे चली आती है।

उसने कहा कि यह कैसे जाना जाय? इसकी तो परीक्षा हो तभी यथार्थता का ज्ञान हो। यह बात सुन आप उसी समय समस्त वैभव को छोड़ श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा तथा एक दो शिष्यों को साथ लेकर पुष्करस्थ नाग पहाड़ की कन्दरा में जाकर निवास करने लगे।

आपको वहाँ गये एक सप्ताह भी नहीं हो पाया था कि एक दिन प्रातःकाल जब श्रीसर्वेश्वर प्रभु की शृंगार आरती हो रही थी, तब उधर से एक बड़ा भारी व्यापारी (लखी बनजारा) धन सम्पत्ति से युक्त अपने परिजन के साथ निकला। वह परम वैष्णव था। उसका यह नियम था कि जहाँ कहीं भी हो भगवान् के दर्शन करके भोजन पाता था। उसने झालर घंटे की आवाज सुनी और कहा कि देखो यहाँ भगवान् का मन्दिर हैं, चलो दर्शन कर आवें और भोजन पा लें, फिर आगे चलेंगे। ऐसा कह कर उसने वहीं पड़ाव डाल दिया।

जब वह दर्शन करने के लिए पहुँचा तो भगवान् श्रीसर्वेश्वर और साथ ही अपने गुरुदेव (श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज) के दर्शन कर परम प्रसन्न हुआ। उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने कहा कि आज मेरे अहो भाग्य हैं, जो भगवान् श्रीसर्वेश्वर और पू. श्रीगुरुदेव के दर्शन हुये। उसने अपनी सम्पत्ति में से बहुत सम्पत्ति भगवान् और श्री गुरुदेव के भेंट कर दी तथा उस दिन का भोग प्रसाद (बाल) भी अपनी ओर से ही करवाया। विपुल मात्रा में वैष्णव सेवा हो रही थी कि उसी समय वह परीक्षार्थी सन्त भी जो कि परीक्षा हेतु साथ ही रह रहे थे,

उन्होंने वहाँ की भाँति यहाँ भी पूर्ण वैभव देखा तो अपने मन में बहुत लज्जित हुए और श्रीआचार्य चरणों में गिरकर अपने वचनों को वापिस लेते हुए क्षमा माँगी। सच है भगवान् के जो सच्चे भक्त हैं, माया उनके पीछे पीछे दासी की भाँति स्वयं दौड़ा करती है।

इनका जयन्ती महोत्सव **भाद्रपद कृष्णा 5 (पंचमी)** का है। यह उत्सव श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) में बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है। अन्यत्र वृन्दावन जयपुर आदि अनेक स्थलों पर भी यह उत्सव बहुत सुन्दर रूप से सम्पन्न होता है। निम्बार्कतीर्थ में इस जयन्ती महोत्सव के दिवस को समस्त जन समुदाय श्रीस्वामीजी की पंचमी अथवा गुरुपंचमी के नाम से पुकारते हैं।

अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ का श्रीजन्माष्टमी महोत्सव बहुत प्रसिद्ध है। यह आयोजन प्रतिवर्ष भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा से लेकर भाद्रपद कृष्णा 9 (नवमी) पर्यन्त अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्री "श्रीजी" महाराज के सान्निध्य में बड़े ही समारोह पूर्वक मनाया जाता है, जिसमें श्रीमद्भागवत सप्ताह प्रवचन, रासलीलानुकरण, श्रीस्वामीजी महाराज की जयन्ती, श्रीकृष्ण जन्मोत्सव, नन्द महोत्सव आदि के साथ-साथ बधाई गान, संगीत गोष्ठी, अष्टयाम सेवा, समागत सन्त महान्त एवं विद्वानों के प्रवचन तथा आचार्यश्री के सुदपदेश आदि-आदि कार्यक्रमों का विशेष आयोजन रहता है—

कृष्णजन्मोत्सवो लोके सर्वमंगलदायकः।
निम्बार्काचार्यपीठे स द्रष्टव्यः प्रीतिपूर्वकम्।।

(37) आचार्यवर्य श्रीहरिवंशदेवाचार्य

निम्बार्काचार्यपीठ पर आसीन हुए। ये आचार्य चरण भी बड़े ही प्रतिभा सम्पन्न थे। इनके प्रखर वैदुष्य, भगवद्जन वत्सलता तथा सदुपदेशों द्वारा भक्ति का अपूर्व प्रचार-प्रसार देख जयपुर, उदयपुर, भरतपुर, बीकानेर, किशनगढ़, बून्दी आदि सभी प्रमुख रियासतों के राजा महाराजा पूर्ण प्रभावित थे। आप दया-धर्म के अपूर्व भण्डार थे। प्राणी मात्र के प्रति सदा हितचिन्तन आपका प्रधान लक्ष्य था। **"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख-भाग्भवेत्"** यह उदार भावना आप में प्रत्यक्ष रूपेण चरितार्थ थी। आपका सभी के प्रति यह उद्घोष था कि श्रीसर्वेश्वर प्रभु का समाश्रय ग्रहण करो। संसार से निर्भय होने का एकमात्र यही उपाय है। आपका पाटोत्सव **मार्गशीर्ष कृष्णा 7 (सप्तमी)** है।

आपके पट्टशिष्य श्रीनारायणदेवाचार्यजी महाराज के अतिरिक्त अन्यतम शिष्यों में एक श्रीव्रजभूषणशरण भी बड़े भजननिष्ठ विद्वान्, प्रतिभा सम्पन्न एवं त्यागमूर्ति सिद्ध महात्मा थे, जिन्होंने राजस्थान, जयपुर मण्डलान्तर्गत हस्तेड़ा नामक ग्राम के ठाकुर श्रीअनूपसिंहजी को शिष्य बनाकर वहाँ एक सुन्दर मन्दिर की स्थापना करवाई। इसी के शाखा स्थान किशनगढ़-रेनवाल में भी है। हस्तेड़ा और किशनगढ़ इन दोनों स्थानों के एक ही महान्त होते आ रहे हैं। वर्तमान महान्त श्रीहरिवल्लभदासजी साहित्य, दर्शन-शास्त्री की विद्वत्ता, भजन साधन निष्ठा, साधु सेवा एवं मिलनसार प्रवृत्ति आदि सद्गुणों द्वारा आज यह स्थान उन्नतशील है।

(38) आचार्यवर्य श्रीनारायणदेवाचार्य

श्रीहरिवंशदेवाचार्यजी महाराज के पश्चात् श्रीनारायण शरणदेवाचार्यजी महाराज ने श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ को समलंकृत किया। आप भी बड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। विक्रम संवत् 1750 के आसपास महाराणा श्रीजगतसिंहजी के पूर्ण आग्रह पर उदयपुर पधारे और कुछ समय तक निवास कर भक्ति का खूब प्रचार-प्रसार किया। जिनकी प्रतिभा सम्पन्न उज्ज्वल कीर्ति के द्योतक आज भी वहाँ 'श्रीप्रयागदासजी का स्थल' तथा 'श्रीबाईजीराज का कुण्ड' आदि कई एक स्थान विद्यमान हैं। 'स्थल' के वर्तमान महान्त श्रीमुरलीमनोहरशरणजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य तथा श्रीबाईजीराज कुण्ड के वर्तमान महान्त श्रीराधावल्लभशरणजी आदि की सुव्यवस्था एवं विद्वत्ता से इन दोनों स्थानों की पूर्ण ख्याति है।

श्रीनारायणशरणदेवाचार्यजी महाराज द्वारा रचित ''श्रीआचार्य-चरितम्'' नामक संस्कृत भाषा में अनुपम ग्रन्थ है, जिसमें सभी आचार्यों के जीवन का संक्षिप्त परिचय है। आपका **पाटोत्सव पौष शुक्ला 9 (नवमी)** को मनाया जाता है।

श्रीनारायणशरणदेवाचार्यजी महाराज से लेकर श्रीगोपीश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज पर्यन्त इन आठ पीठिकाओं में होने वाले आचार्य चरणों ने श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, सलेमाबाद के अतिरिक्त मथुरा, वृन्दावन, भरतपुर, उदयपुर और जयपुर आदि नगरों में अनेक नरेशों द्वारा विशेष रूप से आमन्त्रित होकर श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा करते हुए वहीं विराजे। मठ-मन्दिरों का निर्माण हुआ और उनके नीचे राज्य द्वारा जागीरें प्रदान की गईं। फलस्वरूप इन शताब्दियों में श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय का राजस्थान प्रदेश में पूर्ण प्रभाव रहा है।

(39) आचार्यवर्य श्रीवृन्दावनदेवाचार्य

वि.सं. 1754 में आप आचार्यपीठ पर सिंहासनासीन हुये और श्रुति-स्मृतिपुराण प्रतिपादित भक्तिपूर्ण अपने सदुपदेशों के द्वारा अनुपम लोकहित किया। आपकी सादगी, सरलता, विद्वत्ता, तपश्चर्या, और त्याग आदि से जयपुर, जोधपुर, किशनगढ़, बीकानेर, भरतपुर आदि राज्यों की तवारिखों में विक्रम सम्वत् 1753 से 1797 तक आपके पुनीत नाम का उल्लेख मिलता है। कृष्णगढ़ाधीश महाराज श्रीसावंतसिंह जी (श्रीनागरीदासजी) सपरिकर आप ही के शिष्य थे। आपकी परम कृपा से उन्हें मानसिक उपासना और दृढ़निष्ठा प्राप्त हुई थी।

विक्रम सं. 1756 में आमेर नरेन्द्र महाराजा सवाई श्रीजयसिंहजी (द्वितीय) के विनय पत्र आने पर आप आमेर पधारे। नरेन्द्र ने बहुमान सम्मान पूर्वक अगवानी सत्कार करके अपने श्रीगुरुदेव को राजमहलों में पधराया। इन श्रीगुरुदेव की आज्ञानुसार महाराजा श्रीजयसिंहजी ने वि.सं. 1765 और 1791 के बीच में दो महान् यज्ञ किये। वह यज्ञ स्थल आमेर से बाहर श्रीपरशुराम द्वारा के निकट हैं, जो आज भी विद्यमान है। उन यज्ञों में अग्रपूज्य श्रीवृन्दाबनदेवाचार्य जी महाराज ही रहे। उन्हीं के आदेशानुसार वि.सं. 1784 माघ कृष्णा 5 (पंचमी) बुधवार पूर्वाह्न के समय में भारत में एक दर्शनीय महानगर जयपुर शहर बसाने की

नींव लगी। उस शहर में निवास करने के लिए वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्य एवं महत्तम महानुभाव भी आमन्त्रित किये गये। उनके लिए मठ मन्दिरादिकों का भी निर्माण हुआ।

आप संस्कृत, हिन्दी, व्रजभाषा, बंग-भाषा एवं मिथिला आदि अनेक भाषाओं के पूर्ण विद्वान् थे। आपके द्वारा निर्मित ''**श्रीगीतामृत गङ्गा**'' व्रजभाषा में बड़ा ही अनुपम ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ द्वारा संचालित 'श्रीसर्वेश्वर' मासिक के प्रथम वर्ष के विशेषांक रूप में प्रकाशित हो चुका है।

आपके समय के विद्वान् कवियों ने आपके कलिमलापह कलेवर में अलौकिक ऐश्वर्य का अनुभव किया। आचार्य श्रीवृन्दावनदेवजी ने श्रीवृन्दावन बिहारी का साक्षात्कार होने पर उनका चरित्र भी प्रकाशित किया—

श्रीवृन्दावनदेवाय गुरवे परमात्मने।
मनोमंजरी रूपाय युग्म-संगानुचारिणे।।
भजेऽहं वनाधीशदेवं महान्तं
महासौम्यरूपं जनानां सुशान्तम्।
सदा-प्रेममत्तं महाप्रेमगम्यं
मुखे राधिका-कृष्ण-लीलासुरम्यम्।।

श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ के अति सन्निकट होने के कारण ''रूपनगर'' किशनगढ़ के राजा-महाराजाओं का आचार्य पीठ एवं श्री वृन्दावनदेवाचार्यजी के चरणों में और भी विशेष अनुराग बढ़ा। आचार्य चरणों के सम्पर्क से इस राजकुल के तत्कालीन राजा, राज-महिला एवं राज-परिकर और प्रजा-जनों में भगवद्भक्ति का अनुपम विकास हुआ। महाराजा श्रीराजसिंहजी, राजमहिषी श्रीबाँकावतीजी कुंवर श्रीसावंतसिंह जी (श्रीनागरीदासजी), राजकुमारी श्रीसुन्दरकुंवरि जी और इनके दास और दासियाँ भी विशिष्ट भक्त कवि बने। इन सभी भक्त कवियों द्वारा अनेक भक्ति पूर्ण ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिससे भक्ति का खूब प्रचार-प्रसार हुआ।

आपके समय की एक चमत्कार पूर्ण घटना

किशनगढ़ नरेश महाराजा श्रीसाँवतसिंहजी (श्रीनागरीदासजी) की बहिन श्रीसुन्दरकुंवरिजी ने आचार्यश्री की चमत्कार पूर्ण एक घटना का अपने 'मित्र शिक्षा' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार वर्णन किया है—

एक समय आप अपने वैष्णवों को साथ लेकर तीर्थयात्रा करने पधारे थे। अनेक तीर्थ स्थलों में भ्रमण करते हुए पंजाब प्रान्त में पहुँचे। एक दिन मार्ग में चलते-चलते संध्या हो गई। एक ग्राम के समीप एक सुन्दर उद्यान था, उसके चारों ओर एक परकोटा तथा उसके चारों कोनों पर बुर्ज बनी हुई थी। वहाँ की जल जंगल की सुविधा देख रात्रि में निवास का विचार किया। श्रीसर्वेश्वर भगवान् की सेवा हुई, भोजन प्रसादी पाकर रात्रि में शयन किया। जब अर्द्धरात्रि का समय हुआ तो एक बुर्ज में से किसी दुःख भरे शब्दों में कराहने की आवाज आई। साथ वाले वैष्णवों ने उठकर इधर-उधर वहाँ जाकर के भी देखा, पर वहाँ कोई व्यक्ति

नजर नहीं आया। बहुत खोज करने पर उन्होंने देखा कि उस बुर्ज में जहाँ से आवाज आ रही थी, वहाँ एक कील ठुकी हुई थी। उन्होंने उस कील को उखाड़ दी। तत्काल ही वह शब्द होना बन्द हो गया। वैष्णव पुनः अपने अपने स्थान पर आकर सो गये। थोड़ी देर पश्चात् ही वहाँ कभी भैंसा, कभी सफेद वस्त्रधारी पुरुष के रूप में प्रकट और कभी अन्तर्हित हो जाता है, ऐसी भयंकर घटना को देख भयभीत होकर उन वैष्णवों ने महाराजश्री से निवेदन किया, तब महाराजश्री ने यह देखभाल कर कहा कि डरो मत, ऐसा कहते हुए हाथ में थोड़ा सा जल लेकर अभिमन्त्रित कर उसे उधर ही फेंका जिधर वह अन्तर्हित हुआ था। फिर वह दीखना बन्द हो गया। साथ वाले वैष्णव सब अपने अपने आसनों पर जाकर सो गये। तब वह मनुष्य रूप धारण करके श्री महाराज के निकट आया और दण्डवत् प्रणाम करके बोला कि महाराज! मैं प्रेत हूँ और मैं यहाँ बहुत ही उत्पात किया करता था। अतएव किसी मन्त्रवेत्ता ने मुझे इस बुर्ज में बाँध दिया है, इस कारण मेरे सिर में भारी वेदना होती थी, इसी से मैं चिल्लाया करता था। आज आपने पधार कर मुझे उस दुःख से निवृत्त कर दिया। अब आप अपनी ही शरण में मुझे भी रखिये। मैं आप और आपके साथ वाले वैष्णवों की सेवा किया करूँगा। उसकी विनयवाणी श्रवण कर इन्हें दया आई और उसके इस निश्चयात्मक विचार पर अति प्रसन्न हुए। तब उसे आश्वासन देते हुए श्री महाराज ने कहा कि अच्छा तुम्हें रखेंगे। प्रातःकाल महाराज ने सभी वैष्णवों को वह वृत्तान्त सुनाया और कहा कि वह हमारे साथ रहेगा और आप लोगों की सेवा भी करेगा। आप लोग डरना नहीं। मार्ग में सामान लेकर चलते समय सामान तो दीखेगा, पर वह नहीं। इस पर सभी ने हर्ष प्रकट किया और इस कौतूहल को देखने के लिए अत्यन्त हर्षित हुये। वह प्रेत इस प्रकार सेवा करते हुए समस्त यात्रा में साथ रहा। आश्रम पर आने के पश्चात् महाराज श्री ने उसकी मोक्ष के लिए कुछ अनुष्ठानादि का आयोजन किया, जिससे उसकी मुक्ति हुई और वह प्रार्थना करते हुए दिव्य-लोक को चला गया। आकाश मार्ग से उसकी तेज रूप ज्योति को स्पष्ट रूप से सभी ने देखा। दुःखी जीवों पर दया करना ही महापुरुषों का परम लक्ष्य होता है।

श्रीविरजानन्द तथा श्रीआनन्दघनजी भी आप ही के शिष्य थे। श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज की चरण पादुका श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ में विद्यमान है। जहाँ मनुष्य मलेरिया आदि ज्वर से पीड़ित होने पर जब दवाइयों से ज्वर नहीं जाता है, तब इनकी चरण पादुका का आश्रय लेते हैं और ज्वर से मुक्त हो जाते हैं। इनका पाटोत्सव **भाद्रपद कृष्णा 13 (त्रयोदशी)** को मनाया जाता है।

प्राचीन इतिहास के अनुसार हरिद्वार आदि कुम्भ के अवसर पर किसी कारण विशेष को लेकर शैव, शाक्त तथा वैष्णवों में एक बहुत बड़ा भारी संघर्ष चल पड़ा था। वह संघर्ष शनैःशनैः बहुत बढ़ गया और प्रचण्ड रूप धारण करता हुआ एक दूसरे के लिए प्राण-घातक बनकर सर्वत्र फैल गया।

उस समय राजस्थान में वैष्णवाचार्यों का अच्छा बल था और जयपुर नगर की स्थापना हो जाने के कारण प्रायः अनेक सम्प्रदायों के प्रमुख आचार्य भी वहाँ विराज रहे थे। जिनके पास यह समस्या आर्तनाद के साथ पहुँची, सभी ने सभा करने का निश्चय किया। जयपुर

राज्य की तवारिख और वहाँ के पुरातत्त्व संग्रहालय के लेखों से पता लगता है कि सर्वप्रथम श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधिपति श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी के सभापतित्व में जयपुर से उत्तर की ओर लगभग 30 कोस की दूरी पर एक मैदान में वैष्णवों की महती सभा हुई। कहा जाता है कि वि.सं. 1791 जहाँ पर इस सभा का श्रीगणेश हुआ था आगे चलकर उस स्थान का **'गणेश्वर'** नाम प्रसिद्ध हुआ, वहाँ से 2-3 कोस की दूरी पर उत्तर में जो द्वितीय बैठक हुई, उसका नाम **निम्बार्क स्थान (नीम का थाना)** प्रसिद्ध हुआ। उस सभा में सबको एक साथ मिलजुल कर (अर्थात् सुसंगठित होकर) रहने के लिए कुछ ऐसे साधनों और आचरणों का समन्वय किया गया, जो कि वे किसी सम्प्रदाय में नियम से माने जाते थे और किसी में उनकी उपेक्षा थी। कोई-कोई मनमुखी आचरण चल पड़े थे। वे 52 प्रतिज्ञायें थीं, जिनको कि चारों सम्प्रदाय वालों ने स्वीकार किया था। उनमें दोहरा-कण्ठी बाँधना, गोपीचन्दन का तिलक करना, एकादशी में 45 घटी का कपाल वेध मानना, दण्डवत् प्रणाम विधि आदि 13 बातें श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की थीं। अवशिष्ट 39 बातें श्रीविष्णुस्वामी, श्रीरामानन्दीय, श्रीमध्वगोडेश्वर, श्रीराधावल्लभीय आदि सम्प्रदायों की ओर से उपस्थित की गई थी। सभा में वैष्णवों की 3 अनी और उनकी 52 प्रतिज्ञायें निर्धारित की गई थी। इन अनियों का नेतृत्व वीरप्रतापी और उत्साह सम्पन्न स्वामी श्रीबालानन्दाचार्यजी को दिया गया था। फिर उन 3 अनियों के 7 अखाड़े बन गये। आगे चलकर उनके कितने ही अवान्तर प्रभेद होकर वैष्णव समाज सुसंगठित बन गया।

(40) आचार्यवर्य श्रीगोविन्ददेवाचार्य

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्री गोविन्ददेवाचार्यजी महाराज का स्थिति काल विक्रम की 18वीं शताब्दी माना जाता है। वि.सं. 1800 से 1814 तक आपने आचार्य सिंहासन को अलंकृत किया। आपके समय में आचार्यपीठ की यथेष्ट उन्नति हुई।

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज के धामवास हो जाने पर जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा, करौली आदि के नरेशों ने एक मत होकर श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ पर महाराष्ट्र देशीय शेषजयरामजी को अभिषिक्त करना चाहा। यह संघर्ष बहुत जोर-शोर से चला, किन्तु भक्त समुदाय और सम्प्रदाय के विरक्त सन्त, महान्तों ने राजाओं का विरोध किया। अन्त में राजाओं को अपना विचार बदलना पड़ा और विक्रम सं. 1800 में श्रीगोविन्ददेवाचार्यजी महाराज को आचार्यपीठ के सिंहासन पर अभिषिक्त किया। आप संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान् और विशिष्ट कवि थे। आपकी पद रचना बड़ी ही सुललित है। एक पद के अन्त में देखिये, जिसमें कि भगवान् श्रीसर्वेश्वर का नामोल्लेख भी है।

जयति वृषभानु-नन्दिनी जगवन्दिनी, कृष्णहियचन्दिनी रंग-सेवी।
प्रणत 'गोविन्द' नंद नंद सुख कन्द, सर्वेश निजदास हरिप्रिया देवी।।

श्रीनिम्बार्काचार्य पीठासीन होने के पश्चात् आप अनेक सन्तों की जमात एवं विद्वानों को लेकर विशेषतः भ्रमण किया करते थे। अधर्म का दमन एवं धर्म की स्थापना करते हुए जीवों को वैष्णव धर्म में दीक्षित कर हरि सम्मुख करना ही एक मात्र आपके भ्रमण का मुख्य

उद्देश्य था। इन आचार्य चरणों को बड़े-बड़े राजा एवं बादशाह निमन्त्रण देकर अपने यहाँ बुलाने में अपना सौभाग्य समझते थे। एक समय धर्म प्रचारार्थ आप दिल्ली पधारे। आप में कई एक ईश्वरीय गुण-विद्यमान थे। "आचार्यं मां विजानीयात्" यह उद्धव के प्रति स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है। आपकी गुण-गरिमा श्रवण कर नगर निवासियों की भीड़ उपदेशादि श्रवण एवं दर्शन करने के लिए आने लगी। इनके उपदेशामृत की प्रशंसा सर्वत्र होने लगी। रसिक महानुभावों में एक अपूर्व भावों की विशेषता होती है। जिनकी भाव पूर्ण भजन शैली एवं पराभक्ति के द्वारा जागतिक जीवों के लिए लौकिक एवं शारीरिक सम्बन्धी सभी आसक्तियों का सहज ही छुटकारा हो सकता है। आपकी प्रशंसा श्रवण कर नूरजहाँ ने भी दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। बादशाह जहाँगीर इन्हें सादर लेने के लिए पधारें। बादशाह के आग्रह से आप महल में पधारे और अपने भक्तिरूप उपदेशामृत द्वारा संपूर्ण परिवार को कृतार्थ किया।

किशनगढ़ के नरेश श्रीसाँवतसिंहजी (श्रीनागरीदासजी) और उनके छोटे भ्राता बहादुरसिंहजी में परस्पर अनबन रहती थी। कई राजा महाराजाओं ने भी उन्हें कई बार समझाया, किन्तु कलह शान्त नहीं हुआ। विक्रम सं. 1814 के आश्विन शुक्ला 9 शुक्रवार को रूपनगर से श्रीसाँवतसिंहजी और किशनगढ़ से श्रीबहादुरसिंह जी आपके कुशल समाचार पूछने आये। उस समय आप अस्वस्थ थे। दोनों भाई आचार्य चरणों के निकट बैठे थे। दोनों ही ने कुशल समाचार पूछे। इस पर महाराजश्री ने कहा जब तक रूपनगर और कृष्णगढ़ राज्य का कलह शान्त नहीं होगा, हमारा स्वास्थ्य नहीं सुधर सकेगा। दोनों ही ने कहा—क्या आज्ञा है? महाराज बोले रूपनगर की राज्य गद्दी पर सरदारसिंहजी को और कृष्णगढ़ की गद्दी पर बहादुरसिंहजी को अभिषिक्त करके आप (साँवतसिंहजी) श्रीवृन्दावन वास करिये। दोनों ने आज्ञा मानकर वैसी ही व्यवस्था की। सच है, महापुरुषों के वचनों से एक प्रबल शक्ति होती है, जिसके द्वारा बड़े से बड़े कार्य भी सहज ही में सुसम्पन्न हो जाते हैं। वे समदर्शी होते हैं। उनमें सदा एकता की भावना बनी रहती है। वे द्वेष करने वालों में भी परस्पर प्रेम भावना उत्पन्न करा देते हैं। एक कवि ने कहा है कि—

कैंची आरा दुष्टजन जुरे देत विलगाय।
सुई सुहागा सन्त-जन बिछुरे देत मिलाय।।

इनके द्वारा रचित '**श्रीयुगल रस माधुरी**' परमोत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुका हैं। आचार्यों के मंगल बधाई एवं अन्य फुटकर पद भी बहुत हैं जो श्रीवृन्दावन के समाज में जहाँ-तहाँ गावे जाते हैं। आपकी रचनाओं का एक बड़ा भारी संकलन '**हरि गुरु सुयश भास्कर**' के नाम से प्रख्यात है। संपूर्ण वाणी अनुपलब्ध हैं। इसकी हस्तलिखित एक प्रति भरतपुर राज्य में किसी काश्तकार के घर पर जैनमुनि श्रीकांतिसागरजी को प्राप्त हुई थी, जो अभी तक अप्रकाशित है। आपका पाटोत्सव दिवस **कार्तिक कृष्णा 5 (पंचमी)** है।

(41) आचार्यवर्य 'श्रीजी' श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्य जी

आचार्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज बड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। विक्रम सं. 1814 से 1841 तक आप श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ पर विराजमान थे। आपने ही

बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि श्रीजयदेव के आराध्य ठाकुर श्रीराधामाधवजी को, जो बहुत वर्षों से व्रज-मण्डलस्थ श्रीराधाकुण्ड (श्रीनिवासाचार्यजी की बैठक) पर विराजमान थे, वि.सं. 1823 में लाकर वर्तमान श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ, सलेमाबाद में प्रतिष्ठापित किया था। इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन हम श्रीराधामाधवजी के परिचय से ज्ञातव्य हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश आचार्य चरणों की श्री 'श्रीजी' संज्ञा भी आपके समय से ही प्रचलित हुई थी। पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम राजा-महाराजाओं के यहाँ से प्राप्त पत्रों एवं पट्टों में श्रीस्वामीजी तथा श्रीमहाप्रभुजी आदि विशेषणों से ही प्रयुक्त होते आ रहे थे। इस प्रसंग में एक जन-श्रुति इस प्रकार है—

जब कभी राजा-महाराजाओं की महारानियाँ भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु के दर्शनार्थ पीठ में आती थी, तब केवल एक पुजारी के अतिरिक्त और कोई भी पुरुष वहाँ नहीं रहता था और जब वे आचार्यश्री के दर्शन करने उपस्थित होतीं, तब भी केवल आचार्यश्री ही विराजे रहते थे, अन्य कोई नहीं। इसी प्रकार जब कभी आचार्यश्री आमन्त्रित होकर राज्य के रनिवासों में पधारते थे, तब भी ऐसी ही प्रथा थी। परिचारक-गण सब ड्योढ़ी पर ही ठहर जाते थे। रानियाँ एवं उनकी परिचारिकायें आचार्यश्री का अर्चन-पूजन करती थी। आचार्यश्री वहीं पर ही उनको दीक्षा (मन्त्रोपदेश) देते थे। इसमें कुछ समय भी लगता था। एक बार जयपुर के राज्य महल मे श्री गोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज आमन्त्रित होकर विराजमान थे। उस समय किसी विरोधी ने जयपुर नरेश को बहकाया। तब नरेश बिना ही किसी सूचना के तत्काल महल में जा पहुँचे। आचार्यश्री सिंहासन पर विराजमान थे। रानियाँ और परिचारिकायें उपदेश श्रवण कर रही थी। यह देखकर भी जब नरेश को संतोष नहीं हुआ, तब आचार्यश्री ने उनकी मनो-भावना जान श्रीकिशोरीजी का ध्यान किया। उसी समय नरेश क्या देखते हैं कि उसी सिंहासन पर आचार्यश्री के स्थान में श्रीकिशोरीजी विराजमान हैं। दर्शन कर राजा कृतार्थ हो गया। अब तो नरेश अपनी करनी पर पश्चात्ताप करने लगे। क्षमाचाचना के पश्चात् उसी समय जयपुर नरेश ने आपको श्री 'श्रीजी' की उपाधि से समलंकृत किया। तत्पश्चात् यह 'श्रीजी' शब्द जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधिपति आचार्यों के साथ उपनाम के रूप में व्यवहृत होने लगा है। उसी काल से लेकर जयपुर राज्य की समस्त प्रजा में परस्पर मिलने पर नमस्कार रूप में 'जय श्रीजी की' कही जाने लगी। आज भी बड़े बूढ़े लोगों में यह प्रथा प्रचलित है। यद्यपि श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों में परम्परा से ही अन्तरंग रूप से सखी भाव की उपासना चली आ रही है, कहीं गुप्त रूप से और कहीं प्रकट रूप से। श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज ने नरेश को प्रत्यक्ष रूपेण इस विषय का अनुभव स्वयं दर्शन देकर करा दिया। इस प्रकार आचार्यों के नाम में जो शरण पद लगा हुआ है, वह भी आपके समय से प्रचलित हुआ है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों के नामों के अन्त में देवाचार्य पद का ही प्रयोग होता था।

श्रीसर्वेश्वर प्रभु से सम्बद्ध एक चमत्कारपूर्ण घटना

एक समय किसी भावुक भक्त ने भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु के विशिष्ट भोग समर्पण कराया। भगवान् की राज-भोग आरती के अनन्तर जब सन्तों और भक्तों की विशाल पंगत बैठी और सभी भक्त प्रसाद लेने लगे तो रसोई के भवन की छत टूटने की एक विचित्र आवाज आई और सबके देखते-देखते भवन के छत की कई पङ्क्तियाँ भी टूटने लगी। पंगत में बैठे हुये सभी सन्त और भक्त-जन व्याकुल हो उठे। उस समय आचार्यश्री ने सान्त्वना देते हुए कहा कि डरो मत इसका अभी प्रबन्ध हो जायेगा। आपने उसी समय भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु का स्मरण करते हुये अपने हाथ की छड़ी को छत के स्पर्श करा कर सबसे कहा आप लोग शान्तिपूर्वक भगवान् का प्रसाद पा लो। आप सबके प्रसाद पा लेने पर ही यह भवन गिरेगा। हुआ भी वैसा ही, पंगत के उठने पर आचार्यश्री अपनी छड़ी को हटा कर वहाँ से बाहर आये कि उसी समय वह विशाल भवन पूरा का पूरा ही धराशायी हो गया। आचर्य चरणों द्वारा इतने बड़े विशाल भवन को गिरने से रोके जाने का चमत्कार पूर्ण दृश्य देखकर समस्त सन्त भावुक भक्तजनों को अत्यन्त विस्मय हुआ और आपके अद्भुत प्रभाव से चकित हो उठे। सन्तों ने आपश्री से भवन के अकस्मात् गिरने का कारण जानना चाहा। आपश्री ने सभी का समाधान करते हुए बताया कि देखो, आज जिस भक्त द्वारा भोग समर्पित हुआ है, वह अन्न पूर्ण पवित्र न होने के कारण ही यह आकस्मिक घटना घटी है।

इस प्रकार श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज के कितने ही महिमापूर्ण चरित्र मिलते हैं। आपका 'बृहद् वाणी' ग्रन्थ भी है, जिसका कुछ भाग सर्वेश्वर मासिक पत्र वर्ष 18 के विशेषांक रूप में **'श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी की वाणी'** के नाम से प्रकाशित भी हो चुका है। इस ग्रन्थ की ललित पदावली का मनोरम शब्द गुम्फन बड़ा ही आकर्षक और अलंकार पूर्ण है। युगलकिशोर श्यामाश्याम की रसमयी लीलाओं का चित्रण बड़ा ही भाववुक्त और परम-सरस है, जिसके अवलोकन मात्र से ही हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। आपकी प्रखर विद्वत्ता और सिद्धि सम्पन्नता सर्वविदित है। आपने अपने तपोबल से अनेक विधर्मियों को परास्त कर वैष्णवधर्म की विजय पताका फहराई। राजस्थान के अनेक राजा महाराजा और प्रजा आपके अनुगत कार्य्य की इस महत्त्वपूर्ण अलौकिक घटना से सभी को दिव्य और सात्विक प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी। भगवान् श्रीसर्वेश्वर के गुण-गान युक्त एक पद आपकी वाणी से उद्धृत किया जा रहा है—

करहुं नाथ सर्वेश्वर दीन जानि करुना।
कीजिये सनाथ मोहि आय परयो सरना।।
मैं अनादि सिद्ध दास तुम अनादि स्वामी।
विरसत क्यों कृपा सिन्धु जानि कुटिल कामी।।
अपनी दृढ़ भक्ति साधु संग मोहि दीजै।
लीला गुन रूप नांव रसना रस पीजै।।
ऊँच-नीच जोनिन मैं दुःख अपार पायो।
यथगोविन्दसरन'' दीनबन्धु जानि सरन आयो।।

इस प्रकार ऐसे प्रतापी आचार्यश्री ने 27 वर्ष तक आचार्य पीठ को सुशोभित कर विक्रम संवत् 1841 के चैत्र मास में श्रीयुगलकिशोर की नित्य निकुञ्ज लीला में प्रवेश किया। पाटोत्सव **कार्तिक कृष्णा 8 (अष्टमी)** को मनाया जाता है।

(42) आचार्यवर्य 'श्रीजी' श्रीसर्वेश्वरशरणदेवाचार्य

आप अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ को आचार्य परम्परा में श्रीहंस भगवान् से 42 वीं संख्या में विद्यमान थे। आपका जन्म जयपुर मंडलान्तर्गत सराय नामक ग्राम के समीप सूरपुरा नामक ग्राम के सुप्रसिद्ध गौडब्राह्मण पं. श्रीभवानीरामजी जोशी के घर हुआ था। आपके माता-पिता भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु के अनन्य भक्त थे। माता-पिता ने श्रीसर्वेश्वर प्रभु की कृपा प्रसाद से ही आप जैसे पुत्र-रत्न को पाया था। श्रीसर्वेश्वर प्रभु श्रीशालिग्राम स्वरूप हैं, अतः उनकी आराधना से संप्राप्त होने के कारण पिता ने इस बाल का नाम भी शालिग्राम ही रख दिया। इनके पीछे प्रभु कृपा से दूसरा भाई और हो जाने पर माता पिता ने इनको भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा में ही समर्पण कर दिया। आचार्यश्री (जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराज) के चरणाश्रित होकर दीक्षा के समय 'श्रीसर्वेश्वरशरण' यह नाम निर्धारित किये जाने के पश्चात् आपका अध्ययन प्रारम्भ हुआ। ''होनहार बिरवान के होत चीकने पात'' वाली कहावत आपके लिए पूर्ण रूपेण चरितार्थ हो जाती है। थोड़े समय के बाद ही आप हिन्दी संस्कृत भाषाओं के ज्ञाता होकर पूर्ण (प्रकाण्ड) विद्वान् हो गये। वि.सं. 1841 में आप श्रीनिम्बार्क-पीठासीन हुए।

वैसे तो जयपुर बसने के पूर्व आमेर नरेश सवाई जयसिंहजी (द्वितीय) ने राज्य गद्दी पर आसीन होते ही अपने गुरुदेव अनन्त श्रीविभूषित श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज को आचार्यपीठ (सलेमाबाद) से आमेर पधराया। आपश्री की सम्मति से और अन्य भी अनेक विद्वानों व महात्माओं को आमन्त्रित किया गया। आपश्री की आज्ञानुसार महाराज श्रीजयसिंहजी ने सं. 1784 विक्रम में जयपुर की स्थापना की। इस प्रकार आचार्य चरणों का आमेर व जयपुर नरेशों से सम्पर्क निरन्तर बना रहा। इसी परम्परा में श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराज से चतुर्थ पीठिका में श्रीसर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी एवं सवाई जयसिंहजी (द्वितीय) की चतुर्थ पीठिका में महाराज स. श्रीप्रतापसिंहजी वर्तमान थे।

इस समय में महाराज प्रतापसिंहजी ने श्रीसर्वेश्वरशरणदेवाचार्य जी महाराज की अनुमति से वैष्णवों की चारों सम्प्रदायों की स्थायी रूप से स्थापना की।

जयपुर-राज सम्मानित विद्वद्वर कवि मण्डन भट्ट ने विक्रम सं. 1878 में 'जयसाह सुजश प्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि—

माधव महीन्द्र सुत श्रीप्रताप, बुलवाय किये गुरु करि मिलाप।
निज महल बिच मन्दिर बनाय, ता में पधराये शिर नवाय।।
राधा-नंदनंदन भक्ति भाव, सीखे प्रताप नृप रचि सुभाव।
कर दिये रघुकुल के गुरु गनेश, साँचे सेवक हैं प्रतापेश।।
तिन गुरु चरनन को योग पाय, दिये सम्प्रदाय चारों बनाय।।

ब्रजनिधि श्रीप्रतापसिंहजी के पौत्र श्रीजयसिंह जी (तृतीय) के जन्मोपलक्ष्य में 'श्रीजी' श्रीसर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराज का जयपुर राज्य की ओर से महान् स्मृति महोत्सव सम्पन्न हुआ था, जिसमें राज्य कोष से लाखों रुपयों का व्यय किया गया था। यह थी उन धार्मिक राजाओं की श्रीगुरुचरणों में अपूर्व निष्ठा।

आपश्री द्वारा निर्मित अनेक स्तोत्र हैं, जिनमें कुछ मुद्रित भी हो चुके हैं। जयपुर के संस्थान श्री 'श्रीजी' की मोरी में मन्दिर के ठाकुरजी का नाम श्रीगोपीजनवल्लभजी होने के कारण उनके नाम पर निर्मित 'श्रीगोपीजनवल्लभाष्टक' आप ही की सुमधुर कृति है। आप अपने समय के श्रीमद्भागवत के अद्वितीय विद्वान् थे।

प्राय: देखा जाता है कि विद्वत्ता, प्रभुता और भक्ति रूप त्रिवेणी का संगम एक स्थान पर होना सुदुर्लभ है, किन्तु वहाँ तो उपर्युक्त तीनों धारायें समान रूप से निर्बाध प्रवाहित थी। जयपुर के सुप्रसिद्ध महाकवि श्रीरसिकगोविन्दजी आप ही के कृपापात्र थे। कवि लोग निर्भीक हुआ करते हैं। वे आलोचना करने में नहीं डरते। पर आपकी विद्वत्ता पूर्ण सुमधुर शैली से तो वे भी प्रभावित होकर बोल उठे कि मैंने कथा तो और भी कई एक वक्ताओं के मुख से सुनी है, किन्तु मुझे वास्तविकता इन्हीं की कथा में मिली है-वे अपनी कविता में लिखते हैं—

"जनक को ज्ञान, शुकदेव को विराग पूजा
पृथु की, सुभक्ति चैतन्य भक्त-राज की।
गोपिन को प्रेम, श्रीगोविन्दजू को माधुरज,
दासता हनू की, राजनीति रघुराज की।।
सत्य दशरथ की, युधिष्ठिर को धर्म-धैर्य,
काव्य-वाल्मीकि, जयदेव कवि-राज की।
नारद की सीख, सनकादिक की साधुताई,
कथा 'श्रीसर्वेश्वरशरण' महाराज की।।
देवनि के देव गुरुदेव सर्वेश्वरशरन, भू पर प्रकट अवतार जौ न धरतौ।
श्रीभागोत पुरान पुरुषोत्तम की, ऐसी भाँति कहो कोविद उबरतौ।।
कौन साधु सेती जसलेतौ दान देतो कौन,
'गोविन्द' गरीब को कलंक कैसे हरतौ।
छाय जाति मूढ़ता पलाय जाती प्रेम भक्ति,
पातकी अनेक तिन्हें पावन कौन करतौ।"

आप अपनी प्रखर विद्वत्ता के अतिरिक्त सिद्धि बल सम्पन्न भी थे। आपके समय की अनेक चमत्कार पूर्ण घटनाओं में श्रीसर्वेश्वर प्रभु से सम्बन्धित एक चमत्कारपूर्ण घटना इस प्रकार है—

एक बार भ्रमण करते हुए एक सिद्ध सन्त श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ में भगवान् श्रीसर्वेश्वर राधामाधव एवं आचार्यश्री के दर्शनार्थ आ गये। वे सिद्धि-सम्पन्न एवं स्वयंपाकी थे। जब उन्होंने भोजन बनाने हेतु सूखा सामान माँगा तो उनकी रुचि के अनुसार सभी सामान दे दिया

गया। जब उन्हें दूध दिया जाने लगा तो उनका एक छोटा सा लोटा जिसमें केवल एक पाव भर दूध ही समा सकता था, किन्तु दस सेर दूध डालने पर भी पूरा न भरा। इस विचित्र दृश्य को देख स्थानीय अधिकारी व सन्तों ने बड़े विस्मित होकर उक्त घटना की चर्चा करते हुए आचार्यश्री से विनम्रता पूर्वक निवेदन किया। भगवन्! अब उन सन्त का समाधान किस प्रकार किया जाय। तब श्री आचार्य चरणों ने प्रमुदित मन हो श्रीसर्वेश्वर प्रभु के अभिषेक के प्रसादी दूध से परिपूर्ण एक चाँदी का लोटा प्रदान करते हुए कहा कि जाओ उन सन्त का लौटा अब दूध से भर जायगा। अपने लौटे की धार भी न टूटेगी। स्थानीय सन्त-जन बड़ी उत्सुकता के साथ उन अतिथि सन्त को दूध देने के लिए पहुँचे। आचार्यश्री के निर्देशानुसार हुआ भी ऐसा ही। अभ्यागत सन्त का लोटा लबालब भर गया और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त लौटे से दूध की धार ज्यों की त्यों अविच्छिन्न रूप से गिरती रही जिससे मन्दिर का पूरा प्रांगण दूध से सिंचित हो गया। अभ्यागत सन्त इस दृश्य को देख कर विनयावनत होकर श्रीचरण पद धूलि में लुण्ठित होने लगे और बार-बार क्षमा याचना करने लगे। परम दयालु आचार्यपाद ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि आप कोई विचार न करें। यह तो पारस्परिक विनोदात्मक विषय है। यह सब उन्हीं श्रीसर्वेश्वर प्रभु की लीला का अनिर्वचनीय प्रभाव है। आपके तप तेज से प्रभावित होकर राजस्थान के अनेक राजा महाराजा आपके चरणाश्रित हो गये थे। आपने वैष्णव धर्म की महान् जागृति द्वारा संसारासक्त जन समुदाय का महान् कल्याण किया है। आपका पाटोत्सव **पौष कृष्णा 6 (षष्ठी)** का है।

(43) आचार्यवर्य श्रीजी श्रीनिम्बार्कशरणदेवाचार्य जी

आपका नाम श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा में 43 वीं संख्या में आता है। वि.सं. 1870 में आप आचार्यपीठासीन हुये थे।

जयपुर महाराजा सवाई जगतसिंहजी के कोई सन्तान नहीं थी। वि.सं. 1875 में उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी एक रानी गर्भवती थी, किन्तु जयपुर राज्य के परिकर के कुछ सामन्तों ने मोहनसिंह नामक एक व्यक्ति के राज्याभिषेक का निश्चय कर लिया। कुछ सामन्तों ने उसको यह कहकर रोका कि रानीजी के प्रसव की प्रतीक्षा की जाय। इस पर दोनों पक्ष सहमत हो गये। महारानी भटियानी श्रीआनन्दकुमारीजी ने श्रीनिम्बार्काचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज से प्रार्थना की और उनकी आज्ञानुसार पुत्र प्राप्त्यर्थ श्रीसर्वेश्वर प्रभु की विशेष आराधना प्रारम्भ कर दी। श्रीस्वामी परशुरामदेवाचार्यजी के हवन कुण्ड (धूनी) पर हवन करवाया गया। प्रभु कृपा से रानी साहिबा के राजकुमार का जन्म हुआ। उनका नाम जयसिंहजी (तृतीय) रखा। जयपुर राज्य की समस्त प्रजा में हर्षोल्लास छा गया। एक वर्ष बाद जयपुर राज्य के पूज्य गुरुदेव श्री 'श्रीजी' श्रीसर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी' महाराज का विशिष्ट-स्मृति महोत्सव (मेला) किया गया। उसमें राज्य की ओर से एक लाख रुपये खर्च हुये। आचार्य पीठ की ओर से भी इतना ही व्यय हुआ। वह मेला (भण्डारा) एक ऐतिहासिक था। घृत के लिए कुण्ड बनवाया गया था। चारों धामों के साधु-सन्तों को आमन्त्रित किया गया

था। जयपुर के सुप्रतिष्ठित मण्डन कवि ने इस भण्डारे का विशद वर्णन किया है। उस पुस्तक का नाम है "**जयसाह सुजस प्रकाश।**"

विक्रम सम्वत् 1878 में वृन्दावन धाम में एक विशाल मन्दिर की नींव लगी। इकावन हजार घनफुट जमीन पर पाँच वर्ष के सतत परिश्रम से जयपुर के शिल्पियों ने अनुपम मन्दिर का निर्माण किया। उस समय इस मन्दिर की उपमा पाने वाला वृन्दावन में कोई दूसरा मन्दिर नहीं था। रंग मन्दिर, लाला बाबू, टिकारी मन्दिर, शाह बिहारी आदि विशाल मन्दिर इसके पश्चात् ही बने हैं। केवल मदनमोहन, गोविन्द, गोपीनाथ, राधावल्लभ आदि 5-7 ही विशाल प्राचीन मन्दिर थे, किन्तु उनकी आकृति शैली भिन्न थी। जयपुर की राजमाता भटियानी रानी आनन्दकुमारीजी ने अपने गुरुदेव श्री 'श्रीजी' श्रीनिम्बार्कशरणदेवाचार्यजी महाराज के आदेशानुसार यह मन्दिर बनवाकर अपने नाम को भी प्रभु से संलग्न रखने के लिए विक्रम सम्वत् 1883 ज्येष्ठ शुक्ला 9 को ठाकुर श्रीआनन्द मनोहर वृन्दावनचन्द्रजी महाराज की प्रतिष्ठा समारोह करवाई, पूजा सेवा के लिए तीन ग्राम भेंट किये और श्री 'श्रीजी' महाराज के अर्पित कर दिया, जो कि श्री 'श्रीजी' महाराज की बड़ी कुञ्ज के नाम से प्रसिद्ध है।

महारानी और स्व. नरेश की कृपापात्र रूपाँ बडारन ने भी इसी के साथ एक छोटा मन्दिर बनवा कर इसी दिवस श्रीरूपमनोहर वृन्दावनचन्द्रजी की प्रतिष्ठा करवाई। मध्य द्वारों पर संगमरमर के सुन्दर हाथी श्रीवृन्दावन के इन्हीं दोनों मन्दिरों में मिलते हैं। आचार्यश्री द्वारा विरचित कुछ फुटकर पद उत्सव संग्रहों में उपलब्ध होते हैं। आपकी प्रौढ़ विद्वत्ता एवं अपने आराध्य देव श्री सनकादि संसेव्य भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु के श्रीचरणों में अगाध निष्ठा कैसी थी, यह तो आपके द्वारा निर्मित **श्रीसर्वेश्वर प्रपत्ति-स्तोत्र** से सहज ही विदित हो जाता है।

भक्ति क्षेत्र सम्बन्धी अनेक चरित्रों के अतिरिक्त स्वदेश की सुरक्षा एवं स्वतन्त्रता पर भी आपश्री की पूर्ण भावना थी। जब ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजों द्वारा भरतपुर पर आक्रमण हुआ था, उस समय आपने अपने प्रिय शिष्य महाराजा श्री भरतपुर की मदद के लिए 300 साधुओं की सेना श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ से भरतपुर के धर्मयुद्धार्थ भेजकर भारतीय संस्कृति परम्परा का संपोषण किया था। इस प्रकार आपके इस जीवन-चरित्र से सभी को भगवद्भक्ति एवं देश-प्रेम की शुभ-प्रेरणा संप्राप्त होती है।

(44) आचार्यवर्य 'श्रीजी' श्रीव्रजराजशरणदेवाचार्य जी

'श्रीजी' श्रीनिम्बार्कशरणदेवाचार्यजी के पश्चात् श्रीव्रजराजशरणदेवाचार्यजी महाराज श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ पर अभिषिक्त हुये। आपके द्वारा रचित संस्कृत के अनेक स्तोत्र भी मिलते हैं। आप भी अपने समय के प्रतिभा-सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान् थे। आप अपने चित्र में अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली को मिलाकर उपदेशमयी मुद्रा द्वारा शेष तीनों अंगुलियों को ऊपर उठाकर मानों यह सन्देश दे रहे हैं कि—ब्रह्म, जीव और जगत् ये तीनों तत्त्व अनन्त और अनादि तथा सत्य है। ब्रह्म स्वतन्त्र है, जीव और प्रकृति ब्रह्म के अधीन है। ब्रह्म और जीव का सेव्य-सेवक भाव ही परमोपादेय है। आपके द्वारा "**श्रीसर्वेश्वर प्रणति पद्यावली**" नामक स्तोत्र बड़ा ही सुललित है।

आपकी चरण पादुका श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ में विद्यमान है। पाटोत्सव **ज्येष्ठ शुक्ला 5 (पंचमी)** को मनाया जाता है।

(45) आचार्यवर्य श्रीगोपीश्वरशरणदेवाचार्य

धर्मनिष्ठ, त्याग-तपोमूर्ति, परम निस्पृही, महान् यशस्वी आचार्यपाद "श्रीजी" श्री गोपीश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज का जन्म जयपुर मण्डलान्तर्गत हस्तेड़ा नामक ग्राम में गौड़ ब्राह्मण वंश में हुआ था। आप श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ परम्परा में श्रीहंस भगवान् से 45वीं संख्या में विद्यमान थे। आपने अपने धर्म पर आये हुए विपरीत वातावरण को देखकर जयपुर की लाखों रुपये की सम्पत्ति का तृणवत् परित्याग कर दिया था।

विक्रम सम्वत् 1900 में आप श्रीनिम्बार्काचार्य पीठासीन हुये। आपके समय जयपुर के राज्य सिंहासन पर महाराज सवाई रामसिंह द्वितीय जी आसीन थे। कुछ समय तक दोनों ओर सभी मर्यादाओं का पूर्ववत् पालन होता रहा। दैव-योग से बक्सीराम नामक एक व्यास ('श्रीजी') महाराज के अधिकारी श्रीसाधुरामजी का चरवादार महाराज श्रीरामसिंहजी की सेवा में रख दिया गया। उसके द्वारा कुछ अवैष्णव तान्त्रिकों ने अपने जादू से महाराजा रामसिंहजी को प्रभावित करना आरम्भ किया। थोड़े ही समय में नरेन्द्र की भावना बदली और वे शैव मत के कट्टर पक्षपाती बन गये। परस्पर प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद बढ़ने लगा। वि.सं. 1911 के लगभग जयपुर शहर में जिधर देखो उधर यही चर्चा सुनाई देती थी।

महाराजा श्रीरामसिंहजी जगदीश यात्रा के अवसर पर जब वाराणसी पहुँचे, तो वहाँ के मूर्धन्य विशिष्ट-स्मार्त और वैष्णव सभी विद्वानें ने नरेन्द्र को समझाया तथा हस्ताक्षर करके वैष्णव धर्म की सर्वोत्तमता एवं वैदिकता प्रमाणित की, किन्तु फिर भी नरेन्द्र के विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। दस-बारह वर्षों तक उनका हठ उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। जयपुर की अधिकतर धार्मिक जनता, बहुत से राजपुरुष और समूचा रनिवास नरेन्द्र के दुराग्रह से खिन्न था। वैष्णवाचार्यों एवं महान्तों ने एकत्रित होकर अपने कर्त्तव्य का विचार विमर्श पूर्वक निश्चय किया-यदि नरेन्द्र दुराग्रह पूर्वक वैष्णव धर्म की अवहेलना करना नहीं छोड़ता है तो सबसे अच्छा उपाय यही होगा "कर्णौ पिधाय निरयात्" इस नीति के अनुसार सभी वैष्णव जयपुर का त्याग कर दें।

महाराजा श्रीरामसिंहजी 'श्रीजी' मन्दिर में नित्य दर्शनों के लिए आया करते थे। दर्शन नमनादि के अनन्तर वे आचार्यश्री की सन्निधि में बैठकर वार्तालाप भी किया करते थे। एक दिन स्वयं प्रसंग चलाकर आचर्यश्री से प्रार्थना की-आप भस्म और रुद्राक्ष धारण न करें तो कोई बात नहीं, केवल हमारा आप से यही अनुरोध है कि—जब आपकी सेवा में रुद्राक्षादि भेंजे जाय तब उन्हें आप अपने करकमलों में ले लेंवे और अपने यहाँ रखा लेंवे, जिससे हमारा राजहठ कृतार्थ हो जाय। चाहे श्रीअंग में धारण न करावें। केवल स्पर्श ही कर लें। बस इतनी ही प्रार्थना है।

आचार्यश्री ने नरेन्द्र को समझाते हुए कहा-राजन्! रुद्राक्ष और भस्म कोई ऐसी अमेध्य वस्तु नहीं हैं, जिसका हम स्पर्श भी न कर सकते हों। वस्तुतः भूत-भावन भगवान् शङ्कर की आराधना में वह भी परमोपयोगी पुनीत ही है। जिस-जिस देव की आराधना में जिन जिन वस्तुओं के उपयोग करने का शास्त्रों में विधान मिलता है, उन वस्तुओं का उन्हीं देवों की आराधना में उपयोग करना उचित है। रूपान्तर से इस विषय को ऐसे समझना चाहिए जैसे-दूध और नमक दोनों वस्तुयें परमोपयोगी और मेध्य वस्तु हैं, किन्तु इन दोनों का मिश्रण करके उपयोग में ले लिया जाय तो वह मिथ्या आहार-विहार की गणना में आता है और उसका परिणाम विपरीत हो जाता है, यहाँ तक कि भयंकर व्याधि तक का स्वरूप बन जाता है। मिथ्या आहारविहार के परिणामों की आयुर्वेद से जानकारी कर लेनी चाहिये। भगवान् श्रीविष्णु (श्रीराम-कृष्ण) की आराधना में तुलसी ही का उपयोग होता है, रुद्राक्ष का उपयोग नहीं होता। अतः आपको अपने राजहठ के इतने दुराग्रह पर आरूढ़ नहीं रहना चाहिये। आपका यह राजहठ अनुचित है, किन्तु हमारा धर्म हठ शास्त्र-सम्मत होने पर उचित है। यदि हम उससे विचलित होकर आपके दुराग्रह की रक्षा करें तो शास्त्र-विरुद्ध होगा, साथ ही समस्त वैष्णव समाज ने आज हमें कर्णधार के रूप में मान-रखा है और हम उनसे वचन-बद्ध हो रहे हैं, ऐसी स्थिति में हम कर्त्तव्य पालन न करेंगे तो चारों ओर से यही अपकीर्ति सुनाई देगी, अमुक सम्प्रदायाचार्य ने आजीविका के प्रलोभन में धर्म विमुख होकर समाज को धोखा दिया। आपका राजहठ यदि पूर्ण नहीं होता है तो आपकी अपकीर्ति न होकर चारों ओर सुयश बढ जायेगा। जयपुर नरेश महान् धार्मिक हैं, जिन्होंने हठ छोड़कर वैष्णव धर्म की महत्ता को समझा।

राजन्! आप यह न समझो कि, आपकी दी हुई जीविका पर ही हम निर्भर हैं, अपितु चारों दिशायें हमारी जागीर हैं, दुनिया में जो कुछ वैभव है, श्रीसर्वेश्वर प्रभु का ही है, ये हमारे इष्टदेव जहाँ विराजेंगे, वहाँ ही सब प्रकार से आनन्द-मंगल रहेगा।

महाराजा श्रीरामसिंहजी निरुत्तर होकर अपने राज-महल में चले गये। उनके चित्त में निरन्तर इसी विषय की चिन्ता बनी रहती थी। विक्रम सम्वत् 1921 वैशाख शुक्ला 15 को श्रीगोपीश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज ने नरेश को सूचना दिये बिना ही श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ सलेमाबाद के लिए प्रस्थान कर दिया। जब 4-5 मील इधर सवारी आई, तब जयपुर नरेश को ज्ञात हुआ। सुना जाता है, उसी क्षण महाराजा श्रीरामसिंहजी घोड़े पर सवार होकर आचार्यश्री को लौटा कर ले आने के लिए एकाकी चल दिये। पीछे से और घुड़सवार आ गये। नरेश के नेत्रों से अश्रु-धारा बह रही थी। 4-5 मील चलने पर भी जब श्री 'श्रीजी' महाराज के दर्शन न हो सके, तब साथ वालों ने यह कह सुनकर कि अब सवारी बहुत दूर चली गई, आचार्य चरण फिर पधारेंगे। अधिकारी, पुजारी आदि सब मन्दिरों के प्रबन्धक वहाँ ही है। श्री 'श्रीजी' महाराज ने अपने जयपुर को एकदम नहीं छोड़ा है। महाराजा रामसिंहजी लौट आये। एक डेढ़ वर्ष बीत चुका, जब 'श्रीजी' महाराज लौटकर नहीं आये, तब जयपुर नरेश सलेमाबाद पहुँचे, किन्तु उस समय 'श्रीजी' महाराज जोधपुर राज्य में पधारे हुये थे। अतः दोनों का सम्मेलन नहीं हो सका। शनैः शनैः अधिकारियों को भी जयपुर से सलेमाबाद

बुला लिया गया। इस विवाद में सभी वैष्णवाचार्य एक मत थे। श्रीगोकुलचन्द्रमाजी वाले गोस्वामीजी महाराज जयपुर छोड़ कर कामवन पधार गये तथा श्रीमदनमोहनजी वाले गोस्वामीजी करौली। जब नरेश को यह निश्चय ज्ञात हुआ कि श्री 'श्रीजी' महाराज ने जयपुर का परित्याग कर दिया, तब विक्रम सम्वत् 1924 में श्री 'श्रीजी' महाराज के मन्दिरों को राज्य के अधीन किया गया।

जयपुर राज्य की ओर से श्री 'श्रीजी' महाराज को बुलाने के बहुत कुछ प्रयत्न भी किये गये, किन्तु उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी। इतनी ग्लानि हो गई थी कि उनके सामने कोई व्यक्ति जयपुर का नाम भी लेता था तो वे सुनना नहीं चाहते थे। वृन्दावन आदि जाने का कभी काम पड़ता भी था तो जयपुर राज्य की सीमा निकलने तक जल-पान नहीं करते थे। जीवन भर इस प्रतिज्ञा का पालन किया।

उस समय आचार्यपीठ में श्रीसर्वेश्वर प्रभु एवं आचार्यश्री की सेवा में साधु-सन्त और कर्मचारीगण सब मिलाकर तीन सौ के लगभग व्यक्ति थे। आय कम और व्यय बहुत अधिक था। एक दो वर्ष अकाल भी रहा। ऐसी स्थिति में पीसांगन राव राजा साहब ने अपना राज्य श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा के लिए समर्पित कर दिया। जब श्री 'श्रीजी' महाराज ने उनके अर्पित किये भेंट-पत्र (पट्टे) को पढ़ा तो उन्होंने पीसांगन नरेश को उनकी भक्ति भावना की प्रशंसा करते हुए समझाया। राजन्! श्रीसर्वेश्वर प्रभु के तो चारों दिशाओं में जागीर है। केवल जयपुर राज्य की जागीर छोड़ देने से उनकी सेवा में कोई विशेष बाधा नहीं पहुँचती। अपना राज्य आप ही उपयोग में लेते रहें। आपका राज्य परिकर भी श्रीसर्वेश्वर प्रभु का ही परिवार है। उसका भरण-पोषण भी श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा ही है।

आचार्यश्री ने बहुत कुछ समझाया, किन्तु जब पीसांगन रावजी ने नहीं माना, तब आचार्यश्री ने आज्ञा की, किन्तु लो यह भगवत्प्रसादी रूप में हमारे द्वारा दी जा रही है। इसका संचालन कीजिये और केवल दो सौ रुपए युगलकिशोर श्यामसुन्दर श्रीराधामाधव भगवान् की सेवा में प्रति वर्ष भिजवाते रहिये।

पीसांगन रावजी ने 'गुरोराज्ञा गरीयसी' मानकर आचार्यश्री की आज्ञा शिरोधार्य की और जनतन्त्र राज्य होने तक उसका पूर्ण पालन किया। पीसांगन नरेश की ओर से श्रीसर्वेश्वर प्रभु की जो सेवा हुई है, वह आदर्श एवं अनुकरणीय है। इस कुल के नरेशों की भाँति राज-महिलाओं की भक्ति-भावना का भी उच्च आदर्श रहा है। श्रीअनूपकुमारी जी आदि बाइयों की कृति (रचनाओं) से आचार्यपीठ का साहित्य पूर्ण भरा हुआ है।

पण्डित श्रीकिशोरदासजी एवं बाबा श्रीहंसदासजी आदि लेखक महानुभावों ने "**आचार्य परम्परा परिचय**" एवं **श्रीनिम्बार्कप्रभा** आदि ग्रन्थों में लिखा है कि अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधिपति श्री 'श्रीजी' श्रीगोपीश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज ने अपने इस महान् त्याग के द्वारा न केवल निम्बार्क सम्प्रदाय का ही, अपितु समस्त वैष्णव समाज का मुख उज्ज्वल कर दिया है।

आज से लगभग 50 वर्ष पूर्व जयपुर के वयोवृद्ध और विशिष्ट अन्वेषक एवं लेखक पुरोहित श्रीहरिनारायणजी द्वारा यह इतिवृत्त श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ के अधिकारी पण्डित श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य को संप्राप्त हुआ था।

यह प्रसिद्ध है कि आपके साथ हाथी, घोड़े, रथ, पालकी और ऊँट आदि सवारियाँ और श्रीसर्वेश्वर प्रभु के दुग्धाभिषेक वाली सुरभी (गौ) ये सब संग चलते थे, किन्तु आप इन सबको श्रीसर्वेश्वर प्रभु का वैभव समझकर श्रीसर्वेश्वरजी को गले में धारण करके और हाथी पर भगवान् श्रीराधाकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति श्रीमद्भागवत को विराजमान करके पुष्कर आदि राजस्थान के पुनीत तीर्थस्थलों में स्वयं पैदल यात्रा करते थे। श्रीआचार्य चरणों के तपोमय इस आदर्श से संपूर्ण राजस्थान के भक्तजन अत्यन्त श्रद्धा-भाजन बने हुये थे। वास्तव में महाराज मनु द्वारा निर्धारित आचार्य के लक्षणों का प्रत्यक्ष दर्शन होता था।

इस प्रकार विक्रम सम्वत् 1901 से वि.सं. 1928 तक अनादि-वैदिक सद्धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुये आचार्यपदारूढ रहकर आपने अनुकरणीय आदर्श की रक्षा करके श्रीनित्यनिकुञ्जबिहारी सर्वाधार श्रीराधासर्वेश्वर प्रभु की नित्य लीला में प्रवेश किया। आपका पाटोत्सव **माघ कृष्णा 10 (दशमी)** को मनाया जाता है।

(46) आचार्यवर्य 'श्रीजी' श्रीघनश्यामशरणदेवाचार्य जी

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्कपीठाधिपति श्रीघनश्यामशरणदेवाचार्यजी महाराज बड़े शान्त, सरल, समदर्शी एवं सौम्य मूर्ति थे। आपका जन्म भी जयपुर मण्डलान्तर्गत हस्तेड़ा नामक ग्राम के उस गौड ब्राह्मण परिवार में हुआ था, कि जिस वंश परम्परा में आपके पूज्य गुरुदेव श्रीगोपीश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज का था। इस परम्परा के घर आज भी हस्तेड़ा में विद्यमान है। आप विक्रम सम्वत् 1928 से विक्रम सम्वत् 1963 तक आचार्यपीठ पर विराजमान थे। आपके समय में हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी, ऊँट, बैल, गायें आदि सब प्रकार से वैभव का पूर्ण साम्राज्य था।

आप भगवान् श्रीराधामाधव तथा श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा के अतिरिक्त हरिनामस्मरण एवं जन-साधन में सतत संलग्न रहा करते थे। श्रीमद्भागवत का नित्य स्वाध्याय तथा वैष्णव सेवा आपका प्रधान लक्ष्य था। जोधपुर, बीकानेर, बूँदी आदि राज्यों में भी बड़े समारोह पूर्वक आपश्री की पधरावनी तथा कई बार तीर्थाटन आदि के संयोजन भी बड़े ठाठ-बाट पूर्वक होते रहे। आपके वचन में पूर्ण सिद्धि बल था। आपके शुभाशीर्वाद द्वारा कई भक्तों के मनोरथ पूर्ण हुये हैं। यहाँ भगवान् श्रीराधामाधव एवं श्रीसर्वेश्वर प्रभु के दर्शनों के अतिरिक्त इस तपस्थली में श्रीस्वामीजी (श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी) महाराज की धूनी की विभूति और नालाजी का जल श्रद्धालु जनों की मनोभिलाषा पूर्ण करते हैं।

आपके शुभाशीर्वाद द्वारा एक भक्त की वंशवृद्धि की चमत्कारपूर्ण घटना इस प्रकार है—

श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ (सलेमाबाद) से पश्चिम की ओर से मील की दूरी पर जंगल में एक 'मालाराम' चाड़ (गूजर) का केवल एक कच्चा घर और उसके चारों ओर काँटों का बाड़ा था। परिवार में वह और उसकी पत्नी तथा एक विधवा लड़की ये तीनों प्राणी थे। मालाराम चाड़ भेड़-बकरी रखता था। दिन भर जंगल में इधर उधर उनको चराना यही उसका एक मात्र व्यवसाय था। इसी व्यवसाय में वह धन सम्पन्न भी हो गया। खाने-पीने की कोई कमी नहीं थी, पर उसके सन्तान (लड़का) न होने के कारण वह सदा चिन्तित रहता था।

एक दिन की बात है श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ के पण्डित श्रीरामधनजी तथा श्रीलक्ष्मीनारायणजी बोरायड़ा व्यास यजमान वृत्ति करते हुए उधर से आ निकले, जहाँ पर वह भेड़ बकरी चरा रहा था। उसने दोनों हाथ जोड़े, उन्होंने आसीश दी। थोड़ी देर वहीं वृक्ष के नीचे बैठ गये। परस्पर कुशल मंगल पूछने के पश्चात् वही प्रसंग चल पड़ा, जिस दुःख से वह दुःखी था।

इसका समाधान करते हुए दोनों पण्डितों ने कहा—देख तू छुप-छुपकर भगवान् श्रीसर्वेश्वर के जंगल 'सागरमाला' में भेड़-बकरी चराता है, और लकड़ी भी काट लाता है, कभी दर्शन करना या पाई पैसा भेंट करने का काम नहीं-किसी ने सच ही कहा है—"रोपे पेड़ बबूल का आम कहाँ से खाय" वही हालत तुम्हारी है। इस पर उसने कहा-बात ठीक ही है, अब आगे ऐसा नहीं होगा, किन्तु मेरी चिन्ता निवृत्ति का कोई उपाय?

उपाय यही है, आचार्यश्री की पधरावनी कराकर उनका चरण पूजन कर शुभाशीर्वाद प्राप्त कर, भगवान् श्रीसर्वेश्वर की कृपा से सब मनोरथ पूर्ण होंगे, विश्वास दिलाते हुए पण्डितों ने कहा।

आप लोग भी क्या कह रहे हो? ऐसे मेरे भाग्य कहाँ जो कि मेरे घर महाराजश्री का पधारना हो, जब कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी इस सुअवसर के लिए लालायित रहते हैं।

दोनों पण्डित बोले तू इसकी चिन्ता मत कर। यदि हृदय में श्रद्धा प्रेम-भावना हो तो सब कुछ हो सकता है। भगवान् शबरी और विदुर के यहाँ भी तो पधारे थे। तेरी भावना हो तो हम महाराजश्री से प्रार्थना करें। मालाराम ने नम्रता पूर्वक कहा-मैं हृदय से चाहता हूँ, ऐसी कृपा हो तो कहना ही क्या? ठीक है, हम तेरी ओर से प्रार्थना करेंगे, ऐसा कह कर दोनों पण्डित आ गए।

दूसरे दिन जब मन्दिर में दर्शन कर महाराज श्री को पंचाग श्रवण कराने हेतु सेवा में पहुँचे तो श्रीचरणों की प्रसन्न मुद्रा देख निवेदन किया कि 'सरकार!' आपकी बस्ती ही का एक गूजर मालाराम है, वह पधरावनी कर चरण पूजन करना चाहता है, उसकी भावना है, फिर भगवन्! विशेष कोई दूर या असुविधा की बात नहीं। नित्य प्रति सरकार का जिधर घूमने जाना होता है, वहीं उस सेवक का घर है, सो उधर लौटते समय 10-15 मिनट के लिए कृपा हो जाय। स्वीकृति हो गई। पण्डितों ने उसे सूचना करदी। उसने निर्देशानुसार तैयारी कर ली। निर्धारित समय पर श्रीचरणों का वहाँ पधारना हो गया। मालाराम के हर्ष का पारावार नहीं।

पग पाँवड़ा पूर्वक पधरावनी कर चरण पूजन किया और यथा-शक्ति भेंट की। जब आरती करने लगा तो उसके हाथ काँपने लगे और आँखों से आँसू बहने लगे।

यह देखकर तत्काल ही परम दयालु महाराजश्री ने कहा क्यों, क्या बात है, ऐसा क्यों? इस पर दोनों पण्डितों ने तुरन्त सहारा लगाते हुए कहा कि 'महाराज! क्या बताया जाय। दाल रोटी का तो इसके यहाँ कोई घाटा नहीं, पर इसके कोई सन्तान नहीं, यह एक लड़की है, सो भी विधवा। अतः सन्तान न होने से यह दुःखी है और कोई बात नहीं। 'महाराजश्री ने प्रसन्न मुद्रा में ही कहा अभी कोई इसकी उम्र ज्यादा थोड़े ही हुई है। 30-40 वर्ष का है, चिन्ता क्यों करता है? भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु की कृपा हुई तो एक क्या सात पुत्र होंगे। अब तो सभी ने एक साथ भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु एवं महाराजश्री की बड़े ही हर्ष के साथ उच्च स्वर से जय घोष की।

महाराजश्री के शुभाशीर्वाद द्वारा समय पाकर क्रमशः उसके सात ही पुत्र हुये और फिर उन्हीं सातों की सन्तान द्वारा इतनी वंश वृद्धि हुई कि जिस स्थान पर मालाराम चाड़ का घर था, उसी स्थान पर आज 'मोतीपुरा' नाम का एक ग्राम बसा हुआ है, जिसमें उसी परिवार के सब घर हैं। भगवन्तकृपा से आज ये सभी घर धन-जन सम्पन्न हैं। यह ग्राम ही नहीं, इसके अतिरिक्त इसके गाँव से थोड़ी दूर पर इसी वंश के घासी चाड़ की ढाणी भी प्रसिद्ध है। इस वंश की आचार्यपीठ में पूर्ण श्रद्धा है। वर्तमान आचार्यचरणों की 2-3 बार बड़े समारोह पूर्वक पधरावनी की है, सहस्रों रुपये खर्च कर बावत्री आदि बड़े बड़े कार्य सम्पन्न किये हैं। तीन धाम की यात्रा आचार्यश्री के साथ तथा कुम्भ आदि पर्वों पर भी जाते रहे हैं।

मालाराम चाड़ के 7 पुत्र हुये और एक विधवा लड़की थी, उसी क्रमानुसार उसके वंश में, फिर जिस किसी के 2/4/5 सन्तान हुई, उसकी तो कोई बात नहीं, पर किसी के 7 लड़के हो गये हों, तब तो उनके वही 1 बहिन हुई और वह विधवा भी हुई। यह परम्परागत इतिवृत्त हमको अधिकारी श्रीनरहरिदासजी ने सुनाया और साथ ही यह भी कहा कि आज भी घासी चाड़ के 7 लड़के हैं तो उसकी वही एक लड़की विधवा भी है। उस समय की बात का अब भी यह प्रत्यक्ष चमत्कार है।

इसके अतिरिक्त एक बार रिड़ के राठी परिवार ने भी आपश्री की पधरावनी कराई और दस हजार कलदार चान्दी के रुपयों की चबूतरी बनाकर उस पर आपश्री को विराजमान करके चरण पूजन कर वह धन-राशि भेंट की। उसी धन राशि से आचार्यश्री ने भगवान् श्रीराधामाधवजी के चाँदी का विशाल भव्य सिंहासन (बंगला) बनवाया, जिस पर भगवान् श्रीराधामाधव सतत विराजमान हैं।

इसी प्रकार आपके समय पीसांगन राजाजी ने भी पुत्र कामना पूर्ण होने पर राजकुमार की चोटी जडूला और राजभोग आदि पीठ में श्रीस्वामीजी महाराज की तपस्थली में आकर उत्साह पूर्वक अपना मनोरथ सम्पन्न किया था, उनके यहाँ से आया हुआ रथ, पालकी आदि आज भी पीठ में विद्यमान है।

इस प्रकार आचार्य श्रीघनश्यामशरणदेवाचार्यजी महाराज की वाक् सिद्धि द्वारा कितने ही भक्तों के मनोरथ पूर्ण हुये हैं। आपका पाटोत्सव आश्विन कृष्णा 6 (षष्ठी) को मनाया जाता है।

(47) आचार्यवर्य 'श्रीजी' श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्य जी

आपका आविर्भाव विक्रम सं. 1917 के चैत्र कृष्णा त्रयोदशी सोमवार को जयपुर राज्यान्तर्गत चाकसू तहसील के 'पूरण की नागल' नामक ग्राम में एक परम पावन गौड़ ब्राह्मण वंश में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम पं. श्रीगोपालजी शर्मा गौड था और माताश्री का नाम श्रीललितादेवी था। विक्रम संवत् 1963 चैत्र कृष्णा द्वादशी सोमवार को 46 वर्ष की अवस्था में आप श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ पर सिंहासनारूढ़ हुये।

आचार्य प्रवर श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्यजी महाराज का वैदुष्य और सारल्य अनुपम था। श्रुति-स्मृति पुराणादि शास्त्रों, भक्ति परक ग्रन्थों तथा स्वसाम्प्रदायिक-वेदान्त-उपासना ग्रन्थों पर आपका अनुशीलन अनुपम एवं गम्भीर था। श्रीमद्भगवद्गीता तो आपश्री के कर कमलों से पृथक् ही नहीं होती थी। "श्रीसुदर्शन कवच" आदि का पठन प्रायः चलता ही रहता था। श्रीगोपालमन्त्रराज का जाप तो प्रतिदिन अनुष्ठान के रूप में दशांश हवन के साथ चलता ही रहता था। सूर्य के प्रखर ताप में सभी ऋतुओं में दैनिक खड़े-खड़े श्रीमन्त्रराज का जाप क्रम एक घंटे से भी अधिक समय तक सूर्य की ओर बिना पलक गिराये एक दृष्टि रखते हुए किया करते थे। ऐसी कठोर उपासना आपकी यावज्जीवन चलती रही।

वस्तुतः आपकी शान्ति, कान्ति, दयालुता, गम्भीरता इतनी महनीय थी कि जिसे स्मरण करते ही आज भी प्रत्यक्ष की भाँति अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार का महान् गुण-गरिमा पूर्ण जीवन जहाँ-तहाँ मिलना दुर्लभ है। आपके परमोच्चतम आदर्शमय जीवन से प्रभावित होकर अनेक शास्त्राचार्यों व मनीषीजनों ने आपश्री के शरणापन्न हो शिष्यत्व ग्रहण किया था। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के लब्धप्रतिष्ठ महामनीषी पण्डित-प्रवर श्रीरामप्रतापजी शास्त्री (प्रोफेसर, नागपुर) ब्यावर राजस्थान निवासी ने आप से शरणागति प्राप्त कर अपना परम सौभाग्य माना था। पं. श्रीलाडिलीशरणजी ब्रह्मचारी न्याय-व्याकरण-काव्यतीर्थ भी आपश्री के ही शिष्य थे, जो कि आचार्यपीठ के अधिकारी पद पर भी रहे। जोधपुर के महान् यशस्वी बैरिस्टर श्रीहंसराजजी सिंघवी भी आप ही के कृपापात्र थे। जोधपुर, बीकानेर, बून्दी आदि उच्चतम स्टेटों (राज्यों) के राजा महाराजा, राजरानियाँ, मन्त्रीगण आपश्री के शिष्य-प्रशिष्य थे। मारवाड़ के प्रायः सभी जागीरदार आप में परम श्रद्धा रखते हुए शरणापन्न होकर कृतार्थता का अनुभव करते थे।

इसी प्रकार जब आचार्यश्री का दक्षिण यात्रा में हैदराबाद पधारना हुआ, तब हैदराबाद स्टेट के नवाब ने आपश्री की विराट शोभा-यात्रा का आयोजन किया और स्वयं ने भावनायुक्त होकर अपनी श्रद्धा समर्पित की। राजस्थान निवासी सैनिक कमाण्डर श्रीहनुमानसिंहजी राठौड ने हैदराबाद की उस शोभायात्रा स्वागत समारोह में अतीव तत्परता

आपश्री के आचार्यत्व काल में ही अजमेर राज्य के सुप्रसिद्ध ठिकाना खरवा के राव साहब श्रीगोपालसिंहजी तथा श्रीमोडसिंहजी से अजमेर राज्य के तत्कालीन कमिश्नर सा. का सेना सहित इसी आचार्य पीठ में मिलना हुआ था। कारण यह था कि ये दोनों ही सरदार क्रांतिकारी विचारों के थे और देश को स्वतन्त्र बनाने हेतु अंग्रेजों से विरुद्ध ही प्रच्छन्न रूप से जहाँ-तहाँ रहते हुए अपने कार्य में पूर्ण संलग्न थे।

ये दोनों सरदार श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ से ही दीक्षित थे। वे इस गुरुद्वारे में इनकी बड़ी श्रद्धा भावना थी। एक दिन रात में घूमते हुये वे कहीं से यहाँ आ गये और यहीं रात्रि विश्राम किया। यह देख किसी गुप्तचर ने अजमेर कमिश्नर को खबर कर दी। प्रातःकाल होते होते ही पुलिस एवं फौज के जवानों ने घोड़ों पर चढ़कर मन्दिर को चारों ओर से घेर लिया। यह स्थिति देख ये दोनों सरदार भी अपने अपने अस्त्र-शस्त्र सम्भाल कर लड़ने को तैयार हो गये। जब आचार्यश्री को यह बात मालूम हुई तो ऐसा करने से उन्हें रोक दिया और कहा कि ऐसा करने से आपके इस स्थान को भारी क्षति पहुँचेगी। आप किसी प्रकार का विचार न करें। भगवान् अच्छा ही करेंगे।

इधर कमिश्नर साहब ने महाराजश्री से पूछकर भीतर आकर उनसे मिलना चाहा। तब महाराजश्री ने कहलवाया कि आप बिना शस्त्र के आवें और ये भी आपसे बिना शस्त्र ही मिलेंगे। इस पर कमिश्नर आये और महाराजश्री के माध्यम से मर्यादानुसार उनसे मिले और बातचीत कर सम्मानपूर्वक उन्हें अजमेर लाकर बाद में खरवा पहुँचा दिया।

जब आप दोनों सरदार मन्दिर से चलने लगे तो अपने हथियार और ऊँट ये सब भगवान् के भेंट कर दिये थे। जिनमें से कुछ हथियार तो वर्तमान आचार्यश्री ने भारत चीन के युद्धकाल में भारत सरकार के सुरक्षाकोष में जमा कराये थे।

उदयपुर (मेवाड़) के हिज हाईनेस महाराणा साहब श्रीभोपाल सिंहजी भी आपश्री के चरणों में अगाध निष्ठा रखते थे।

ठिकाना कादेड़ा (अजमेर) के स्वर्गीय ठाकुर साहब का जन्म आपश्री के शुभाशीर्वाद का ही सत्फल था। आचार्यप्रवर की दयालुता इतनी असीम थी कि जिसका वर्णन लेखनी से व्यक्त करना कठिन है। राजस्थान में जब कभी अकाल पड़ जाता था तो श्रीचरण अपने सहज दयालु स्वभाव वश कितनी ही प्रतिकूलता होने पर भी दोनों की अनाथ असहायों की अन्न-वस्त्रादि के दान से सहायता करने में बड़े ही आनन्द का अनुभव करते थे। हमारे पीठ के कामदार स्व. श्रीजगदीशचन्द्रजी वैद्य तथा श्रीरामलालजी, जयनारायणजी जसरावत एवं वर्तमान कन्हैयालाल जी गौड तथा घासीलालजी गौड़ आदि से सुना है तथा आपश्री की अन्तिम अवस्था के 5-6 वर्षों में देखा भी है, कि काश्तकारों का हासिल जो बकाया चढ़ा रहता, उन्हें कामदार लोग बुलाकर वसूल करने के लिए डांट फटकार लगाकर उन्हें रात में बन्द कर देते थे। तो एक दो रात में जब कभी मौका पाकर वे रात में जाकर महाराज श्री से प्रार्थना करते तब उनको दयावश होकर कहते कि मस्तराम दरवाजे की चाबी लेकर ताला खोलकर इनको चुपचाप बाहर कर आवो, देखना किसी को मालूम न पड़े।

दूसरे दिन उन्हें न पाकर जब कामदार प्रार्थना करने लगते तो आपश्री कह उठते कि उन बेचारों के पास उनके बाल बच्चों के खाने जितना अन्न भी नहीं है, तो तुम्हें कहाँ से देंगे? जब होगा आगे दे देंगे। यह थी आपश्री की स्वाभाविकी दयालुता।

भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु के 108 तुलसी दलार्पण करना आपका प्रतिदिन का नियम था। कथा, सत्संग श्रीभगवन्नाम संकीर्तन आदि सत्कार्य आपके आचार्यत्व काल में प्रतिदिन चलते ही रहा करते थे। गोशाला, संस्कृत पाठशाला, सन्त-सेवा प्रभृति पारमार्थिक कार्य भी आपके संरक्षण में सदा ही चलते रहते थे। विक्रम सं. 1994 में आपश्री के कर कमलों द्वारा ही यहाँ श्रीसर्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय की संस्थापना हुई। भगवान् श्रीराधमाधवजी के निज मन्दिर के चाँदी के किवाड़ों की जोड़ी भी आपश्री के आचार्यत्व काल में ही बनी थी।

आपश्री की स्वाभाविक सरलता का जितना ही वर्णन किया जाय, अत्यल्प है। अजातशत्रुता का आप में प्रत्यक्ष दर्शन होता था। प्रतिकूल आचरण करने वाला भी आपके सम्मुख नत मस्तक हो जाता था। किशनगढ़ नरेश महाराजा श्रीमदनसिंहजी जब भी श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठ आते, महाराज श्री के मंगलमय दर्शन कर अत्यधिक हर्ष का अनुभव करते थे। श्रीचरणों का जब परिभ्रमणार्थ प्रातः या अपराह्न में पधारना होता तो महाराज मदनसिंहजी स्वयं आगे बढ़कर अपने हाथों से श्रीचरणों को पादुका धारण कराकर परम सुखी होते थे। इसी भाँति किशनगढ़ नरेश श्रीयज्ञनारायणसिंहजी महाराज भी आपश्री के पादपद्मों में अपार श्रद्धा रखते थे। इस प्रकार अगणित विशिष्ट जनों द्वारा आप परिपूजित थे। आपश्री के आशीर्वाद का प्रत्यक्ष फल मिलता था। अनेक श्रद्धालुजनों ने आपश्री के शुभाशीर्वाद का अनुपम लाभ प्राप्त किया। चारों धाम की यात्रायें एवं श्रीवृन्दावन कुम्भादि पर्वों पर आपका ऐतिहासिक पादार्पण बड़ा ही गौरवपूर्ण रहा है, जो कि उस समय के लिए गये चित्रों से प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

धर्म-प्रचारार्थ अनेक स्थानों पर आपश्री का भ्रमण चलता ही रहता था, दक्षिण भारत में भी आपश्री का पौष शुक्ला 3 वि.सं. 1964 से श्रावण कृष्णा 10 वि.सं. 1965 तक लगातार भ्रमण हुआ। यह यात्रा किशनगढ़, मदनगंज, अजमेर, भीलवाड़ा, मन्दसोर, इन्दौर, महू की छावनी, खेड़ीघाट, ओंकारनाथ, सनावत, भुसावल, मनमाड़, जालना, नान्देड़-हैदराबाद, बैजवाड़ा, मद्रास, मदुरै, रामेश्वर धाम, श्रीरंगम्, तिरुपति बालाजी, सिकन्दराबाद, परभनी, आसेगाँव, इंगोली, कमेरगाँव मालेगाँव, नागडीदास, लातूर, आकोला, बोदड़, छीपावड़, सिराली, मदगाँव, पीपल्या, मगरदा, रोलगाँव, खण्डवा, उज्जैन, रतलाम, अजमेर व अरड़का से श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ तक लगभग 6 माह में पूर्ण हुई थी। स्व-सम्प्रदाय की सर्वतोमुखी समुन्नति के लिए आपके विभिन्न महत्त्वपूर्ण कार्य सम्प्रदाय के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे।

आपश्री के कतिपय चमत्कारपूर्ण संस्मरण

कई एक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ आपश्री की देखने को मिली हैं—जैसे एक बार श्रीसर्वेश्वर संस्कृत विद्यालय, जिसका प्रारम्भ ही हुआ था, अभी 5-7 विद्यार्थी ही अध्ययन

कर रहे थे, वे भी सबके सब चले गये, तब प्रधानाध्यापक श्रीव्रजबिहारीदासजी को बड़ी चिन्ता हुई। उस दिन उन्होंने प्रसाद भी नहीं पाया। चिन्तित अवस्था में ही अपने आसन पर लेटे हुए थे। इतने में आचार्यश्री उनके पास पहुँचे और कहा-क्यों चिन्ता कर रहे हो, विद्यार्थी गये तो जाने दो और आ जायेंगे। आप सत्य मानिये उसके दूसरे ही दिन और 10-15 विद्यार्थी आ गये। इस प्रकार कहा जाता है कि आपको वाक्-सिद्धि थी।

एक बार एक सन्त आपके दर्शन करने को आये। पहरेदार ने रोक दिया 'अभी मिलने का समय नहीं है।' वे सन्त वहाँ ही रुके रहे। इस बात को आपश्री स्वतः ही जानकर द्वार पर ही पधार गये और उस सन्त का हाथ पकड़कर अपने पास लाये और बहुत देर तक बात-चीत करके उनको विदा किया।

एक दिन माघ मास में पुजारी श्रीरघुनाथदासजी ने रात्रि में शयन कराने के पश्चात् भगवान् श्रीराधमाधवजी को रजाई धारण कराना भूल गये। अतः उसी रात्रि में लगभग 12 बजे भगवान् श्री राधामाधवजी आपश्री को स्वप्न में पधार कर कहने लगे कि आप तो रजाई ओढ़े सो रहे हो और हम ठंड का अनुभव कर रहे हैं। तब उसी समय आपश्री जगे, मस्तराम को आवाज दी। श्रीव्रजबिहारीदासजी को जगाकर बुलवाये, पुजारी श्रीरघुनाथदासजी को जगाकर स्नान करवाया व महाराजश्री ने स्वयं पधारकर मन्दिर खुलवाया। देखा तो वास्तव में उस दिन पुजारीजी रजाई धारण कराना भूल गये थे। रजाई धारण करा के प्रभु को शयन कराया।

आपश्री के परमधाम वास के एक दो मास पूर्व सेठ श्रीशिवशङ्कर जी कामदार मेरठ का आपश्री के दर्शनार्थ पीठ में आना हुआ था, उस समय भगवत्सेवार्थ थोड़े चाँवल भी लाये थे। सामने देखकर आपने कहा यह खूब लाये। बस यह प्रभु का महाप्रसाद हमारे जीवन में पर्याप्त है। यह सुनकर सेठजी के नेत्रों में आँसू आ गये और बोले महाराज! आप यह क्या कह रहे हैं? तब आपश्री ने कहा बस कह दिया न यह पर्याप्त है। अतः आपश्री ने मानों अपने परमधाम वास का कुछ समय पूर्व संकेत भी कर दिया था।

आज से 45-46 वर्ष पूर्व लगभग वि.सं. 1990 के आसपास की बात है—जबकि अधिकारी श्रीनरहरिदासजी अजमेर रहते थे। एक दिन अजमेर के कई एक भक्तों की पूरी बस भर भगवद्दर्शनार्थ एवं जागरण हेतु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ लाये। इन पंक्तियों का लेखक भी उनके साथ ही आया था। पीठ से दूसरे दिन जब अजमेर के लिए सायंकाल प्रस्थान करने लगे तब आपश्री ने फरमाया कि अभी मत जावो, कल राजभोग होने पर भगवत्प्रसाद लेकर जाना। शीघ्रता में आपकी इच्छा के बिना आज्ञा लेकर प्रस्थान किया। गाड़ी चलकर खातोलीग्राम के पास पहुँची तो अचानक टायर बस्ट हो गया और तेल भी खतम हो गया। ड्राईवर इसके लिए पैदल ही किशनगढ़ गया। हम लोग रात के 10 बजे तक जंगल में ही पड़े रहे। आपश्री के वचनानुसार दूसरे दिन ही अजमेर पहुँचना हुआ, यह थी आपकी वचन सिद्धि। आपके विस्तृत जीवन चरित्र के लिए **'जीवनवृत्तसौरभ'** नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

इस प्रकार आचार्यवर्य ने 83 वर्ष पर्यन्त इस धरातल को सुशोभित किया और श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ को 36 वर्ष तक अलंकृत कर वि.सं. 2000 के ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा को ऐहिक लीला संवरण कर श्रीसर्वेश्वर-राधामाधव प्रभु के नित्य दिव्य चिन्मय धाम में प्रवेश किया। आपका पाटोत्सव **चैत्र कृष्णा 12 (द्वादशी)** को मनाया जाता है।

(48) आचार्यवर्य वर्तमान 'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य जी

आपका जन्म विक्रम सं. 1986 वैशाख शुक्ला 1 तदनुसार दिनांक 10 मई सन् 1929 में श्रीनिम्बार्कतीर्थ सलेमाबाद निवासी गौड़ वंश में हुआ था। माता का नाम स्वर्णलता (श्रीमती सोनीबाई) तथा पिता का नाम श्रीरामनाथ शर्मा गौड़ था। प्राक्तन पुण्य कर्मानुसार किसी भाग्यशाली दम्पती को ही ऐसे महापुरुषों को जन्म देने एवं लालन-पालन का सुयोग प्राप्त होता है, जिसमें महापुरुषों का आविर्भाव होता है, वह कुल परम पवित्र है। आपका बाल्यकालीन नाम **रतनलाल** था। कौन कह सकता था कि यह आगे चलकर एक महान् रत्न सिद्ध होंगे। वि.सं. 1997 आषाढ शुक्ला 2 (रथयात्रा) तदनुसार दिनांक 7 जुलाई सन् 1940 में आपने श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधिपति अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु 'श्रीजी' श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्यजी महाराज के श्रीचरणाकमलाश्रित हो विधिवत् वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर उक्त पीठ में ही युवराज पदेन प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। आपके अध्ययनार्थ विरक्त वैष्णव ब्रह्मचारी पण्डित श्रीलाडिलीशरणजी काव्यतीर्थ को नियुक्त किया गया था, जो कि बड़े श्री 'श्रीजी' महाराज के कृपापात्र शिष्य थे।

वि.सं. 2000 में अपने श्रीगुरुदेव के गोलोकस्थ हो जाने पर ज्येष्ठ शुक्ला 2 दिनांक 5 जून सन् 1943 को आप पीठासीन होकर श्रीवृन्दावनस्थ व्रजविदेही चतुःसम्प्रदाय श्रीमहन्त तर्क-तर्कतीर्थ न्याय-वेदान्तभूषण श्रीधनंजयदासजी (श्रीकाठिया बाबा) की देख-रेख में सुव्यवस्थित रूप से वि.सं. 2009 अर्थात् सन् 1952 पर्यन्त मन्दिर श्रीदावानलबिहारी, दावानल कुण्ड, श्रीवृन्दावन में ही निवास करते हुए न्याय, व्याकरण-वेदान्त आदि का अध्ययन किया। अध्ययन काल के अवसर में 14 वर्ष की आयु में ही आपने कुरुक्षेत्र में होने वाले अ. भा. साधु सम्मेलन में भाग लेकर सर्वसम्मति से अध्यक्षपद को समलंकृत किया। उस अवसर पर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज श्रीगोवर्धनमठाधीश्वर, पुरी का भी पदार्पण हुआ था। उस समय आपको अध्यक्ष पद पर देखकर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी ने अपने भाषण में सम्मान पूर्वक इन शब्दों में कहा था कि-आज हमें बड़ा ही गौरव है कि हम अपने साधु समाज के बीच जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यजी को इस बाल्यकालीन स्वल्पावस्था में ही सभापति पद पर देख रहे हैं—आप लोग अवस्था पर कोई विचार न करें—"तुलसी पत्र या शालिग्राम भगवान् का श्रीविग्रह छोटा हो या बड़ा, किन्तु उसके महत्त्व में कोई अन्तर नहीं आता।"

इस प्रकार 14 वर्ष की अवस्था में ही आपने निज आराध्यदेव श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सेवा एवं परिकर सहित देश के विभिन्न भागों में परिभ्रमण कर तथा "श्रीनिम्बार्काचार्य तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन" द्वारा तीन धाम सामूपुरी की यात्रा और प्रयाग, हरिद्वार, नासिक तथा उज्जैन

आदि स्थानों में कुंभ पर्वों पर निर्मित श्रीनिम्बार्कनगर द्वारा अखण्ड हरिनाम संकीर्तनादि विविध धार्मिक आयोजनों एवं अपने दिव्य आदेशों-संदेशों द्वारा भारतीय संस्कृति तथा वैष्णव धर्म की जागृति की है। आपके द्वारा आद्याचार्य प्रणीत श्रीप्रातःस्तवराज पर निर्मित **'युग्मतत्त्वप्रकाशिका'** नामक संस्कृत टीका एवं **'स्तवरत्नांजलि'**, **'युगलगीतिशतक'**, **'श्रीराधामाधवशतक'**, **'श्रीनिकुञ्जसौरभ'**, **'भारत-भारती-वैभव'** एवं **'श्री 'श्रीजी' महाराज के सदुपदेश** भी परम उपादेय हैं।

इस प्रकार इस दीर्घकालीन 40 वर्ष के परिभ्रमण में सहस्रों की संख्या में धर्म-प्राण जनता ने आपसे शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कर आपके दिव्य सदुपदेशों द्वारा अनुपम लाभ प्राप्त किया है।

आपके द्वारा श्रीआचार्यपीठ, सलेमाबाद, मदनगंज, श्रीवृन्दावन एवं पुष्कर आदि क्षेत्रों में श्रीसंस्कृत-विद्यालय, छात्रावास, औषधालय, पुस्तकालय, वाचनालय, गोशाला तथा सन्त-सेवा, श्रीसर्वेश्वर मासिक-पत्र, श्रीनिम्बार्क पाक्षिक-पत्र तथा अन्य साहित्य प्रकाशन आदि धार्मिक एवं पारमार्थिक संस्थाओं का संचालन हो रहा है। आपश्री द्वारा रचित **'श्रीनिम्बार्कचरितम्'** ग्रन्थ प्राञ्जल एवं सुललित संस्कृत गद्य में उपलब्ध है, जिसके प्रकाशन का गौरव राजस्थान संस्कृत अकादमी को प्राप्त है। आपश्री का राजस्थान संस्कृत अकादमी जयपुर द्वारा किया गया **'अतिविशिष्ट संस्कृत विद्वत्सम्मान'** भी एक ऐतिहासिक घटना का समुज्ज्वल पक्ष है, अपितु संपूर्ण भारतवर्ष के सांस्कृतिक पक्ष को अभिव्यक्त करता है।

परम प्रसन्नता का विषय है कि **डॉ. परमानन्द शर्मा** ने प्रोफेसर **(डॉ.) प्रभाकर शास्त्री** जी के निर्देशन में श्री श्रीजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर शोध प्रबन्ध लिखकर सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से पी-एच.डी. (संस्कृत) उपाधि प्राप्त की है, जिसका प्रकाशन भी शीघ्र ही संभावित है।

विक्रम सम्वत् 2026 तदनुसार ई. सन् 1970 के फाल्गुन चैत्र मास में आपने लगभग तीन हजार भक्तों के साथ **'श्रीव्रज चौरासी कोसीय पद यात्रा'** बड़े समारोह के साथ सम्पन्न की। यह यात्रा श्री वृन्दावन वंशीवट से प्रारम्भ होकर वहीं आकर पूर्ण हुई। यात्रा करने वाले भक्तों का कहना था कि "न भूतो न भविष्यति" वाली कहावत को चरितार्थ करने वाली ऐसी पद-यात्रा हमने तो नहीं देखी। नगर-नगर ग्राम-ग्राम में भक्तों का उत्साह, प्रेम तथा उनके द्वारा सम्पन्न स्वागत समारोह, शोभा यात्रा आदि का दृश्य अपूर्व एवं संस्मरणीय है।

आपने श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ में वि.सं. 2031 में **अ. भा. विराट् सनातन धर्म सम्मेलन** किया, जो कि बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। इसका अनुपम वर्णन विस्तृत रूप में प्रकाशित श्री **'सनातन-धर्म-सम्मेलन-स्मारिका'** में द्रष्टव्य है।

इसी प्रकार आपके द्वारा अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ में ही श्रीपुरुषोत्तम मासीय आयोजनों में दो बार श्रीमद्भागवत के अष्टोत्तरशत पाठ पारायण तथा श्रीसुदर्शनमहायाग, गोपालयाग एवं श्रीमुकुन्द महायाग भी बड़े समारोह पूर्वक सम्पन्न हुए हैं।

आपश्री के समय में ही विगत इन 30-40 वर्षों में अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ में तथा पीठ से संलग्न संस्थानों में जीर्णोद्धार एवं नव निर्माण का कार्य भी बहुत हुआ। जैसे श्रीधाम वृन्दावन में श्री श्रीजी महाराज की बड़ी कुञ्ज एवं उससे सम्बन्धित अन्य अनेक कुञ्जों के जीर्णोद्धार एवं नव निर्माण। मथुरा में श्रीपरशुरामद्वारा का जीर्णोद्धार एवं नव निर्माण। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी की तपस्थली श्री निम्बग्राम में प्राचीन संस्थानों का जीर्णोद्धार तथा वहीं पर लाखों की लागत का भव्य विशाल नूतन मन्दिर का नव निर्माण, जो कि आपके बनाये हुये श्रीनिम्बग्राम सेवा मण्डल द्वारा अभी निर्माण हो रहा है। श्रीपुष्करराज के श्रीपरशुरामद्वारा में जीर्णोद्धार एवं नव निर्माण। झीटिया नामक ग्राम में भी जहाँ भगवान् की जागीर के कृषि कूप हैं, वहाँ भी आपश्री के द्वारा नवीन मन्दिर का निर्माण होकर श्रीगोपालजी महाराज की स्थापना हुई तथा आचार्यपीठ में ही गन्नासागर नामक कृषि कूप पर भी उद्यान एवं भवन आदि का निर्माण कराया। इसी प्रकार आचार्य समाधि स्थल पर जीर्णोद्धार एवं उद्यान का निर्माण हुआ।

अजमेर निम्बार्ककोट का नव निर्माण एवं मदनगंज (किशनगढ़) में श्रीराधासर्वेश्वर मन्दिर की स्थापना प्राचीन स्थान श्रीगोपालद्वारे का जीर्णोद्धार तथा आचार्यपीठ में भी सम्मेलन के समय समस्त मन्दिर का जीर्णोद्धार एवं जहाँ-तहाँ विविध रूपात्मक नव निर्माण, विद्यालय का विशाल भवन, श्रीराधामाधव गोशाला, छात्रावास, पोस्ट आफिस का निर्माण एवं निम्बार्काचार्य राजकीय प्राथमिक विद्यालय का भवन निर्माण कर सरकार को प्रदान करना इत्यादि निर्माण कार्य आपश्री के समय में ही सम्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार आपश्री के पीठासीन होने के पश्चात् इन 57 वर्षों में आपके द्वारा आचार्यपीठ की सर्वतोमुखी समुन्नति हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

विगत कई वर्षों से शरीर अस्वस्थ रहने पर भी आपका मानसिक एवं धर्म-प्रचार कार्य, यात्रा आदि पूर्ववत् ज्यों का त्यों चल रहा है, यह आपके संयम नियम की एक महान् विशेषता है। भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु हमारे आचार्यश्री को पूर्ण स्वस्थ रखते हुये उनके द्वारा धार्मिक जगत् को अधिकाधिक आध्यात्मिक लाभ पहुँचावें, यही उनके श्रीचरणों में मंगल-कामना है। पाटोत्सव **ज्येष्ठ शुक्ला 2 (द्वितीया)** को मनाया जाता है।

❑

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के परमाराध्य भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु का अद्भुत चमत्कार

भक्त रामशरणदास, पिलखुवा

प्रभु प्रार्थना में अद्भुत शक्ति भरी हुई है। प्रभु प्रार्थना में अद्भुत चमत्कार है, यह हमारे सनातन धर्म के सभी वेद, शास्त्र, पुराण डंके की चोट पुकार-पुकार कर कह रहे हैं। प्रभु प्रार्थना से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक जगन्नियन्ता साक्षात् परब्रह्म परमात्मा निराकार से साकार होकर सबके सामने प्रत्यक्ष खड़े हो जाते हैं, इससे बढ़कर प्रभु की अद्भुत शक्ति का चमत्कार और क्या हो सकता है?

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय सनातन धर्म का प्रमुख प्राचीन सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के परमात्मा भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु एक अलौकिक दिव्य चमत्कारी प्रभु हैं। हमने स्वयं अपने जीवन में श्रीसर्वेश्वर प्रभु की प्रार्थना का जो अद्भुत चमत्कार देखा, उसे हम पाठकों के सामने रखने जा रहे हैं।

यह कोई सन् 1954 की बात है। तीर्थराज प्रयाग का, कुम्भ था, जिसमें लाखों स्त्री-पुरुष-बच्चे-बूढ़े भारत के कोने-कोने से आये हुए थे। प्रभु की असीम कृपा से हमें भी उस पवित्र कुम्भ के शुभ अवसर पर जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हमारे साथ गई थीं हमारी पूज्या माताजी व हमारी पुत्री शैलकुमारीदेवी और ला. गनपतराय बजाज। हम नित्यप्रति श्रीत्रिवेणीजी का स्नान करते और फिर कुम्भ पर पधारे भारत के बड़े-बड़े उच्चकोटि के पूज्य धर्माचार्यों, संत-महात्माओं के सदुपदेश, कथा-कीर्तन में भाग लेने पहुँच जाते। एक दिन हम पूज्य चरण श्रद्धेय ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज के दर्शनार्थ झूंसी जा पहुँचे और जाकर उनके आश्रम में देखा तो सारा स्थान पूज्य संत-महात्माओं से, भक्तों से, प्रेमियों से खचाखच भरा हुआ था और कथा-कीर्तन सत्संग की धूम मची हुई थी। बड़ा ही सतयुगी दृश्य उपस्थित हो रहा था, जिसे देखकर हृदय गद्गद हो गया। पूज्यचरण ब्रह्मचारीजी महाराज के श्रीचरणों में प्रणाम किया तो झट से उन्होंने अपनी छाती से चिपटा लिया और अपने पास ही बैठा लिया।

उस समय वेदव्यास की गद्दी पर विराजमान श्रीवृन्दावन धाम के श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के विद्वान् पूज्य पं. श्रीवागीश शास्त्रीजी महाराज श्रीमद्भागवत की बड़ी सुललित कथा कह रहे थे, जिसे सुनकर श्रोतागण श्रीकृष्ण प्रेम में विभोर हो रहे थे। पूज्य श्रीशास्त्रीजी महाराज ने अपनी कथा के बीच में कहा—

सज्जनों, सलेमाबाद (किशनगढ़) राजस्थान में हमारे श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के परमाराध्य, परम इष्टदेव भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु अतिसूक्ष्म चने की आधी दाल के बराबर हैं।

उनके दर्शन दूरबीन से किये जाते हैं और वह समस्त विश्व में एक अद्वितीय श्रीशालिग्राम भगवान् हैं और वह लाखों वर्ष प्राचीन श्रीसनक, सनन्दन, सनत्कुमार और महर्षि श्रीनारदजी महाराज और भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज द्वारा पूजित हैं। यह अद्भुत दिव्यातिदिव्य श्रीशालिग्राम प्रतिमा निरन्तर श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के पूज्य आचार्यों द्वारा पूजित होती चली आई है और उसे श्री श्रीपूज्य आचार्यचरण स्वर्ण की डिबिया में विराजमान कर कण्ठ में धारण किये रहते हैं और उनकी अपनी हाथों से अष्टयाम सेवा-पूजा करते हैं। जिस मन्दिर में श्रीसर्वेश्वर प्रभु विराजते हैं, उस मन्दिर के नाम स्टेट लगी हुई है और प्रतिवर्ष वहाँ पर बहुत बड़ा मेला लगा करता है और बड़े-बड़े राजा महाराजा श्रीसर्वेश्वर प्रभु का दर्शन करने आते हैं और दर्शन कर अपने को कृतकृत्य करते हैं। वह वास्तव में ही साक्षात् भगवान् हैं और श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के तो वह सर्वस्व हैं। उनसे बढ़कर वह और किसी को भी नहीं मानते हैं और वास्तव में उनसे बढ़कर है भी कोई नहीं, आदि आदि।

हमारे मन में यह लालसा पैदा हुई कि किसी प्रकार हमें भी श्रीसर्वेश्वरजी महाराज के दर्शन करने का परम सौभाग्य प्राप्त हो तो बड़ी कृपा हो। भला जिन भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु को स्वयं महर्षि श्रीसनक, सनन्दन, सनत्कुमार और महर्षि श्रीनारदजी महाराज ने पूजा हो और जो लाखों वर्षों की प्राचीन दिव्य प्रतिमा हो और जिसे भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज तथा उनकी गद्दी के सभी पूज्य आचार्यचरण बराबर पूजते चले आये हों, उनके दर्शन हमें भी हो जाएँ तो फिर हमारे भाग्य के क्या कहने हैं!

हमने अगले दिन से ही श्रीत्रिवेणीजी महारानी से प्रार्थना करनी प्रारम्भ कर दी।

श्रीत्रिवेणीजी महारानी से की गई हमारी प्रार्थना ने तीसरे दिन ही अपना अद्भुत चमत्कार दिखाना प्रारम्भ किया। मैं उस दिन मेले में सन्त दर्शनार्थ जा रहा था तो अकस्मात् किसी ने हमें हाथ में छपा हुआ एक पर्चा दिया, जिसमें यह शुभ समाचार छपा था कि मेले में पूज्य जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज श्रीनिम्बार्क नगर में पधार रहे हैं और वहाँ पर आपका नित्यप्रति उपदेश, कथा-कीर्तन, सदुपदेश, सत्संग और रास आदि की धूम मचा करेगी। इधर समाचार पत्रों को देखा तो उसमें भी यह शुभ समाचार पढ़ने को मिला, जिसे पढ़कर हमारी प्रसन्नता का पाराबार नहीं रहा और मारे प्रसन्नता के हम फूले न समाये। तलाश करते-करते श्रीनिम्बार्क नगर में जा पहुँचे। हमारे साथ लाला गनपतरायजी भी थे। जाकर देखा तो वहाँ पर चारों ओर कैम्प ही कैम्प लगे हुए थे, जिनमें श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के बड़े-बड़े वैष्णव, सन्त, महात्मा ठहरे हुए थे और कथा कीर्तन हो रहे थे और ब्रज की रासमण्डली द्वारा रास रंग की धूम मची हुई थी। वहाँ सतयुग का सा अद्भुत दृश्य उपस्थित हो रहा था। एक बड़े सुन्दर कैम्प में भारत की महान् विभूति पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीश्रीजी श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराज श्रीनिम्बार्कपीठ परशुरामपुरी सलेमाबाद विराजमान थे।

हम सर्वप्रथम एक वैष्णव सन्तजी से मिले और उनसे प्रार्थना की कि हम पूज्यपाद श्री श्री आचार्यचरण का दर्शन करना चाहते हैं। उन्होंने अन्दर जाकर पूज्यपाद श्री आचार्यचरण

को हमारा नाम पता आदि बताया तो आचार्यश्री ने तुरन्त आज्ञा दी और कहा कि 'वह तो हमारे परिचित हैं, अपने साथ ले आओ'। हमने अब से पहले भी श्रीवृन्दावन के कुम्भ के अवसर पर आपके दर्शन किये थे। हमने अन्दर जाकर पूज्यपाद श्री श्रीआचार्य चरणों में साष्टांग प्रणाम किया और आपसे करबद्ध प्रार्थना की कि पूज्यमहाराजजी हमने भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु की बड़ी प्रशंसा सुनी है। उनके दर्शनों की बड़ी लालसा है, किसी प्रकार हमें उनके दर्शन कराने का परम सौभाग्य प्राप्त कराना चाहिये।

पूज्यपाद श्री श्रीआचार्यचरण ने कृपा कर कहा कि आपको श्रीसर्वेश्वर भगवान् के अवश्य दर्शन करायेंगे, पर अब तो समय नहीं है। आप कल जरा जल्दी आ जायें तो अवश्य दर्शन होंगे।

अगले दिन हम श्रीत्रिवेणीजी का स्नान कर और सन्ध्यावंदन पूजन आदि कर जल्दी से श्रीनिम्बार्क नगर पहुँचे और जाकर बैठ गये। पूजा का समय हुआ तो पूज्यपाद श्री श्रीआचार्यचरण की आज्ञा से हमें बिल्कुल ही समीप में बिठलाकर और भगवान् श्री श्रीसर्वेश्वरजी महाराज को हथेली पर लेकर जिस समय दर्शन कराने का परम सौभाग्य प्राप्त कराया गया तो अति सूक्ष्म चने के आधे दाल के बराबर इन श्रीसनक, सनन्दन, सनत्कुमार और महर्षि श्रीनारदजी महाराज द्वारा पूजित भगवान् के दर्शन करके हम गद्गद हो गये और अपने को कृतकृत्य हुआ मानने लगे। हम पहले तो पाप-ताप-हारिणी श्रीश्री त्रिवेणीजी में स्नान कर अपने अनन्त जन्मों के पाप-ताप भस्म कर ही चुके थे। अब श्री श्रीसर्वेश्वर प्रभु के दर्शन करके तो महान् पुण्यशाली बन चुके थे। हमने उस समय बड़ा अच्छा सुअवसर देखा और हमने उसी समय श्रीसर्वेश्वर प्रभु के सामने करबद्ध प्रार्थना करते हुए मन ही मन कहा—

"प्रभो! श्रीसर्वेश्वर भगवन्! यदि वास्तव में आप पूज्य महर्षि श्रीसनक, सनन्दन, सनत्कुमार और महर्षि श्रीनारदजी महाराज और जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज द्वारा सेवित और पूजित हैं, तो मेरी यह करबद्ध प्रार्थना है कि मेरे स्थान पर पूज्यपाद जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वरजी महाराज, पूज्य जगद्गुरु शंकराचार्य शारदापीठाधीश्वरजी महाराज, जगद्गुरु रामानुजाचार्य बद्रीनाथधामेश्वरजी महाराज आदि बड़े-बड़े धर्माचार्य और पूज्य सन्त-महात्मा विद्वान् पधारे हैं, पर अभी तक यह पूज्यपाद जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज नहीं पधारे हैं, तो यह अवश्य ही पधारें। प्रभो! श्रीसर्वेश्वर, आप बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं के यहाँ जाते हैं, पर यदि आप मुझ गरीब के स्थान पर पधारेंगे तो हम जानेंगे कि आप वास्तव में दीनों की सुध लेते हैं। हे मेरे करुणासिन्धु दीनबन्धुनाथ, मुझ पर कृपा करो और मेरी यह हार्दिक अभिलाषा अवश्य ही पूर्ण करो।"

मैं ऐसी श्रीसर्वेश्वर प्रभु के सामने करबद्ध प्रार्थना करके अपने डेरे में चला आया।

उस दिन श्रीत्रिवेणीजी महारानी की परम-पवित्र रेती में परम पूज्यपाद श्री श्री आचार्यचरण के समक्ष गुप्तरूप से भगवान् श्री श्रीसर्वेश्वर प्रभु से की गई प्रार्थना ने अपना क्या अद्भुत चमत्कार दिखाया और मुझ पतित को कैसे पावन बनाया और मेरे कैसे महान् भाग्योदय किये, यह एक महान् आश्चर्यजनक घटना है। जिस प्रकार पृथ्वी में डाला गया

बीज कब वृक्ष का रूप धारण करता है और कब फल लाता है, इसके लिए समय की प्रतीक्षा करनी अत्यावश्यक है। हमें यह स्वप्न में भी कभी ख्याल नहीं था कि कहाँ सलेमाबाद राजस्थान के पूज्यपाद जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज और कहाँ महर्षि श्रीसनक, सनन्दन, सनत्कुमार और महर्षि श्रीनारदजी महाराज के परम इष्टदेव भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु और कहाँ एक साधारण कस्बा पिलखुवा और मुझ जैसा साधारण बनिये का छोकरा। भला कभी भी यह दोनों पधारें, यह कैसे सम्भव हो सकता है? यह नितान्त असम्भव है और कोरा स्वप्न है और मन के लड्डू हैं। पर वाह रे मेरे दीनबन्धु करुणासिन्धु प्रभु श्रीसर्वेश्वर!

19 अप्रैल सन् 1956 की बात है। उस दिन सायंकाल सन्ध्या का समय था। मैं नित्यप्रति की भाँति अपने हाथ में घृत का दीपक लिए आशुतोष भगवान् श्रीशंकरजी महाराज के मन्दिर पर जा रहा था। मुझे स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं था कि आज मेरे भाग्योदय होने जा रहे हैं और श्रीसर्वेश्वर भगवान् से की गई करबद्ध प्रार्थना का फल मुझे अब मिलने जा रहा है और आज मुझे इसी समय एक बड़ी सुन्दर मीठी बात सुनाई जायेगी? अकस्मात् भगवान् श्रीसर्वेश्वरजी महाराज के भेजे हुए मुंशी दामोदरदासजी मिले।

मुंशी दामोदरदासजी—भगतजी! जयरामजी की।

मैं—जयरामजी की। कहिये कब आये?

मुंशीजी—मैं अभी-अभी आया हूँ।

मैं—कहाँ से आये?

मुंशीजी—मेरठ से आ रहा हूँ।

मैं—मेरठ में आप क्या कर रहे हैं?

मुंशीजी—मैं इस समय एक वकील के यहाँ मोहर्रिर का काम कर रहा हूँ।

मैं—आज क्या कचहरी की छुट्टियाँ हैं, जो आप आये हैं?

मुंशीजी—नहीं तो।

मैं—कुछ काम होगा?

मुंशीजी—नहीं काम भी कोई नहीं था।

मैं—भला फिर कैसे आ गये?

मुंशीजी—पता नहीं, क्यों एकदम मेरा मन उचटा की चलो घर मिल आयें, काम कोई भी नहीं था और आने का पहले से कोई मन में विचार भी नहीं था। न जाने क्यों यों ही चला आया?

मैं—क्या ठहरोगे?

मुंशीजी—नहीं ठहरना कहाँ, कल चला जाना है।

मैं—अच्छा तो मैं मन्दिर पर चलूँ। जयरामजी की।

मुंशीजी—नहीं जरा ठहरिये, मैं तो आपके पास घर पर ही जा रहा था।

मैं—क्या कोई काम है?

मुंशीजी—हाँ, एक काम था।

मैं—कहिये क्या काम था?

मुंशीजी—जरा बिजली की रोशनी में चलिए।

मैं उनके साथ एक दुकान पर आया तो उन्होंने अपनी जेब में से एक परचना कागज का टुकड़ा निकाला और उन्होंने कहा—

मुंशीजी—मेरठ की बुढ़ाना दरवाजे की सनातन धर्मसभा की धर्मशाला में एक बहुत बड़े महात्मा आये हुए हैं, जिनके बड़े ठाटबाट हैं और बन्दूकों के पहरे लगे हुए हैं और उनके साथ बहुत से सन्त-महात्मा भी हैं और कार भी हैं।

मैं—उनका शुभ नाम क्या है।

मुंशीजी—मैं आपको अभी पढ़ करके सुनाता हूँ। मैंने उर्दू में पैंसिल से लिख लिया था, वह पढ़ा नहीं जाता पर निम्बार्काजी पढ़ने में आता है।

मैं—क्या पूज्य श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज तो नहीं हैं?

मुंशीजी—हाँ हाँ, शायद वही हों।

मैं—कब तक ठहरेंगे।

मुंशीजी—शायद कल तक वह जरूर रहेंगे। आप तुरन्त चले जाइये।

मैं—यदि वास्तव में पूज्य जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज पधारे हैं तो आपको श्री श्रीसर्वेश्वर भगवान् ने प्रेरणा करके हमारे पास भेजा है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। यह तो तुमने बहुत बढ़िया बात सुनाई।

मैं यह आश्चर्यजनक बात सुनकर दंग रह गया और सारी रात बड़ी कठिनता से काटी और रात्रि भर चैन नहीं पड़ा कि कब दिन निकले और कब मैं मेरठ जाऊँ और पता लगाउं कि कौन महापुरुष पधारे हैं।

मैं प्रात:काल होते ही मोटर में बैठकर मेरठ जा पहुँचा और जाकर के धर्मशाला में देखा तो सनातन धर्म की पताका फहरा रही है और धूम मची हुई है। पूज्यपाद जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्री श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराज के सुदपदेश कथा, कीर्तन सुनने के लिए जनता उमड़ी चली आ रही है। मैं तुरन्त ऊपर कमरे में गया तो एक सन्तजी मिले और उनसे बातें हुईं तो उन्होंने हमें बताया कि हम यहाँ से सीधे देहली जायेंगे। पिलखुवा जाने के लिए हमारे पास समय नहीं है।

अब तो हमें बड़ी चिन्ता हुई। हमने मन ही मन भगवान् श्रीसर्वेश्वरजी महाराज से पुन: करबद्ध प्रार्थना की "प्रभो! क्या पास में आने पर भी मेरे स्थान नहीं पधारोगे? नाथ, अब तो

कृपा करो।" इतने में श्रीवियोगी विश्वेश्वरजी महाराज आ पहुँचे, हमने उनके चरण छू उनसे प्रार्थना की तो आप सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले जहाँ तक सम्भव होगा, आपके यहाँ अवश्य चलेंगे। मैं आपको अभी पूज्य श्रीआचार्य चरण से मिलाता हूँ। मुझे श्रीआचार्य चरण से मिलाया गया तो आचार्यश्री ने मुझ पतित पर कृपा कर स्वीकृति दे दी और सहर्ष कहा कि 'तुम जाओ और हम कल पिलखुवा अवश्य आ जायेंगे।'

मैंने जिस समय जाकर पिलखुवा में यह शुभ समाचार सुनाया तो चारों ओर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और सभी आचार्यश्री के दर्शनों के लिए लालायित हो उठे।

अगले दिन प्रात:काल ही पूज्यपाद श्री श्रीआचार्य चरण की मोटर आई। आचार्यचरणों के साथ साक्षात् भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु थे ही और भी बड़े-बड़े महान् धुरन्धर निम्बार्क सम्प्रदाय के विद्वान्, सन्त-महात्मा आदि थे। सारे शहर में बिजली की भाँति यह शुभ समाचार फैल गया और जनता दर्शनों के लिए टूट पड़ी। सर्वप्रथम श्रीराधाकृष्ण मन्दिर में सड़कों पर पाँवड़े बिछाते हुए आपको लाया गया और सारा मन्दिर दर्शकों से भर गया। भोजनोपरान्त मन्दिर से बाजे-गाजे के साथ सड़कों पर पाँवड़े बिछाते हुए, कीर्तन करते हुए, घड़ियाल, शंख आदि बजाते हुए और जयकारे गुंजाते हुए और पुष्पों की वृष्टि करते हुए और दुकान-दुकान पर आरतियाँ उतारते हुए हजारों मनुष्यों के बीच प्रात:स्मरणीय अनन्त श्रीविभूषित महाराज श्री चल रहे थे। सन्त मण्डली पीछे-पीछे चल रही थी। बड़ा ही अद्भुत दृश्य था। आचार्यश्री मेरे स्थान पर पधारे और हमारे ऊपर के कमरे में जिसमें सभी अवतारों के, देवी-देवताओं के, सभी ऋषि-मुनियों के, सन्त-महात्माओं के, सतियों पतिव्रताओं के, धर्मवीरों के, विद्वानों के चित्र लगे हुए हैं, आकर विराजमान हुए।

साथ में पधारे पूज्यपाद श्रीस्वामी वियोगी विश्वेश्वरजी महाराज, पूज्य पं. श्रीसूरति झाजी महाराज व्याकरणाचार्य, काव्य पुराणतीर्थ, पूज्य पं. श्रीहरिप्रसाद शास्त्री व्याकरणतीर्थजी महाराज, पूज्य बाबा श्रीगोमतीदासजी महाराज कीर्तनाचार्य, पूज्य बाबा श्रीकृष्णदासजी महाराज, पूज्य बाबा श्रीराधाकृष्णदासजी महाराज आदि बड़े-बड़े सन्त-महात्माओं से, विद्वानों से कमरा खचाखच भरा हुआ था। पूज्यपाद जगद्गुरुजी महाराज के कण्ठ में स्वर्ण की सुन्दर छोटी-सी डिबिया में विराजमान श्री श्री अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक जगन्नियन्ता परात्परब्रह्म भगवान् श्री श्रीसर्वेश्वरजी महाराज को इन नेत्रों से देखा और वेद मन्त्रों के द्वारा बड़े ठाट से आपकी पाद पूजा की गई। मैं अपने जीवन में श्रीसर्वेश्वर भगवान् से की गई प्रार्थना के इस अद्भुत चमत्कार को और श्रीसर्वेश्वर भगवान् की इस असीम कृपा को देखकर प्रेम विभोर हो गया और अपने को कृतकृत्य मानने लगा। वास्तव में यह महर्षि श्रीसनक, सनन्दन, सनत्कुमार और महर्षि श्रीनारदजी महाराज और पूज्य जगद्गुरु भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज द्वारा पूजित सेवित अद्भुत दिव्यातिदिव्य साक्षात् भगवान् हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, यह विश्वास हो गया और इनकी प्रार्थना का ही यह अद्भुत चमत्कार है, यह नतमस्तक होकर स्वीकार करने लगा। प्रार्थना से प्रसन्न होकर ही श्री श्रीसर्वेश्वर प्रभु अपने साथ पूज्यपाद प्रात:स्मरणीय श्री श्री आचार्यचरण को और सन्त मण्डली को किस ठाट-बाट से लाये, यह स्मरण करते ही मन में एकदम सात्विकता का

संचार होने लगता है और हृदय गद्‌गद हो जाता है। मेरी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर मेरे स्थान पर हमारे सनातन धर्म के महान् प्रातःस्मरणीय धर्माचार्य पधारें और साथ में श्री श्रीसर्वेश्वर प्रभु भी प्रधारें इससे बढ़कर हमारे महान् पुण्योदय और भाग्योदय और क्या होंगे? जो हमें अपार आनन्द आया, वह हम लिख नहीं सकते, कह नहीं सकते, वर्णनातीत है। रात्रि को श्रीराधाकृष्ण मन्दिर में अपार जनता के बीच जिस समय पूज्यपाद अनन्त श्रीविभूषित श्री श्री आचार्यचरण के महत्त्वपूर्ण सदुपदेश हुए और श्रीकृष्ण प्रेम में विभोर कर देने वाला श्रीभगवन्नाम संकीर्तन हुआ और साथ में पधारे सभी बड़े-बड़े सन्त-महात्माओं के सनातन धर्म की अद्भुत महत्ता पर भाषण हुए तो श्रोतागण श्रीकृष्ण प्रेम में एकदम से झूमने लगे। सैकड़ों मनुष्यों ने जब हमसे कहा कि रामशरणदासजी आपने इन महापुरुषों को बुलाकर तो बड़ा अद्भुत आनन्द कराया और अद्भुत दृश्य दिखलाया तो मैंने सबसे यही कहा कि मैंने नहीं यह सब श्री श्रीसर्वेश्वर प्रभु से की गई प्रार्थना का अद्भुत चमत्कार है जिसके कारण हमें यह परम सौभाग्य प्राप्त हुआ और यह अद्भुत दृश्य देखने का अधिकार प्राप्त हुआ। यदि यह सब श्रीसर्वेश्वर प्रभु की कृपा न होती तो मुंशी दामोदरदासजी बिना छुट्टी के क्यों पिलखुवा आते? वहाँ पर उन्हें किसने पूज्य जगद्‌गुरुजी का नाम लिखने की प्रेरणा दी और वह पिलखुवा आकर मुझे यह बात क्यों बताने आये। मैंने तो उनसे कोई जिक्र भी कभी नहीं किया था? यह सब एकदम से अपने आप स्वयं कैसे होता चला गया? बस यह और कुछ नहीं परब्रह्म परमात्मा जगदाधार भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु की प्रार्थना का ही एकमात्र चमत्कार और उनकी असीम कृपा का फल है, जिसे हम कभी जीवन भर भूल नहीं सकते।

❑

निम्बार्क सम्प्रदाय एवं राजघरानों का सम्बन्ध

भागवताचार्य पुरुषोत्तमशरण शास्त्री

निम्बार्क सम्प्रदाय का स्वरूप समझकर राजघरानों की श्रद्धा भगवान् निम्बार्क की परम्परा में दृढ़ रही है। अकारण करुणा-वरुणालय परात्पर परब्रह्म श्रीसर्वेश्वर प्रभु के चरणों की प्राप्ति, उनका सान्निध्य जीवात्मा का उद्देश्य है, इसका उपाय शरणागति के सिवाय अन्य नहीं है। **'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्'** भगवान् की शरण में जाने से पहले श्रीगुरुदेव की शरण में जाना जरूरी है। श्रीगुरुदेव के निर्देशानुसार ही प्राणी भगवत् प्राप्ति की दिशा में बढ़ता है। शिष्य के लिए श्रीगुरुदेव का उपदेश उपासना के रूप में होता है। जीव के कल्याणार्थ पूर्णरूपेण भगवत् उपासना निम्बार्क सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। वेदान्त दशश्लोकी में श्रीनिम्बार्काचार्यजी महाराज ने कहा है **'उपासनीयं नितरां जनैः सदा, प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः'** अज्ञान से मुक्त होने के लिए प्राणियों को भगवान् की उपासना अवश्य करनी चाहिये।

निम्बार्क सम्प्रदाय में उपासना प्रधान है। इस सम्प्रदाय का प्रत्येक वैष्णवानुरागी गुरुसेवा, भगवन्नाम जप, भगवत्पूजा और भगवत् स्वरूप चिन्तन का ही अनुष्ठान करता है। भगवान् निम्बार्काचार्यजी की अपूर्व देन यह सुमधुर उपासना प्रणाली है, जिसके सम्पूर्ण विधि-विधान इस सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। उपासना का सर्वाधिक महत्त्व इसी सम्प्रदाय में मिलता है। उपासना में श्रीराधाकृष्ण युगल सरकार को उपास्य मान कर चलने वाली धारा में निम्बार्कीय, गौड़ीय, वल्लभी एवं राधावल्लभी ये चार धाराएँ ऐसी हैं, जो माधुर्य भाव की साधना अर्थात् रसिक साधना में आस्था रखती हैं। पूर्ववर्ती समस्त वैष्णव सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण भक्ति की माधुर्य उपासना का सबसे प्राचीन प्रचारक निम्बार्क सम्प्रदाय है। श्रीराधाकृष्ण युगल सरकार की माधुर्य उपासना का श्रेय भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य को ही है, उनके सिद्धान्त ग्रन्थों से इस तथ्य की पूर्णरूपेण पुष्टि हो जाती है। श्रुतियों ने जिस रसोपासना की ओर इंगित किया है, वह रसरूप परमात्मा श्रीकृष्ण ही हैं। उन्हीं की उपासना से जीवों को परम सुख की उपलब्धि हो सकती है। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए सुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्क ने राधाकृष्ण की माधुर्य उपासना पर विशेष बल दिया है। श्रीकृष्ण के चरणों की शरण लिए बिना कल्याण नहीं हो सकता, अपितु जीव की एकमात्र गति पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं। साथ में उनके बामाङ्ग में विराजमान, उन्हीं के समान अनुपम लावण्य से युक्त तथा सहस्रों सखियों से परिवेष्टित सर्वेश्वरी श्रीराधा की आराधना करना परम आवश्यक है। वे अपनी वेदान्त दशश्लोकी में स्पष्ट घोषणा करते हैं—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूप-सौभगाम्।
सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा, स्मरेम देवीं सकलेष्ट-कामदाम्।।1।।

श्रीनिम्बार्काचार्य के उपास्य तत्त्व की परमोत्कृष्टता इसी स्वरूप में निहित है। श्रीराधा श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में सर्वदा ही विराजमान रहती हैं। अथर्ववेदीय राधिकातापिनीयोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि बिना सखी-भाव का अवलम्ब लिए कोई भी साधक इस दिव्य माधुर्य रस का आस्वादन नहीं कर सकता और यह भाव बिना सर्वेश्वरी श्रीराधा की कृपा के किसी को प्राप्त नहीं होता। सम्पूर्ण भुवन को अपनी ओर सहज में ही आकृष्ट करने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण इन्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय मानते हुए प्रेमार्द्र होकर उनकी चरणरज को शिरोधार्य करने के लिए सदैव लालायित रहते हैं। जिन श्रीराधा के वशीभूत परात्पर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं, उन्हीं की उपासना का संदेश प्रियतम भाव से श्रुतियों ने दिया है। वस्तुतः श्रीराधाकृष्ण, रस के सार समुद्र एक ही देहधारी हैं। क्रीड़ा करने के लिए ही दो हुए हैं। 'क्रीडनार्थं दिव्याभूतम्' (2/7/11) इत्यादि।

भगवान् निम्बार्काचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीवेदव्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र के भाष्यों में विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने दार्शनिक मतों का प्रतिपादन किया है। इन सभी मतवादों में श्रीनिम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत मत अन्यतम है। उनके मतानुसार ब्रह्म का जीव और जगत् से स्वरूपतः भेदपरक एवं अभेदपरक दोनों की रूपों में सम्बन्ध है। इस मत को द्वैत (भिन्नता मानने वाला) और अद्वैत (अभिन्नता मानने वाला) मत से संबोधित किया जाता है। वास्तव में इस मत में सत्यता भी प्रतीत होती है। कार्य-कारण सम्बन्ध पर विचार करने से इस मत की पूर्ण पुष्टि हो जाती है। जैसे कार्य (घट) कारण (मिट्टी) से भिन्न भी है और साथ ही अभिन्न भी, क्योंकि दोनों के नाम, रूप, आकार आदि में भिन्नता है, किन्तु दोनों की सामग्री एक ही होने से अभिन्नता भी है। इसी प्रकार जगत् (कार्य) ब्रह्म (कारण) से भिन्न और अभिन्न उभय रूप है।

विचारपूर्वक यदि देखा जाए तो यह निश्चय होता है कि ब्रह्म अपनी अनन्त शक्ति से जीव और जगत् रूप में प्रकाशित होने के कारण उनसे अभिन्न रूप में प्रतिष्ठापित है। साथ ही अतीत रूप में विद्यमान होने के कारण जीव और जगत् से भिन्न भी है। अतः ब्रह्म, जीव और जगत् में परस्पर भेद (द्वैत) और अभेद (अद्वैत) दोनों ही हैं और यही श्रीनिम्बार्काचार्य का प्रतिपाद्य है। उनके इस द्वैताद्वैतवादी सिद्धान्त को विस्तार से हृदयंगम करने के लिए ब्रह्म, जीव और जगत् सम्बन्धी उनकी मान्यताओं का विस्तृत विवेचन आवश्यक है।

ब्रह्म—श्रीनिम्बार्काचार्य ने ब्रह्म को आनन्दमय कहा है, जिसमें आनन्द की प्रचुरता का ही प्राधान्य है।

आनन्द का अर्थ विकारवान् कदापि नहीं, उसका आनन्द भूमा की अवस्था में जाकर स्थित होता है।

वस्तुतः जीवात्मा को आनन्द देने के कारण भी परमात्मा भी आनन्दमय कहा जाएगा।

ब्रह्म-जगत् का केवल प्रकृति अर्थात् उपादान कारण नहीं है, वह जगत् का निमित्त कारण भी है, क्योंकि उसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमूर्त मूर्त हो जाता है, अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है। जैसे—मिट्टी के एक ढेले को देखकर सम्पूर्ण मिट्टी के पदार्थों

का ज्ञान हो जाता है, अतः परमात्मा ही जगत् का कारण है, ऐसा निश्चय होता है। वह सृष्टि का उपादान कारण भी है, क्योंकि उसने अभिलाषा की कि 'मैं बहुत हो जाऊँ' इस वाक्य से भी अभिलाषा प्रकट करने वाला ब्रह्म चैतन्य स्वतन्त्र परमात्मा है। वह आनन्दमय, अप्राकृत, सर्वशक्तिमान्, पुरुषोत्तम स्वरूप है, उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि जब वह सृष्टि की कामना करता है, तो संकल्प मात्र से सृष्टि कर लेता है।

श्रुतियों का भी एक मात्र ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। 'रसो वै सः', 'आनन्दो ब्रह्म' आदि वाक्य उसी के द्योतक हैं। आनन्द उसका ही विशिष्ट गुण है, जिसका कि पृथक्-पृथक् रूप से उल्लेख हुआ है, उन सबका उपसंहार उस परमात्मा में ही समझना चाहिए।

वह स्वरूपतः अव्यक्त होते हुए भी भक्ति योग में ध्यान द्वारा व्यक्त हो जाता है। ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि होने पर भी विशुद्ध अन्तःकरण में उस ब्रह्म की स्पष्ट झाँकी परिलक्षित होती है।

वह भक्ति से ही सर्वसुलभ है। वह सभी प्रकार से परिपूर्ण, चिद्रूप और विभु है। सम्पूर्ण जीव उसी के चिदंश की किरणों में विद्यमान हैं। उसमें अनन्त वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति है। उस शक्ति में ही सभी वस्तुएँ सारतः विद्यमान हैं। वह अपनी शक्ति का अनुभव मात्र करने से संसार का रूप धारण करता है। वस्तुतः वह ब्रह्म नानारूपी विश्व की सृष्टि, लय आदि का हेतु है। अचिन्त्य शक्तियों का आधार भी वही है। वेदों का प्रतिपाद्य, जगत् जीवमय विश्वात्मा, सर्वरूप से भिन्ना-भिन्नावस्था में रहते हुए, आनन्दमय परमतत्त्व वासुदेव के रूप में परिभासित होता है। वह परमात्मा मायाधीश है। जन्म आदि विकारों से शून्य, स्वाभाविक और अचिन्त्य अनेक गुणों का सागर, विभूति सम्पन्न है। वह मुक्त जीवों को ऐश्वर्यानुभूति कराता है। वह सत्यकाम और सत्य संकल्पवान् है। जीवों के स्वरूप का आविर्भाव कर्त्ता, मुक्तिदाता भी वही है। उसी की परम कृपा से जीवों को उसकी प्राप्ति होती है। वह अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र विद्यमान है। वह सुख-दुःख के भोगने वाले शरीरी जीवों से अधिक उत्कृष्ट है। शरीर का भी कर्त्ता है। आत्मा के अन्दर वह परमात्मा ही शासनकर्त्ता है। श्रीनिम्बार्काचार्य की दृष्टि में वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि आदि का कारण ब्रह्म ही है। वह कारणों का कारण, सभी का नियन्ता एवं स्वामी है। उसकी अध्यक्षता में ही प्रकृति चराचरात्मक जगत् की सृष्टि करती है। प्रकृतिस्थ जगत् का एकमात्र अधिष्ठाता ब्रह्म ही है।

जीव—श्रीनिम्बार्काचार्य ने वेदान्त कामधेनु के एक ही श्लोक में जीव के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन कर दिया है। ये आत्मवेत्ता जीव को चैतन्य (ज्योतिस्वरूप) शरीर से संयुक्त और वियुक्त होने वाला, अणु परिमाणवाला, सूक्ष्म, अनेक शरीरों में अलग-अलग होने से अनन्त तथा परमात्मा के अधीन कहते हैं—

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं,
शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेह-भिन्नं,
ज्ञातृत्ववन्तं यमनन्तमाहुः।। (वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी)

ब्रह्म का अंश होने के नाते जीव भी ब्रह्म ही है तथापि जीव और ब्रह्म का पूर्णत: अभेद स्वीकार नहीं। भेदाभेद सम्बन्ध ही मान्य है। जीव को स्वरूपत: अणु मानते हुए भी श्रीनिम्बार्क ने उसके गुण और ज्ञान को विभु की संज्ञा दी है। अणु, चित् होते हुए उसका नित्य सम्बन्ध बना रहता है। इस प्रकार भगवत् साधर्म्य प्राप्त कर जीव सर्वज्ञ की कोटि में पहुँच जाता है। जिस प्रकार महान् गुण के कारण परमात्मा महान् है। उसी प्रकार जीवात्मा अणु परिमाण होकर भी गुण से महान् है। जीवात्मा अणु परिमाण वाला होकर भी सारे शरीर के सुख-दु:ख का अनुभव करता है। जीवात्मा के प्रकाश से ही सारा शरीर प्रकाशित होता है। ठीक वैसे ही जैसे कि कमरे में एक स्थान पर स्थित दीपक सारे कमरे को आलोकित करता रहता है।

श्रीनिम्बार्काचार्य के अनुसार आनन्दमय परमात्मा ही है, जीव नहीं। वस्तुत: ब्रह्म का संयोग पाकर ही जीव आनन्दानुभव करता है। बद्ध जीव को इसीलिए अज्ञ अथवा अल्पज्ञ की संज्ञा दी गयी है। ब्रह्म के साथ जीव का क्रमश: विभु और अणु का सम्बन्ध ही स्थापित होता है। जीवात्मा न तो जन्म ही लेता है और न ही मरता है। वह नित्य और अजन्मा है। इससे जीव की नित्यता भी सिद्ध होती है। मुक्त जीव ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसके पूर्ण आनन्द में निमग्न हो जाता है।

किन्तु बद्ध जीव को आनन्दात्मक जगत् का अनुभव केवल जड़ रूप में ही प्रतिभासित होता है। उसे अपने चिदंश स्वरूप का विस्मरण हो जाता है। श्रीनिम्बार्क ने ज्ञान और जीव में धर्म-धर्मी सम्बन्ध रूप से भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित किया है। यद्यपि चिदंश-रूप होने के नाते जीव और उसके ज्ञान में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता।

परमात्मा आनन्दयोग से जीवात्मा पर शासन करता है अर्थात् जीव अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा नियन्त्रित होता है। वह उस परमात्मा से भिन्न भी है, जिसके सकाश से आनन्दयोग की स्थिति बनती है। वह परमात्मा रस स्वरूप है, जिस रूप की अनुभूति कर जीवात्मा आनन्दित होता है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के बीच स्वरूपत:, गुणत: एवं शक्तित: शाश्वत भेद है, किन्तु भोक्ता जीव और नियन्ता ब्रह्म के बीच यह भेद ठीक वैसा ही है, जैसा कि समुद्र और उसकी तरंग एवं सूर्य और उसकी प्रभा के बीच विद्यमान है। अत: यह ब्रह्म और जीव के बीच अभेदत्व के साथ भेदत्व सिद्ध हुआ। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि जीव या चित् ज्ञान स्वरूप और ज्ञानाश्रय है। वह ज्ञाता कर्ता और भोक्ता है, वह अणु है। मुक्तावस्था में भी वह कर्ता रहता है। उस समय वह ईश्वर से केवल एकबात में भिन्न रहता है, वह यह कि ईश्वर नियन्ता है और जीव नियम्य। अंशांशिभाव रहने से जीव और परमात्मा में भेदाभेद दिखाया गया है। वस्तुत: जीव परमात्मा का अंश है, कारण 'ज्ञ' (सर्वज्ञ) 'ईश' (ईश्वर) और अज्ञ (सर्वज्ञ) 'अनीश' (जीव) दोनों ही 'अज' (जन्मरहित एवं नित्य सत्य) हैं। इस श्रुति वाक्य में जीव और ईश्वर में भेद उपदिष्ट हुआ है।

इस प्रकार श्रीनिम्बार्काचार्य ने ब्रह्म और जीव में भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित किया है। इस बात की उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है कि जीव ब्रह्म का अंश होने से उनके बीच परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध भी नित्य शाश्वत और स्वाभाविक है।

जगत्—श्रुति इस बात का प्रमाण है कि ब्रह्म ही जगत् रूप परिणामात् सूत्र के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा है कि सर्वशक्तिमान् परमात्मा स्वशक्ति के विक्षेप से जगत् के आकार में परिणित हो जाता है। वह अव्याकृत स्वरूप में रहकर ही अपनी शक्ति और कृति से जगत् रूप को प्राप्त होता है। ब्रह्म ही निमित्त और उपादान कारण है। जगत् उसी की अनुकृति है।

जगत् ब्रह्म की लीलार्थ की हुई संकल्पमूलक परिणति है। कार्यजगत् के कारण ब्रह्म से अनन्यत्व (अभेद) सम्बन्ध है, अत्यन्त भिन्नत्व (भेद) नहीं है। मृत्तिका सत्य है, क्योंकि उसके द्वारा निर्मित घटादि भिन्न प्रतीत होते हुए भी पृथ्वी के ही विकृत रूप होने के कारण उससे अभिन्न ही हैं। वस्तुत: यह सारा दृश्यमान जगत् परमात्मा स्वरूप ही सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि कारण और कार्य में न तो सर्वथा भेद ही होता है और न अभेद ही। भेदाभेद ही नित्य सिद्ध रहता है। कार्य के दोषों से मुक्त होता है। इसी प्रकार जगत् (कार्य) के दोष ब्रह्म कारण में नहीं होते।

परमात्मा के व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूप एक साथ ही स्वीकार किए जाते हैं। मूर्त और अमूर्त (स्थूल और सूक्ष्म) विश्व (जगत्) अपने कारण रूप ब्रह्म में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध से रह सकता है। ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से सर्प इच्छानुसार कुण्डली बनाकर बैठ जाता है और अपनी इच्छानुसार ही विस्तृत हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म अपने संकल्प मात्र से ही जगत् की सृष्टि और लय का हेतु है।

उक्त अहि-कुण्डली न्याय से स्थित विश्व को ब्रह्म से भी भिन्न भी नहीं कह सकते और सर्वथा अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता। बद्ध और मुक्त जीवों की आसक्ति और अनासक्ति का कारण भी जगत् ही है। ब्रह्म का शक्ति होने के कारण जगत् भी नित्य सत्य है, किन्तु नित्य होते हुए भी वह परिवर्तनशील है। भूत और भविष्यत् और वर्तमान रूपों से प्रकाशित समग्र जगत् परमात्म ज्ञान में नित्य रूप से प्रतिष्ठापित है। यह जगत् पहले से ही सत्तावान था। प्रत्येक वस्तु की सत्ता थी, जो कालान्तर में जगत् रूप में प्रकट हो गई। यह जगत् भी प्रलय होने पर सूक्ष्म रूप से संकुचित होकर परमात्मा में स्थित हो जाता है और सृष्टि के समय पुन: इसका विस्तार हो जाता है। जगत् की सृष्टि आदि तथा नाना रूपता में परिणति ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता द्वारा ही होती है। जगत् का एकमात्र आधार ब्रह्म ही है, क्योंकि वह नियन्ता एवं अन्तर्यामी रूप से सदैव विद्यमान होता है। कुम्हार को घट के निर्माण में चक्र, मिट्टी, दण्ड आदि बाह्य उपकरणों का संग्रह करना पड़ता है, किन्तु परमात्मा तो ऐसा नहीं करता। वह तो दूध से दही अथवा जल से बर्फ की भाँति प्राकृतिक शक्ति से स्वत: जगत् रूप में परिणित हो जाता है। वस्तुत: आनन्दमय, सर्वशक्तिमान् पुरुषोत्तम को किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं

पड़ती, क्योंकि जब वह सृष्टि करने की कामना करता है, तो संकल्प मात्र से जगत् की सृष्टि कर लेता है। उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ और वह हो गया।

जिस प्रकार कपड़े को समेटकर बाद में पुनः विस्तृत कर दिया जाये, उसी प्रकार परमात्मा भी विश्व को अपने में समेटकर पुनः उसे प्रसारित कर देता है, इससे प्रलय के बाद भी जगत् की सत्ता सिद्ध होती है। पुनः स्पष्ट करते हैं कि प्राणायाम की क्रिया द्वारा रुककर वायुवायु अपने संकुचित रूप में अवस्थित रहता है, वैसे ही यह जगत् भी प्रलय होने पर सूक्ष्म रूप से संकुचित होकर परमात्मा में स्थित हो जाता है और सृष्टि के समय पुनः विस्तृत हो जाता है। अतः जगत् और ब्रह्म का कार्य-कारण शक्ति-शक्तिमान् के आधार पर परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध का ही प्रतिपादन किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीनिम्बार्काचार्य ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में स्वीकार किया है। जीव और जगत् की सत्यता पर भी उन्होंने बल दिया है। उनकी दृष्टि में जीव और जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं। श्रीनिम्बार्काचार्य का अद्वैत (ब्रह्म) द्वैत (जीव, जगत्) से पृथक् नहीं है, अपितु जीव और जगत् को ब्रह्म का अंगीभूत रूप से एक करके ही है, किन्तु अद्वैत मतावलम्बी अद्वैत (ब्रह्म) में जीव और जगत् स्थान स्वीकार नहीं करते, इसलिए कि उनके मत में जगत् मिथ्या है और जगत् का पृथक् रूप से कोई अस्तित्व ही नहीं है। फिर भी आश्चर्यजनक तो यह है कि अद्वैत (ब्रह्म) की सत्ता का पूर्ण समर्थन करते हुए भी वे (अद्वैतवादी) जीव और जगत् की सत्ता को स्वीकार न कर सके। उन्हें व्यावहारिक भाव से इनकी सत्ता को स्वीकार करना पड़ा। ब्रह्म से भिन्न रहने से व्यावहारिक रूप से जीव और जगत् की सत्ता को स्वीकार करने के कारण द्वैतवाद की प्रतिष्ठा होती है। अतः अद्वैतवादियों के मत की यथार्थ पुष्टि नहीं होती। वस्तुतः द्वैताद्वैतवादी श्रीनिम्बार्काचार्य ही यथार्थ रूप में अद्वैतवादी हैं, क्योंकि उनके द्वैताद्वैत वाद में अद्वैत (ब्रह्मवाद) और द्वैत (जीव, जगत्वाद) सत्ता का एकपक्षीय द्योतन न होकर उभयपक्षीय द्योतन होता है। निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्त द्वैताद्वैत की यही परम विशेषता है। इस सिद्धान्त से युक्त उपासना शरणागति सेवा आदि से राजघराने प्रभावित होते एवं चमत्कृत रहे हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परा में प्राचीनकाल से राजघरानों का महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है। इस विषय को हम निम्बार्काचार्य पीठ सलेमाबाद निकट किशनगढ़ से ही प्रारम्भ करते हैं।

क्षत्रियों के पवित्र कुल में राठौर वंश की उत्पत्ति सूर्य वंश में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी की कुल परम्परा से मानी जाती है। राठौर वंश में बड़े-बड़े प्रतापी राजा हुए हैं। कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द की परम्परा में उत्पन्न महाराजा जोधाजी ने जोधपुर नगर बसाया, जो राठौर क्षत्रियों की प्रमुख राजधानी है। इन्हीं जोधाजी की छठी पीढ़ी में महाराज उदयसिंह हुए। उदयसिंह के बारह पुत्रों में से द्वितीय पुत्र का नाम कृष्णसिंह था। यह नाम जन्म नक्षत्र के अनुसार था, किन्तु बोलने का नाम सावन्तसिंह था। श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर आचार्य श्रीवृन्दावनदेवजी महाराज ने 1760 विक्रमी की चैत्र शुक्ला 10वीं को कुंवर कृष्णसिंह (श्री सावन्तसिंह) के गले में कण्ठी बाँधकर मंत्रोपदेश दिया और वैष्णव नाम नागरीदास रखा।

श्रीकृष्णसिंहजी अपने अग्रज जोधपुर नरेश से नाराज होकर बादशाह अकबर के पास चले गये।

अकबर ने उनका सम्मान किया और चार परगनों में विभक्त 229 गाँव की एक जागीर प्रदान की। इसी का नाम कृष्णगढ़ (किशनगढ़) पड़ा, जिसकी राजधानी कृष्णगढ़ नगर थी। कृष्णगढ़ के निकट ही सलेमाबाद कस्बा था, जो एक परगना माना जाता था। कृष्णगढ़ राज्य की बहियों व इतिहास रजिस्टरों में सलेमाबाद का नाम परसरामपुरी भी मिलता है, जो श्री परशुराम देवाचार्यजी से सम्बन्धित है।

प्रारम्भ से ही महाराज कृष्णसिंह का सम्बन्ध और निष्ठा सलेमाबाद स्थित श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ एवं वहाँ के आचार्यों में थी, इसका प्रमाण उनका लिखित पट्टा है, जो सम्भवतः किशनगढ़ राज्य का सबसे प्राचीन पट्टा है।

इसी प्रकार भरतपुर नरेश का अंग्रेजों से एक लम्बा युद्ध हुआ, जिसमें श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीश्रीजीमहाराज ने भरतपुर नरेशों की बड़ी सहायता की थी, जिसमें बारह वर्ष तक अंग्रेज सफल नहीं हो सके थे।

किन्तु गृह-कलह के कारण राजकुल के ही एक पक्ष द्वारा मिल जाने से अंग्रेजों ने बड़े बलिदान के पश्चात् सफलता प्राप्त की। इस भरतपुर में श्रीजी का मंदिर एक सुप्रतिष्ठित मंदिर है। यहाँ के राजाओं का सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परा में रहा है। भरतपुर में श्रीबिहारीजी महाराज का मंदिर है, यह भरतपुर के किले में स्थित है। श्रीनागाजी अर्थात् निम्बार्क सम्प्रदाय के चतुर चिन्तामणि देवाचार्यजी की भी मूर्ति है। उनकी गूदड़ी के भी दर्शन होते हैं।

यहाँ के महन्त ब्रजदूलह की पदवी से विभूषित रहे हैं और राजा लोग बृजेन्द्र की पदवी से विभूषित रहे हैं। यहाँ के नरेश रोजाना बिहारीजी के दर्शनों के लिए जाते थे, यदि नहीं जा पाते तो 5/- रुपये जुर्माना स्वरूप जमा कराते थे।

इसी प्रकार जयपुर की महारानी भटयाणीजी के विषय में विदित है कि निम्बार्कशरण देवाचार्यजी श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के 43वें आचार्य थे।

वि.सं. 1870 में आप आचार्य पीठासीन हुए। आपके आशीर्वाद से जयपुर की महारानी भटयाणीजी को एक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, जिसका नाम जयसिंह (तृतीय) था। इसी उपलक्ष्य में महारानी भटयाणीजी ने वृन्दावन में श्रीश्रीजी के मंदिर का निर्माण कराया, जो आज भी श्रीजी की बड़ी कुंज के नाम से प्रसिद्ध है।

इसे उसने अपने गुरुदेव श्रीनिम्बार्कशरणदेवजी को समर्पित कर दिया। इस मंदिर का निर्माण वि.सं. 1883 में हुआ था। अतः जयपुर के राजा-रानियों की श्रद्धा प्राचीनकाल से निम्बार्क सम्प्रदाय में होने के कारण राजघरानों का सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय में रहा है।

जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा, करौली आदि के राजाओं ने एकमत होकर जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीवृन्दावन देवाचार्यजी के परमधामवास होने के अनन्तर निम्बार्काचार्य पीठ

पर महाराष्ट्र देशीय शेष जयरामजी को अभिषिक्त करना चाहा। आन्दोलन बड़े जोर-शोर से चला, किन्तु जनता और सम्प्रदाय के विरक्त सन्त-महन्तों ने राजाओं का विरोध किया, अन्ततोगत्वा राजाओं को अपना निश्चय बदलना पड़ा।

विक्रम संवत् 1800 में श्रीगोविन्ददेवजी (श्रीदेवादासजी पूर्वनाम) को आचार्यपीठ के सिंहासन पर अभिषिक्त किया। आप संस्कृत के अच्छे विद्वान् और विशिष्ट कवि थे।

अत: उपरोक्त इस कथन से प्रमाणित होता है कि जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा, करौली आदि के राजाओं का सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय में रहा है।

रीवाँ के ककरा नाम ग्राम में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के कुल में दाऊ गोवर्धनदासजी का जन्म हुआ। इनका जन्म का नाम कुञ्जबिहारी ही था। वे बचपन से ही जगन्नाथ भगवान् की कथा सुनते थे। एक दिन घर छोड़कर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन करने के लिए चल पड़े। मार्ग में राजनांद गाँव पड़ता है, वहाँ पर निम्बार्क सम्प्रदाय का एक बहुत सुन्दर आश्रम है। वहाँ के राजा भी इसी स्थान के शिष्य होते हैं। ये वहीं कुछ दिन के लिए रुक गये। इसी बीच वहाँ के तत्कालीन राजा श्री घासीरामजी दर्शनों के लिए आश्रम में आये। इनसे भी परिचय हुआ। बाद में राजा ने अपनी सुपुत्री अन्नपूर्णा देवी का विवाह बड़े समारोह के साथ इनके साथ संवत् 1938 में कर दिया। विवाह से पूर्व वहाँ की प्रथा के अनुरूप ये भी उसी आश्रम के शिष्य हो गये।

इस प्रकार बहुत से राजघरानों का सम्बन्ध निम्बार्क सम्प्रदाय की परम्परा में रहा है।

वृन्दावन

❑

भगवन्निम्बार्काराध्या श्रीराधा एवं श्रीमद्भागवत

श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव

प्रत्येक जीव अपने अंशी रूप पराशक्ति की अनुकम्पा से ही जगत्पति भगवान् को प्राप्त कर सकता है और भगवान् की यही आह्लादिनी पराशक्ति रामावतार में जनकनन्दिनी सीताजी और कृष्णावतार में वृषभानुनन्दिनी राधाजी हैं। कहा जाता है कि जनकपुर की जो युवतियाँ, भगवान् श्रीराम के त्रैलोक्य मोहन सौन्दर्य को देखकर उनके रूप पर मोहित हो उठी थीं और इनके अतिरिक्त अनेक देवकन्याएँ, वेद की ऋचाएँ, भगवान् के साथ कान्तभाव का सुख प्राप्त करने के लिए गोपी रूप से अवतरित हुई थीं। यहाँ तक कि दण्डक वन के अनेक ऋषि मुनि, भगवान् राम के अलौकिक सौंदर्य पर मुग्ध होकर मन से पुरुष भाव का त्याग कर नारी भाव से उनका अंगसंग प्राप्त करने के लिए तीव्रता के साथ उत्कण्ठित हो उठे थे, भगवान् के वरदान से ये सब भी कृष्णावतार में भगवान् के प्रति कान्तभाव का सुख प्राप्त करने के लिए गोपी रूप में अवतरित हुए थे। यथा—

पुरा महर्षय: सर्वे दण्डकारण्य-वासिन:।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमिच्छन् सुविग्रहम्।।
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्ना समुद्भूतास्तु गोकुले।
हरिं संप्राप्य कालेन ततो मुक्ता भवार्णवात्।।

—पद्मपुराण उत्तर खण्ड, अध्याय 23

अत: अपनी अंशरूपा उन समस्त गोपी समूहों को भगवान् के साथ यथेच्छ विहार की अनुमति सांकेतिक रूप से भगवान् को प्रदान करते हुये, स्वयं भी उस गोपीसमूह के बीच उपस्थित रहना, आह्लादिनी पराशक्ति के लिए एक स्वाभाविक बात है। फिर भगवान् भी उनको छोड़कर केवल गोपियों के साथ बिल्कुल अलग कैसे रह सकते हैं। अत: चीर हरण प्रसंग के समान ही इस रासलीला के प्रसंग में भी राधाजी का गोपियों के बीच उपस्थित होना स्वाभाविक है, यह स्वीकार कर लेना ही सर्वथा युक्तिसंगत है।

अब रही यह बात कि इस प्रसंग में भी उनका नाम प्रत्यक्ष रूप में क्यों नहीं आया? इसका कारण उपर्युक्त विवेचन से ही बिल्कुल स्वाभाविक रूप में लक्ष्य किया जा सकता है, वह इस प्रकार कि जब भगवान् की आह्लादिनी पराशक्ति श्रीराधाजी ने अपनी ही अंश रूपा उन समस्त गोपीसमूहों को, भगवान् के साथ स्वतन्त्र रूप से यथेच्छ विहार की अनुमति भगवान् को स्वयं ही दे रखी है, तो उस स्थल पर अपने ऐश्वर्य भाव तथा विशेषाधिकार को प्रकट करने से, गोपियों के अन्त:करण में भगवान् के साथ यथेच्छ और स्वतन्त्र विहार में संकोच उत्पन्न होना भी एक बिल्कुल स्वाभाविक बात है। अत: गोपियों के अन्त:करण से उस प्रकार के संकोच को सर्वथा दूर रखने के अभिप्राय से श्रीराधाजी ने वहाँ स्वयं उपस्थित

होते हुए भी अपने विशेष गौरव को छिपा रखा है और गोपी समूह के बीच समान रूप में ही उपस्थित है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि इस रहस्य को समझते हुए स्वयं श्रीराधाजी की सांकेतिक अनुमति को अनुभव करके, श्रीशुकदेवजी ने भी इस अवसर पर श्रीराधाजी का नाम लेकर उनका पृथक् निर्देश करना उचित नहीं समझा और उनके लिए भी गोपी शब्द ही दिया है।

परन्तु आगे चलकर भगवान् कृष्ण से मान पाकर मानवती गोपिकाओं ने अपने को संसार में सम्पूर्ण स्त्रियों से श्रेष्ठ समझा और उस समय उनका गर्व नाश करने के लिए भगवान् उनमें से एक गोपी को साथ लेकर अन्तर्धान हो गये, उस अवसर पर एक श्लोक के अंतर्गत आये हुए 'मान' और 'मद' दो शब्दों पर कुछ गहराई के साथ अनुसंधान करने से उस स्थल पर श्रीराधाजी का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप में झलक जाता है। उस अवसर पर श्रीमद्भागवत में निम्नलिखित श्लोक आये हैं—

"एवं भगवत: कृष्णाल्लब्धमाना महात्मन:।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि।।
तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्यमानं च केशव:।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत।।"

अर्थ—इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण से मान प्राप्त हुई मानवती गोपियाँ अपने को पृथ्वी पर सब स्त्रियों से बढ़कर मानने लगीं। तब उनके सौभग मद (सौन्दर्य मद) और मान को देखकर मद के शमन और कृपा करने के लिए भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये।

यहाँ पर मर्म को समझने के लिए 'मद' और 'मान' में क्या भेद है? मान क्या है? और मद क्या है और उनका क्या स्थान है, यह जानना आवश्यक होगा। अत: इस सम्बन्ध में विचार उपस्थित किया जाता है।

1. मान सर्वथा निन्दनीय नहीं है, यदि यह सर्वथा निन्दनीय होता तो सज्जनों के समाज में दूसरों को मान देना प्रशंसनीय क्यों कहा जाता? दूसरों को मान देना तो सन्त-लक्षणों में कहा गया—

सबहिं मानपद आपु अमानी। —रामचरित मानस

साथ ही यदि मान सर्वथा निन्दनीय होता तो भगवान् भी अपने भक्तों का मान क्यों रखते? पर हाँ! मद अवश्य ही सर्वथा निन्दनीय है, इसलिए भक्तों में इसका अंकुर उत्पन्न होते ही भगवान् तत्काल उसे नष्ट करने का उपाय करते हैं।

2. मान अपने स्वरूप की रक्षा करता है, पर मद इसके बिल्कुल विपरीत, अविवेक से अन्धा करके व्यक्ति को स्वरूप से च्युत कर देता है।

3. शृंगार रस में मान नायिका का भूषण है। मानवती नायिका मुख से अपने प्रिय को कठोर वचन कहती है, पर उसका हृदय अपने प्यारे (प्रिय) के ही प्रेम में पगा रहता है। इसके

विपरीत 'मद' नायिका का दूषण और उसके पातिव्रत को कलंकित करने वाला है। मद से अन्धी हुई नायिका नायक को अपना दास समझने लग जाती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि मद सर्वथा निन्दनीय है, पर मान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। हाँ! किसी अवसर पर साधारण बोल-चाल में 'मद' के पर्याय रूप में ही 'मान' शब्द का प्रयोग होने लग गया, यह बात दूसरी है। पर यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में तो 'मद' और 'मान' दोनों शब्द एक साथ ही आये हैं—अत: इस स्थल पर उस साधारण बोल-चाल की कल्पना के लिए कोई विशेष अवकाश नहीं है।

इस प्रकार मद और मान के सम्बन्ध में उपर्युक्त स्पष्टीकरण से यह बात बिल्कुल निश्चित हो जाती है कि किसी एक ही गोपी में मद और मान दोनों एक ही साथ नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव के हैं। अत: जिनमें मद हुआ, वे गोपियाँ और जिसे मान हुआ, वह गोपी, दोनों अवश्य ही परस्पर भिन्न है। फिर प्रस्तुत उपर्युक्त श्लोक में ही एक बात और विशेष ध्यान देने की यह है कि वहाँ प्रशमाय और प्रसादाय दो शब्द भी एक साथ आये हैं, वह भी परस्पर भिन्न स्वभाव वाले हैं। इसमें प्रशमाय शब्द का प्रयोग मद के लिए ही हो सकता है, क्योंकि भक्तों में मद का अंकुर उत्पन्न होते ही भगवान् तुरन्त उसे नष्ट कर देने का उपाय करते हैं। तुलसीकृत रामचरितमानस के अन्तर्गत नारदमोह प्रसंग में नारदजी के सम्बन्ध में भगवान् का यह स्वभाव स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है, यथा—

करुनानिधि मन दीख बिचारी।
उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी।
बेगि सो मैं डारिहउं उखारी।
पन हमार सेवक हितकारी।।

पर मान के लिए प्रशमाय शब्द उपयुक्त न होकर उसके सम्बन्ध में 'प्रसादाय' शब्द ही उपर्युक्त है। कारण, जैसा कि पूर्वोक्त स्पष्टीकरण में कहा गया है, मान तो भगवान् स्वयं ही भक्तों को दिया करते हैं। मानभंग तो शत्रु का किया जाता है, न कि अपने प्रेमास्पद का। प्रस्तुत प्रसंग में भी "एवं भगवत: कृष्णाल्लब्धमाना" शब्दों से भगवान् का अपनी भक्त गोपियों को मान देना बिल्कुल स्पष्ट है। परन्तु उस मान ने ही जब गोपियों में मद का रूप धारण कर लिया तो अपने स्वभाव के अनुसार उस मद को नष्ट करना भी भगवान् के लिए आवश्यक हो गया।

इस प्रकार प्रशमाय और प्रसादाय दो भिन्न अर्थ वाले शब्दों के साथ ही साथ आने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनको मद हुआ, वे गोपियाँ और जिसे मान हुआ वह गोपी, दोनों परस्पर भिन्न हैं। अब ध्यान देकर अनुसंधान करने की बात यह है कि गोपियों में किन को मद और किसको मान होना सम्भव था।

नायिका को मान तभी उत्पन्न होता है, जबकि नायक की ओर से किसी प्रकार के अपमान अथवा उपेक्षा की प्रतीति होती है। अत: प्रस्तुत प्रसंग में एकमात्र श्रीराधाजी का ही व्यक्तित्व ऐसा है, जिन्हें मान करने का अवकाश हो सकता है। कारण कि, भगवान् की

आह्लादिनी पराशक्ति और सिद्धान्ततः अपनी अंशरूपा समस्त गोपिकाओं की स्वामिनी होते हुए भी उन्हें प्रकट रूप में भगवान् की ओर से वही मान प्राप्त हुआ, जो अन्य समस्त गोपियों को प्राप्त हुआ। उनके स्वरूपानुरूप कोई विशेष सत्कार उनका नहीं किया गया। साथ ही अन्य गोपियों को मान करने का कोई अवकाश ही नहीं है। क्योंकि भगवान् की ओर से सम्यक् प्रकार सम्मान को प्राप्त होकर उनके साथ निःसंकोच यथेच्छ विहार कर रही थीं। भगवान् की ओर से उनका अपमान ही क्या हुआ था, जिसके लिए वे मान प्रकट करतीं। अतएव भगवान् की ओर से सम्यक् प्रकार सम्मान को प्राप्त होकर पृथ्वी पर अपने को परम अधिकारिणी समझ कर मद का उत्पन्न हो जाना इनके लिए ही सम्भव था। इस प्रकार प्रसंग पर कुछ गहराई के साथ अनुसंधान करने पर इस प्रसंग के पूर्वोक्त द्वितीय श्लोक के अर्थ का स्पष्टीकरण इस प्रकार होता है—

"गोपियों के सौंदर्यमद तथा एक विशेष गोपी (राधाजी) के मान को देखकर (गोपियों के) मद का शमन करने और मानिनी विशेष गोपी (राधाजी) को विशेष मान देकर उन्हें प्रसन्न करने के लिए भगवान् उस विशेष गोपी (राधाजी) को अपने साथ लेकर अन्तर्धान हो गये। इस तरह इस प्रसंग में श्रीराधाजी का नाम स्पष्ट न होने पर भी उनका व्यक्तित्व बराबर झलक जाता है।

अवश्य ही यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है, वह यह कि जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है, जब श्रीराधिकाजी ने अपनी अंशरूपा गोपियों को भगवान् के साथ यथेच्छ विहार के लिए स्वयं ही स्वतन्त्रता दे रखी थीं और इस विषय में उन्हें संकोचरहित करने के लिए अपने ऐश्वर्य और विशेषाधिकार को छिपाकर समान भाव से उनके साथ सम्मिलित थीं, तब भगवान् की ओर से विशेष सत्कार न पाने पर मान प्रकट करना कैसा? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जब तक गोपियों में मद की उत्पत्ति नहीं हुई, उस समय तक श्रीराधाजी भी समान भाव से उनके साथ सम्मिलित रहीं। पर उनमें मद की उत्पत्ति हो जाने पर जब उस मद के शमन करने के लिए भगवान् ने अन्तर्धान होने का संकल्प किया, तो भगवान् के उस संकल्प में श्रीराधाजी की भी अनुमति आवश्यक थी। क्योंकि वे समस्त गोपियाँ श्रीराधा की कृपा पात्र थीं। अतः भगवान् के उस संकल्प में अपनी सांकेतिक अनुमति प्रदान करने के लक्ष्य से उस समय श्रीराधाजी ने उनके प्रति मान प्रकट कर देना उचित समझा।

इस प्रकार प्रसंग पर गम्भीरता के साथ अनुसंधान करने पर यह स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाता है कि जिस विशेष प्रेयसी को साथ लेकर भगवान् अन्तर्धान हुए हैं, वे श्रीराधाजी ही हैं।

उपर्युक्त अनुसंधान से इस स्थल पर श्रीराधाजी का व्यक्तित्व इतना स्पष्ट रूप में झलक जाने पर भी उनका नाम खुलकर क्यों नहीं लिया गया? इसका भी कोई न कोई कारण होना चाहिये, क्योंकि सामान्य रूप से देखने पर इस स्थल पर तो उनका स्पष्ट नाम अवश्य ही आ जाना चाहिये था। परन्तु रहस्य की दृष्टि से देखने पर वह कारण भी बराबर झलक जाता हुआ प्रतीत होता है। वह कारण यह है कि इसी स्थल पर आगे चलकर अन्य गोपियों के समान ही, किन्तु उससे भी अधिक बढ़ा-चढ़ा मद का दृश्य उस विशेष गोपी (श्रीराधाजी) में भी

उपस्थित होने वाला है और उस समय उन्हें भी छोड़कर भगवान् अन्तर्धान हो जायेंगे। अतः जब अब तक स्पष्ट रूप में निर्देश करके उनका नाम नहीं लिया गया, तो ऐसे आचरण की सम्भावना के पूर्व, शुकदेवजी ने उनका प्रथम बार खुला परिचय देना उपयुक्त नहीं समझा। अतएव यहाँ पर भी 'श्रीराधा' नाम नहीं आ सका। यह आगे का प्रसंग श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है—

"यां गोपीमनयत्कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने।
सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम्।।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः।
ततो गत्वा वनोद्देशं हृष्टा केशवमब्रवीत्।।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः।।
एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत।।"

अर्थ—भगवान् कृष्ण और सब स्त्रियों को वन में छोड़कर जिस गोपी को अपने साथ ले गये थे, उसने अपने को सर्व स्त्रियों से श्रेष्ठ माना और समझी कि सभी कामवती गोपियों को छोड़कर प्यारे मुझे ही सबसे अधिक प्यार करते हैं। तब वन प्रदेश में पहुँचने पर उस प्रेमगर्विता ने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कहा, अब मुझ से और अधिक नहीं चला जाता, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, मुझे ले चलो। इस प्रकार कहने पर भगवान् ने उस प्रिया के प्रति कहा—अच्छा, मेरे कन्धे पर चढ़ लो और यह कह कर अन्तर्धान हो गये। भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर वह वधू दुःखी हुई और विलाप करने लगी।

यहाँ पर सर्वेश्वरी, वृषभानुनन्दिनी राधाजी में भी निन्दनीय मद उत्पन्न हो जाने की बात स्वाभाविक रूप में ही उपासकों को खटक सकती है। अतः इस सम्बन्ध में भी एक गम्भीर रहस्य की बात ध्यान योग्य है। वह यह कि, पूर्व कथन के अनुसार, गोपियों को उनके स्वरूप से च्युत करने वाले, सौंदर्य मद को दूर करने के लिए, उनके बीच से अन्तर्धान होने में भगवान् को सांकेतिक अनुमति प्रदान करना तो सर्वेश्वरी राधाजी ने उचित समझा और इसीलिए उस समय किंचित् मान व्यक्त किया। पर उन करुणामयी, सर्वेश्वरी को अपनी ही अंश रूपा गोपी समूह को भगवान् के विरह में रोते बिलखते देखते हुए, भगवान् के साथ विहार में, अकेले अपने सुख में सुखी होना कब सहन होता? यह तो उन करुणामयी, आह्लादिनी, श्रीराधाजी के स्वभाव के ही विपरीत था। अतः अपने किंचित् मान प्रदर्शन के द्वारा गोपियों के सौंदर्य मद को शमन करने के लिए अन्तर्धान होने में, भगवान् को अपनी सांकेतिक अनुमति तो भले ही प्रदान कर दी, परन्तु उन गोपियों के बीच से भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर स्वयं अपने में ही उसी सौंदर्य मद का नाटक उपस्थित कर उसके फलस्वरूप स्वयं भी भगवान् से वियुक्त हो उनके विरह में रोती-बिलखती, उन अपनी आश्रिता गोपी-समूह के साथ जा मिलीं और जिस प्रकार पूर्व रास क्रीड़ा में समान भाव से उनके बीच सम्मिलित थीं, उसी प्रकार समान रूप में उनके विरहालाप में भी उनके साथ सम्मिलित हो गईं। यह उन करुणामयी श्रीराधाजी के सम्बन्ध में एक रहस्य की बात है।

इस प्रकार भगवान् के वियोग में रोती बिलखती और अनेक प्रकार से विरहालाप करती हुई उन गोपी-समूह ने जब उस विशेष गोपी (श्रीराधाजी) को पुनः अपने बीच प्राप्त किया और उनके साथ मिलकर भगवान् की स्तुति और उनका गुण गान करने लगीं, तो उस गुण गान के, एक विशेष भावना से प्रेरित अन्तिम श्लोक पर भगवान् हंसते हुए उनके बीच प्रगट हो गये। यथा—

"तासामाविर्भूच्छौरिः स्मयमान मुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथ-मन्मथः।।"

अब इस स्थल पर आगे एक और बहुत गुह्य रहस्य की झलक श्रीराधाजी की उपस्थिति के सम्बन्ध में सामने आती हुई प्रतीत होती है, जिसकी ओर सम्भवतः रहस्यविद् रसिक उपासकों की दृष्टि ही नहीं गई। उस रहस्य को सामने लाने के लिए अवश्य ही कुछ विस्तार में जाना होगा और इस बात के लिए भगवान् के अन्तर्ध्यान होने से पूर्व की रास-क्रीड़ा और फिर उनके गोपियों के बीच प्रकट होने के अनन्तर दूसरी बार उपस्थित हुए महारास के बीच एक सूक्ष्म अन्तर की ओर दृष्टिपात करना और उस पर कुछ विशेष गहराई के साथ अनुसंधान करना आवश्यक होगा। वह अन्तर यह था कि अन्तर्धान लीला के पश्चात् पुनः दूसरी बार उपस्थित होने वाले महारास के आरम्भ में ही एक श्लोक में जो विशेष दृश्य उपस्थित किया गया है, वह पूर्व की रास क्रीड़ा में नहीं मिलता। वह श्लोक और उसके द्वारा उपस्थित किया गया वह विशेष दृश्य निम्नलिखित है—

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः।।

अर्थ—उन स्त्रियों में दो-दो के बीच में योगेश्वर भगवान् कृष्ण उनके गले में हाथ डालकर प्रविष्ट हुए।

इस प्रकार के दृश्य का वर्णन, अन्तर्धान लीला के पूर्व उपस्थित हुई रास-क्रीड़ा में नहीं आया। इस बात को और भी अधिक स्पष्ट रूप में देखने के लिए एक प्रश्न अथवा समस्या को उपस्थित करना आवश्यक प्रतीत होता है। वह प्रश्न यह है कि दो-दो गोपियों के बीच एक कृष्ण अथवा रास मण्डलियों के शब्दों में 'द्वै-द्वै गोपी बिच-बिच माधव' और 'एक-एक गोपी बिच-बिच माधव'' दो प्रकार के कथन में, दोनों का अर्थ एक ही होता है, अथवा दोनों कथन में कुछ अन्तर है? और दोनों प्रकार के कथन से रास का मण्डल एक ही प्रकार का बनता है, अथवा दो में से हर एक कथन के अनुसार मण्डल के रूप में भी कुछ अन्तर पड़ जाता है? महारास के मण्डल के जितने भी चित्र देखे जाते हैं, उनकी रूप-रेखा सभी जगह प्रायः निम्नांकित एक ही प्रकार की देखी जाती है। मण्डल की इस रूप-रेखा में कृष्ण की ओर दृष्टि डालिए तो उनके दाहिनी ओर एक गोपी और बाईं ओर दूसरी गोपी है और कृष्ण का दाहिना हाथ दाहिनी ओर की गोपी के हाथ से और बायाँ हाथ बाईं ओर वाली दूसरी गोपी के हाथ से जुड़ा है। फिर दाहिनी ओर की गोपी के दाहिनी ओर दूसरे कृष्ण और उन कृष्ण के दाहिनी ओर फिर गोपी है। इस प्रकार मण्डल की इस रूप-रेखा में, कृष्ण की ओर दृष्टि डालने

पर उन कृष्ण के दाहिने और बायें एक-एक गोपी है। इस बात को द्वै-द्वै गोपी बिच-बिच माधव और एक-एक गोपी बिच-बिच माधव दोनों प्रकार बोल-चाल में कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ असंगति यह उत्पन्न होती है कि कृष्ण की जगह, किसी गोपी की ओर लक्ष्य करके दृष्टि डालने पर उस गोपी के दाहिने और बाँये दो कृष्ण दिखाई पड़ेंगे और उस गोपी का दाहिनी हाथ दाहिनी ओर के कृष्ण के हाथ से और बायाँ हाथ बाईं ओर वाले कृष्ण के हाथ से जुड़ा होगा। इस प्रकार दो-दो गोपी बिच-बिच कृष्ण की जगह द्वै-द्वै कृष्ण, बिच-बिच गोपी, अर्थात् दो कृष्ण के बीच एक गोपी भी कहा जा सकता है। पर एक गोपी की दो कृष्ण के साथ क्रीड़ा की बात अवश्य ही असंगत और अनुचित-सी लगती है।

पर द्वै-द्वै गोपी बिच-बिच माधव से मण्डल की एक रूप-रेखा ऐसी भी बनती है, जिसमें इस प्रकार की असंगति और संभ्रम का अवकाश नहीं रहता। मण्डल की वह रूप-रेखा निम्नांकित है, जिसमें एक कृष्ण, फिर दो गोपी, फिर एक कृष्ण और फिर दो गोपी। मण्डल की इस रूप-रेखा में एक कृष्ण पर दोनों हाथ दोनों ओर की गोपियों से जुड़ें होंगे। पर एक गोपी के दोनों हाथ दोनों ओर दो कृष्ण से जुड़े न होकर एक ओर कृष्ण और दूसरी ओर गोपी के हाथ से ही जुड़े होंगे। इस प्रकार मण्डल की इस रूप-रेखा में भागवत के श्लोक के अनुसार दो-दो गोपी के बीच में एक कृष्ण की बात तो हर तरह से चरितार्थ होगी, पर इसके विपरीत दो-दो कृष्ण के बीच का संभ्रम बिल्कुल न रहेगा। अतः मेरे विचार से श्लोक का ठीक अर्थ मण्डल की इस दूसरे प्रकार की रूप-रेखा में ही सही और निर्भ्रान्त रूप में घटित होता है।

अब यदि महारास के मण्डल की इस दूसरी रूप-रेखा को ही भागवत के उपर्युक्त श्लोक के सही और निर्भ्रान्त अर्थ के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो इसी श्लोक के सहारे इस महारास के उत्सव में, श्रीराधाजी की उपस्थिति की एक ओर महत्त्वपूर्ण झलक के अनुसंधान का अवकाश प्राप्त हो सकता है। आइए, इस बात के लिए भगवान् कृष्ण की अन्तर्ध्यान लीला के पूर्व उपस्थित हुई रास क्रीड़ा का एकबार फिर सिंहावलोकन करें। उस रास क्रीड़ा के वर्णन में दो-दो गोपियों के बीच एक कृष्ण जैसा कोई दृश्य उपस्थित नहीं होता। प्रत्युत उस प्रसंग में भगवान् कृष्ण को गोपियों के यूथों का यूथपति कहकर वर्णन किया गया है। यथा—

उपगीयमान उद्गायन्वनिता-शत-यूथपः।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन्वनम्।।

अर्थात् सैकड़ों स्त्रियों के यूथपति भगवान् कृष्ण उनसे कीर्तित हो और स्वयं भी उनके साथ उच्च स्तर से गाते हुए गले में वैजयन्ती माला धारण किए वन को विभूषित करते हुए रास करने लगे।

तात्पर्य यह है कि उस प्रसंग में, गोपी समूह के बीच कृष्ण का रूप एक ही है और उस प्रसंग में मण्डलाकार नृत्य गान में भी, चारों ओर गोपियों के समूह के बीच कृष्ण एक ही है, फिर भी अपनी योगमाया के आश्रय से भगवान् ने सभी गोपियों के प्रति एक साथ ही रमण किया। परन्तु गोपियों की दृष्टि में कृष्ण थे तो एक ही और सामान्य रूप से, एक रूप से

सर्वांगीण रमण अथवा विहार एक गोपी के साथ ही सम्भव था। अत: प्रत्येक गोपी को प्रतीत यही हुआ कि, भगवान् सर्वांगीण रूप से रमण हमारे साथ ही कर रहे हैं और हमको सबसे अधिक प्यार कर रहे हैं। अत: विशेष गोपी (श्रीराधाजी) को छोड़ अन्य सभी गोपियों में, सौभग मद की उत्पत्ति हो गई और उस मद का शमन करने के लिए ही भगवान् उनके बीच से अन्तर्धान हुए, जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

अब गोपियों के उस मद का शमन किस प्रकार हुआ? इसकी भी कोई रूप-रेखा स्पष्ट होनी चाहिए।

गोपियों के बीच से अन्तर्धान हो जाने पर सामान्य रूप से उनके मद का शमन तो हो गया और गोपियाँ भगवान् के विरह में अतिशय विलाप करने लगीं। पर भगवान् अपने भक्तों में, मद का अंकुर उत्पन्न होते ही उसे जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करते हैं, जैसा कि तुलसीकृत रामचरित मानस के एक उद्धरण के साथ पूर्व में लिखा जा चुका है, जिससे कि उस मद के पुन: उत्पन्न होने का अवकाश ही न रहे, यह बात अभी न हो पाई थी, अत: इसका उपचार शेष था। अब प्रेमभक्ति के मार्ग में इस मद की संभावना की जड़ कहाँ होती है? यह बात भी विचारणीय है। प्रेम शक्ति के पथ में, जब तक अपने सुख की चिन्ता छोड़कर प्रिय के सुख में सुखी होने का, अर्थात् तत्सुख प्रधान प्रेम-भाव का उदय नहीं हो जाता और प्रिय के संयोग द्वारा स्वसुख की प्राप्ति में ही आसक्ति रहती है उस समय तक ही प्रिय के द्वारा अधिक सुख और सम्मान प्राप्त होने पर मद की उत्पत्ति की संभावना बनी रहती है। यह स्वसुख में ही आसक्ति का प्राधान्य गोपियों में अभी भी उपस्थित था। इस स्वसुख की ही आसक्ति के कारण प्राय: यह भी भाव बना रहता है कि प्रियतम सबसे अधिक प्यार मेरा ही करें, मुझसे अधिक किसी को प्यार न करें। इस स्वसुख की आसक्ति का लक्ष्य गोपियों में वहाँ पर स्पष्ट हो जाता है, जबकि विशेष गोपी (राधाजी) के भी साथ से, भगवान् के अन्तर्धान हो जाने पर भगवान् के चरण चिह्नों के साथ उन्होंने इस विशेष गोपी (राधाजी) के चरण चिह्न भी देखे। उस समय एक गोपी के मुख से सहसा यह स्वसुख के प्राधान्य की बात भी सामने आ ही जाती है यथा—

तस्या अमूनि न: क्षोभं कुर्वन्त्युच्चै: पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्।।

अर्थात्—कुछ भी हो, यह जो हम सबके सर्वस्व श्रीकृष्ण को एकान्त में ले जाकर अकेली ही उनके अधर-सुधा का पान कर रही है, इस गोपी के उभरे हुए चरण चिह्न तो हमारे चित्त में अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं।

परन्तु जब वह विशेष गोपी (राधाजी) पूर्व कथन के अनुसार, गोपियों के मद को शमन करने के लिए भगवान् को उनके बीच से अन्तर्धान होने के लिए अपने गुप्त मान-प्रदर्शन द्वारा सांकेतिक अनुमति प्रदान कर आगे स्वयं अपने में भी उसी सौभग मद (सौन्दर्यमद) का नाट्य उपस्थित करके, पुन: सिद्धान्तत: अपनी ही आश्रिता, उन गोपी-समूह के बीच आ मिलीं, तब उस विशेष गोपी (करुणामयी सर्वेश्वरी राधाजी) के संपर्क में उनके सहित विरहालाप में,

भगवान् की स्तुति करते हुए, सहसा उस स्तुति (गोपी-गीत) के अंतिम श्लोक में, उन ब्रज गोपियों में भी, स्वसुख की आसक्ति से पीछे हटकर, प्रिय के सुख की चिन्ता का, एक तत्सुख प्रधान भाव जाग्रत हो ही उठा और उस श्लोक पर ही, पीताम्बर और वन माला धारण किये हुए, कामदेव को भी लज्जित करने वाले, भगवान् कृष्ण मुस्कराते हुए उनके बीच प्रकट हो गये। गोपी-गीत का वह अन्तिम श्लोक यह है। यथा—

यत्ते सुजात-चरणाम्बुरुहं स्तनेषु,
भीता: शनै: प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किं स्वित्,
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां न:।।

अर्थ—हे प्यारे! आपके जिन सुकुमार चरण-कमलों को हम डरती-डरती बहुत धीरे से अपने कठोर स्तनों पर रखती हैं, उन्हीं चरणों से आप (केवल हमारी दृष्टि से बचने के लिए, मार्ग से अलग-अलग) विचर रहे हैं, क्या कंकड़ आदि से उन्हें कुछ व्यथा नहीं होती? (अर्थात् अवश्य होती होगी यह सोचकर) आपके लिए ही जीवन धारण करने वाली हम अबलाओं की बुद्धि मोह को प्राप्त हो रही है।

❑

राष्ट्रभाषा हिन्दी को निम्बार्क सम्प्रदाय की देन

डॉ. नारायणदत्त शर्मा

चतु:सम्प्रदायों द्वारा भारतीय धर्म-संस्कृति और साहित्य के विकास क्रम में निम्बार्क सम्प्रदाय का अग्रदूतत्त्व प्राय: अब सर्वमान्य हो चुका है। भगवान् निम्बार्क के आविर्भाव के सम्बन्ध में यद्यपि अभी भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है, परन्तु श्रीराधाकृष्ण की युगलोपासना के प्रादुर्भावकर्त्ता, लोक-नीति के विस्तारक और प्रेम-लक्षणा रस-भक्ति के उपदेष्टा के रूप में उनका आभार सर्वगृहीत है। निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रभाव विस्तार को विद्वानों ने पूर्व, मध्य और उत्तर तीनों युगों में विभाजित किया है, जिनमें इस सम्प्रदाय के आचार्यों, तन्त्र और सूत्रकारों दार्शनिक-कवियों और साहित्यकारों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में योगदान हुआ है। सम्प्रदाय के पूर्व युग में निम्बार्काचार्य और उनके तीन शिष्य श्री श्रीनिवासाचार्य, औदुम्बराचार्य और गौरमुखाचार्य द्वारा सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ और उसकी दार्शनिक, धार्मिक, आचारपरक एवं उपासना सम्बन्धी पृष्ठभूमि की स्थापना हुई। मध्ययुग में श्रीनिम्बार्काचार्य की तीसरी पीढ़ी से लेकर अष्टादश भट्टों तक का समय है, जो श्रीविश्वाचार्य से प्रारम्भ होकर श्रीकेशवकाश्मीरी भट्ट के पूर्व तक पहुँचता है। निम्बार्क सम्प्रदाय का उत्तर युग पूर्व दोनों युगों से सर्वथा भिन्न है। प्रथम दो युगों में सम्प्रदाय के योगदान का माध्यम देववाणी संस्कृत ही थी। वही उस समय तक समूचे भारत को भावात्मक एकता के सूत्र में बाँधे थी। राष्ट्र के उदात्त भावों के प्रकाशन और थिर-संरक्षित रखने का भार उसी के सिर पर था। समस्त धर्म, आचार और संस्कारों का आधान उसी में होता था। परन्तु सम्प्रदाय के उत्तर युग में परिस्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। आचार्य पद से भट्ट परम्परा का विच्छेद, लोकवाणी ब्रजभाषा की काव्य रूप में प्रतिष्ठा और राष्ट्रभाषा हिन्दी के विविध रूपों की धर्म-प्रचार के माध्यम के रूप में सार्वजनिक स्वीकृति कुछ ऐसी घटनाएँ थी कि जिनसे सम्प्रदाय एक साथ गतिमान् होने लगा। अरबी, फारसी उस समय दरबारीजन एवं शिष्ट वर्ग के पत्राचार और अरबलाक की भाषाएँ थीं, जिनकी शब्दावली छन-छनकर यत्र-तत्र वाणी ग्रन्थों में भी समाविष्ट हो जाती थी। सभी सम्प्रदायों के भक्ति का अजस स्रोत उमड़ कर लोक-मंगल और लोकरंजन का मार्ग प्रशस्त कर रहा था। निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दोनों रूप सर्वत्र मान्य थे। राजनैतिक उत्पीड़न एवं धार्मिक नृशंसता के तात्कालीन दु:सह वातावरण में भक्ति के मंगल गायन में मानव मन का शील अपने प्रभु के प्रति दैन्य, आत्मसमर्पण और तादात्म्य की मनोदशाओं में उभर कर चारों ओर प्रसार पा रहा था। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने महात्मा सूरदास से वल्लभाचार्यजी की गौघाट पर भेंट और लीलागान का उपदेश राष्ट्रभाषा हिन्दी के धर्म और उपासना साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि बतलाई है। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के दिग्विजयी केशवकाश्मीरि भट्ट के द्वारा मथुरा में काजी द्वारा आरोपित तन्त्र बाधा का निवारण और उनके शिष्य महात्मा श्रीभट्टजी द्वारा ब्रज के

निकुंज-लीला गान की परम्परा की उद्भावना हमारी दृष्टि में गौघाट वाली घटना से बहुत अधिक महत्त्व की है। केशवकाश्मीरीजी का समय सूरदासजी से लगभग 200 वर्ष पूर्व अब प्राय: सभी विद्वान् स्वीकार कर चुके हैं। श्रीभट्टजी के शिष्य श्री हरिव्यासदेवाचार्य से महात्मा सूरदास आयु में छोटे थे। इस तथ्य को डॉ. दीनदयाल गुप्त ने अपने शोध प्रबन्ध में इस प्रसंग में व्यक्त किया है।

इस प्रकार श्रीभट्टजी द्वारा प्रतिष्ठापित लीलागान की परम्परा से हिन्दी साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। (राम और कृष्ण का लीलागान ही हिन्दी कविता का प्राण है। उससे पूर्व की हिन्दी कविता में भारतीय हृदय और मस्तिष्क दोनों में से किसी एक की भी सच्ची अभिव्यक्ति नहीं हो पाई थी।) श्रीनिम्बार्काचार्य ने वैष्णव आचार्यों में सबसे पूर्व परम-तत्त्व की रस-रूप में प्रतिष्ठा कर उसे उपास्य रूप में ग्रहण किया था। उनके अनुसार उस प्रभेदात्मक रस-तत्त्व ने लीला-विहार के निमित्त अपने को श्रीराधा-कृष्ण प्रिया-प्रियतम के युगल रूप में नित्य वृन्दावन में रास-रमण का उपक्रम किया था। श्रीभट्टजी ने अपने 'युगल-शतक' में इसे व्यक्त करते हुए कहा—

राधा माधव सुन्दर जोरी।
सदा सनातन इक रस विहरत,
अविचल नवल किशोर किशोरी।।

उनके इस कथन में 'भेदाभेद दर्शन' की सहज अभिव्यक्ति है। ब्रजभाषा काव्य में दार्शनिक व्यंजना, संगीतसाधना, रासविलास, गोपी और सहचरी, कैंकर्य, ब्रजलीला, हिंडोरा, बसन्त, होली, सेवासुख, सुरति दर्शन आदि का स्वाभाविक वर्णन सबसे पहले श्रीभट्टजी के 'युगल-शतक' में दृष्टिगोचर होता है। वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता, संक्षिप्तता, भावएकता उनके काव्य-कौशल की उपलब्धियाँ हैं। इन्हीं सब गुणों से समाविष्ट काव्य-कला और रस साधना का अद्भुत आधान सबसे पहले श्रीभट्टजी के 'युगल-शतक' में प्राप्त है। इस कारण उनके इस ग्रन्थ को 'आदिवाणी' कहकर पुकारा गया है। ''ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास'' के यशस्वी लेखक श्रीप्रभुदयाल मीतल ने श्रीभट्टजी को 'युगान्तरकारी धर्माचार्य' कहा है। वास्तव में वे ब्रजभाषा में ''मधुर भाव संबलित काव्य के उन्नायक'' और ''ब्रजगीति काव्य के वाल्मीकि'' हैं। ब्रजभाषा राष्ट्रभाषा हिन्दी की सशक्त बोली के रूप में लगभग 1000 वर्ष तक भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, नीति, संगीत, संधि-विग्रह आदि भावों की अभिव्यक्ति का साधन रही। लीलागान और रसोपासना का स्वर उनमें सबसे उत्कृष्ट था। राम और कृष्ण का लीला-गान ही राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रमुख प्रतिपाद्य है। उसी में यहाँ के जन-जन के हृदय और मस्तिष्क की अभिव्यक्ति हुई है।

श्रीभट्टजी के **'युगल-शतक'** में जिस निकुंज रस के प्रतिपादन के आदिसूत्र संकलित हैं, उनके शिष्य हरिव्यासदेवजी की 'महावाणी' में उसका विशद विस्तार से गान हुआ है। ब्रजभाषा की श्रीसमृद्धि सहचरीगण को उत्सुकतापूर्ण भावावली, राधाकृष्ण की अलौकिक शोभा, भाव वर्णन की रसात्मकता, माधुर्य एवं प्रसाद गुणों की विशेषता कुछ ऐसे तथ्य हैं,

जिनसे प्रेरित होकर हिन्दी के वृहद् इतिहास में श्रीभट्टजी प्रणीत 'युगल-शतक' एवं हरिव्यासदेवजी की 'महावाणी' को 'हिन्दी साहित्य के अनुपम रत्न' कहा है। कृष्णोपासक सम्प्रदायों में "राधा-कृष्ण की अष्टयाम सेवा, निकुंज रस माधुर्य, ललित्य और भाव-प्रेषणीयता की दृष्टि से निम्बार्क कवि निश्चय ही बेजोड़ हैं। महावाणी तो परिणाम एवं काव्य-सौंदर्य दोनों में सचमुच ब्रजभाषा का शृंगार ही है।"

श्रीहरिव्यासजी के बारह शिष्य थे। उनमें **श्रीपरशुरामदेवजी** सबसे प्रतिभाशाली आचार्य और कवि हुए। सम्प्रदाय की श्रीवृद्धि के साथ साहित्य प्रणेता की दृष्टि से हिन्दी के कवियों में उनको गोस्वामी तुलसीदास के समकक्ष कहा गया है। साम्प्रदायिक उपासना में वे 'परसा' सखी है। निर्गुण और सगुण लीला, ब्रजलीला एवं निकुंजलीला, शृंगार एवं अन्य रस, वैष्णव एवं सन्त काव्य ब्रज और राजस्थानी भाषा सबके समन्वय में वे अद्वितीय हैं। शैली की दृष्टि से भी परशुरामदेवजी का काव्य अत्यन्त व्यापक है। अपने युग की समस्त शैलियों पर उनका अधिकार है। परशुरामदेवजी का व्यक्तित्व अत्यन्त निराला है। उनका **'परशुराम सागर'** वास्तव में अगाध सागर है, जिसमें अवगाहन करने पर राष्ट्रभाषा के अनेक अमूल्य रत्न सहज सम्प्राप्त होते हैं।

परशुरामदेवजी के परवर्ती आचार्यों में अनेक सुकवि, श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ, व्याख्याता और रसमार्ग के स्तम्भ हुए जिनमें **श्रीवृन्दावनदेव, श्रीगोविन्दशरणदेव, सर्वेश्वरशरणदेव** के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। श्रीवृन्दावनदेव की **'गीतामृत-गंगा'** ब्रज और निकुंज लीला का अनूठा ग्रन्थ है। श्रीवृन्दावनदेवजी संगीत-शास्त्र के आचार्य थे। **'गीतामृत-गंगा'** में संगीत शास्त्र की शिक्षा का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है।

इन आचार्यों के अतिरिक्त **श्रीरूपरसिकदेव, आनन्दघन, श्रीनागरीदासजी, महाकवि बिहारी, रसिक गोविन्द, सुश्री बाँकावती, सुन्दर कुंवरि** व **बनीठनीजी, छत्र कुंवरि** प्रभृति ऐसे अनेक काव्यरचनाकार हैं, जिनका काव्य साम्प्रदायिक मर्यादाओं में शृंखलित होते हुए भी अतीव उत्फुल्लता, सद्यता और मनोहारिता से भरपूर है। 'रूपरसिक से रूप रसिकवर' श्रीरूपरसिकदेव के 'लीलाविंशति" और "वृहदुत्सव-मणिमाल" श्रीराधाकृष्ण के अनन्त सौंदर्य, अतीव माधुर्य और प्रगाढ़ प्रेम के रसभरे फुहारे हैं। उनके **'हरिव्यास यशामृत'** में रसिक जीवन और रसिक मर्यादा के मार्मिक चित्र अंकित हैं।

तन से आगे मन चले, मन से आगे भाव।
रूपरसिक' हरिव्यास की, तब ही दर सैभाव।।
कोई नेम में लगि रहे, कोई प्रेम में रोत।
रूपरसिक' हरिव्यास बिनु, परा न प्राप्ति होत।।

महाकवि बिहारी, घनानन्द और रसिक गोविन्द ब्रजभाषा के अधिकारी पण्डित रीति रचनाकारों के शिरमौर है। ये महाकवि होने के साथ अनन्य निम्बार्की भी है। बिहारी स्वामी हरिदासजी की शाखा में महात्मा नरहरिदासजी के शिष्य थे। निम्बार्क सम्प्रदाय में 'भेदाभेद-

दर्शन' की स्वीकृति है और श्रीराधाकृष्ण के 'अनुपम सौभगा' भाव को प्रमुखता दी गई है। बिहारी कहते हैं—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर।।

ब्रज के कुंज-पुंज और वृन्दावन के निकुंजों में उन श्यामाश्याम के सुरति विहार से अगणित प्रयागों का माहात्म्य प्रतिफलित हो रहा है। बिहारी का मत है कि उन्हीं निकुंजबिहारी-विहारिणी की दिव्य कान्ति से अनुराग करना श्रेयस्कर है—

तजि तीरथ हरि राधिका, तन द्युति करि अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग।।

महाकवि घनानन्द के काव्य में उपास्य के प्रेम के चरमोत्कर्ष की व्यंजना हुई है। "प्रेम की पीड़ा" की इतनी गूढ़ और गम्भीर अभिव्यक्ति ब्रजभाषा का कोई अन्य कवि नहीं कर सका। आनन्दघन स्वयं कहते हैं कि ब्रजभाषा के भाषा विज्ञान का पंडित सौंदर्य के भेदोपभेदों का पारखी चाह की चाह से आसक्त-हृदय, जिसे संयोग और वियोग किसी भी दशा में चैन न हो मेरे काव्य की पारखी और व्याख्याकार हो सकता है। प्रेम का मार्ग ही विचित्र है। घनानन्द की प्रेम व्यंजना एक प्रशांत समीर है। सर्वथा निश्चल और एकदम अनन्य। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी प्रेम-परिपाटी की प्रशंसा करते हुए कहा है कि प्रेम-मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबांदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।

इनके अतिरिक्त **बाबा माधवदास** उपनाम **'अलिमाधुरी'** कृत **"निकुंज प्रेम माधुरी"** सम्प्रदाय में गृहीत निकुंज रस की श्रेष्ठ रचना है। 'माधुर्य-लहरी' के निकुंजलीला माधुर्य की तो बात ही निराली है। इसमें नित्य वृन्दावन में निकुंज लीला की जो पृष्ठभूमि अंकित की गई है, वह उक्त विषय को हृदयग्राही बनाने की अनूठी क्षमता रखती है। इनके अतिरिक्त **महाकवि ग्वाल, कविवर लाल-बलवीर** और उनके बन्धु **'प्रेमसखीजी'** आदि अनेक प्रभावशाली कवि इस सम्प्रदाय में हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी राष्ट्रभाषा की प्रमुख काव्य भाषा ब्रज के भण्डार को विविध अमूल्य रत्नों से भरने की स्तुत्य सेवा की है।

स्वामी हरिदासजी की परम्परा को अनेक समतामूलक प्रवृत्तियों और उपासना प्रणाली के आधार पर **भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बाबू राधाकृष्णदास, मिश्रबन्धु, डॉ. ग्रियर्सन, सरोज सर्वेक्षण** के रचयिता डॉ. **किशोरीलाल गुप्त, वियोगी हरि, लोकनाथ द्विवेदी** प्रभृति साहित्य महारथियों एवं आलोचकों ने स्वयं को निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना है।[1] स्वामीजी के घराने में श्रीराधाकृष्ण की युगल उपासना, उनकी सहज माधुरी, मनोरम सौन्दर्य, सखीभाव, अलौकिक आकर्षण एवं दिव्य शृंगार वर्णन की परिपाटी है, जो निम्बार्क सम्प्रदाय का मूलभूत उपासना स्तम्भ है। इन कवियों में **श्रीबिहारिनिदेव, रसिकदेव, ललित किशोरीदेव, आचार्य किशोरदास** और **भगवतरसिक** प्रतिभा, कला

और रसप्रवाह तीनों दृष्टियों से ब्रजभाषा के मूर्द्धन्य कवि हैं। इनकी वाणियाँ राष्ट्रभाषा की अमर धरोहर हैं।

यह तो रही ब्रजभाषा काव्य ग्रन्थों की बात, परन्तु ब्रजभाषा बहुत दिनों तक राष्ट्रभाषा के गद्य-लेखन का माध्यम भी रही थी। निम्बार्क सम्प्रदाय में ब्रजभाषा गद्य में लिखे गए ग्रन्थों का अतुलित भण्डार है, जो प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। इनमें सम्प्रदाय के उपासना ग्रन्थों का प्रायः प्राचुर्य है। शैली की दृष्टि से यह वल्लभ सम्प्रदाय के वार्ता साहित्य से मेल खाती है। बाबा **हंसदास** की '**निम्बार्क प्रभा**' उनमें एक उत्तम रचना है। **कविवर रूपरसिकजी** ने अपनी '**लीला विंशति**' में उपासना सिद्धान्त के विशेष स्पष्टीकरण के लिए बीच-बीच में जिस गद्य का प्रयोग किया है, वह प्राञ्जल है और उससे भविष्य में अधिक स्थिर और गम्भीर भाव प्रकाशन की सामर्थ्य लक्षित होती है। श्रीखेमराज कृष्णदास प्रेस, बम्बई से प्रकाशित पं. किशोरदासजी कृत '**श्रुति सिद्धान्त रत्नाकर**' व '**द्वैताद्वैत दर्शन**' में ब्रजभाषा का ही प्रयोग हुआ है, जो सिद्धान्त प्रतिपादन की सक्षम भाषा है। बाबा हंसदास के '**राधा-रहस्य-प्रकाशिका**' आदि ग्रन्थों में भी इसी का प्रयोग हुआ है। सारांश यह है कि ब्रजभाषा गद्य के प्रयोग में भी निम्बार्क सम्प्रदाय अग्रणी रहा है।

परन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी के जिस रूप को आज राष्ट्रवाणी होने का गौरव प्राप्त हो सका है, वह खड़ीबोली नाम से अभिहित होती है। मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ आदि हिन्दी गद्य के प्रतिष्ठापकों द्वारा प्रवर्तित, राजा लक्ष्मणसिंह, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द द्वारा समर्थित, भारतेन्दु मण्डल द्वारा प्रसारित, ईसाइयों के श्रीराम प्रेस और बाइबिल सोसाइटी द्वारा प्रयुक्त पुरानी हिन्दी की यह नई पुत्री खड़ी बोली पंजाब के लोकसेवी बाबा नवीनचन्द राय, बंगाल के राजा राममोहन राय, गुजरात के महर्षि दयानन्द, काठियावाड़ के मोहनदास करमचंद गाँधी, प्रयाग उत्तरप्रदेश के राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के द्वारा तो भारत के धार्मिक राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलनों की भाषा ही बन गई। निम्बार्क सम्प्रदाय के मनीषियों ने भी अपने साम्प्रदायिक ग्रन्थों के प्रणयन में खड़ी बोली का ही प्रयोग किया। ऐसे ग्रन्थों की संख्या बहुत बड़ी है और इस निबन्ध की सीमित परिधि में उन सबका नामोल्लेख भी सम्भव नहीं है। इन ग्रन्थ रचनाकारों और ग्रन्थ प्रकाशकों में ब्रजविदेही महन्त **बाबा संतदासजी काठिया** एवं **धनञ्जयदासजी वेदान्तनिधि, पं. किशोरदासजी, पं. अमोलकराम शास्त्री, पं. दुलारेप्रसाद शर्मा अवस्थी, श्रीकल्याणदासजी महाराज,** टट्टीस्थान के महन्त **भगवानदासजी, बा. रामचन्द्रदासजी वैष्णव** और **पं. बिहारीदासजी त्यागी** मुख्य हैं। बाबा सन्तदास काठिया आसाम के निवासी थे, परन्तु खड़ी बोली पर उनका अपूर्व अधिकार था। उन्होंने भेदाभेद दर्शन, वेदान्त दर्शन, दार्शनिक विद्या, स्वामी रामदासजी काठिया का जीवन चरित्र आदि कई ग्रन्थ लिखकर सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष को सुदृढ़ बनाया। वेदान्तनिधि **पंडित किशोरदासजी** का निराला व्यक्तित्व था। उनका जन्म काठियावाड़ में हुआ था; वे संस्कृत-हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित, सूक्ष्म तत्त्वान्वेषी, स्पष्ट और सत्यवक्ता, सम्प्रदाय सिद्धान्त, परम्परा और उपासना पद्धति के मर्मज्ञ विद्वान्, निरपेक्ष, निर्द्वंद्व और आत्मस्वतन्त्र थे। सम्प्रदाय के मंत्र सम्बन्धी मतभेद को समूल नष्ट कर उसमें समरसता

लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य आपके द्वारा सम्पादित हो सका।[1] आचार्यपरम्परा परिचय, साधन प्रणाली, श्रीगुरुशरणागति, दशश्लोकी की सारार्थदर्शिका टीका, वेदान्त तत्त्वसुधा उनकी गम्भीर रचनाएँ हैं। उनके शिष्यों द्वारा विद्याविलास प्रेस, काशली से अनेक साम्प्रदायिक, लोकनीति और आध्यात्म विषयों पर असंख्य दुर्लभ ग्रन्थों का मुद्रण हुआ है। पं. दुलारेप्रसाद शास्त्री के सहयोग से निम्बार्क महाविद्यालय की स्थापना और संचालन का महत्त्वपूर्ण कार्य आपके द्वारा सम्पन्न हुआ। राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वरूप निर्धारण और आचार्य रूप में निर्णायक बुद्धि और विधान कौशल से सेवा करने का जो गौरवपूर्ण स्थान **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** को प्राप्त है निम्बार्क सम्प्रदाय में पं. **किशोरदासजी** का वही स्थान है।

निम्बार्क सम्प्रदाय की साधन प्रणाली का मूलाधार श्रीराधाकृष्ण की युगल उपासना है। श्रीनिम्बार्काचार्य ने उन्हीं वृषभानुजा श्रीराधाजी के परम प्रियतम जो शयन से उठे हुए युगल रूप सर्वेश्वर हैं, दिव्य काम से परिपूर्ण, परस्पर केलिरस के चिह्नों से युक्त हैं और सुरत समुद्र के चिह्नों को अपने कपोल और नेत्रों पर धारण किये हैं, अपना परमाराध्य माना है। अपने 'प्रातःस्मरण स्तोत्र' में उनकी इस रूप में वंदना करते हुए उन्होंने रसिक साधना का स्पष्ट उद्घोष किया है।[2] यह गुह्य रसोपासना है और संस्कार एवं साधना से संपृक्त होकर इन्द्रियनिग्रह और ध्यान की अहर्निश तन्मयावस्था इसके सापेक्ष गुण हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय ने राष्ट्रभाषा को एक विशद विशाल रसार्णव प्रदान किया है, जो अपने प्रकार का अनूठा है और कालान्तर में श्रीमद्वल्लभ, गौड़ीय वैष्णव, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की रसिक शाखा, ललित सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय की अगाध गुह्य साधनामूलक रस ग्रन्थों का आदिस्रोत है। महाकवि सूरदास, परमानन्ददास, गो. हितहरिवंश, हरिराम व्यास, चाचा हितवृन्दावनदास, वल्लभरसिक, वंशी अलि, किशोरी अलि, महात्मा युगलानन्यशरण एवं कृपानिवास आदि रसिक सम्राटों ने इस प्रेम महोदधि से अनन्त अमूल्य रत्नराशि प्रेममार्ग के साधकों को अर्पित की है। इस साधन प्रणाली को समझने और समझाने वाले ग्राहक कम, परन्तु निरपेक्ष अनन्य साधक अधिक हैं। सूरदासजी के काव्य जैसा लोकरंजक और लोक माधुर्यवेष्टित सर्वजनीन आकर्षण इसमें नहीं है। यही इसके सीमित और लोकबाह्य होने का कारण रहा है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के वैविध्य वर्धन में भी निम्बार्क सम्प्रदाय का योगदान उल्लेखनीय है। इस सन्दर्भ में मण्डन कविकृत '**जयसाह-सुजस-प्रकाश**' काव्येतिहास के रूप में सुन्दर रचना है। इस ग्रन्थ में निम्बार्क सम्प्रदाय की उत्पत्ति और आद्याचार्य से लेकर 42वें श्रीसर्वेश्वरशरण देवाचार्य के उदात्त वृत्तों का ऐतिहासिक सन्दर्भ में वर्णन है। यह छोटा-सा, परन्तु अपूर्व ग्रन्थ है। इसी प्रकार रीतिग्रन्थ-परम्परा में महाकवि रसिकगोविन्द रचित '**रसिक गोविन्दानन्दघन**' एक विशाल और श्रेष्ठ कृति है। विविध भाषा (बोली) रचना की भी इस सम्प्रदाय में अनेकों कृतियाँ हैं। **आचार्य परशुरामदेव, महाराजा सावंतसिंह** उपनाम **नागरीदासजी, लालबलवीर, रसिक गोविन्द, छत्रकुँवरि** प्रभृति कवियों ने खड़ी बोली, उर्दू, पंजाबी, मारवाड़ी, मेवाती, बैसवाड़ी प्रभृति राष्ट्रभाषा की प्रमुख बोलियों में साम्प्रदायिक साहित्य का सृजन कर उसके वैविध्य का संवर्द्धन किया है। राष्ट्र की भावात्मक एकता की दृष्टि से इन काव्य कृतियों की सम्पदा कुछ कम महत्त्व की नहीं है।

राष्ट्रभाषा (खड़ी बोली) में दर्शन, शोध, समालोचना, आचारग्रन्थ और लोकरंजक साहित्य के सृजन की दृष्टि से भी निम्बार्क सम्प्रदाय का अपूर्व योगदान हुआ है। इस दृष्टि से **पं. भागीरथ झा, वेदान्ताचार्य श्रीव्रजवल्लभशरणजी, आचार्य किशोरीदासजी वाजपेयी, पं. बलदेव उपाध्याय, ब्रह्मचारी बिहारीशरण** व **निम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर महाराज श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्य, बाबा विश्वेश्वरशरणजी, बाबा कुंजबिहारीशरणजी** का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। **पं. भागीरथ झा** और **व्रजवल्लभशरणजी** को आधुनिक निम्बार्क साहित्य का जनक कहना अनुचित न होगा। इन दोनों महापुरुषों के संयुक्त सम्पादन में '**युग्मतत्त्व समीक्षा**' और '**उपनिषत्त्रयी**' सम्प्रदाय के दार्शनिक एवं उपासनात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाले दो बहुमूल्य ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। तदनन्तर वृन्दावन से प्रकाशित होने वाले समग्र साहित्य के सम्पादक, लेखक, संशोधनकर्त्ताओं का किसी न किसी रूप में व्रजवल्लभशरणजी से सम्पर्क रहा है। पं. बलदेव उपाध्याय ने निम्बार्क दर्शन और साहित्य पर बहुत कुछ लिखा। उनके 'भागवत सम्प्रदाय' में इस पक्ष की अच्छी विवृति हुई है। हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास में भी इस पक्ष का उनके द्वारा सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य किशोरीदासजी वाजपेयी, निम्बार्क सम्प्रदाय के इतिहास विशेषज्ञ और उसकी वाणियों के मर्मज्ञ हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य में सम्प्रदाय के विशिष्ट आचार्यों की आविर्भाव स्थिति एवं उनके द्वारा प्रचारित रस परम्परा और उपासना प्रणालियों की विशिष्ट विधाओं पर बहुत कुछ लिखा है, जो तर्कसम्मत और अकाट्य है। ऐसी ही एक रचना पं. किशोरदासजी विरचित '**आचार्य परम्परा परिचय**' भी है, जो कलेवर में छोटी, परन्तु बड़ी मार्मिक है। पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित 'घनानन्द' इसी सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है, जिसके द्वारा इस सम्प्रदाय में महाकवि की अनुगामिता सम्बन्धी विवाद का अन्तिम रूप से अन्त हुआ है। ब्रह्मचारी बिहारीशरण द्वारा सम्पादित '**निम्बार्क माधुरी**' इस सम्प्रदाय के साहित्य के अध्ययन का सबसे बड़ा और विशाल सूत्र है, जो ब्रह्मचारीजी के अथक परिश्रम, अध्यवसाय, साम्प्रदायिक निष्ठा और राष्ट्रभाषा सेवा के अनन्यव्रत का परिचायक है। इसमें सम्प्रदाय के आचार्य, कवि, प्रचारक, साहित्य प्रकाशनकर्त्ता, घटनाचक्र, संघर्ष और उथल-पुथल का यथास्थान उल्लेख है। इस दृष्टि से वह विविध उद्देश्यों का पूरक है। परन्तु अपनी कोटि का प्रारम्भिक ग्रन्थ होने और ब्रह्मचारी की अनन्य साम्प्रदायिकता और वैज्ञानिक विवेचन पद्धति की अनभिज्ञता के कारण अनेक समाधानों की अपेक्षा रखता है; फिर भी ग्रन्थ में संकलित विशाल सामग्री, लेखक की निष्ठा उसके हृदय की रससिक्तता, बहुज्ञता और परिश्रमशीलता भूरि-भूरि प्रशंसनीय है।

'निम्बार्क-माधुरी' में प्रतिपादित ब्रह्मचारी बिहारीशरण की मान्यताओं से साम्प्रदायिक ग्रन्थों के रचनाकाल, रचनाकारों के आविर्भाव के समय, वैष्णवों में लीलाओं के प्रसाक्रम और नित्यविहार आदि प्रश्नों पर काफी चर्चा चली और श्रीकेशव-काश्मीरिभट्ट, श्रीभट्टदेवाचार्य, हरिव्यासदेव, रूपरसिकदेव, चतुरचिन्तामणि, नाभाजी महाराज के उपस्थिति काल आदि को लेकर डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ.

शरणविहारी गोस्वामी ने श्रीभट्टजी के 'युगल-शतक' को 17 वीं, हरिव्यासदेवजी की 'महावाणी' एवं रूपरसिकदेव की काव्य कृतियों को 18/19वीं शती की सर्जना कहा। राधावल्लभ सम्प्रदाय के महात्मा किशोरीशरण अली ने इस संदर्भ में अनेक अटकलें और भ्रान्तिमूलक तथ्य उपस्थित किए, जिनका यथासमय निराकरण होता गया। हिन्दी साहित्य में देव और बिहारी के छोटे-बड़ेपन को लेकर दीर्घकाल तक विवाद चला था, जिसके फलस्वरूप आलोचना साहित्य समृद्ध हुआ था। निम्बार्क सम्प्रदाय के इन विवादों से भी साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद गौतम और डॉ. चन्द्रकिशोर पाठक ने इस विवाद को अपने शोधप्रबन्धों में निर्णयात्मक रूप से हल कर दिया है। श्रीगोविन्दशरण शास्त्री का कार्य भी इस दिशा में विशेष उल्लेख की अपेक्षा रखता है।

निम्बार्क-माधुरी के कृतित्व से हिन्दी के उच्च कोटि के समीक्षक भी आकर्षित हुए बिना न रह सके। उसी आधार पर **डॉ. सत्येन्द्र** ने '**निम्बार्क सम्प्रदाय के हिन्दी कवि**' शीर्षक शोधपूर्ण निबन्ध को पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया जिसमें इस सम्प्रदाय पर शोध कार्य होने का आह्वान किया गया था। इन पंक्तियों के लेखक ने उनके इस आग्रह को अपने '**निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्ण भक्त हिन्दी कवि**' शोध प्रबन्ध के लेखन द्वारा स्वीकार किया। इस शोध प्रबन्ध के प्रस्तुत होने से हिन्दी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति हो सकी और डॉ. दीनदयाल गुप्त के 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' एवं डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के '**राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य**' अनुसन्धानों की भाँति इस शोध प्रबन्ध से निम्बार्क सम्प्रदाय की काव्य माधुरी, उपासना माधुरी, भाव और रस माधुरी एवं लीला माधुरी का अनन्त उत्कर्ष हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत हो सका। निम्बार्क सम्प्रदाय-ब्रज वृन्दावन की पावन रस पीयूषप्लावित अवनी की अनुरागमयी देन है। उद्भावना और प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भी वह अन्य सम्प्रदायों से प्राचीन है। कला, संस्कृति और काव्य के क्षेत्रों में संख्या और परिणाम दोनों दृष्टियों से वह गुरुतर है और परम्परा एवं प्रभाव के विचार से तो वह समस्त उत्तरापथ के कण-कण में व्याप्त है। इस शोध प्रबन्ध में सम्प्रदाय की समष्टि रूप में स्वामी हरिदास शाखा सम्प्रदाय को सम्मिलित करके हिन्दी साहित्य में अल्प चर्चित कवियों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया था जिससे अनुसंधित्सुओं को इन कवियों पर अलग-अलग शोध-प्रबन्ध लिखने का प्रेरणामूलक राजपथ हाथ पड़ गया। कुछेक वर्षों में ही **डॉ. रामप्रसाद शर्मा** एवं **द्वारिकाप्रसाद मीतल** ने परशुरामदेव पर अलग-अलग शोध प्रबन्ध लिखे। डॉ. मुरारीलाल शर्मा ने 'सन्त लक्षदास' पर, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद गौतम ने 'श्रीहरिव्यासदेव और उनकी महावाणी' डॉ. चन्द्रकिशोर पाठक ने 'स्वरसिकदेव व्यक्तित्व और कृतित्व' दिल्ली विश्वविद्यालय के श्रीडोभाल ने 'रसिक गोविन्द' डॉ. रमेशचन्द्र शर्मा ने 'राजस्थान की महिला कवियित्रियाँ', कु. डॉ. विमला भास्कर ने 'निम्बार्क सम्प्रदाय के सन्दर्भ में हरिव्यासदेवजी का अध्ययन' श्रीप्रियादास ने 'द्वैताद्वैत दर्शन के परिप्रेक्ष्य में निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि' डॉ. सुरेन्द्र ने 'आचार्य किशोरदास' विषयों पर शोध कार्य किये। किशनगढ़ के डॉ. फैयाज अली खाँ ने राजकुमार सावन्तसिंह भक्तवर नागरीदास पर शोध प्रबन्ध लिखा परन्तु अपने सम्प्रदाय विषयक अनुसन्धान में वे बहुत स्पष्ट

नहीं थे। डॉ. आशा शर्मा का 'ब्रजभाषा काव्य में निकुंज लीला का स्वरूप' शोध प्रबन्ध इसी सम्प्रदाय की रसोपासना से प्रभावित है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में श्रीभट्टजी पर कार्य हो रहा है। इस प्रकार लगभग 10 अमूल्य शोध प्रबन्ध इस सम्प्रदाय ने राष्ट्रभाषा को दिये हैं। सम्प्रदाय की निकुंजोपासना के विशद विश्लेषण के संदर्भ में बा. कुंजविहारीदास का **'निकुंजोपासना रहस्य'** अनूठा ग्रन्थ है, जो 'अष्टादशाक्षर गोपाल मन्त्र' की व्याख्या और महावाणी रसोपासना प्रणाली पर आधारित है। महावाणी के 'सिद्धान्त और सहज' सुखों की टीका लिखकर भी बाबाजी महाराज ने महावाणी की रसिक साधना को सुगम बनाने का सुन्दर प्रयास किया है। वैसे सामान्य भक्त और विद्वानों का महावाणी के साध्य-साधन-तत्त्व में प्रवेश परम्परा से एक समस्या रही है।

निम्बार्काचार्यपीठाधीश श्रीराधासर्वेश्वरशरणजी का राष्ट्रभाषा की सेवा में स्तुत्य योगदान रहा है। वे श्रेष्ठ वक्ता, कवि और रसिक हैं। उनसे पूर्व सम्प्रदाय का मुख पत्र 'सुदर्शन' साम्प्रदायिक उपासना, दर्शन, विविध उत्सव, काव्य, निबन्ध और ग्रन्थ आलोचना का प्रकाशन करता था परन्तु नियन्त्रण, व्यवस्था और आर्थिक कारणों से उसकी गति शिथिल-प्राय होती गई और अन्त में उसे बन्द कर देना पड़ा। तदनन्तर सं. 2009 में **'सर्वेश्वर'** मासिक का प्रकाशन महाराज श्री के द्वारा होना प्रारम्भ हुआ। श्रीब्रजवल्लभशरणजी को उसका सम्पादन सौंप दिया गया। 'सर्वेश्वर' ने तभी से राष्ट्रभाषा हिन्दी की अमूल्य सेवा की है। उसका प्रकाशन केवल साम्प्रदायिक न होकर धार्मिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक अधिक है। सम्प्रदाय के स्वामी हरिदास, रूपरसिकदेव, हरिव्यासदेव, केशवकाश्मीरि भट्ट विषयक समय, ग्रन्थ रचना और घटनाओं की भ्रान्तियों के निवारण में और विद्वानों में अपने मत-मतान्तर निष्पक्ष रूप से उपस्थित करने में 'सर्वेश्वर' ने सार्वजनीन माध्यम का कार्य किया है। भक्ति के प्रसार का तो यह अपूर्व साधन है। साहित्यिक ग्रन्थों के प्रकाशन में इससे भारी सहयोग मिला है। वृन्दावन देवाचार्य कृत 'गीतामृत गंगा', गोविन्दशरणदेव की वाणी, स्वामी हरिदास सहित उनके घराने के अष्टाचार्यों की वाणियाँ, युगल-शतक, महावाणी, रूपरसिकदेव के समस्त ग्रन्थ, लालबलवीर और प्रेमसखी की वाणियाँ, नागरीदासजी की वाणी अनेकों गुह्य और दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन श्रीसर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन से हुआ है। 'श्रीसर्वेश्वर' के विशेषांक राष्ट्रभाषा की विशेष उपलब्धियाँ हैं। उसके वृन्दावनांक, भक्तमालांक, निम्बार्कांक, श्रीभट्टअंक, ब्रजलीला अंक, श्रीराधा अंक और रसोपासना अंक आदि हिन्दी साहित्य की विशेष धरोहर हैं, जिनमें समूचे देश के विश्वविद्यालयों के चोटी के विद्वान्, सन्त-महात्मा और भक्तजनों का चिन्तन एक स्थान पर संगृहीत और विश्लेषित है। गोरखपुर के 'कल्याण' की भाँति वृन्दावन के 'श्रीसर्वेश्वर' ने श्रीकृष्ण भक्ति और ब्रज-वृन्दावन, रस के प्रवाह में अभूतपूर्व सहयोग दिया है।

श्रीजी महाराज के संरक्षण में निम्बार्क-कोट अजमेर से श्रीगोविन्ददास सन्त के सम्पादन में **'श्रीनिम्बार्क'** नामक पाक्षिक पत्र सं. 2026 से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ है, जिसमें साम्प्रदायिक कार्य-कलाप और गतिविधियों का लेखा रहता है। अपने जीवन के

पाँचवे वर्ष में इस पत्र का विशेषांक 'श्रीसर्वेश्वर-अंक' विशेष सजधज के साथ निकला, जिसमें सम्प्रदाय के आराध्य विग्रह श्रीसर्वेश्वरप्रभु की उपासना प्रणाली, इतिहास, अर्चक-परम्परा और आराध्यतत्त्व विषयक लगभग 300 पृष्ठों की संग्रहणीय ठोस सामग्री प्रकाश में आई। 'निम्बार्क' से भविष्य में विशेष आशाएँ हैं।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय का एक पत्र **'भक्ति-भागीरथी'** पं. श्रीब्रजविहारीशरण राजीव के सम्पादन में अहमदाबाद से निकलता है। भक्ति-प्रचार और साम्प्रदायिक विचारों का प्रसार ही इसका प्रमुख उद्देश्य है।

सन्दर्भ

1. निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्णभक्त, हिन्दी कवि भा. 2, लेखक डॉ. नारायणदत्त शर्मा, पृ. 366 (टंकन प्रति)
2. निम्बार्क माधुरी, सं. ब्रह्मचारी बिहारीशरण, पृ. 57
3. प्रातर्भजामि शरदोल्लसित-सुपद्मनेत्रं, सर्वेश्वरं सुखकरं रसिकेशभूपम्।
   अन्योन्य-केलि-रसचिह्न-चमत्कृताङ्गम्, सख्याकृतं सुरतकाममनोहरं च।।
   (निम्बार्काचार्य कृत प्रातःस्मरण स्तोत्र)

❑

श्रीसर्वेश्वर प्रभु की गोदुग्धाभिषेक सम्बन्धी एक सत्य घटना

मेवाड मण्डलेश्वर श्री महान्त मुरलीमनोहरशरणजी शास्त्री,
आयुर्वेदाचार्य, स्थल, सूर्यपोल, उदयपुर

एक बार सूर्य ग्रहण पर श्रीकुरुक्षेत्र की यात्रार्थ अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु वर्तमान श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री श्रीजी महाराज अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) एवं मेरे स्वर्गीय श्रीगुरुदेव धर्माचार्य महान्त निम्बार्क भूषण स्थलाधीश श्री 108 श्रीगंगादासजी महाराज मेवाड़ मण्डलेश्वर, उदयपुर (राजस्थान) का अपने परिकर वृन्द के साथ पधारना हुआ। सेवा में इन पंक्तियों का लेखक भी साथ था।

यात्रा प्रवास में दिल्ली से करीब 60 मील दूर जङ्गल में एक स्थान पर हम सबको प्रातः काल रुकना पड़ा। कारण कि भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु की मङ्गला आरती से राजभोग पर्यन्त की सेवा सुसम्पन्न होनी थी। परम्परा-परिपालित नित्य नियमानुसार भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु का गोदुग्धाभिषेक होना था। गोदुग्ध के लिए चारों ओर आस-पास की बस्ती में परिचारक भेजे गये। ये सभी परिचारक 9 बजे लौटकर बोले कि गोदुग्ध तो नहीं मिल सका है, अब क्या किया जाय? प्रातः स्मरणीय श्री श्रीजी महाराज ने कहा कि नियमानुसार श्रीसर्वेश्वर प्रभु का गोदुग्धाभिषेक तो होगा ही। हम सभी बड़े चिन्तित थे कि आज ऐसे इस भयानक जङ्गल में प्रभु का अभिषेक गोदुग्ध से कैसे होगा? इधर श्री श्रीजी महाराज पूर्ण निश्चिन्त अपनी स्वाभाविक सौम्य निश्चल साधु प्रकृति के अनुसार विराजमान थे। इतने ही में क्या होता है कि पंजाब बाउण्डरी का एक ट्रक वहाँ आकर उसी जगह ठहरा और उसमें बैठे हुये कुछ सज्जन हाथ जोड़ कर बोले—'आप लोग जङ्गल में बैठकर ईश्वराराधना कर रहे हैं, कहिये हमारे योग्य कोई सेवा?' उपस्थित सन्तों ने कहा—'साहब हमें तो श्रीसर्वेश्वर प्रभु के अभिषेकार्थ गोदुग्ध चाहिये। चारों तरफ आदमियों को भेज रखा है, कहीं भी प्राप्त नहीं हो रहा है।' तब उन सज्जनों ने कहा—'भगवन्! हम इस ट्रक में गायों को ही ले जा रहे हैं, लीजिये अभी हम इन गायों का दुग्ध निकाल देते हैं, अभिषेक ही नहीं राजभोग के लिए भी लीजिये।' ऐसा कहकर उन सज्जनों ने चार गायों का दुग्ध निकाल कर दे दिया, जिससे श्रीसर्वेश्वर प्रभु का अभिषेक और राजभोग सेवा भी सम्पन्न हो गई। उस घोर जङ्गल में ऐसी समस्या खड़ी होना उसका किस प्रकार तुरन्त हल हो जाना, यह एक प्रत्यक्ष चमत्कार नहीं तो और क्या है? हम सभी इस आश्चर्यजनक घटना तथा प्रभु के प्रत्यक्ष चमत्कार तथा प्रातः स्मरणीय श्री श्रीजी महाराज की प्रभु के विधान के प्रति निश्चिन्तता देख कर आनन्द मग्न होकर श्रीसर्वेश्वर भगवान् एवं आचार्यश्री के प्रति और अधिक निष्ठावान्, श्रद्धावान् बन गये।

इस घटना तथा उस दृश्य का स्मरण करके आज भी हम श्रीसर्वेश्वर भगवान् एवं आचार्य श्रीचरणों के प्रति नतमस्तक हो जाते हैं।

❑

॥ श्री राधासर्वेश्वरो जयति॥

श्रीसुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु
श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य